एम.ए.पी.एस.-03

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

एम.ए.पी.एस.-03

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

MAPS-03

प्रो. वी.आर. मेहता
अध्यक्ष
पूर्व कुलपति
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

(स्व.) प्रो. इकबाल नारायण	:	4क5, जवाहर नगर, जयपुर (राज.)
प्रो. ए.पी. राणा	:	से. नि. आचार्य, राजनीतिक विज्ञान विभाग एम.एस. विश्वविद्यालय, वडोदरा (गुजरात)
प्रो. शांति स्वरूप	:	से.नि. आचार्य एवं अध्यक्ष, राजनीतिक विज्ञान विभाग पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (पंजाब)
प्रो. थॉमस पेन्थम	:	आचार्य, राजनीतिक विज्ञान विभाग एम.एस. विश्वविद्यालय, वडोदरा (गुजरात)
डॉ. अनाम जैतली	:	कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा (संयोजक)
डॉ. लीला राम गुर्जर	:	कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

तदान्तर नियुक्त संकाय सदस्य- डॉ.अशोक वर्मा, डॉ. कर्ण सिंह

पाठ निर्माण दल

प्रो. आर.आर. रामचंदानी
पूर्व निदेशक
पूर्व अफ्रीकी देशों का अध्ययन केन्द्र
बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई

डॉ. अरुण चतुर्वेदी
विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालाय, उदयपुर

डॉ. एच.सी. शुक्ल
राजनीतिक विज्ञान विभाग
एम.एस. विश्वविद्यालय, वडोदरा

प्रो. एस.सी. गंगल
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

डॉ. अनाम जैतली
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

प्रो. बी.के. श्रीवास्तव
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. विजय कुमार अरोड़ा
पूर्व निदेशक, एकेडमिक स्टाफ कॉलेज
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

श्री शेखर सिंह
अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन केन्द्र
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

श्रीमती बीना सिंह
प्राध्यापक राजनीति शास्त्र

श्री सी.बी. विजय वर्गीय
पूर्व विभागाध्यक्ष, राजनीतिक विज्ञान विभाग
एस.के. कॉलेज, सीकर

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)

प्रो. एम.के. घड़ोलिया
निदेशक(**संकाय विभाग**)
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)

योगेन्द्र गोयल
प्रभारी अधिकारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)

पुनः उत्पादन - अगस्त 2012 **ISBN-13/978-81-8496-346-5**

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति

खण्ड- I विषय-प्रवेश एवं अध्ययन के उपागम		
इकाई -1	अंतर्राष्ट्रीय राजनीति : अर्थ, प्रकृति, स्वरूप तथा क्षेत्र	7–16
इकाई -2	आदर्शवादी तथा यथार्थवादी उपागम	17–26
इकाई -3	निकाय उपागम : खेल तथा अनुरक्षण	27–40
इकाई -4	अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का मार्क्सवादी-लेनिनवादी उपागम	41–59
इकाई -5	तृतीय विश्व के उपागम	60–71
खण्ड- II राष्ट्रीय शक्ति की अवधारणा एवं प्रक्रिया		
इकाई -6	राष्ट्र शक्ति : वैचारिक अनिवार्यताएं व उनका समसामयिक महत्व	72–93
इकाई -7	राष्ट्र शक्ति के आधारभूत तत्व एवं उनकी परिवर्तनशीलता	94–110
खण्ड- III राष्ट्र-हित के साधन		
इकाई -8	राजनय	111–134
इकाई -9	सामूहिक सुरक्षा एवं शक्ति संतुलन	135–148
इकाई -10	नि:शस्त्रीकरण एवं शस्त्र नियंत्रण	149–160
इकाई -11	शांति और सहयोग	161–170
खण्ड- IV राष्ट्रेतर राजनीतिक प्रसंग		
इकाई -12	बहुराष्ट्रीय निगमों के विशिष्ट संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अधीनस्थता की प्रवृत्ति	171–179
इकाई -13	क्षेत्रीय व्यवस्थाएं तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति	180–196
इकाई -14	नवीन अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था तथा उत्तर-दक्षिण संवाद	197–207
इकाई -15	उत्तर-दक्षिण तथा दक्षिण-दक्षिण सहयोग	208–222
इकाई -16	अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद	223–233
खण्ड- V राष्ट्रीय हित, शक्ति-परिदृश्य तथा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन		
इकाई -17	राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के उपकरण : प्रोपेगेन्डा एवं राजनीतिक युद्ध	234–249
इकाई -18	राष्ट्रीय हित अभिवृद्धि के साधन : विचारधारा	250–262
इकाई -19	शीतयुद्ध, द्विध्रुवीयता एवं बहुध्रुवीयता	263–277
इकाई -20	गैर-पश्चिमी दृष्टिकोण एवं उनकी प्रभावोत्पादकता: गुटनिरपेक्षता एवं गुटनिरपेक्ष आन्दोलन	278–297

खण्ड- VI नूतन प्रवृतियाँ		
इकाई -21	परा‌राष्ट्रीयता, अंतर्राष्ट्रीय अंतर्निभर्ता एवं बहु केन्द्रवादी परिप्रेक्ष्य	298–312
इकाई -22	निरोपनिवेशवाद, निरोपनिवेशवाद एवं भारत की भूमिका	313–328
इकाई -23	विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास एवं अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर उसका प्रभाव	329–343

इकाई– 1
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति : अर्थ, प्रकृति, स्वरूप एवं क्षेत्र

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ एवं प्रकृति
   - 3.1 राज्य प्रभुत्व विषयक प्रसंग
   - 3.2 समष्टि–राजनीति का प्रसंग
   - 3.3 समन्वयकारी प्रसंग
4. प्रकृति के तीन नियामक ढांचे
5. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र
6. राजनीति–घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय
7. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की समसामयिक प्रवृत्तियां एवं ज्वलन्त प्रश्न
8. उद्धरण
9. संदर्भ ग्रन्थ
10. अभ्यास–प्रश्न

1. उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर के आप यह समझ सकेंगे कि–

(i) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं राजनीति आज क्यों पहले की अपेक्षा अधिक प्रासंगिक है ?

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ एवं प्रकृति क्या है?

(iii) राष्ट्र–राज्य केन्द्रित राजनीति तथा समष्टि–राजनीति में क्या भेद है?

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र आज क्यों और कैसे बढ़ रहा है?

(v) घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतियों में क्या सम्बन्ध है? तथा

(vi) आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्मुख क्या ज्वलंत प्रश्न उपस्थित हैं?

2. प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति आज के संदर्भ में एक नई प्रासंगिकता प्राप्त कर रहे हैं । दुनिया के बदलते परिवेश, राष्ट्र–राज्य संस्था को प्राप्त नई चुनौतियों, राजनीति के परिवर्तित 'एजेन्डा ' तथा विश्व–व्यापी उत्तर जीविता के प्रश्नों ने आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को नई चुनौतियों तथा सम्भावनाएं प्रदान की हैं । आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्र–राज्य आधारित नहीं बल्कि 'राष्ट्रेतर ' होती जा रही है

उसकी विश्व–दृष्टि (World–View) अब यूरोप–केन्द्रित नहीं रही । वह अधिकाधिक यूरोपेतर (Nen–European) होती जा रही है । विज्ञान एवं प्रौद्योगिकीक ने जहां दुनिया की दूरियां कम की है वही उसके प्रसार ने वास्तविक जीवन के स्तर पर अनेक दूरियां भी पैदा कर दी हैं । अमीर–गरीब, शक्तिशाली–अल्प–शक्तिशाली, संगठित–असंगठित आदि वर्गीकरण आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों एवं राजनीति को नई एवं प्रभावशाली विभाजक–रेखाएं प्रदान कर रहे हैं। एक ओर संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत संगठित अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय प्रस्तुत हो रहा है तो दूसरी और शक्ति–संतुलन अव्यवस्थित होकर शक्ति के जटिल पद–सोपान भी तैयार कर रहा है; एक ओर राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय विकास की नई रणनीतियां उत्पन्न हो रही हैं तो दूसरी ओर बहुराष्ट्रीय उत्तर जीविता की चुनौतियां प्रसार राष्ट्रीय अर्थ–व्यवस्थाओं को उत्तर जीविता की चुनौतियां प्रस्तुत कर रहा है, एक ओर शांति और अहिंसा को सभ्य अन्तर्राष्ट्रीयता का आधार प्रचारित किया जा रहा है तो दूसरी ओर दुनिया में हिंसा, तनाव व हथियारों की होड़ का बोलबाला भी बढ़ रहा है । प्रासंगिक प्रश्न यह है कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में व्याप्त इन द्वैधाभासों के रहते दुनिया को सही समझा जा सकता है? क्या परिवर्तन की धारणाएं कालांतर में इन द्वैधाभासों को तोड़ने में सक्षम होंगी? क्या व्यक्ति बदलते संदर्भों के अनुरूप अपने को ढाल सकने में आज समर्थ है? क्या अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और राजनीति इन विकास–क्रमों को अपने विषयगत परिवेश में अंगीकार कर रहे हैं? इन प्रश्नों के प्रति समीक्षात्मक दृष्टिकोण ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और राजनीति को नई प्रासंगिकता दे सकता है ।

प्रस्तुत पाठ का आरम्भिक मूल्य और मंतव्य यह है कि प्रकृतिजन्य विषमताओं तथा विविधताओं के बावजूद व्यक्ति और समुदाय परिवर्तित समय और स्थितियों के प्रति पर्याप्त संवेदनशील हैं । इस क्रम में उन्होंने नए प्रबन्ध–विन्यास संयोजित किए हैं । अत : राष्ट्रीय सम्प्रभुता की प्रभुतासम्पन्न विषय परकता के बावजूद यह आशा की जा सकती है कि व्यक्ति राष्ट्रीय सीमाओं को लांघकर इन सवालात से अधिकाधिक एकाकार हो सकेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अनुशासन स्वयं इन सवालों को अपने विषय–परिवेश में संयोजित कर रहा है ।

3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ एवं प्रकृति

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ एवं प्रकृति उसके हर परिचायक संदर्भ में हमेशा अन्तरंग जुड़े रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अर्थ एवं प्रकृति से सम्बन्धित तीन वैशेषिक प्रसंग विशेष उल्लेखनीय हैं : –

3.1 राज्य–प्रभुत्व विषयक प्रसंग

यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रसंग है । इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की समस्त संकल्पनाएं राज्य–केन्द्रित की जाती हैं । तदनुसार ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति भी निर्धारित होती है । इस क्रम में कुछ प्रतिनिधि परिभाषाएं इस प्रकार हैं :–

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित संसाधित करने की चेष्टा करते हैं। ये हित अपनी नीतियों एवं व्यवहार–क्रम में अन्य राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों से भिन्न अथवा उनके विरोधी हो सकते हैं (महेन्द्र कुमार)[1]

(आ) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों के मध्य प्रतिस्पर्द्धा तथा संघर्ष का अध्ययन है । साथ ही, यह उन स्थितियों तथा संस्थाओं का भी अध्ययन है जो इन स्थितियों को तीव्र अथवा संसाधित करती है (केनेथ थॉम्पसन) [2]

(इ) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं राजनीति एक अध्ययन–क्षेत्र के रुप में उन प्रक्रियाओं को सटीक प्रतिबिम्बित करते हैं जिनके अन्तर्गत प्रभुता सम्पन्न राज्य अन्य राज्यों के संदर्भ में अपने राष्ट्रीय हितों को समायोजित करते हैं (हाईमैन)[3]

(ई) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति सम्बन्धों के बदलते प्रतिमानों के अन्तर्गत राज्य नीतियों की अन्त: क्रिया का दूसरा नाम है (पेडेलफोर्ड एवं लिंकन)[4]

(उ) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों के मध्य शक्ति विषयक संघर्ष तथा उसका उपयुक्त प्रयोग है (मॉर्गेन्थो)[5]

इन परिभाषाओं का वैचारिक सार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति को राष्ट्र–राज्य का आधार देता है । तदनुसार उसकी प्रकृति राष्ट्रीय मंतव्यों, क्रियाकलापों तथा उनके परिणामों से स्वतंत्र हो ही नहीं सकती । राष्ट्र–राज्यों की सीमाएं स्वयमेव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सीमाएं बन जाती है । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इस अर्थ में समस्त राष्ट्र–राज्यों के शक्ति–आधारित क्रिया–कलापों का समुच्चय प्रकट होती है ।

3.2 समष्टि राजनीति (Macro–politics) [6] का प्रसंग

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का राज्य–प्रभुता प्रसंग तत्सम्बन्धी राजनीति के कई ऐसे प्रसंगों पर पर्याप्त ध्यान नहीं केन्द्रित कर पाता जो राज्य–व्यवस्था की परिधि के परे घटित होते हैं । हथियारों की, होड़, विश्व–निर्धनता की समस्या, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के क्रिया–कलाप आदि ऐसे प्रसंग हैं जो राज्य–प्रभुता की स्थितियों से व्याख्यायित नहीं हो सकते । वे उनसे सर्वथा स्वतंत्र हैं । ऐसे प्रसंगों के संसाधन के लिए आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक नजरिए से देखा–भाला जाए। इस संदर्भ में स्टेनले हॉफमैन की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति उन घटको तथा गतिविधियों से सम्बन्धित है जो बाह्य नीतियों को प्रभावित करती हैं तथा जिनसे (अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था विषयक) उन मूल्य इकाइयों की शक्ति भी प्रभावित होती है जिनमें विश्व विभक्त है।[7] रिचर्ड स्टर्लिंग ने इस प्रसंग को और आगे बढ़ाते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समष्टि–राजनीति के रुप में संकल्पित किया है। स्टर्लिंग के अनुसार समष्टि–राजनीति उन राजनीतिक अन्त क्रियाओं के योग से सम्बन्धित है जिनके प्रति सभी वैयक्तिक (राष्ट्र–राज्य) ऐजेन्ट और अभिकर्त्ता अपना–अपना योगदान देते है।[8] इसी क्रम में फॉरेस्ट ग्रीव का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का लेन–देन कुल राष्ट्रीय योगदानों से कहीं अधिक है। अपने इस कथन को ग्रीव ने निम्नलिखित रेखा–चित्र से समझाया है

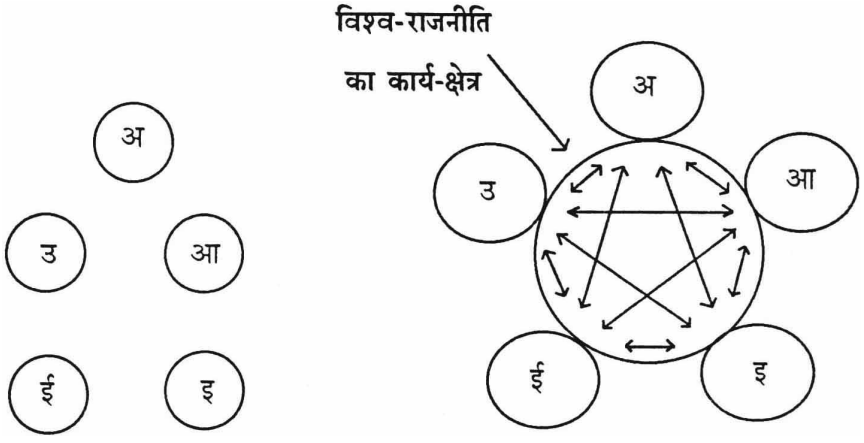

राष्ट्र–राज्य **राष्ट्र–राज्य अन्त: क्रिया**

उपरोक्त चित्र से यह भली भांति स्पष्ट होता है कि राष्ट्र–राज्यों का मात्र सरल योग (अ+आ+इ+ई+उ) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का निर्वाण नहीं करता। उसका वास्तविक निर्माण तो उन जटिल एवं पारस्परिक अन्त: क्रियाओं से होता है जो राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों से चरितार्थ होती है। ये अन्त: क्रियाएं ही वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कार्य–क्षेत्र का निर्धारण करती है। इस निर्धारण क्रम में राष्ट्रीय अभिकर्ता प्राय: अपना सम्प्रभु राष्ट्रीय अभिज्ञान छोड़ते रहते हैं या उसकी अवहेलना करते हैं और ऐसा करते हुए वे एक दूसरे से सम्बन्धात्मक संदर्भ निर्मित करते हैं। दूसरे शब्दों में, अन्त: क्रियाएं प्रधान हैं और राष्ट्र–राज्य इस प्रधानता को चरितार्थ करने के लिए बाध्य हैं।

3.3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का समन्वयकारी प्रसंग

राज्य संप्रभुता का प्रसंग जहां राष्ट्र–राज्य को प्रधान मानता है और उसके इर्दगिर्द अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्रियाकलापों पर बल देता है, वही 'समष्टि–राजनीति ' का प्रसंग राष्ट्र–राज्यों के स्थान पर उनकी सहज सम्बन्धात्मक अन्त: क्रियाओं को प्रधान ठहराता है। ये दोनों प्रसंग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की अपनी संकल्पनाओं में परस्पर विरोधी प्रकट होते हैं। राज्य–प्रभुता प्रसंग राष्ट्र–राज्य केन्द्रित है और इस अर्थ में व्यष्टि–राजनीति (Micro–politics) का पोषक तो समष्टि–राजनीति का दूसरा प्रसंग उसका विपरीतार्थक है। दोनों प्रसंगों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का बिल्कुल अलग एजेन्डा प्रतिपादित है। इन दोनों में कहीं कोई साम्य प्रकट नहीं होता।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तीसरे प्रसंग द्वारा इन दो विपरीत छोरों को परस्पर जोड़ने का प्रयास किया गया है। इसीलिए इसे समन्वयकारी प्रसंग की संज्ञा दी गई है। जेम्स रोजेनाओ इस प्रसंग के नियामक हैं। अपनी कृति वर्ल्ड–पॉलिटिक्स में उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अथवा विश्व–राजनीति में राष्ट्र–राज्य प्रधान घटक हैं यद्यपि अन्य सभी घटक राष्ट्र–राज्य आवश्यकताओं के अनिवार्यतः अधीन होते हुए अपना–अपना विशिष्ट योगदान देते हैं। रोज़ेनाओं इस तथ्य को भी स्वीकार करते है कि ये राष्ट्र–राज्य सतत अन्तर्निर्भरता (Inter–dependence) तथा अन्तर्समाविष्टन (Inter–penetration) को

चरितार्थ करते हैं। इस क्रम में उप–राष्ट्रीय, राष्ट्रतेर तथा अधि–राष्ट्रीय समूह प्रकट होते हैं और वे अपने–अपने संदर्भों में अन्तर्राष्ट्रीय घटना क्रम को अधिकाधिक प्रभावित भी करते हैं। राष्ट्र–राज्य को प्रधानता देने का कारण रोज़ेनाओं यह बताते हैं कि आज भी उत्पीडन तथा हिंसा के उपकरण राष्ट्र–राज्यों के पास ही बरकरार हैं और वे इच्छानुसार उनका प्रयोग भी करते हैं।[9]

4. प्रकृति के तीन नियामक ढांचे

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चर्चित तीन प्रसंग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अभिकर्त्ताओं और उनकी प्रतिनिधि–प्रकृति के तीन विशिष्ट ढांचे प्रतिपादित करते हैं :

प्रथम : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यद्यपि गैर–सरकारी, राष्ट्रतेर तथा अधि–राष्ट्रीय समूहों का अधिकाधिक प्रभाव पड़ता जा रहा है तथापि ये समूह वस्तुत: राष्ट्र–राज्यों के परिपूरक हैं न कि उनके स्थानापन्न। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जेम्स रोज़ेनाओं इस मत के प्रणेता हैं।

द्वितीय : आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में, विशेषतः गैर–सैनिक क्षेत्र में, राष्ट्र–राज्यों की सत्ता वास्तव में अत्यधिक–अवरुद्ध हो गई है। अत: आज यह आवश्यक हो गया है कि राष्ट्रीय सरकारों की क्रियाशीलता पर ध्यान करने के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के महत्वपूर्ण मुद्दों पर गहन विचार किया जाए। इसी के द्वारा गैर–सरकारी अभिकत्ताओं के समान महत्वशाली बल्कि अधिक महत्वपूर्ण योगदान को समझने की सम्भावनाएं प्रस्तुत हो सकेंगी । जे. ए. वेसक्विज़, एम के. ओ लिएरी तथा डब्ल्यू। डी. कॉम्प्लिन इस मत के प्रतिपादक हैं।[10]

तृतीय : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय सम्प्रभुता का आज इतना अधिक ह्रास हो गया है कि अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विश्व–समाज की राजनीति के रूप में देखा–भाला जाए न कि राष्ट्रों के मध्य राजनीति के रुप में। राष्ट्रों के संदर्भ में आंकड़ों का संकलन उस सीमा को नजर अन्दाज सा कर देता है जिस तक वे आज दरकिनार कर दिए गए हैं। जॉन बर्टन इस विचार–केन्द्र के नियामक हैं।

ये तीनों वैचारिक ढांचे, अपने–अपने क्रम में अपना–अपना सच निर्धारित करते हैं। परन्तु ये तीनों ही वस्तुत: 'अर्द्ध–सत्य ' के नियामक हैं। सुविधा की दृष्टि से पहले ढांचे के 'आधे–सच ' को शुरुआत का बिन्दु अभी भी माना जा सकता हैं। आज राष्ट्र–राज्य केन्द्रित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वास्तविक अर्थों में विश्व–राजनीति हो चली है। इस रुप में वह समस्त अभिकर्ताओं की समान आकांक्षाओं और आशंकाओं का सटीक निरूपण करती है। इस समान भाव को आज और अधिक परिमार्जित करने की आवश्यकता है क्योंकि अब कोई भी राष्ट्र किसी भी स्थिति में आत्म–केन्द्र का द्वीप बन कर नहीं रह सकता। उसे विश्व–राजनीति के ज्वार–भाटों को तो हर हालत में सहना ही होगा।

5. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र

आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक हो गया है। उसकी पहुंच मानव–गतिविधियों के सुदूरतम छोर तक व्याप्त है। अपने इस क्रम में वह मानवता को प्राय: प्रत्येक स्तर पर गहन प्रभावित करता है। आज पारम्परिक वैचारिक श्रेणियों की मदद से अन्तर्राष्ट्रीय

राजनीति की गत्यात्मकता को सही तौर पर नहीं समझा जा सकता। ऐसा प्रधानतः इस कारण हो सका है क्योंकि राजनीति की अवधारणा में अब बुनियादी परिवर्तन आ गए हैं। आज राजनीति के मानकीय (Normative) तथा आनुभविक (Empirical) संसाधनों पर कोई ऐसी बड़ी बहस नहीं होती जो पचास के दशक में होती थी। अब सामान्यत: यह माना जाने लगा है कि राजनीति 'चाहिए ' तथा 'है ' ('Ought' and 'is') अर्थात् आदर्श व यथार्थ के बीच सेतु–निर्माण करने में पर्याप्तत: सक्षम है। यह कहना भी सर्वथा उचित होगा कि राजनीति आज न केवल आदर्शों को वास्तविकता में रूपांतरित करती है बल्कि स्वयं वास्तविकता को आदर्शों के अनुरुप भी ढालती है। यह एक समूची प्रक्रिया है जो पारम्परिक 'राजनीतिक ' व गैर–राजनीतिक तत्वों के, भेद को भी नकार देती है। इस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र आज ज्ञान की सभी शाखाओं और व्यवहार के सभी आयामों तक व्याप्त है। उसके बढ़े हुए विषय–क्षेत्र का आभास निम्नलिखित विषय–सूचियों से भली–भांति समझा जा सकता है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के पारम्परिक एवं समसामयिक संदर्भों की परिचायक हैं :–

पारम्परिक	**समसामयिक**
1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति	1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति
2. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन	2. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन
3. अन्तर्राष्ट्रीय कानून	3. अन्तर्राष्ट्रीय कानून
4. राजनयिक सिद्धान्त तथा व्यवहार	4. राजनयिक तथा सैनिक इतिहास
5. सैनिक राज्यशिल्प	5. भू–राजनीति
	6. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का राजनीतिक समाज शास्त्र
	7. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का राजनीतिक अर्थशास्त्र
	8. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मनोविज्ञान
	9. नीति तथा शिक्षा
	10. अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन
	11. विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी; तथा
	12. वैकल्पिक भविष्य–विद्या (Alternative Futuristic)

उपरोक्त वर्णित दोनों सूचियां यह भली–भांति प्रकट करती हैं कि पारम्परिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय–क्षेत्र अपेक्षाकृत काफी परिसीमित है। यह भी सच है कि वह विश्व–व्यापी स्तर पर सबकी किस्मत और सबकी जिम्मेदारियों की सच्चाई को उजागर करने में नाकामयाब रहा है। इस धारणा का उद्देश्य पारम्परिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर कोई दोषारोपण करना नहीं है। इसका मंतव्य तो केवल यह स्पष्ट करना भर है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों के प्रति राज्य–केन्द्रित दृष्टि से समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम और वृत्तियों को नहीं समझा जा सकता और इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के समसामयिक संदर्भ के लिए यह नज़रिया

नाकाफ़ी है। अन्तर्राष्ट्रीय यथार्थ के प्रति अधिक व्यापक दृष्टि के साथ आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह प्रबल आग्रह है कि राज्य–व्यवहार पर कुछ प्रभावी अंकुश लगाए जाएं। विश्व स्तर पर गैर–सरकारी एजेन्सियों की प्रभावी क्रियाशीलता इस बात का पर्याप्त संकेत भी देती है कि राज्य स्वेच्छा से ऐसे अंकुशों के महत्व को स्वीकार करते हैं। ऐसा वे इसलिए करते हैं क्योंकि वे पूरी शिद्दत से यह महसूस करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय मोर्चे पर लगी अन्य ताक़ते उनकी बैरी नहीं हैं, वे उनकी अपनी ताकते हैं और उनसे जो काम अंजाम हो रहा है, वह प्रकारांतर से अन्तर्राष्ट्रीय प्रक्रियाओं को और अधिक मज़बूत करता है और यह मज़बूती खुद राष्ट्र–राज्यों को खुद्दार बनाती है। इससे उन्हें आत्मनिर्भरता प्राप्त होती है।

6. राजनीति : घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय

यह व्यापक स्तर पर माना जाता है कि राष्ट्रीय (घरेलू) तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण सम्बन्ध (लिंकेजेज) विद्यमान हैं। माना यह जाता है कि राष्ट्र–राज्य जो कुछ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर करते हैं वह वास्तव में उनके घरेलू क्रियाकलापों का ही अंशतः प्रकट रुप होता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रकट प्रगाढ़ अन्तर्निर्भरता का आज राष्ट्रीय घटनाक्रमों तथा प्रवृत्तियों पर गहरा प्रभाव पड़ रहा । इन सब के रहते 'घरेलू ' तथा 'विदेशी ' मुद्दों में भेद छंटता सा जा रहा है।

घरेलू एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनेक समानताएं विद्यमान हैं :–

(1) दोनों राजनीतियों में सहयोग एवं संघर्ष की समान प्रवृत्तियों का समावेश प्रकट होता है। इस प्रक्रिया में दूसरों के मूल्य पर कुछ चुनिंदा लोगों के 'मूल्य ' एवं हित संसाधित होते हैं। घरेलू राजनीति की भांति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी सबके हितों को समान रुप से संसाधित नहीं किया जा सकता यद्यपि समान मुद्दों के रहते मूल्य–प्राथमिकता प्राय: सभी की एक सुनिश्चित बिन्दु पर घुलती–मिलती प्रकट होती है।

(2) घरेलू राजनीति की ही भांति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मूल्यों के संवेगी मत भेदों को संघर्ष एवं सहयोग की असंचयी (non–cumulative) अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति के माध्यम से समायोजित किया जाता है। राष्ट्रीय राजनीति की भांति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक मुद्दे की जगह दूसरा मुद्दा आगे रख कर संघर्ष एवं सहयोग दोनों को असंचयी बना दिया जाता है। ऐसा करके संघर्षरत अथवा सहयोगी व्यक्तियों की भूमिकाओं एवं क्रिया–कलापों को लगातार फेंटते रहा जाता है ताकि वे स्थाई भाव न बन जाएं। यही संघर्ष व सहयोग की असंचयी प्रकृति है।

(3) सफलता या असफलता चाहे कुछ भी कितनी ही हाथ क्यों न लगे, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों राजनीतिक प्रकारों में प्रत्येक समूह लगातार अपने–अपने ऐसे हित संवर्द्धन में लीन रहता है जिसमें उसके लाभ का अनुपात दूसरों की समानुपाती हानि अथवा घाटे पर निर्भर करता है। यह राजनीतियों का 'जीरोसम ' खेल है। इसमें सतत गणना या आकलन यह होता है कि "किसने क्या, कब और कितना पाया? "[12]

(4) घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों राजनीतियों में घोषित प्राथमिकताओं को प्राप्त करने के लिए उत्पीड़न के उपकरणों का सहारा लिया जाता है। फलस्वरूप दोनों संदर्भों में जान और माल का नुकसान होता है।[13]

इन समानताओं के बावजूद घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति प्रकारों में कुछ बुनियादी फर्क भी है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रमुख प्रतियोगी राष्ट्र होते हैं। ये राष्ट्र घरेलू संदर्भ में व्याप्त उप–राष्ट्रीय राजनीति हित समूहों से बहुधा भिन्न होते हैं। उप–राष्ट्रीय समूहों में कोई सदस्य एकाधिक समूह राजनीति के प्रतियोगियों को ऐसा विशेषाधिकार नहीं प्राप्त हो सकता। कोई 'अमेरिकी ' अमेरिकी होते हुए तत्काल 'रूसी ' या 'चीनी ' नहीं हो सकता। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में "विश्व–नागरिकता" की भी कोई प्रभावी प्रक्रिया नहीं है। [14] इन स्थितियों के रहते "समरथ को नही दोस गोसाईं" प्रभावी मानक बन कर उपस्थित होता है। शक्तिशाली वर्ग की शक्ति–युक्तियां सफलता के पैमाने पर खरी उतरते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति निर्धारित करती है। उनका उद्देश्य अविद्यमान विश्व–सरकार के नीति–आउटपुट्स को व्यापक प्रभावित और प्रसारित करना नहीं होता।

घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्बन्धों की इस चर्चा का उद्देश्य दो सामान्य धारणाओं का प्रतिपादन करता है :–

(1) घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कुछ सीमा–रेखाओं का निर्धारण अपरिहार्य है चाहे वे सीमा–रेखाएं कितनी भी सामान्य अथवा अपरिष्कृत क्यों न हों क्योंकि दोनों ही संदर्भों में कुछ विकास–क्रम अन्यों की अपेक्षा अधिक केन्द्रीय हैं; तथा

(2) विश्व–राजनीति कुछ ऐसे अभिकर्ताओं द्वारा सम्हाली हुई है जिनके क्रिया–कलाप विशिष्ट राष्ट्र और संस्कृतियों के परे व्यापक प्रभाव छोड़ते हैं। इस प्रभाव को और अधिक गहरा और व्यापक बनाना प्लेटो द्वारा प्रतिपादित 'वास्तुशिल्पी न्याय ' सुलभ कराने के लिए अति–आवश्यक है।

7. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की समसामयिक प्रवृत्तियां एवं ज्वलंत प्रश्न

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र की चर्चा के बाद यह इकाई समाप्त करने से पहले उसकी दिशा और दशा पर एक सारांश रुपी चर्चा आवश्यक है। इनसे समस्याओं की विकरालता का तो आभास होता ही है। साथ ही, 'क्या किया जाए ' इसका भी बोध होता है।

आज कुछ समस्याएं विश्व–व्यापी आकार ग्रहण करते हुए उनके समाधान की उत्कट अपेक्षाएं रखती हैं। यदि समाधान न हो तो उनके रहते विश्व–व्यवस्था अव्यवस्थित हो जाएगी। ये समस्याएं हैं :–

(1) राष्ट्रीय सम्प्रभुता का ह्रास तथा 'राष्ट्रेतर' भाव का उदय एवं उत्तरोत्तर विकास;

(2) विश्व अल्पतंत्र (World Oligarchy) तथा विश्व जन साधारण (World mass) के जीवनों का स्याह–सफेद अन्तर और उससे जुड़े उत्तरजीविता के सवाल;

(3) अन्तर्राष्ट्रीय समाज में अमीर–गरीब का लगातार बढ़ता भेद और नवीनतम पनपती व्यापक असमानताएं:–

(4) आणविक क्षमताओं की विकरालता तथा वि–आणविकीकरण (de–nuclearization) से जुड़ी गम्भीर समस्याएं;

(5) भौतिक एवं मानवीय पर्यावरण का संरक्षण; तथा

(6) अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की वैकल्पिक पुर्नसंरचना का प्रश्न।

ये समस्त समस्याएं स्वतंत्र चर्चा की अपेक्षा करती है। स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का भविष्य और उसकी सार्थकता इस बात पर निर्भर करेगी कि वह इन समस्याओं का कब और कैसे संतोषजनक समाधान प्रस्तुत कर सकेगी। अत: इन सभी समस्याओं की चर्चा के लिए इस पाठ्यक्रम में पर्याप्त प्रावधान रखा जाना अपरिहार्य है। इसी चर्चा से विचारशील व्यक्ति और विशेषकर अध्येता कुशल 'वैचारिक नेतृत्व' प्रदान कर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की समस्त सम्भावनाएं ऐसे नेतृत्व पर टिकी हुई हैं। इन समस्याओं के प्रति शैक्षणिक और सक्रिय परिप्रेक्ष्य का निर्माण आज की एक पहली आवश्यकता है।

8. उद्धरण

(1) महेन्द्र कुमार थ्योरिटिकल आस्पेक्ट्स ऑफ' इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स (आगरा, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, 1981 पुनर्मुद्रण), पृ.

(2) केनेथ थॉम्पसन, का कथन पी. आर. भाटिया द्वारा उद्दत। देखें भाटिया, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं विश्व राजनीति (जयपुर, यूनिवर्सल बुक डिपो, 1978), पृ. 16–17.

(3) हार्टमैन का कथन, **वही.**

(4) पेडेलफोर्ड तथा लिंकन, **वही.**

(5) हेन्स जे. मॉर्गेन्थो, **पॉलिटिक्स अमंग नेशन्स** (न्यूयॉर्क, नॉफ 1974 पृ. सं. 14–20)

(6) रिचर्ड स्टर्लिंग, **मैक्रोपॉलिटिक्स : इन्टरनेशनल रिलेशन्स इन ए ग्लोबल सोसायटी** (न्यूयॉर्क, एल्फ्रेड ए नॉफ, 1974), विशेषत: भाग दो।

(7) स्टेनले हॉफमेन (सं.) **कन्टेम्पोरेरी थ्योरी इन इन्टरनेशनल रिलेशन्स** (एन्गेलवुड क्लिफ़्स न्यू जर्सी, प्रेन्टिस हॉल, 1960), पृ. 6

(8) रिचर्ड स्टर्गि, **पूर्वोक्त** पृ. 14.

(9) जेम्स रोज़ेनाओं "पर्सपेक्टिव्स ऑन वर्ल्ड पॉलिटिक्स", रोज़ेनाओं, थॉम्पसन तथा बॉयड (सं.)**वर्ल्ड पॉलिटक्स–एन इंट्रोडक्शन में** (न्यूयॉर्क, दि फ्री प्रेस, 1976) पृ. 5

(10) अनाम जैतली, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स–मेजर कन्टेम्पोरेरी ट्रेन्ड् स एण्ड इशूज (न्यू डेल्ही, स्टर्लिंग पब्लिशर्स, 1984), पृ. 10

(11) **वही,** पृ 12–14

(12) हेरॉल्ड लासवेल ने अपनी इसी शीर्षक की पुस्तक में राजनीति में शक्ति के निर्माण तथा सहभागिता को समझाया है। लासवेल, पॉलिटिक्स–हू गेट्स ,वॉट, वेन एण्ड हाऊ?

(13) लेविस एफ. रिचर्डसन, स्टेटिस्टिक्स. ऑफ डेडली क्वॉरैल्स (पिट्सबर्ग, पी. ए., दि बॉक्सबुड प्रेस, 1960) पृ. स. 32 – 50.

(14) अनाम जैतली, पूर्वोक्त, पृ. सं. 12 – 15.

9. संदर्भ ग्रन्थ

(1) रिचर्ड स्टर्लिंग : मेक्रोपॉलिटिक्स–इन्टरनेशनल रिलेशन्स इन ए ग्लोबल सोयायटी, 1974

(2) फॉरेस्ट एल. ग्रीव : कॉन्फ्लिक्ट एण्ड ऑर्डर– एन इंट्रोडक्शन टु इन्टरनेशनल रिलेश्न्स, 1977

(3) नॉर्मन पेडेलफोर्ड तथा जार्ज लिंकन : इंटरनेशनल पॉलिटिक्स–फाउन्डेशन्स ऑफ, इंटरनेशनल रिलेशन्स, 1974

(4) जेम्स रोज़ेनाओ, केनेथ थॉम्पसन तथा गेविन बॉयड (सम्पादित) : वर्ल्ड पॉलिटिक्स– एन इंट्रोडक्शन, 1976

(5) रिचर्ड फॉक : ए ग्लोबल अप्रोच टु नेशनल पॉलिसी, 1995

(6) अनाम जैतली : इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स–मेजर कन्टेम्पोरेरी ट्रेन्ड्स एण्ड इशूज, 1984

10. अभ्यास–प्रश्न

(1) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की नई प्रासंगिकता क्या है? स्पष्ट कीजिए।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अर्थ एवं प्रकृति विषयक तीन प्रसंग क्या है? विवेचना कीजिए।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के पारम्परिक तथा समसामयिक क्षेत्र की समीक्षा कीजिए।

(4) घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतियो में क्या समानताएं तथा असमानताएं विद्यमान है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

(5) आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्या ज्वलंत प्रश्न हैं? चर्चा कीजिए

इकाई 2
आदर्शवादी तथा यथार्थवादी उपागम (एप्रोचेज)

इकाई संरचना

1. प्रस्तावना
2. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में आदर्शवादी उपागम
   - 2.1 आदर्शवाद की उत्पत्ति
   - 2.2 आदर्शवाद की प्रतिज्ञाप्तियां
   - 2.3 आदर्शवाद उपागम : एक आलोचना
3. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धी में यथार्थवादी उपागम
   - 3.1 यथार्थवाद की उत्पत्ति
   - 3.2 यथार्थवाद की प्रतिज्ञाप्तियां
   - 3.3 यथार्थवादी उपागम एक: आलोचना
4. उपसंहार
5. संदर्भ ग्रन्थ
6. अभ्यास प्रश्न

आदर्शवादी तथा यथार्थवादी उपागम (एप्रोच)

सन् 1919 में सर्वप्रथम (वेल्स विद्यालय' में) प्रोफेसर के पद की स्थापना के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक स्वतंत्र विषय के रुप में विकास हो पाया है। इससे पहले ऐतिहासिक–विवेचनात्मक–संस्थागत अध्ययनों के अन्तर्गत ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषय का अध्ययन किया जाता रहा था। विश्व राजनीतिक प्रक्रियाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तनों तथा नये कारकों की उत्पत्ति के साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बन्धित साहित्य में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। इसके फलस्वरूप विश्वव्यापी घटनाओं के, विश्लेषण हेतु कई उपागम, धारणाएं व सिद्धान्त उभर कर सामने आये, जिसमें वर्तमान विश्व–व्यवस्था के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई एकमत या समझौते का विकास नहीं हो पाया था क्योंकि विभिन्न धारणाएं अपनी मान्यताओं व मापदण्डों के अनुसार राष्ट्रों के परस्पर व्यवहार की व्याख्या करती थीं; दृष्टिकोणों के इस जटिल विन्यास के बावजूद भी हम इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त के चार श्रेणी–क्रमों में रखकर व्यवस्थित रुप दे सकते हैं जो इस प्रकार है:–

(i) आदर्शवादी–नियामक क्रम या विन्यास
(ii) यथार्थवादी विन्यास
(iii) व्यावहारिक–वैज्ञानिक विन्यास
(iv) मार्क्सवादी–संरचनात्मक विन्यास

आगामी पृष्ठों में हम आदर्शवादी तथा यथार्थवादी उपागमों के समझने तथा इनका विश्लेषण करने के लिए इनके मुख्य तर्कों, अच्छाइयों व कमियों की व्याख्या करेंगे। सामान्य विचार धारा या राय के विपरीत दोनों ही उपागम प्रमुख रुप से युद्ध तथा शान्ति जैसी समस्यायों से अधिक सरोकार रखते हैं तथा इस इकाई के आखिरी भाग में उन पहलुओं का विस्तार से वर्णन किया गया है, इस परिचर्चा के तहत दोनों ही उपागमों की मूलभूत प्रतिज्ञाप्तियों पर ही विचार किया जायेगा क्योंकि वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त के क्षेत्र में, जो अन्य अधिक परिष्कृत तथा समन्वयी विचारधारों का विकास हुआ है वे इन्हीं दो उपागमों के परिष्कृत रूपान्तर हैं जिन इस इकाई में कोई विचार नहीं किया जायेगा। इसमें हेडले बुल का 'विश्वव्यापी यथार्थवाद तक रार्बट गिलपिन का 'नव यथार्थवाद ' या अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर विश्व व्याख्या दृष्टिकोणों मुख्य हैं।

2. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का आदर्शवादी उपागम

2.1 आदर्शवाद की उत्पत्ति

प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ होने से पहले का अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन विवेचनात्मक ऐतिहासिक क्रियाओं तक ही सीमित था । विद्वानों के शैक्षिक कार्यकलाप राजनेताओं व कूटनीतिज्ञों के कार्यों के वर्णन तथा राजनीतिक सम्मेलन, समझौते व युद्ध के अभिलेखन तक ही सीमित थे। इन घटनाओं की अन्दरूनी तहों की प्रतिरुप व्यवहार नियमितता तथा उत्पादन कारकों का पता लगाने के लिए बहुत कम प्रयास किये जाते थे। इन कारकों व प्रतिरुपों की जानकारी के आधार पर सामान्य अनुमान निकालना व भविष्यवाणी करना तो बहुत दूर की बात थी ऐसा प्रतीत होना था कि वर्तमान सदी के आरम्भ तक अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के अध्येताओं के विवेचनात्मक व विधिवादी लेखनी में विश्लेषण व सिद्धान्त की ओर झुकाव में शोचनीय कमी रही थी।

प्रथम विश्व युद्ध की विस्फोटक शुरुआत तथा इसकी तबाही के फलस्वरूप व्याकुलता ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की इस व्याप्त प्रणाली को गम्भीर आघात पहुंचाया। कूटनीतिक ऐतिहासिक उपागम सिर्फ प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत के लिए उत्तरदायी कारणों व घटनाओं की व्याख्या करने में ही असमर्थ न था वरन् भविष्य में शांति को सुनिश्चित करने वाले तरीकों व मापदण्डों को निर्धारित करने में भी असमर्थ था। शैक्षिक तथा जन समुदाय में राज्यों के बीच हिंसक संघर्षों की पुनरावृत्ति को टालने के लिए व्याप्त चिन्ता ने नयी अर्न्तदृष्टि व विश्लेषणों के प्रयोग को प्रोत्साहन दिया जिसके फलस्वरूप विवेचनात्मक–ऐतिहासिक–विधिवादी उपागम का पतन हुआ तथा प्रतिज्ञाप्तियों के समूह के रुप में सामूहिक रुप से अभिज्ञेय 'आर्दशवादी ' उपागम की सामने आने का अवसर दिया।

राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के प्रसिद्ध 14 सूत्रीय कार्यक्रम के प्रतिपादन तथा सन् 1919 में लीग आफ नेशन्स की स्थापना ने निश्चित रुप से आदर्शवादी विचार धारा की गति को बढ़ाया था। लेकिन आर्दशवादी 20 वीं सदी की खोज कदापि नहीं था। इसकी जड़े उदारवाद व फ्रांसीसी क्रान्तियों के मतों तथा हेनरी डी. सेन्ट साइमन, रिचर्ड कोबदन, ह्रायूगों ग्रेशियस, इमेन्यूअल कांट तथा विलियन लड जैसे. विभिन्न विचारकों के लेखनों में निहित थी। उनके द्वारा

आर्दशवादी विचार धारा के विकास को प्रोत्साहन मिला था। आधुनिक काल में वुडरो विलसन, रसल, महात्मा गांधी, अलडस हक्सले व मार्गरट मीड जैसे विचारकों व राजनेताओं ने आर्दशवादी विचारधारा में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। कुछ ही वर्षों में आदर्शवादी विचारधारा ने संघवाद व विधिवाद से लेकर मानववाद व शान्तिवाद जैसे दर्शनों के पहलुओं को अपने में समाविष्ट किया।

2.2 आदर्शवाद की प्रतिज्ञाप्तियां

हम अब अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के आदर्शवादी उपागम की मुख्य प्रतिज्ञाप्तियों व मान्यताओं के परीक्षण की तरफ बढ़ते हैं। यद्यपि विशिष्ट आदर्शवादी विचारकों द्वारा दिये गए तर्कों के बल के रुप मे सूक्ष्म विभिन्नताएं हैं लेकिन हम उन्हीं मुख्य सिद्धान्तों व मान्यताओं पर विचार, करेंगे जिनके बारे में सभी आदर्शवादी विचारकों में एकरूपता या एकमत हैं।

आदर्शवादी मनुष्य को आवश्यक रुप से भला नैतिक व स्वार्थहीन प्राणी मानते हैं जो कि सहयोगी व्यवहार करने मे सक्षम होता है। हमारे व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन में प्रदर्शित होने वाले बुरे व्यवहार की प्रवृत्तियां तथानीयत, आसपास के वातावरण व संस्थाओं के प्रतिकूल प्रभावों तथा समाजीकरण व शिक्षा की अनुपयुक्त प्रक्रिया के फलस्वरूप ही पैदा होती हैं।

इस प्रकार राज्यों के सम्बन्धों तथा समाज मे लाये जाने वाले युद्ध, शक्ति' संघर्ष व हिंसक प्रतिरोध कोई सामान्यय, अपरिर्हाय व अनुत्क्रमणीय घटनाएं नहीं हैं जो कि मानव मस्तिष्क की शक्ति के नियंत्रण से बाहर हों। वे अधिराष्ट्र स्तर पर असंगत संरचनात्मक व्याख्या क्रम तथा घरेलू समाजों में असंतुलित व निरंकुश व्याख्या के उदाहरण हैं। युद्ध तथा संघर्ष मनुष्यों के सुधारवादी प्रयासों द्वारा टाले जा सकते है। अन्तर्राष्ट्रीय, अधिराष्ट्रीय तथा घरेलू स्तरों पर इस तरह के प्रयास किये जा सकते. हैं।

शक्ति संघर्ष के उत्क्रमण को परिशोधित करने के लिए नीति का एक महत्वपूर्ण आयाम यह है कि पर्याप्त अवपीड़क शक्ति रखने वाले राज्यों के संगठन तथा उपयुक्त संस्थाओं का निर्माण किया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की सीमाओं तथा नियंत्रणों के अर्न्तगत कार्य करने वाले इस तरह के संगठन कुछ वर्षों में राज्यों के विश्व संघ के रुप में विकसित हो सकते हैं जिसमें कि राज्य स्वेच्छा से अपनी सत्ता को त्याग सकते हैं शक्ति प्रयोग से सर्वप्रथम राज्य संघ के निर्माण व बाद में इसके अनुरक्षण के औचित्य व वांछनीयता मसौदे पर विभिन्न आदर्शवादी विचारों में ठोस विवाद विद्यमान है।

राज्यों के आन्तरिक मामलों में प्रजातांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना व मानव व राजनीतिक अधिकारों की सुरक्षा की गारंटी तथा जन स्वतंत्रता ही विश्व समुदाय व शांति जैसे लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों मे केवल निरंकुश व सर्वसत्तावादी शासन ही आम जनता के शान्तिवादी दबावों को नजर अंदाज कर, हिंसक व आक्रमण रुप से कार्य करते है। विभिन्न राष्ट्रीयताओं को स्वाधीनता प्रदान करना सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था के प्रजातांत्रिक की दिशा में एक पहला कदम है।

हिंसक संघर्षों को कम करने के लिए आदर्शवादियों ने एक वैध अधिराष्ट्रीय संस्था द्वारा कार्यान्वित शान्ति अभिमुख अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निर्माण, शान्ति समझौते संधि तथा

खुली प्रसंविदा व अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यापार विनियम की स्वतंत्रता जैसे मापदण्ड प्रविष्ट किये हैं।

यद्यपि व्यक्तिगत रुप से राष्ट्रों की सैनिक क्षमता मे कमी तथा साथ ही साथ एक अधिराष्ट्रीय। संस्था की बल प्रयोग क्षमता में बढ़ोत्तरी द्वारा शान्ति प्रक्रिया पर सीधा प्रभाव पड़ता है। निरस्त्रीकरण,शस्त्र नियंत्रण व सामूहिक सुरक्षा इस उद्देश्य की प्राप्ति के कुछ माध्यम हैं।

आदर्शवादी अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त की मूलभूत धारणाओं की सूक्ष्म रुपरेखा इसके अनुयायियों के इस दृढ़ विश्वास को दर्शाती है कि राजनीतिक तथा नैतिक मूल्यों में घने सम्बन्ध हैं। आर्दशवादी मत में नैतिक व्यवस्था को सुनिश्चित करने की प्रतिबद्धता पायी जाती है। विशेष तौर पर उनका मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में केवल सर्वव्यापक नैतिक मूल्य ही मानव जाति के एक विश्व समुदाय की उत्पत्ति के लिए उपयुक्त वातावरण प्रदान कर सकते हैं।

2.3 आदर्शवादी उपागम : एक समीक्षा

आदर्शवादी विद्वानों के ऊंचे व सुप्रत्याशी प्रतिपादन आदर्शवादी उपागम में निहित कठिनाइयों को छिपाने में सफल नहीं हो पाये। सर्वप्रथम, आश्चर्यजनक आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक विभिन्नताओं वाले विश्व में क्या सर्वव्यापक नैतिक मूल्यों के अनुसरण के लिए एकमत का विकास सम्भव है? दूसरा, आदर्शवादी सिद्धान्त के प्रतिपादकों में राज्य द्वारा नियमों व अनुशासन के अनुपालन मे शक्ति प्रयोग के मसले पर द्विधार्थकता बनी रहती है। शान्तिवादी प्रतिहिंसा के लिए बल प्रयोग व हिंसा का कड़ा विरोध करते हैं। वे संघवादी राज्यों द्वारा सर्वव्यापी नियमों के बलपूर्वक अनुपालन के सक्रिय पक्षधर हैं।

तीसरा, विश्व राजनीतिक प्रक्रियाओं के मार्क्सवादी लेखक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रत्यक्ष घटनाओं के लिए उत्तरदायी आर्थिक शक्तियों व कारकों के प्रति आदर्शवादी उपागम को सहज व असतर्क पाते हैं।

यद्यपि आदर्शवाद से मोहभंग करने में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है कि आदर्शवादी संस्थाएं (द लीग आफ नेशन्स) तथा विचारधारा दो दशक से भी कम समय मे विश्व युद्ध की पुनरावृत्ति की न तो भविष्यवाणी ही कर सकी और न ही उसे रोकने में सफल हो पायीं। राष्ट्रसंघ के सदस्यों में अत्यधिक शक्ति संघर्ष से इसकी दुर्बल दशा आदर्शवाद द्वारा प्रोत्साहित लकार्नो तथा केलौग–ब्राइन्ड समझौतों की असफलता तथा यूरोप में सन् 1920 तथा 30 के दौरान प्रचण्ड राष्ट्रीयताओं के उबाल इत्यादि कारणों ने आदर्शवादी विचारधारा के प्रभाव को पूर्णत: खत्म करने का कार्य किया। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में आदर्शवाद का यथार्थवाद द्वारा एक प्रभुत्वशील दर्शन के रुप में प्रति स्थापन इसलिए आश्चर्य नहीं पैदा करता है।

यद्यपि इन सबसे शैक्षिक अध्ययनों तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के संचालन में आदर्शवाद का आवश्यक महत्व नहीं घटता । राजनेताओं तथा कूटनीतिज्ञों द्वारा अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए आदर्शवादी शब्दाडम्बरों का प्रयोग इस बात का उदाहरण है। इसके अलावा सामाजिक–राजनीतिक मामलों में नैतिक मूल्यों के महत्व को घटाया नहीं जा सकता है। आदर्श हमें केवल

अपनी असफलताओं के प्रति सचेत ही नहीं करते वरन् पुनर्निमाण के लिए एक ठोस कार्यक्रम की पृष्ठभूमि भी प्रदान करते हैं।

3. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का यथार्थवादी उपागम

3.1 यथार्थवाद की उत्पत्ति

आदर्शवाद के अन्तर्राष्ट्रीय निकाय के सम्बन्ध में व्याख्यापरक आधारों में दो स्पष्ट कमियों के फलस्वरुप सन् 1950 तथा 60 वें दशक के आरम्भ में यथार्थवाद अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त के निर्विवाद प्रतिमान के रुप मे उभर कर सामने आया, यहां तक कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की घटनाओं, जैसे संधियों तथा प्रति–संधियों का निर्माण व दो महाशक्तियों के बीच शीत युद्ध की शुरुआत इत्यादि ने यर्थाथवादी भय तथा प्रतिज्ञाप्तियों की पुष्टि की।

आधुनिक काल में हैन्स मोरगेनथ्यू का नाम यथार्थवाद से जुड़ा हुआ है। जटिल सम्बन्धों वाले सिद्धान्त की व्याख्या, व्यवस्थापन व प्रस्तुति में अन्य चिन्तकों की अपेक्षा उनका योगदान महत्वपूर्ण समझा जाता है। उनके विशाल ग्रन्थ 'पालिटिक्स अमोंग नेशन्स' में यथार्थवादी तर्कों की प्रथम व पूर्ण व्याख्या की गई है, यद्यपि मोरगेन्थ्यू को इस उपागम का आविष्कारक कदापि नहीं समझा जा सकता, क्योंकि वास्तव में यथार्थवाद का प्रेरणास्रोत कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' या मैक्येवली तथा हाब्स के आधुनिक राजनीतिक विचारधारा के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में पाया जाता है। बीसवीं सदी में "यथार्थवाद" ने बड़ी संख्या मे विद्वानों व अनुयायियों को अपनी तरफ आकर्षित किया। उनमें से प्रमुख विद्वान ई एच. कार, रेन होल्ड नीबुर, जार्ज केनन, फ्रेडरिक शुमेन, ओर्नाल्ड तथा हेनरी किसिंजर इत्यादि हैं।

3.2 यथार्थवादी की प्रतिज्ञाप्तियां

कुछ ही दशकों के अन्दर यथार्थवाद के सिद्धान्तों को कई विद्वानों ने इतना परिशोधित व परिष्कृत कर दिया है कि आज इसकी एक जटिल व बहुलवादी पहचान बन चुकी है। यथार्थवादी दर्शन तथा अभ्यास से सम्बन्धित साहित्य के पहलुओं के तर्कों का संक्षिप्त विवरण असम्भव सा होता है। इसलिए हम यथार्थवादी विचारधारा के सामान्य व मूल सिद्धान्तों की विवेचना का प्रयास करेंगे।

यथार्थवाद के अनुसार मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी है तथा उसका यह प्राकृतिक स्वभाव, शिक्षा व नैतिकता के द्वारा भी सुधरने के योग्य नहीं है। सभी मनुष्य अनिवार्य रुप से शक्ति की खोज में लगे रहते है। किसी भी तरह से अपने स्वार्थ की पूर्ति करना चाहते हैं। इस तरह का अपरिवर्तन तथा यथार्थ मानव स्वभाव, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में राजनीति के सार व निष्कर्षों को निर्धारित करता है। इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि सभी प्रकार की राजनीति, शक्ति संघर्ष का रुप ले लेती है। इस प्रकार राजनीति व विश्लेषण करने वालों का वस्तु विषय, शक्ति की प्राप्ति, प्रयोग, वितरण व संचालन होना चाहिये।

यथार्थवादी के अनुसार सम्प्रभु राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की महत्वपूर्ण इकाई होते हैं। स्वतंत्र तथा स्वायत्त रुप से नीति निर्धारण की सामर्थ्य रखने वाली इन इकाईयों की कार्यवाहियां तथा प्रतिक्रियाएं लम्बे समय तक यथार्थवाद का विषय वस्तु रही। विदेशी मामलों के संदर्भ में राष्ट्र अखण्डित व एकीकृत कार्यकर्ता समझे जाते हैं जो कि घरेलू विभाजनों को नहीं प्रदर्शित करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को बिलियर्ड टेबल की गेदों के आयोजन के रुप में परिकल्पित किया जा सकता है। इन्हीं गेदों की भांति राष्ट्र भी समानरुप से पारस्परिक क्रियाओं में संलग्न रहते है तथा अपनी गति या संचलन के बल पर अन्य गेदों पर प्रभाव डालते हैं। इन राष्ट्रों पर केन्द्रित व्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अराजकता का माहौल होता है। इसमें राज्यों से ऊपर कोई सत्ता नहीं होती जो कि राज्यों के विदेशी मामलों पर उनकी स्वतंत्रता व सम्प्रभुता को नियंत्रित या घटा सके। यथार्थवादी राष्ट्रों के ऊपर किसी सत्ता की व्यवस्था की कमी को अनुभव करते हुए राष्ट्र व्यवस्था की विवेकशीलता के सिद्धान्त पर जोर देते हैं। राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए इसका आकलन व नीति के लिए आवश्यक है कि विदेश नीति के संचालक विवेकशील हों ताकि वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की रक्षा के महत्व को समझने के योग्य हो सकें तथा राजा के अनियमित व क्रांतिकारी व्यवहार से इसे टूटने से बचा सकें।

अराजक परिस्थितियों में सम्प्रभुराज्य के स्वायत्त चरित्र को खत्म करने की बजाय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन व कानून व्यवस्था के रक्षक की भूमिका अदा कर सकते हैं। राष्ट्रों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के बीच हित संघर्ष की दशा में राष्ट्र हितों को प्राथमिकता दी जानी चाहिये।

यथार्थवाद की प्रमुख मान्यता है कि राष्ट्र हमेशा अपने हितों व सुरक्षा को बनाये रखने का प्रयास करते हैं; मोरगेन्थ्यू का मानना है कि राष्ट्र हित को शक्ति के रुप में ही परिभाषित किया जा सकता है। यह इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि शक्ति का अवधारणा यथार्थवादी विचारधारा में एक प्रमुख स्थान रखती है। वे शक्ति को एक राज्य द्वारा दूसरे राज्यों को प्रभावित करने वाली क्षमता मानते हैं । यद्यपि शक्ति, आर्थिक, भौगोलिक, जन सांख्यिकी व संस्कृति जैसे स्रोतों से प्राप्त की जा सकती है । लेकिन यथार्थवादी 'लेखक इस धारणा से सहमत है कि सैनिक सामर्थ्य, शक्ति का एक सबसे महत्वपूर्ण स्रोत है। यह धारणा इस विश्वास से अधिक पुष्ट होती है कि अन्तिम रुप सें सैनिक क्षमता व हथियारों के माध्यम से ही एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों पर अपनी इच्छा लादने में कामयाब हो पाता है।

यदि सभी राष्ट्र शक्ति उपार्जन के जरिये ही अपने राष्ट्र हितों की पूर्ति करते हैं तो इस व्यवस्था को विभिन्न राष्ट्रों द्वारा अनियमित व संघर्षशील शक्ति अनुसरण से टूटने से कैसे बचाया जा सकेता है? यथार्थवादियों के पास इसका समाधान है। वे शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के नियंत्रण की प्रणाली के रुप में देते है; विभिन्न ऐतिहासिक युगों के दौरान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था इस सिद्धान्त के एक या दूसरे रुप में कार्यान्वयन फलस्वरुप खतरनाक विश्व व्यापी संघर्षों के दबावों के बावजूद सुरक्षित रह पायी है। शक्ति सन्तुलन के यथार्थवादी प्रतिपादकों ने इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। शक्ति सन्तुलन उस अवस्था को कहा जाता है जहां कि राष्ट्रों के बीच समान शक्ति वितरण के फलस्वरुप साम्यावस्था बनी रहती है। यह वह असमान शक्ति वितरण है जहां कि एक या अनेक राष्ट्रों का समूह अपनी

प्रवर शक्ति के द्वारा सन्तुलन बनाते है जो कि छोटे राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक समर्थ होता है। अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास में हम कई प्रकार के शक्ति सन्तुलन की व्यवस्थाएं पाते हैं। (उदाहरण स्वरूप, प्राचीन बहुध्रुवीय व्यवस्था या समकालीन दिध्रुवीय व्यवस्था)। विवेकशील राष्ट्रों द्वारा अपने व्यवस्था संचालन के नियमों से दोनों ही प्रकार की व्यवस्थाएं नियमित होती हैं। शक्ति सन्तुलन एडम स्मिथ द्वारा बताये गए 'अदृश्य हाथों ' के समान है जो कि स्वचलित रुप से बिना किसी संस्थागत प्रणाली की सहायता से पारस्परिक एकान्तिक व विरोधी शक्ति संघर्ष व उपार्जन को नियंत्रित करता है।

संक्षेप में, जब शक्ति अधोन्मुख योजनाएं व नीतियां ही राष्ट्रीय सुरक्षा में सहयोग दे सकती है तो सन्तुलन व सामंजस्य के प्रसंग में शक्ति की लालसा राष्ट्रों की विदेश नीति की व्याख्या व संचालन के लिए मार्गदर्शक हो सकती है; शक्ति की लालसा या खोज तीन तरह से की, जा सकती है, प्रथम राष्ट्र यथास्थिति को बरकरार रखने की कोशिश कर सकते हैं तथा सामंजस्य लाने वाले परिवर्तनों को नियंत्रित कर सकते है; दूसरा, क्षेत्रीय, आर्थिक व सैनिक संसाधनों के साम्राज्यवादी विस्तार के फलस्वरुप शक्ति बढ़ा सकते है। तीसरा, दोनों ही विकल्पों के पूरक बढ़ा सकते हैं जिससे कि वे अन्य देशों के विरुद्ध वास्तविक शक्ति के प्रयोग की सम्भावनाओं का घटा सकें।

यद्यपि यथार्थवादी विद्वान राष्ट्र के व्यवहार को प्रभावित करने वाले विविध कारकों की व्याख्या करते हैं लेकिन उनमें से वे अवलोकित व अवलोचन योग्य कारणवाचक उपादानों के मदों पर अधिक विश्वास करते हैं। इस प्रकार यथार्थवादी नीति निर्धारकों की कार्यवाहियों विदेशी नीति कार्यान्वित करने के अन्य तरीकों व राष्ट्रीय आर्थिक संसाधनों को विदेश नीति क्रियाकलापों की व्याख्या में बहुत महत्वपूर्ण तथ्य स्वीकार करती हैं। यथार्थवादी प्रतिपादन घरेलू व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्तरों पर भी भेद करते हैं तथा यह भी स्वीकार करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के निर्धारण में घरेलू राजनीति का अधिक सहयोग नहीं होता हैं।

अन्त में, आदर्शवादी विचार धारा की तुलना में यथार्थवादी राजनीति तथा नैतिकता के क्षेत्रों में भी अन्तर करते हैं; उनके अनुसार राष्ट्रों के अस्तित्व व राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे सर्वोपरि कार्यों में नैतिकता, मूल्य प्रतिमान व विचारधारा न्यूनतम भूमिका निभाते हैं । राष्ट्रीय–नैतिकता को व्यक्तिगत नैतिकता के समझ हमेशा प्राथमिकता दी जानी चाहिये। नैतिक व सांस्कृतिक लक्ष्य, सुरक्षा व राजनीतिक अनिवार्यता के अधीन होने चाहिये। जब भी राष्ट्रों ने वैचारिक, नैतिक व सांस्कृतिक उद्देश्यों को राष्ट्रीय हित सें अधिक महत्व देने का प्रयास किया तो उनकी सम्प्रभुता को विनाशकारी संक्षेपण का ही सामना करना पड़ा हैं।

3.3 यथार्थवादी उपागम: एक समीक्षा

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के यथार्थवादी उपागम के मूल सिद्धान्तों की उपर्युक्त सूक्ष्म रुप रेखा अन्तर्राष्ट्रीय निकाय के स्वरूप व कार्यों के सम्बन्ध में कई प्रश्नों को सामने रखती है। यथार्थवाद अपनी विभिन्न कमियों के कारण विश्व व्यापी घटनाओं की पर्याप्त व्याख्या करने में असफल रहा है।

यथार्थवाद की सबसे महत्वपूर्ण कमी इसका नियतिवादी स्वरूप है जो कि हर घटना की राष्ट्रों के असुधार्य शक्ति प्रेरकों के संदर्भ में व्याख्या करता है। इस प्रकार एक ही कारक पर आधारित व्याख्या अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविकता के एकतरफा ज्ञान को प्रदर्शित करती है जबकि इसे विभिन्न प्रकार की जटिल शक्तियां व अनिश्चित कारक प्रभावित करते हैं । इसमें शक्ति राष्ट्रीय हित, व राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे यथार्थवादी मूल प्रत्ययों को स्पष्ट परिभाषा व वर्गीकरण के बिना ही एक कारक पर आधारित व्याख्याओं की पुष्टि की गई है वैसे भी इन प्रत्ययों का यथार्थवादी विद्वानों ने विविध अर्थों में प्रयोग किया है। शक्ति की अवधारणा का सैनिक पक्ष की तरफ अत्यधिक झुकाव है जबकि राष्ट्रीय शक्ति में सांस्कृतिक, आर्थिक व जनसांख्यिकी आधार स्पष्ट रुप से स्वीकृत किये जाते हैं।

यथार्थवाद की राष्ट्रों की स्वतंत्रता, स्वायत्तता व सम्प्रभुता तथा अन्य कार्यकर्ताओं व शक्तियों से सम्बन्धित राजनीतिक प्रक्रिया की प्राकल्पनाएं गम्भीर रुप से पूर्ण है; क्योंकि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, नव उपनिवेशी सम्बन्ध, क्षेत्रीय संगठन तथा आतंकवादी कार्यवाहियां जैसे असंख्य प्रभावों के हस्तक्षेप के कारण राष्ट्रीय विदेश नीति के चयन में सीमित स्वतंत्रता ही मिल पाती है । यहां तक कि घरेलू दबावों का विदेश नीति के उद्देश्यों के साथ सामंजस्य बैठाना पड़ता है । यथार्थवादियों का घरेलू व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बीच भेद युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता हैं। यथार्थवाद नियामक रुप से मानव स्वभाव को स्वार्थी तथा अहंकारी जैसे असत्यापनीय स्तर तक घटा देता है। आधुनिक. विज्ञान व तकनीकी का एकीकरण करने वाला स्वभाव, यूरोपीय आर्थिक समुदाय जैसे विभिन्न क्षेत्रीय सहयोग के प्रयास से अधिराष्ट्रीय संस्था स्थापित करने की स्पष्ट भावनाएं तथा मनुष्य में स्वाभाविक अच्छाईयां तथा नैतिकता आदि सभी तथ्यों को सामान्यीकरण प्रक्रिया में कोई स्थान नहीं दिया गया है।

यथार्थवाद भविष्य निर्धारण करने वाली विचारधारा में भी बाधा डालता हुआ प्रतीत होता है जो कि पर्यावरण, विकास व नाभिकरण जैसे समकालीन संकटों के समाधान में सहयोग कर सकती है। राज्य पर आधारित विचारधारा उन सभी दशाओं। के वास्तविक स्वरूप से कहीं अधिक निर्धारित होती है तथा जिनके लिए अधि राष्ट्रीय व समाकलनात्मक समाधानों की आवश्कता होती है। युद्ध व शान्ति जैसे मामले अन्तर्राष्ट्रीय न्याय व असमानता जैसी मूलभूत समस्याओं से अलग करके नही देखे जा सकते हैं। वास्तव में यथार्थवाद अपनी निगमनिक अवधारणाओं के कारण उन सभी समस्याओं की अनुभूतिमूलक जाँच के लिए अनुपुक्त होता है।

सामंजस्य बनाने में राष्ट्र व्यवस्था की अर्न्तजात विवेकशीलता में यथार्थवाद का विश्वास वर्तमान काल में संदिग्ध प्रतीत होता है क्योंकि क्रांतिकारी, आतंकवादी व अन्य सनकी शक्तियों की अ अणुशस्त्रों व तकनीकी तक सहज पहुंच है। इस दशा में छोटी सी गलती विश्व भर के विनाश का कारण बन सकती है। राष्ट्रों की रहस्यमयी ढंग से कल्पित विवेकशीलता पर पूरी तरह से विश्वास करना आत्मघाती हो सकता है।

सम्प्रभु राज्यों पर अधिक ध्यान देने के कारण यथार्थवाद ने इसके अलावा अन्य कारकों की भूमिका की नजरअन्दाजी कर उन्हें अधिक महत्व नहीं दिया है जिन्होंने, कि वर्तमान विश्व व्यवस्था में सम्बंधों के साथ फैला रखे हैं तथा राष्ट्र से सम्बन्धित उन सभी कार्यों के अलावा

अन्य कारकों की उपेक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय शासन व्यवस्था की अपर्याप्त जानकारी ने शक्ति सिद्धान्तों की विश्व राजनीति सच्चाइयों की अवधारणा को स्पष्ट नहीं होने दिया है।

यथार्थवादी उपागम ने अपने प्रतिपादनों में स्पष्ट कमियों के बावजूद भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रमुख प्रतिमान होने के लिए कोई गम्भीर चुनौती का सामना नहीं किया है। जिसकी वजह से इसको अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए प्रथम सैद्धान्तिक व वैज्ञानिक प्रयास मुद्दों तथा समस्याओं को केन्द्र बिन्दु बनाया गया है तथा नीति कार्य के मार्गदर्शक के रुप में अधिक महत्वपूर्ण समझा गया है। राजनेता तथा कूटनीतिज्ञ आज भी यथार्थवादी धारणाओं के आधार पर ही कार्य करते हैं। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की अधिकांश सैद्धान्तिक धारणाएं यथार्थवादी विचार के अनुसमर्थन या आलोचना के रुप में ही है। यहां तक कि इसके आलोचक अपने तर्कों की परिभाषा में यथार्थवादी शब्दकोष तथा सिद्धान्तों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये हैं।

4. उपसंहार

आदर्शवादी तथा यथार्थवादी उपागमों के प्रमुख तर्कों का परीक्षण इस भाव को उत्पन्न करता है कि दोनों ही पारस्परिक रुप से अनन्य तथा विरोधी भी हैं। यद्यपि यह पूर्णतया सत्य नहीं है क्योंकि अपनी मान्यताओं में कई समान तत्वों को दोनों ही स्वीकार करते हैं। दोनों ही उपागम अपने स्वरूप में राष्ट्र पर केन्द्रित हैं तथा यह भी मानते हैं कि अराजक परिस्थितियों में रहने वाले सम्प्रभु राष्ट्र विश्व व्यवस्था के महत्वपूर्ण कार्यकर्ता होते हैं। विश्व व्यापी परिवर्तनों की अवधारणा में दोनों ही राष्ट्र शक्ति के प्रयोग पर आधारित रहते है। दोनों ही युद्ध व शांति को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की मुख्य समस्या मानते हैं तथा स्वरूप में आदेशात्मक हैं।

इसके अतिरिक्त दोनों ही उपागमों की आश्चर्यजनक परिसीमाएं समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त की संकटग्रस्त दशा का संकेत देती हैं जो कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाओं के अन्वेषण के मार्ग दर्शन के लिए एकमत वाले आधार के विकास के लिए प्रयासरत हैं। विश्व व्यवस्था में नई शक्तियों; प्रक्रियाओं तथा कारकों के आगमन ने यथार्थवाद तथा आदर्शवाद से ऊपर विभिन्न विचारधाराओं के आधार पर एकमत के निर्माण के लिए स्पष्ट रुप से एक पक्ष तैयार किया है।

5. संदर्भ ग्रन्थ

छात्र निम्नलिखित पुस्तकों में इस इकाई में उठाये गए प्रसंगों की विस्तृत विवेचना प्राप्त कर सकते है।

1. मार्गन्थ्यू, हैन्स जे., : **पॉलिटिक्स अमोंग नेशंस : दि स्ट्रगल फॉर पावर एण्ड पीस, छटवां संस्करण, नई दिल्ली, कल्याणी पब्लिशर्स, 1995.**
2. कार., ई. एच., : **ट्वन्टी ईयर्स क्राइसिस : 1919 –1939 , लन्दन** मैकमिलन, 1956
3. हर्ज, जे. एच. : **पोलिटिकल रियलिज्म एण्ड पोलिटिकल आइडियलिज्म** शिकागो : शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, 1951.
4. होल्सती, के. जे. : **डिवाइडिंग डिसीप्लिन : हेजोमैनी एण्ड डाईवर्सिटी इन**

इन्टरनेशनल थ्योरी

5. डोगहर्टी,जेम्स. ई. : **कन्टेंडिंग थ्योरीज ऑफ इन्टरनेशनल रिलेशंस : ए कम्प्रेहेन्सिव**

एण्ड फिल्टनग्राफ :रार्वट एल, : **सर्वे,** दूसरा संस्करण, न्यूयार्क : हार्पर एण्ड रो, 1981

6. टेलर ट्रेवर (एर्ड) : **ऐप्रोचेज एण्ड थ्योरी इन इन्टरनेशनल रिलेशंस :** न्यूयार्क, लांगमैन, 1978

7. बुल हेडले : **दि एनार्किकल सोसायटी : ए स्टडी ऑफ ऑर्डर इन वर्ल्ड पालिटिक्स,** लन्दन मैकमिलन, 1977.

6. अभ्यास प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के आदर्शवादी उपागम की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
2. यथार्थवादी उपागम से आप क्या समझते हैं? अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समझने, में इस उपागम की भूमिका पर प्रकाश डालिये।
3. आदर्शवादी एवं व्यवहारवादी उपागमों में से आप किसे महत्वपूर्ण मानते हैं? कारण सहित व्याख्या कीजिये।

इकाई 3
निकाय उपागम : खेल तथा अनरुपण

इकाई संरचना

1. प्रस्तावना
2. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निकाय उपागम
   - 2.1 निकाय से सम्बन्धित परिभाषाएं
   - 2.2 निकाय की संरचना
   - 2.3 निकाय के सदस्य या घटक
   - 2.4 निकाय की सीमा
   - 2.5 घटकों में पारस्परिक क्रिया या मेलजोल
   - 2.6 निकाय में नियमन
   - 2.7 मार्टन कापलान के अन्तर्राष्ट्रीय निकाय के 6 प्रतिमान
   - 2.8 निकाय सिद्धान्त की आलोचना
   - 2.9 संदर्भ
3. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में खेल सिद्धान्त
   - 3.1 बौद्धिक उत्पत्ति व परिभाषाएं
   - 3.2 शून्य योग खेल
   - 3.3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक 'खेल '
   - 3.4 खेल सिद्धान्त की सीमाएं
4. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अनुरुपण
   - 4.1 अर्थ तथा परिभाषा
   - 4.2 अनुरुपण तथा इसके प्रयोग व सीमाएं
   - 4.3 खेल तथा अनुरुपण : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विकास
   - 4.4 संदर्भ ग्रन्थ
5. अभ्यास प्रश्न

1. प्रस्तावना

प्रथम विश्व युद्ध तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्वेषण के अविज्ञेय क्षेत्र के रुप मे नहीं उभरी थी । उसके पहले राजनीतिक इतिहास, अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा राजनायको व कूटनीतिज्ञों के संस्मरण ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विषय वस्तु होते थे । प्रथम विश्व युद्ध के बाद ही विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के परम्परागत उपागम की दुर्बलता तथा अपर्याप्तता को महसूस किया। (यह कूटनीति, 'युक्ति ', 'सहयोग ' तथा 'संघर्ष ' के समानार्थक थी) परम्परागत उपागम के विद्वानों का मानना है कि मौसमी परिस्थितियां, भौगोलिक अवस्थापन व जनसंख्या, ऐतिहासिक व सांस्कृतिक परम्परायें इत्यादि उपादान कूटनीतिज्ञों व सैनिकों के व्यवहार पर प्रभाव डालते हैं जो कि राष्ट्र की नीतियों के परिपालक होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन की परम्परावादी एप्रोच (उपागम) राष्ट्र के व्यवहार की सन्तोषप्रद व स्पष्ट व्याख्या नहीं प्रदान कर पायी । यह अस्पष्ट तो थी ही वरन् सत्यापन की कठोर वैज्ञानिक जांच को सहने में भी नम्य सिद्ध हुई थी। परम्परावादी उपागम की अपर्याप्तता ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अन्वेषण की वैज्ञानिक विचारधारा को जन्म दिया, जिसने परम्परावादी विद्वानों की असंगठित प्रक्रियाओं जैसे अपरिमाणात्मक व अन्तर्बोध की जानकारियों के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों को अस्वीकृत किया। परम्परावादी विद्वानों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विश्लेषण का तरीका खण्डित था, जिसमें कि प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय घटना अपने में अद्भुत समझी जाती थी तथा इसका एक ही कारण होता था। अतएव इससे एक सुसंगत व एकीकृत ज्ञान के ढांचे का विकास सम्भव नहीं था।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वैज्ञानिक उपागम प्रत्येक घटना का प्रणाली विज्ञान के ढांचे के अन्तर्गत परीक्षण का एक प्रयास । अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के व्यवहार के प्रभावित करने वाले कई उपादान होते हैं जिन्हें कि वैज्ञानिक रीति से आपस में जोड़ना लगभग असम्भव होता है। अधिकांश वैज्ञानिक अन्तर्वर्ती स्तर की प्रायोजना पर अपना ध्यान केन्द्रित करते है जो कि एक समय में कुछ. चुने हुए उपादानों में सम्बन्ध स्थापित करते हैं इस संवृद्धित प्रणाली द्वारा वे धीरे–धीरे, एक संगत आंशिक व मध्यम श्रेणी के सिद्धान्तों के समूह की प्राप्ति की आशा करते हैं जो कि अनुमानतः वस्तुपूरक सत्यापन की जांच पर खरे उतरेंगे ।

ज्ञानिक विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन के प्रयास में प्रत्ययात्मक ढांचों व आंशिक प्रतिमानों का निर्माण किया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की वैज्ञानिक प्रणाली के अनुप्रयोग ने इस क्षेत्र मे सिर्फ अन्य सामाजिक विज्ञानों के प्रत्ययों व कृत्रिम शोध तरीकों का ही प्रयोग नहीं किया है वरन् एक पूर्व–सिद्धान्त के ढांचे का भी विकास किया जो कि जांच व सत्यापन के तरीकों के लिए भी उपयुक्त सिद्ध होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निकाय उपागम कई विज्ञानों को मिलाकर एक समाकलित उपागम के ठोस सैद्धान्तिक आधार को स्थापित करने का प्रयास है। निकाय उपागम विभिन्न विषयों में कड़े उपखंडन के विरुद्ध है तथा शोध के विभिन्न क्षेत्रों के बीच पारगामी प्रवाह को बनाने में मदद करती है तथा सभी सामाजिक विज्ञानों, (भौतिक व सामाजिक) में संबंध स्थापित करने के पक्ष में हैं।

2. अन्तर्राष्ट्रीय संबन्धों का निकाय उपागम

2.1 परिभाषायें

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय निकाय शब्द का प्रयोग अधिक करते हैं तथा अपनी परिभाषा भी देते है। 'जनरल सिस्टम्स इयर बुक ' के प्रथम ग्रन्थ में वांन बार्टालेन्फी ने निकाय को परस्पर क्रिया से सम्बद्ध अवयवों के एक समुच्चय के रुप में परिभाषित किया है । उसी ग्रन्थ में हाल तथा फांगन ने "निकाय को वस्तुओं का समुच्चय और वस्तुओं तथा उनके गुणों के आपसी सम्बन्धों का इकट्ठा नाम" बताया है। स्टेनली हॉफमैन के अनुसार निकाय विश्व राजनीति में मूल इकाईयों के बीच सम्बन्धों का प्रतिरुप है जिसमें कि उन इकाईयों द्वारा लक्ष्यों की खोज तथा उनके द्वारा किये जाने वाले कार्यों तथा लक्ष्यों की प्राप्ति

व कार्य सम्पादन के लिए तरीकों में अवसर प्रमुख लक्षण होते हैं। मार्टन कैप्लन ने 'निकाय सिद्धान्त ' के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक 'संकलित सिद्धान्त ' की व्याख्या करने का पहली बार कार्यभार अपने ऊपर लिया । उन्होंने निकाय की निम्नलिखित परिभाषा दी "क्रियावादी का एक निकाय अपने वातावरण से इस तरह से विरोधी रुप से जुड़े अवयवों का समुच्चय होता है जिसमें वर्णनीय व्यावहारिक नियमितताएं व्यक्तिगत अवयवों के समुच्चय के बाहरी अवयवों के मिश्रण के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लक्षणों को स्पष्ट करती है। "

विभिन्न लेखकों तथा परिभाषाओं का उल्लेख किया जा सकता है, परन्तु उससे अधिक हम सामूहिक अवयवों का खाका खींचेंगे जिससे निम्नलिखित तत्व शामिल है :–

(a) अवयवों का समुच्चय जो कि निकाय की इकाईयों या घटको का निर्माण करते हैं।

(b) इन इकाईयों के कुछ सार्वजनिक लक्षण होते हैं।

(c) ये इकाईयां सम्बन्धों के प्रतिरुप स्थापित करने के लिए नियमित रुप से तथा कुछ समय के लिए पारस्परिक क्रिया में संलग्न रहती है।

(d) इस पारस्परिक क्रिया का योग इकाइयों की अलग–अलग कार्यवाही के जोड़ से कुछ अधिक होता है जिसका अर्थ है निकाय की पूर्ण रुप से स्थिति इसके घटको से अलग–अलग अधिक अच्छी होती है।

परिभाषाओं की इन समानताओं को उनके अपने अन्तर्राष्ट्रीय निकायों के ढांचे के निम्नलिखित सार्वजनिक अवयवों में सरल रुप से उल्लेखित किया जा सकता है: –

(1) प्रत्येक के उन उपादानों से हित जुड़े होते हैं जो कि अन्तर्राष्ट्रीय निकाय की व्यवस्था या अव्यवस्था या पर अपना योगदान देते हैं।

(2) अनुकूली नियंत्रणों पर सार्वजनिक रूचि होती है जिनके द्वारा निकाय सन्तुलन या 'स्थिर अवस्था ' बनाये रखता है।

(3) इकाईयों की संसाधन संचारित करने व विकसित तकनीकी का प्रयोग भी अधिक या कम क्षमता की विद्यमानता का निकाय पर प्रभावों के मूल्यांकन का एक सामूहिक हित होता है।

(4) स्थिरता के स्वभाव में अपनी रूचि के कारण सार्वजनिक अवयव अन्तर्राष्ट्रीय निकाय की अन्दर की गड़बड़ियों को प्रभावी रुप से रोकने व निपटने की क्षमता से सम्बन्धित होते हैं। इसी कारण लेखकों में भी राष्ट्रीय व अधि राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं द्वारा निकाय के नियंत्रण की भूमिका में रूचि पैदा होती है। वे इस बात पर सहमत हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय निकाय का प्रमुख लक्षण गतिहीनता न होकर परिवर्तनशीलता है।

2.2 निकाय की संरचना

निकाय के सम्बन्धों के प्रतिरुपों को तीन अवयव निर्धारित करते हैं।

(a) इकाईयों या राष्ट्रों की क्षमता का वितरण आपेक्षिक समानता या असमानता इसका लक्षण हो सकता है ।

(b) विशिष्ट समाकृति : दुध्रुवी, बहुध्रुवी, एकध्रुवी

(c) निकाय के अन्दर अनुक्रम : प्रभुत्वशील तथा अधीन उपनिकाय सबसिस्टम (उदाहरण स्वरुप पूर्व पश्चिम प्रतिद्वन्द्व सोमालिया इथोपिया प्रतिद्वन्द्व उपनिकाय की तुलना में)

2.3 निकाय के सदस्य या संघटक

कार्यकर्ता कई प्रकार के हो सकते हैं : उपराष्ट्रीय (उदाहरण के लिए नार्डन या लेबनान में फिलिस्तीनी), राष्ट्रीय , अधिराष्ट्रीय (उदाहरण के लिए सियोनवादी आन्दोलन), अन्तर्राष्ट्रीय (उदाहरण के लिए, संयुक्त राष्ट्र संघ) इसके अतिरिक्त ये विभिन्न लक्ष्यों को अपना सकते हैं (जैसे कि यथास्थिति या क्रांतिकारी की ओर अभिमुख।

2.4 निकाय की सीमाएं

इसमें निकाय का वातावरण व इसके तथा स्वयं निकाय के बीच विभेद सम्मिलित हैं। सभी विद्यमान वस्तुएं या निकाय के बाहर विद्यमान समझने, जाने वाली वस्तुएं निकाय का वातावरण होती हैं। यह परिभाषा राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय निकाय के बीच सीमा निर्धारण अपेक्षाकृत सहज बना देती है। सरल शब्दों में, इसका अर्थ है कि एक निकाय तथा इसके वातावरण के बीच सतत पारस्परिक क्रिया होती रहती है तथा इस प्रक्रिया में निवेश व निर्गत से वातावरण पर प्रभाव पड़ता है।

2.5 घटकों में पारस्परिक प्रक्रिया

पारस्परिक क्रिया निकाय का आधार होता है जिसकी अनुपस्थिति में कोई भी निकाय जीवित नहीं रह सकता। सभी निकाय सिद्धान्तकार इस बात पर एकमत है जैसा कि 'निकाय की परिभाषा में यह स्पष्ट किया गया है कि सतत क्रिया पूरे मात्र योग से अलग होता है। उदाहरण के तौर पर दो कार्यकर्ता कार्यवाही के मुख्य स्रोत हैं लेकिन यदि इनकी पारस्परिक क्रिया एक लम्बे समय तक चलती है (जो कि एक निकाय के लिए आवश्यक भी है) तो प्रत्येक कार्यकर्ता अतीत की पारस्परिक क्रिया के अनुभवों से प्रभावित हो सकता है तथा इस आधार पर यह माना जा सकता है कि पारस्परिक क्रिया स्वयं व्यवहार का स्रोत होती है। इसी प्रकार अतीत की पारस्परिक क्रिया के अनुभव से कार्यकर्ता यह अनुमान लगा सकते हैं कि आगे क्या होगा तथा प्रत्येक कार्यकर्ता उस अनुमान के अनुसार कार्य कर सकता है।

(i) पारस्परिक क्रिया के रुप भिन्न–भिन्न होते है यह प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष, सरकारी तथा गैर सरकारी हो' सकती है। इसमें निम्नलिखित रुप भी शामिल हो सकते है।

इसमें निम्नलिखित रुप भी शामिल हो सकते हैं:–

(a) प्रत्यक्ष सरकारी : जैसे कि आर्थिक सहयोग (विश्व बैंक की राष्ट्रीय या प्रान्तीय स्तर की परियोजनाओं में मदद), राजनीतिक सम्पर्क, तथा युद्ध;

(b) प्रत्यक्ष गैर सरकारी : जैसे कि पर्यटन

(c) अप्रत्यक्ष सरकारी : उदाहरण के तौर पर नये राज्यों में औद्यौगीकरण या कुछ नये प्रकार की योजनाओं को अपनाना ; पश्चिमी यूरोप के अनुभव की सफलता के बाद नये राज्यों में क्षेत्रीय सहयोग की प्रेरणा (सार्क या एशियान को उल्लिखित किया जा सकता है जो यूरोपीयन सामूहिक बाजार से प्रेरित हुए थे)

(d) अप्रत्यक्ष गैर सरकारी : उपन्यास, टेलीविजन, सिनेमा; फिल्म तथा व्यक्तिगत पत्राचार के माध्यमों से राष्ट्रीय सीमाओं के पार, 'निरूपण प्रभाव ' (उदाहरण स्वरुप 'अमरीकी जीवन पद्धति ' का प्रसार या नये राज्यों मे 'कुटती आशाओं की क्रांति ' का बढ़ता महत्व)

(ii) पारस्परिक क्रिया विषय वस्तु में भिन्न होती है: यह सहयोगी या परस्पर विरोधी हो सकती है यद्यपि दोनों में से कोई भी शुद्ध रुप मैं मुश्किल से ही अनुभव किया जाता है। पारस्परिक क्रिया का सामान्य प्रतिरुप निश्चित सहयोग–विरोध वाला होता है।

(iii) पारस्परिक क्रिया तीव्रता में भिन्न होती है : सक्रियता–निष्क्रियता में स्केल पर अधिकतम से न्यूनतम छोर तक भिन्न–भिन्न हो सकती है। क्योंकि पारस्परिक क्रिया अन्तर्राष्ट्रीय निकाय में समान रुप से वितरित नहीं होती है। पश्चिम यूरोपी उपनिकाय में कार्यकर्ताओं में अफ्रीकी महाद्वीप के कार्यकर्ताओं की तुलना में पारस्परिक क्रिया की तीव्रता कहीं अधिक होती है।

2.6 निकाय में नियंत्रण

नियंत्रण की प्रक्रिया के द्वारा एक निकाय अपनी पहचान को बनाने व सुरक्षित रखने का प्रयास करता है। यह पहचान बदलती परिस्थितियों के साथ अपनायी जाती है। वास्तव में निकाय की विघटनकारी शक्तियों को नियंत्रण करने की क्षमता इसके अस्तित्व के लिए महत्वपूर्ण होती है। निकाय के नियंत्रण करने वाले निर्णायक अवधारकों में निम्नलिखित शामिल हैं:–

(i) निकाय में अनुवर्ती प्रतिमानों या मानकों की उपस्थिति : उदाहरण स्वरुप, यदि समझौते तथा सहयोग एक अपेक्षाकृत उच्च स्तरीय पारस्परिक क्रिया पर कुछ समय तक बने रहते हैं तो सार्वजनिक सांस्कृतिक विशेषताएं व्यवहार के सार्वजनिक रुप तथा निकाय विचारधारा के साथ–साथ सार्वजनिक निकाय संस्कृति की चुनी हुई विशेषताएं कभी–कभी प्रतिबाधित हो सकती हैं। (1992 तक पश्चिम यूरोप के देश एक सार्वजनिक मुद्रा प्रणाली तथा अन्य सहयोगी लक्षण या विशेषताएं अपनाने को तत्पर थे)

(ii) अधिकांश झगड़ो को सुलझाने के लिए विभिन्न संस्थागत और /या अनौपचारिकता उपाय इस संदर्भ में दो महाशक्तियों के बीच निवारण (डिटेरन्स) की भूमिका का उल्लेख किया जा सकता है । दोनों ही महाशक्तियों के अणुशस्त्र के संयम ने पूरे विश्व को 'पारस्परिक सुनिश्चित विनाश ' (मूच्यली एस्योर्ड डिस्ट्रक्शन) की स्थिति पर पहुंचा दिया था, जिससे फलस्वरुप 'सम्पूर्ण युद्ध ' असंभव व अविचार्य हो गया

था। सन् 1962 में क्यूबन मिसाईल संकट ने सोवियत–अमरीकी सम्बन्धों में नयी अनुभूति पैदा की थी।

(iii) नियंत्रण के अन्य उपाय : उदाहरण के तौर पर 19 वीं सदी के अन्त में यूरोप केन्द्रित अन्तर्राष्ट्रीय निकाय व इसके वातावरण को बनाने वाले उपलब्ध उपनिवेशवाद ने यूरोप के संघर्षों के दबाव को कम करने वाले सुरक्षा कपाट का काम किया। क्या वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय निकाय में अधिकांश संघर्षों का समाधान करने के लिए उपनिवेश बनाने योग्य वातावरण है? इस सम्बन्ध में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की भूमिका का उल्लेख किया जा सकता है। विशेष तौर से शीत युद्ध की प्रचण्ड अवस्था के दौरान गुटनिरपेक्ष देशों ने काफी हद तक निकाय के नियंत्रण मे सहायता की। उनका मानना है कि दो विरोधी सैनिक खेमों ने सिर्फ निकाय में तनाव को ही नहीं बढ़ाया वरन् इसके अनुरक्षण के लिए खतरा भी पैदा किया था। फलस्वरुप यदि प्रत्येक राष्ट्र एक या दूसरे खेमे में सम्मिलित होता है तो इससे दृढ़ द्विध्रुवीकरण बढ़ेगा तथा युद्ध अपरिहार्य हो सकता है। इसलिए एशिया अफ्रीका को शांति का क्षेत्र बनाना आवश्यक है। इस प्रकार विश्व के अधिकांश देशों में चल रहे उस शीत युद्ध में हिस्सा नहीं लिया जिसने कि अन्तर्राष्ट्रीय निकाय के नियंत्रण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

2.7 मॉर्टन कैप्लन के अन्तर्राष्ट्रीय निकाय के छह प्रतिमान

मार्टन कैप्लन ने अन्तर्राष्ट्र निकाय के छह प्रतिमानों के अन्तर्गत पारस्परिक क्रिया के प्रतिरुप व नियमों को स्पष्ट करने का सबसे अधिक प्रयास किया है। कैप्लन ने परिकल्पित अन्तर्राष्ट्रीय निकाय के छह प्रतिमानों पर विचार किया है जो कि एक सैद्धान्तिक ढांचा प्रदान कराते है जिससे कि परिकल्पनाओं को विकसित व उनकी जांच की जा सकती है तथा वह की भी गई है:–

(i) आवश्यक नियम

(ii) परिवर्तन के नियम

(iii) कार्यकर्ता का वर्गीकरण करने वाले अवयव

(iv) क्षमता के अवयव तथा

(v) सूचना के अवयव।

आवश्यक नियम आवश्यक होते है क्योंकि वे निकाय में सन्तुलन बनाने वाले आवश्यक व्यवहार की व्याख्या करते हैं। परिवर्तन के नियम उन परिवर्तनों को स्पष्ट करते हैं जो कि निवेश के रुप में होते है तथा निकाय के अन्दर प्रवेश करने वाले व सन्तुलन के लिए आवश्यक परिवर्तनों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता है। कार्यकर्ता के वर्गीकरण वाले अवयव कार्यकर्ताओं के संरचनात्मक गुणों को निर्धारित करते है क्षमता के अवयव कार्यकर्ता को उपलब्ध अस्त्र शस्त्र स्तर, तकनीकियों तथा शक्ति के अन्य तत्वों का संकेत देते हैं । छह प्रतिमान निम्नलिखित हैं:–

(1) क्लासिकी या प्राचीन शक्ति सन्तुलन प्रतिमान

कैप्लन के अनुसार सन् 1815 से 1916 तक का समय इस प्रतिमान का ऐतिहासिक प्रतिरुप है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय निकाय में केवल 5 मुख्य शक्तिशाली राष्ट्र शामिल थे। नाटो तथा संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे कोई भी क्षेत्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय संगठन नहीं थे। इस निकाय में विशिष्ट संधि या मैत्रीय हुआ करती थी जो कि कुछ ही काल या समय के लिए होती थी। वे वैचारिक फायदों से नहीं वरन् व्यावहारिक फायदों के आधार पर स्थानान्तरित होते थे, बड़ी शक्तियों के बीच युद्ध सीमित हुआ करते थे, छोटे शक्तियों वाले राष्ट्रों के बीच युद्धों को बढ़ने नहीं दिया जाता था तथा उनका समाधान बड़ी शक्तियों के हितों के हिसाब से किया जाता था।

(2) शिथिल द्विधुवीय प्रतिमान

इस प्रतिमान को 'शीत युद्ध प्रतिमान ' भी कहा जाता है जो सन् 1947 से 1971 तक के विश्व इतिहास की प्रमुख विशेषता थी। यह प्रतिमान तभी क्रियाशील होता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय निकाय में केवल दो महाशक्तियां कार्यकर्ता के रुप में हों; इनमें सें प्रत्येक महाशक्ति एक सहयोगी, रक्षक तथा कमजोर राष्ट्रों के संचालक के रुप में होती है। खेमे अपनी विचारधारा से प्रेरित होते हैं।

इस प्रकार के निकाय में कैप्लन अणुशस्त्रों के महत्व अधिक जोर डालते हैं। दो खेमों के प्रमुख कार्यकताओं –अमरीका तथा सोवियत रूस के आधिपत्य में विश्वासी अणुशस्त्र के भन्डारों का मुख्य कार्य द्विधुवीकरण है।

(3) दृढ़ द्विधुवी प्रतिमान

इस प्रतिमान का कोई ऐतिहासिक प्रतिरुप नहीं है। इसकी मुख्य मान्यता है कि सभी गुटनिरपेक्ष राष्ट्र एक या दूसरे खेमे में समाविष्ट है। दृढ़ द्विधुवी प्रतिमान की तुलना उस कल्पित परिस्थिति से की जा सकती है जिसमें कि एक का प्रधान अमरीका है तथा दूसरी परिस्थिति में मास्को प्रधान है। प्रत्येक प्रधान देश अपने सन्धिबद्ध राष्ट्रों पर कड़ा नियंत्रण रखता है जिससे कि वह दूसरे खेमे से उच्चस्तरीय विरोध बरकरार रख सके। दोनों ही खेमे अपने वैचारिक मत भेदों को कम महत्व देना पसन्द करते हैं तथा अपने प्रभाव क्षेत्र में संचालन के लिए सहयोग करते हैं।

(4) पद्द इकाई वीटो प्रतिमान

यह प्रतिमान आणविक शस्त्रों की प्रचुर मात्रा में विद्यमानता वाले प्रतिमान के नाम से भी जाना जाता है। इसका कोई ऐतिहासिक प्रतिरुप नहीं है। यह अधिक अस्थिर तथा घातक सामर्थ्य वाले संसर्ग को चित्रित करता है इस प्रकार के निकाय में अधिकांश राष्ट्र नाभिकीय क्षमता रखते हैं जो कि निवारक का काम करती है तथा अन्य राष्ट्रों को विरोधी नीति अपनाने से रोकती है। प्रत्येक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों की सामूहिक आत्महत्या की धमकी दे सकता है। इस प्रकार के निकाय में अशुद्ध गणना, अविवेक, दुराग्रह व दुर्घटना के फलस्वरुप विनाश की सम्भावनाएं अधिक होती हैं।

परम्परागत युद्ध नहीं होना चाहिए क्योंकि यह अणु युद्ध में बदल सकता है। अब तक यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि इकाई–वीटो निकाय ही राजनीतिज्ञों को किसी भी रुप में सभी अणु शस्त्रों को नष्ट करने की शक्ति रखने वाली एक केन्द्रित विश्व सत्ता को स्वीकार करने के लिए मजबूर कर सकती है।

(5) सार्वत्रिक कार्यकर्ता निकाय

इस निकाय में एकीकृत करने वाली रचना होती है जो कि न्यायिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा प्रशासनिक कार्यों का सम्पादन करती है। इसमें निम्नलिखित नियम होते हैं : (1) सभी राष्ट्रीय कार्यकर्ता प्रतिफलों को बढ़ाने तथा सुविधाओं तक पहुंचने का प्रयास करते है (2) सभी कार्यकर्ता अन्तर्राष्ट्रीय निकाय के उत्पादक तथा आधारों व संसाधनों को बढ़ाने का प्रयास करते हैं (3) जबकि नियम 1 तथा 2 में संघर्ष होता है तो नियम 1 किसी राष्ट्रीय कार्यकर्ता के लिए खतरा पैदा करता है तो यह सारे समाज के लिए खतरा समझा जाता है (4) सभी कार्यकर्ता अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शांति पूर्ण तरीके अपनाते हैं (5) अन्तर्राष्ट्रीय निकाय से जुड़े हुए कार्यकर्ता अन्तर्राष्ट्रीय निकाय की जरूरतों के अनुसार निष्कर्ष निकालते हैं।

(6) सोपानीय अन्तर्राष्ट्रीय निकाय (हायरारकिकल इन्टरनेशनल सिस्टम)

यह निकाय सीधा व्यक्तियों के ऊपर कार्य करता है जबकि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय निकाय के राजक्षेत्रीय प्रविभाजन होते है जोकि स्वतंत्र राजनीतिक निकाय नहीं समझते जाते है। राष्ट्रीय इकाईयों के बजाय विभिन्न हित समूह मुख्य कार्यकर्ता होते हैं। अधिक स्थिरता इस निकाय का लक्षण होता है संचार के माध्यम केन्द्रीय नियंत्रण को सुसाध्य बनाते हैं तथा स्थानीय क्षेत्रों के विरोध करने तथा निकाय से अलग होने के प्रयासों को लगभग असम्भव बनाते हैं

2.8 निकाय सिद्धान्त की आलोचना

यद्यपि निकाय सिद्धान्त राजनीति के अध्ययन करने वाली सभी एप्रोची या उपागमों से सबसे अधिक प्रभावशाली सिद्धान्त बन गया है लेकिन फिर भी इसमें कुछ कमियां हैं हैरोल्ड व मार्गेट स्प्राउट का मानना है कि कृत्रिम जैविकी संरचनाओं तथा कृत्रिम मनोवैज्ञानिक कार्यों के आधारों पर राजनीतिक संगठनों के संचालन के बारे में स्पष्ट व प्रचुर जानकारी सम्भव नहीं है। वे अर्मूत प्रत्ययों की बढ़ा चढ़ाकर व्याख्या को विरुद्ध चेतावनी देते हैं।

हौफमैन के अनुसार निकाय सिद्धान्त घटनाओं की भविष्यवाणी के लिए किसी सैद्धान्तिक ढांचे को नहीं प्रदान करता है। यह सिर्फ रुप–विधान की उपादान पर प्रभुत्वशीलता को दर्शाता है। हौफमैन अन्य अनुशासनों जैसे समाज विज्ञान, अर्थशास्त्र, जीव विज्ञान व खगोल शास्त्र से प्रत्ययों को अपनाने के सम्बन्ध में आलोचनात्मक विचार रखते है। वस्तुपूरक संदर्भों के मामले पर भी यह सिद्धान्त अपर्याप्त सिद्ध होता है। निकाय सिद्धान्त राजनीति की विषयवस्तु को ठीक से नहीं समझ पाया है।

सिद्धान्त को कुछ परिकल्पनाओं तक सीमित करना तथा जटिल परिकल्पना के समक्ष एक सरल परिकल्पना को महत्व देना राजनीति को उस स्तर तक पहुंचा देता है जहां कि यह राजनीति राजनीति ही नहीं रह जाती। इसमें कि संस्थाओं, संस्कृति व व्यक्तिगत कार्यों की पूर्ण उपेक्षा भी शामिल होती है।

जार्ज मोडेल्सकी के अनुसार निकाय सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के महत्वपूर्ण आयामों व जानकारियां से अनभिज्ञ है जिसका उच्च व्यापकता का एक प्रत्यय है विश्व राजनीति के साथ–साथ सभी निकायों के लिए यह सत्य है सीमित क्षेत्र के मूल्यांकन में अधिकता पर्याप्त

रुप से स्पष्ट नहीं होती है निकाय सिद्धान्तकारों के लिए सिर्फ निकाय शब्द की पुनरावृत्ति ही पर्याप्त नहीं होती जिसको कि वे राजनीतिक बुद्धिमत्ता की स्वीकृति समझते हैं।

निकाय अध्ययन सामान्यत : अपने ज्ञानशास्त्र के आधारों को पर्याप्त रुप से स्पष्ट करने में सफल नहीं हों पाये हैं। निकाय सिद्धान्त के लेखक या विद्वानों ने बिना किसी प्रारम्भिक अन्वेषण के आरम्भ में ही शान्ति व स्थिरता के सम्बन्ध में सारवान वक्तव्य देना शुरु कर दिये थे जिन्हें ना तो परिभाषाओं में स्पष्ट किया गया और न ही ही कारकों को निर्धारित किया गया।

निकाय सिद्धान्त के. अध्ययन कर्ताओं में इस मतभेद के कारण इसका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रणाली विज्ञान व प्रत्ययात्मक विकास में योगदान अनिश्चित है।

2.9 अतिरिक्त पाठ्य सामग्री

किताबें

1. जे. डब्ल्यू बर्टन : सिस्टम्स्टैटस डिपकोमेरी एण्ड रुल्स (कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस 1965)
2. डेविड ईस्टन, : ए सिस्टम्सऐनालिसिस आफ पालिटिक्स लाईफ (न्यूर्याक : मैकमिलन : दिल्ली 1962)
3. क्लाज क्नौरे, : दि इन्टरनेशनल सिस्टम थियोरटिकल ऐसेज (प्रिसटन सिडनी वर्बा (सम्पा) यूनवर्सिटी प्रैस 1669)
4. चार्ल्स ए. मैकेलीलैण्ड, : थ्योरी एण्ड दि इन्टरनेशनल सिस्टम (न्यूर्याक : मैकमिलन, 1966)
5. मार्टन ए. कैप्लन, : सिस्टम्स एण्ड प्रोसेसेस इन इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स (न्यूर्याक, दिल्ली 1962)

लेख

1. इन्टरनेशनल स्टडीज क्वाटरली, : 13, न. 16,(दिसम्बर 1967) (पूरा अंक 'निकाय सिद्धान्त' पर है)
2. मॉर्टन कैप्लन, : "द न्यू ग्रेट डिबेट : ट्रैडेशनलीज्म सांइज इन इन्टरनेशनल रिलेंसन्स" **वर्ल्ड पालिटिक्स** XX (अक्टुबर 1967)
3. अरनेस्ट बी. ह्रास, : "ऑन सिस्टमस एण्ड इन्टरनेशनल रियेम्स'' **वर्ल्ड पालिटिक्स** XXVII न. 2 (जनवरी 1975, से 175)
4. ऐन्ड्रयू एम. स्काट : "दि लॉजिक आफ इन्टरनेशनल इन्टरेक्शन'' **इन्टरनेशनल स्टडीस क्वाटरली** 29 न. 3 (सितम्बर 1977)

5. जिरोन स्टीफेन्स : "एन अपरेजल आफ सिस्टम्स अप्रोचेज़ इन दि स्टडी ऑफ इन्टरनेशनल सिस्टम" **इन्टरनेशनल स्टडीज क्वाटरली** 14,न. 3 (सितम्बर 1972. पे. 32

3. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में खेल सिद्धान्त

3.1 बौद्धिक उत्पति व परिभाषाएं

यह सुझाव काफी आश्चर्य पैदा करता है कि इस तरह गम्भीर घटनाओं जैसे राजनीति में मानव संघर्ष को एक 'खेल ' की तरह समझा जाना चाहिये। जैसा कि एक प्रतिष्ठित दार्शनिक व इतिहासकार जोहना हुई जिंगा का तर्क है कि वास्तव में मानव संस्कृति को तब तक रुप से नहीं समझा जा सकता है जब तक हम इस बात को न स्वीकार करें कि मानव एक मात्र खिलाड़ी है तथा सभी मनुष्य जीवन में बचपन से लेकर वृद्ध अवस्था तक के सभी आयामों को चाहे प्यार हो या युद्ध हो, एक खेल के, समान खेलते हैं

जैसा कि अनातोल रेपार्पोत का कहना है कि जब भी इसके आरम्भिक विरोधाभास युक्त सूत्रों से आगे या बाहर खेल सिद्धान्त का पालन या प्रयोग किया जाता है तो वह यह सिखाता है कि मानव द्वन्द्वों या संघर्षो के विज्ञान में विचार शक्ति या प्रतिभा का प्रयोग करने के लिए योग्यता आवश्यक है। द्वन्द्वों के वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए हमें आपेक्षिक मूल्यों से सहमत होने के योग्य अवश्य होना चाहिये। (व्यवहार्यता निर्धारित करने के लिए)

हमें अनुभूमिक्षम होने का प्रयास करना चाहिये (दूसरों की व्यवहार्यता के निर्धारण का मूल्यांकन)। इससे अधिक निश्चित रुप से, दिये हुए द्वन्द्वों में शामिल होने के लिए हमें सम्पर्क बनाने के योग्य होना चाहिये। (इसमें दूसरों को निष्कर्षो के आधार पर अपनी व्यवहार्यता निर्धारण के विश्वसनीय संकेत देना शामिल है) ।

खेल सिद्धान्त तथा खेल दो भिन्न–भिन्न चीजें है । खेल सिद्धान्त एक परिशुद्ध माध्यम है जो कि विवेकशील खिलाड़ियों को अपनाये जाने, वाली उच्चतम नीति की खोज करने में सक्षम बनाता है। खेल इस बात को देखने का हमें अवसर देता है कि खिलाड़ी विशेष परिस्थितियों में किस तरह की नीति का चयन करते हैं। मार्टिन सब कि की परिभाषा यह है कि “खेल सिद्धान्त द्वन्द्व की परिस्थितियों में निर्णयकर्ता के अध्ययन करने की प्रणाली है"। सबकि की परिभाषा का समर्थन कर थामस सीलिंग कहते है कि यह सिद्धान्त परिस्थितियों नीतियों के खेल से सम्बन्धित है"। सूबिक तथा सीलिंग दोनों ही बोन न्यूमैन तथाओस्कर मार्गन्स्टर्न से प्रेरित थे। उनका सुझाव था कि खेल सिद्धान्त से सीखी हुई शिक्षा या पाठ अधिक जटिल सामाजिक परिस्थितियों को समझने के लिए काम में लाया जा सकता है।

सभी खेल सिद्धान्तकार इस बात पर सहमत हैं कि इसका मुख्य प्रसंग द्वन्द्व परिस्थितियों में विवेकशील रुप से उचित व्यवहार को जानना है जिसमें सहभागी खेल को जीतने का प्रयास करते हैं। व्यक्ति द्वन्द्व की स्थिति में अविवेक तथा भाव वेशों के प्रभाव में कदम उठाते हैं तथा उठा भी सकते हैं।

कुछ प्रारम्भिक प्रत्ययों पर भी विचार किया जाना चाहिये। प्रत्येक खेल के निम्नलिखित लक्षण होते है।:–

(1) दो या उससे अधिक खिलाड़ी या तो शून्य योग खेल (जीरो–सम गेम) में दूसरों से अधिक लाभ. उठाना चाहते हैं या गैर शून्य योग खेल (नान जीरोसम) में एक ऐसी स्थिति प्राप्त करना चाहते हैं जो कि दोनों के लिए उत्तम होती है।

(2) भुगतान या भुगतान का समुच्चय जिसके खिलाड़ियों के असमान मूल्य प्रणाली के अनुसार विभिन्न अर्थ हो सकते हैं।

(3) कुद मार्गदर्शन या मूल नियमों के समुच्चय का पालन अगर खेल को खेल की परिभाषाओं के अनुसार खेला जाना है ।

(4) सूचना परिस्थितियां जो कि ज्ञान के लक्षण व मात्रा को निर्धारित करती है तथा जिसमें खिलाड़ियों को वातावरण तथा अन्य खिलाड़ियों की रूचियों का ज्ञान सम्मलित है

(5) खेल खेले जाना वाला वातावरण तथा खिलाड़ी द्वारा इसकी समझ;

(6) प्रतिस्पर्धी चालों की पारस्परिक क्रिया जिसमें कि एक खिलाड़ी द्वारा चली हुई चाल दूसरे खिलाड़ियो को अपनी चालों को बदलने के लिए प्रेरणा देती है।

3.2 जीरो योग खेल

खेल सिद्धान्त में प्रारम्भिक भेद जीरो खेल तथा गैरे शून्य योग खेल के बीच किया जाता है। जीरो योग खेल में खिलाड़ी (A) जो भी जीतना है उसे खिलाड़ी (B) खोता या हारता है। प्रत्येक खेल में एक खिलाड़ी ऋणात्मक अंक होता है तथा दूसरे के पास ऋणात्मक अंक लेता है। खेल के लिए एक का मूल्य या तो 'बाजी ' या 'पात्र के आकार ' पर निर्भर करता है । भुगतान व अभिप्रेरक के बीच सम्बन्ध महत्वपूर्ण होता है पर कठिनाई से स्थापित होता है

गैर जीरो योग खेल

दो व्यक्ति गैर जीरो योग खेल या सहयोगशीलता या असहयोगी लता के साथ खेला जा सकता है। सहयोगशील खेल में खिलाड़ी आपस में सीधे सम्पर्क कर सकते हैं तथा अपनी चालों के सम्बन्ध में सूचना सम्भव नहीं होती है लेकिन खेल में एक दूसरे को एक दूसरे की चालें स्पष्ट हो जाती हैं।

3.3 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एक खेल के रुप में

खेल तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति किस तरह से जुड़े हुए हैं ? पहले यह स्पष्ट किया जाना चाहिये कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय निकाय का प्रचलन 'खेल सिद्धान्त ' के विश्लेषणढांचे के अन्तर्गत पूर्णतया नहीं समझा जा सकता। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रतिरुप व प्रक्रियाएं कुछ खेल के तरह के लक्षण प्रदर्शित करती हैं। खेल सिद्धान्त व खेल करीबी रुप से निर्णय–कारिता सिद्धान्त (डिसीजन में किंग थ्योरी) तथा सौदेबाजी के सिद्धान्त (बारगेनिंग थ्योरी) से जुड़े हुए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में उनकी सम्बद्धता होना लाजमी है।

खेल सिद्धान्त के विश्लेषण के तरीकों का अनुप्रयोग विषय की समझ को सुधारने में सहायता कर सकता हैं।

दोनों महाशक्तियों ने सामाजिक महत्व वाले हथियारों को सीमित करने वाली या यूरोप में सैनिक शक्ति को घटाने या बाह्य अन्तरिक्ष के शान्ति पूर्ण उद्देश्यों के लिए प्रयोग या समुद्री तहों इत्यादि के संधि के समझोतों के दौरान अधिकतम लाभ के लिए सौदेबाजी तथा खेल के अन्य नियमों का प्रयोग किया था। वस्तुत: सभी खेल सिद्धान्तकार इस बात से सहमत है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को (N र्पसन् जीरो सम गेम) के रुप में परिकल्पित किया जा सकता है जिसमें कि एक पार्टी को लाभ दूसरी पार्टीयों के नुकसान की कीमत पर आवश्यक रुप से न हो।

3.4 खेल सिद्धान्त की सीमाएं

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनुप्रयोग होने वाले खेल सिद्धान्त में भाषा का उचित प्रयोग, खेल की संरचना की परिभाषा भुगतान, तथा खिलाड़ियों द्वारा जोड़े जाने वाले मूल्यों आदि तथ्यों की आवश्यकता होती है। जब दो पार्टियां पारस्परिक रुप से अनन्य लक्ष्यों की तरफ बढ़ती हैं तथा एक पार्टी सफल होती हैं तथा एक नहीं होती, यह शून्य योग खेल माना जाता है। यदि मुकाबला एक जटिल समझौते के रुप में खत्म होता है जिसमें कोई भी पार्टी पूरी तरह से सन्तुष्ट नहीं होती हैं लेकिन जहां दोनों पार्टियां संघर्ष को लम्बा खींचने की लागत को बर्दास्त करने की बजाय लक्ष्यों से कम प्राप्ति पर भी समाधान के लिए इच्छुक हों तो इसे गैर जीरो योग खेल कहा जाता है। दोनों ही खेल खिलाड़ियो द्वारा अनुभव किये जाने वाले विभिन्न वैकल्पिक निष्कर्षो व भुगतानों के प्रसंग में निर्धारित किये जाने चाहिये।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के 'खेल' को समझ पाना मानव मस्तिष्क या उत्कृष्ट कम्प्यूटर के लिए भी असम्भव होता है।

4.1 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे अनुरुपण (सिमूलेसन)

खेल सिद्धान्त तथा खेल से जुड़े होने के वाद भी अनुरुपण इनसे काफी भिन्न है। खेल सिद्धान्त में खेल खेलने के लिए एक सर्वोत्तम गणितानुसार विवेकशील युक्ति ढूंढने का प्रयास शामिल होता है वास्तविक विश्व में संदर्भ से हटकर सिर्फ एक शुद्ध खेल के समान, अनुरुपण सिद्धान्त अनुकरण की परिस्थितियों से सम्बन्धित होता है । अनुरुपण प्रयोग भी एक खेल के समान है जिसका ढांचा केवल खेल खेलने के लिए ही नहीं बनाया जाता हैं वरन् कृत्रिम सामाजिक प्रक्रियाओं के वर्णन के माध्यम से भी किया जाता है । फिर 'भी यह एक सक्रिय प्रतिमान है। इस प्रकार अनुरुपण प्रणाली अनिवार्य रुप से प्रयोगात्मक प्रणाली या गैर प्रयोगात्मक आविष्कार या योजनाएं है जो कि प्रतिकृति मानव व्यवहार के अध्ययन का अवसर देती है। मानव व्यवहार की जटिलता को अन्यथा समझना कठिन होता है। इसका अनुरुपण परीक्षण के लिए आवश्यक सूत्रों को प्रदान कर सहायता कर सकता है।

4.2 अनुरुपण प्रयोग तथा सीमाएं

अनुरुपण की सबसे अधिक उपयोगिता शिक्षा देने के लिए होती है। हेरोल्ड गुटज्कोव द्वारा शिक्षण माध्यम के रुप में अन्तर्राष्ट्रीय अनुरुपण का विकास किया गया था जिसमें

सहभागी 5 या 6 कल्पित राष्ट्रों के घरेलू व विदेश नीतियों के निर्णय कर्ताओं की भूमिका अदा करते थे। इसमें वास्तविक राष्ट्रों के बजाय कल्पित राष्ट्रों का प्रयोग किया जाता है ताकि कार्यकर्ता खेल की पारस्परिक प्रभाव वाली प्रक्रिया के जबाव में अपने ऐसे निर्णय ले सकें जो कि वास्तविक परिस्थितियों में वास्तविक राष्ट्रों के राजनेताओं के प्रयास की पूर्व धारणा व सिद्धान्तों की जटिलता से मुक्त हों। खिलाड़ी या कार्यकर्ता अपनी भूमिका तथा पृष्ठभूमि के दस्तावेजों को पढ़कर अपने राष्ट्र की परिस्थितियों के बारे में जानकारी हासिल करते हैं। खेल में शामिल होकर ही वे निर्णय लेने की प्रक्रिया तथा नियमों की ओर अभिमुख होते हैं।

अनुरुपण के जरिये पूर्ण तन्मयता वास्तविकता व अनुरुपण के बीच की रिक्ति को नहीं भरती हैं सार्वजनिक अनुप्रयोग की कमी के कारण इसका क्षेत्र सीमित होता है। जो भी अनुरुपण का प्रयोग करते हैं वे इसका इस अन्तर्ग्रस्त स्थिति के अनुभवों से नहीं बच सकते तथा यह खिलाड़ियों की कठोर व अनावश्यक चालबाजी या कपट प्रबन्ध भी हो सकता है

4.3 खेल–अनुरुपण तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विकास

इसकी उपयोगिता परिस्थितियों के अनुरुपण में होती है जो कि सभी स्थितियों में न होकर कुछ में ही होती है। नीति–अधोन्मुख खेलों के लिए यह लाभदायक है क्योंकि संकट की परिस्थितियों में विदेश विकल्पों के विकास के लिए यह अवसर प्रदान करता है । यह कहना कठिन है कि अनुरुपण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भविष्यवाणी के अवसर बढ़ा देता है। सिद्धान्त के सत्यापन के लिए विश्वसनीय माध्यम के रुप में यह अब तक स्थापित नहीं हो पाया है।

4.4 संदर्भ ग्रंथ

पुस्तकें

1. मार्टिन सूबिक, : **गेम्स फॉर सोसाइटी, बिजेनेस एंड वार : टुर्वाड्स ए थ्योरी ऑफ गेमिंग** (न्यूर्याक. : एलसिवियर 1975) चै. 1 .
2. अनातोल रेपापार्ट एण्ड गाम्मह, : **प्रिजनर्स डिलेमा** (अन आरबर : यूनिवर्सिटी आफ मिचीगन प्रेस, 1965)
3. विलियम डी. कोपलिन, : **इन्ट्रोडक्शन टु इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : ए थ्योरी–टिकल ओवरव्यू** (शिकागो मकिहम, 1971) पे. पे. 258 – 269
4. स्टीवन जे. ब्रैम, : **गेम थ्योरी एण्ड पॉलिटिक्स** (न्यूर्याक द फ्री प्रेस, 1975) पे. 39 – 47
5. हेरोल्ड ग्यूटज्को,(एडिट ;) : **सिम्यूलेशन इन सोशियल साइंसेज** (इग्लीबुड क्लिफस, एन. जें. प्रेन्टिस हाल, 1962)

लेख

1. विलियम डी. कोपलिन, : "इन्टर –नेशन सिमुलेशन एण्ड कन्टम्परेरी थ्योरीज आफ इन्टरनेशनल रिलेशन्स " **अमेरिकन पोलिटिकल**

सांइस रिव्यू, IX (सितम्बर 1966)

2. जेम्स ए. रोबिन्सन, : "टीचिंग विथ इन्टनेशन सिमुलेसन एण्ड फेस एट अल; स्टडीज, " **अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यू** X (मार्च 1966) पे. पे. 53 - 65
3. लिंकन पी. बलूमफील्ड : "थ्री एक्सपरीमेंट इन पालिटिकल गेमिंग, " एण्ड. नोरमन जे. पैडलर्फोड **अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिब्यू एल. III** (दिसम्बर 1979
4. ग्लेन एच स्नाईडर, : "प्रिजनर्स डिलेमा " एण्ड ' चिकन ' मॉडल्स इन इन्टरनेशनल पोलिटिक्स" **इन्टरनेशनल स्टडीज क्वार्टरली** 15 (मार्च 1970)
5. मार्टिन सूबिक, : "गेम थ्योरी एण्ड द स्टडी ऑफ सोशियल बिहेवियर : एन इन्ट्रोडक्टरी एक्सपोजिशिन," इन मार्टिन सूबिक, (एड) गेम थ्योरी एण्ड रिलेटैड एप्रोचेज टू सोशियल बिहेवियेर"

5. अभ्यास प्रश्न

1. निकाय उपागम को परिभाषित करते हुये निकाय के घटकों की समीक्षा कीजिये।
2. मार्टिन कैप्लन के निकाय उपागम की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।
3. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में निरुपण के महत्व एवं उसकी सीमाओं पर प्रकाश डालिये।

इकाई–4
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मार्क्सवादी लेनिनवादी उपागम

इकाई संरचना

1. परिचय
2. मार्क्स का जीवन
3. मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्त
   - 3.1 द्वंद्वाद
   - 3.2 द्वंद्वात्मक नैतिकवाद
   - 3.3 मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था
4. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मार्क्स के विचार
5. साम्राज्यवाद पर हॉब्सन के विचार
6. लेनिन का साम्राज्यवाद व संघर्ष का सिद्धान्त
7. युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और मार्क्सवादी–लेनिनवादी सिद्धान्त
8. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्त का पूर्वी और पश्चिमी दृष्टिकोण
   - 8.1 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के पश्चिमी सिद्धान्त विषयक मार्क्सवादी लेनिनवादी दृष्टिकोण
   - 8.2 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और मार्क्सवादी–लेनिनवादी सिद्धान्त विषयक पश्चिमी दृष्टिकोण
9. निष्कर्ष
10. सन्दर्भ और टिप्पणी
11. संदर्भ ग्रन्थ
12. अभ्यास–प्रश्न

1. परिचय

सिद्धान्त के सरंचनात्मक प्रकार्यात्मक शब्दों में एक उपागम हमें ज्ञान को उन्मुख करने,महत्वपूर्ण व सन्दर्भयुक्त सवाल करने तथा प्राथमिकता के निर्माणों को निर्देशित करने की इजाजत देता है । उपागम हमें अपने क्षेत्र के ज्ञान को अन्य क्षेत्रों से जोड़ने की अनुमति देता है और इस प्रकार वास्तविकता को उसके बहु पक्षीय प्रकटीकरणों में समझने और उसकी व्याख्या करने की हमारी क्षामता में वृद्धि करता है।

वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का कोई एक ऐसा सिद्धान्त नही है जिसे अधिकांश अग्रणीय विद्वानों का समर्थन 'प्राप्त हो । जो सैद्धान्तिक उपागमों में दिलचस्पी रखते है वे अनेक विभाजनों को प्रतिबिम्बत करते हैं जो कि राल्फ पेटमेन के अनुसार विवेचना के दो केन्द्रीय सन्दर्भो – में ये है–सरंचनावादी और बहु लवादी यद्यपि ' उसका तात्पर्य यह नहीं है कि केवल ये दो रास्ते ही विश्व मामलों के वास्तविक मुद्दों को समझने के एकमात्र रास्ते हैं किन्तु

वह समसामायिक विश्व की सामाजिक संरचना का इन दो विचार–चित्रों को पढ़कर इस आधार पर वर्णन करने का प्रयत्न करता है।[2]

सामान्यत: अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त को एक समय समझा जा सकता है जो राज्यों के मध्य सम्बन्धों तथा विश्व परिस्थितियों को समझने, उनकी भविष्यवाणी करने, मूल्यांकन करने व उनका नियंत्रण करने में –योगदान देता है। ' 'इस अर्थ में मार्क्सवादी – लेनिनवाद एक समन्वित व एकीकृत सिद्धान्त है जो द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था व वैज्ञानिक साम्यवाद को शामिल करता है। इसका दार्शनिक आधार द्वंद्वाद व ऐतिहासिक भौतिकवाद हैं।[3]

2. मार्क्स का जीवन

कार्ल मार्क्स (1818 – 1883) का जन्म ट्रायर जर्मनी में एक मध्यमवर्गीय समृद्ध परिवार में हुआ। 1835 में मार्क्स ने बॉन विश्वविद्यालय के विधि विभाग में अपना नाम दर्ज करवाया। 1836 में अपने पिता के आग्रह पर मार्क्स ने बर्लिन विश्वविद्यालय में दाखिला लिया जहां वहं हीगल तथा लुडविंग फायरवार 1804 – 1872 की शिक्षाओं के दो शक्तिशाली प्रभावों के सम्पर्क में आया।

फायरवार हीगल 1770 – 1831 का लगातार आलोचक था जिसने उसके आदर्शवाद पर आक्रमण किया तथा उस पर अचेतन रूप से अपने सिद्धान्तों का प्रयोग लोगों का वास्तविक समस्याओं से ध्यान हटाने के लिये करनें का आरोप लगाया। मार्क्स फायरवार द्वारा हीगल की आलोचना से सहमत था जबकि उसने हीगल की द्वंद्ववाद की विश्लेषण पद्धति को स्वीकार किया।

दर्शन शास्त्र में डाक्टरेट के पूर्ण होने पर मार्क्स अपने क्रातिकरि विचारों के कारण शिक्षक का व्यवसाय नहीं पा सके। अन्त में, 1842 में वे एक क्रांतिकारी अखबार "रीनेश्चे जीइतुंग " के सम्पादक बन गये जो खासकर मार्क्स के उन लेखों के कारण जिनमें रूसी पुरातन वर्ग के, प्रभुत्व में बनी सरकार के प्रति क्रियावादी मनोदशा की आलोचना की गई थी, 1843 में वन्द कर दिया गया। मार्क्स को देश से निर्वासित होकर जाना पड़ा तथा वह 1844 में फ्रेडरिक एंगेल्स 1820 - 1895 से मिला और यह पाया कि वे इतिहास के सामाजिक आर्थक सिद्धान्त की मूलभूत मान्यताओं पर सहमत है जिन्होंने उनके शेष जीवन पर प्रभुत्व बनाये रखा।

1844 और 1848 के बीच मार्क्स को एक के वाद एक यूरोपीय देशों से बलपूर्वक निकाला गया। इसी समय वैज्ञानिक खोज व उसके परिणामस्वरूप होने वाली औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न राजनीतिक स्थिति लगातार आर्थिक तनावपूर्ण हो रही थी। वास्तव में स्थिति उस मोड़ पर पहुंच गई थी कि 1848 तक आते–आते मार्क्स और साम्यवादी लोगों से जुड़े समाजवादी जिसकी स्थापना मार्क्स ने की थी इस बात से आश्वस्त थे कि सर्वहारा क्रांति बिल्कुल सामने है तथा एक सिद्धान्त के अभाव से यह व्यर्थ हो सकती है। इस प्रकार मार्क्स कों होने वाली क्रांति की विचारधारा आगे रखने के लिये एक संक्षिप्त निबन्ध लिखने का कार्य सौंपा गया। जो दस्तावेज शीघ्रता से लिखा गया वह "साम्यवादी घोषणा पत्र " था । इसमें मार्क्स के

विचारों का एक संक्षिप्त चित्र–है तथा वे 'महत्वपूर्ण विचार शामिल हैं जिन्हें मार्क्स ने एंगेल्स की कृतियों से ग्रहण किया।

1848 का वर्ष वास्तव में क्रांति का वर्ष था। फ्रांस से हंगरी तक प्रत्येक देश में विद्रोह की लपटे चमकीं किन्तु वे प्रत्येक बार दबा दी गई तथा मार्क्स ने एक बार फिर स्वयं को रहने की जगह ढूंढते हुये पाया।

अन्त में 1849 में वह इंग्लैण्ड चला गया जहां वह शेष जीवन पर्यन्त रहा। आगे के 34 वर्षों में उसने ब्रिटिश संग्रहालय में अध्ययन किया व लिखा। समूचे यूरोप में केवल इंग्लैण्ड ही पर्याप्त स्वतंत्र तथा अपनी राजनीतिक संस्थाओं की शक्ति से पर्याप्त रूप से आश्वस्त ऐसा देश था जो इस अपरम्पवादी व क्रांतिकारी विचारक का सत्कार कर सका। मार्क्स की मृत्यु के बाद एंगेल्स ने दास केपीटल के दूसरे व तीसरे खण्ड को संपादित व प्रकाशित किया तथा अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी आंदोलन का नेतृत्व सम्भाला।

3. मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्त

दयनीय दुंर्भाग्यपूर्ण स्थिति में जैसा कि उसका स्वयं का अस्तित्व हो गया था मार्क्स अभी भी, मानवता के भविष्य के वारे में उसे ऐतिहासिक अर्थों में देखते हुये, आशावादी था। पूंजीवाद के उदय के कारण जिसकी मार्क्स ने सही प्रशंसा की व्यक्ति पहली बार पर्याप्त रूप से उत्पादक हो गये ताकि समाज पृचुरता में उपलब्ध हो। वे अब, मार्क्स ने सोचा, आधे समय उनकी स्वयं की मानवता के विकास में दे सके थे। इस नये अभियान में लोगों को निर्देशित करने तथा होने वाली घटनाओं की व्याख्या करने के लिये मार्क्स ने जिन सिद्धान्तों समूहों का प्रतिपादन किया उसे हम मार्क्सवाद कहते है।

मार्क्सवाद लेनिनवाद का दर्शन एक लगातार विकासमान सिद्धान्त है। इसके उदय ने एक गुणात्मक छलांग, दर्शन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन का प्रतिनिधित्व किया। सर्वहारा वर्ग के विश्व–दृष्टिकोण के रूप में मार्क्स व एंगेल्स द्वारा विकसित मार्क्सवादी दर्शन जिसका एतिहासिक मिशन नये वर्ग विहीन समाज की स्थापना है तथा जो न केवल विश्व की कठोर वैज्ञानिक व्याख्या करने का दावा करता है बल्कि उसके रूपान्तरण के सैद्धांतिक के रूप में काम करने का दावा भी करता है।

मार्क्सवाद लेनिनवाद की एकता, समग्रता तथा परस्पर सम्बद्धता, जो कि इसके विरोधियों द्वारा भी स्वीकार की जाती है, इसके एकीकृत विश्व–दृष्टिकोण तथा पद्धति से प्रवाहित होती है। मार्क्सवाद लेनिनवाद इसके दार्शनिक आधार की पकड़ के विना सही नही समझा जा सकता है।

3.1 द्वंद्वाद

द्वंद्वाद वस्तुओं को उनकी विशेषताओं, सम्बन्धों तथा उनके मानसिक प्रतिबिम्बों अवधारणाओं को गति में, उनके अन्तर सम्बन्धों में समझता है: प्रारम्भ विरोधी विकास और लुप्त हो जाना या दूसरे शब्दों में वाद, प्रतिवाद और संवाद।

इस सिद्धान्त का एक भाग–द्वंद्वाद की अवधारणा जार्ज हीगल के चिंतन से ली गई जो आधुनिक इतिहास के सर्वाधिक प्रमुख राजनीतिक दार्शनिकों में से एक था। हीगल और मार्क्स ने द्वंद्वादी शक्तियों को जिस तरह से उपयोग मैं लिया उसका अभिप्राय था संघर्ष के माध्यम से प्रगति होना। हीगल का विश्वास था कि द्वंद्वाद एक दैवीय उत्पत्ति की शक्ति है जिसकें कारण विचार इतिहास प्रकट होता है। उसका विश्वास था कि किसी भी यथार्थ में दो चीजें होती है– वह स्वयं तथा वह भाग जो हो रहा है। हीगल के लिये इतिहास साधारणत : संघर्ष से लाया जाने वाला परिवर्तन है। फिर भी वह सावधान था यह देखने में कि ऐसा संघर्ष आवश्यक रूप से हिंसक नहीं होता।

समाज की घटनाओं की उनकी समझ में मार्क्स पूर्ववर्ती भौतिकवादी प्रकृति की आदर्शवादी धारणा के प्रति उनकी शत्रुता के बावजूद, स्वयं आदर्शवादी मान्यताओं की प्रकृतिवादी व्याख्या पर खड़े हुये थे।

जैसा कि स्वयं लेनिन कहता, है कि मार्क्स और लेनिन ने क्रांतिकारी विचार के इतिहास में कौशलपूर्ण प्रगति की क्योंकि उन्होंने भौतिकवादी द्वंद्वाद की रचना की तथा इसका उपयोग दर्शन, राजनीतिक अर्थव्यवस्था और इतिहास को पुन : 'गढ़ने तथा सर्वहारा वर्गीय आन्दोलनों की नीति व राजनीतियो का आधार उपलब्ध करने में किया।[5]

3.2 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का मूल निष्कर्ष यह शासकीय संरचना है कि समस्त इतिहास एक शासक समूह तथा अधीनस्थ समूह के मध्य वर्ग संघर्ष का इतिहास है जिससे नई आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था का आभास होता है।

पूँजीवाद के उदय से पूर्व भूमि का स्वामित्व राजनीतिक शक्ति का आधार रहा है। बढ़ते हुए व्यापारिक वर्ग "बुर्जुआ"[6] द्वारा सामंतवादी व्यवस्था को चुनौती दी गई जिसकी आर्थिक शक्ति व्यापारिक निर्माण में निकली तथा जो भू–संपदा पर न रहकर कस्वों और शहरों में व्याप्त थी। समाज के अध्ययन और रूपान्तरण के मार्क्स के प्रारूप में एकवाद (शासक समूह) तथा एक प्रतिवाद (विरोधी–समूह) है जो परस्पर टकराते है तथा एक नयी आर्थिक राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था उत्पन्न करते विरोधी शक्तियों के इस संघर्ष से एक नये संवाद " पूंजीवाद " का उदय हुआ। बुर्जुआ वर्ग की जनसंख्या बड़े शहरों मैं केंन्द्रित है तथा उसनें उत्पादन के साधनों का केन्द्रीयकरण किया और कुछ हाथों में सम्पत्ति व राजनीतिक शक्ति एकत्रित हो गई।

मार्क्स ने श्रमिक वर्ग या सर्वहारा[7] के बढ़ते हुये कष्टों को देख लिया जो शासक पूंजीपति वर्ग कों उखाड़ने के लिये पहले ही क्रांति का मार्ग प्रशस्त करेगी। मध्यम वर्ग का निम्नतर स्तर सर्वहारा वर्ग में रम जायेगा क्योंकि ये लोग अपने विशाल प्रतियोगियों की तरह उस पैमाने पर प्रतियोगिता करने के लिये पूंजी नही रखतें थे तथा नयें उत्पादन की पद्धति व उत्पादन सम्बन्धों से इनकी विशिष्ट कुशलतायें व्यर्थ हो जाती थी। मार्क्स ने बढ़ती हुई मंहगाई में होने वाले संघर्षों की एक श्रृंखला को पूर्व में ही देख लिया था जो सर्वहारा व बुजुर्आ वर्ग के

मध्य तब तक होनी थीं जब तक कि क्रांति के विस्फोट का परिणाम बुर्जुआ के उन्मूलन में नहीं होता।

3.3 मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था

मार्क्स ने विस्तार सहित विवेचना में अपने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का विकास किया। संक्षेप में कहा गया जाये तो सामाजिक रूप से उपयोगी श्रम जो कुछ उत्पन्न करता है वही वस्तु के मूल्य का एकमात्र माप समझा जाता है । पूंजीवादी स्वयं कुछ उत्पन्न नहीं करते हैं। इसकी अपेक्षा वे परजीवियों की तरह उत्पादक. वर्ग के श्रम पर जीवित रहते हैं। [8]

श्रमिकों को पूंजीपति एक निर्वाह योग्य मजदूरी देते हैं तथा शेष खुद के पास रख लेते हैं । मार्क्स के अनुसार जनसंख्या का विशाल समूह पूंजीवादी समाज में मजदूर–गुलाम बन जाता है । सर्वहारा वर्ग पदार्थों और सेवाओं का उत्पादन करते है जिसके लिये उन्हें कोई प्रतिफल नही मिलता । पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में बुर्जुआ वर्ग, जो उत्पादन के साधनों को नियंत्रित करता है, श्रमिकों का शोषण करता है तथा श्रमिकों को अपने कठोर काम के लिये दिये जानें वाले मूल्य तथा सर्वहारा वर्ग द्वारा उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं को बाजार में रखकर बुर्जुआ वर्ग की वास्तविक प्राप्तियों के बीच की खाई इस अतिरिक्त मूल्य को बढ़ाती है । [9]

साम्राज्यवाद व युद्ध सहित समस्त राजनीतिक घटनाक्रम को अन्तर निहित आर्थिक शक्तियों का प्रक्षेपण समझते है। पूंजीवादी बुर्जुआ वर्ग सर्वहारा वर्ग के बीच आने वाला संघर्ष एक समाजवादी व्यवस्था की और ले जायेगा जिसका अन्त में जैसा कि मार्क्स पहले ही देख लिया था,परिणाम होगा साम्यवाद तथा आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था के विकास के साथ राज्य का अंतत : समाप्त हो जाना ।[10] आर्थिक निर्धारणवाद के समग्र मेहराव के रंगीन शीर्षक के नीचे चेतना के सभी रूप आर्थिक तत्व के अधीनस्थ है । शक्तिशाली और कमजोर समुदाय के बीच किसी प्रकार के शक्ति सम्बन्धों के लिये धार्मिक मानवीय, राजनीतिक सांस्कृतिक और सैनिक सामरिक प्रेरणाओं, की व्याख्या एक मार्क्सवादी द्वारा आर्थिक ढांचे को छिपाने के लिये निर्मित विवेंकीकरणो के रूप में की जाती है ।

आर्थिक क्रिया पर बल उसके व्यवस्था या सावयव के साथ उनकें सम्बन्धों में बल इस पीढ़ी के लिये शायद उनीसवीं शताब्दी की देन है । [11] राजनीतिक व्यवहार की आर्थिक व्याख्या के प्रमुख प्रवर्तक रूप से मार्क्स मुख्यत : अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों से जुड़ा हुआ था क्रांति की एक पूर्व शर्त के रूप में वह गैर पश्चिमी देशों पर पड़ने वाले यूरोपीय पूंजीवाद के प्रभाव सें जुड़ा हुआ था न कि साम्राज्यवाद के किसी अमान्य सिद्धान्त से । उसनें साध्यत : माना कि पूंजीवाद इसकी आवश्यकता के कारण फैल रहा है तथा उसकी दिलचस्पी इसके कारण या इसके अन्तर्राष्ट्रीय परिणामों की अपेक्षा इसके प्रसार के सामाजिक परिणामों में ज्यादा थी । परिणाम स्वरूप, यद्यपि मार्क्स स्पष्टत : पूजीवादी समाजों व गैर पूंजीवादी विश्व कें सम्बन्धों में रूचि रखता था पर उसकी रूचि किसी ऐसे पूंजीवादी विकास के सिद्धान्त से प्रकटत : जुड़ी हुई नहीं थी जो कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की या साम्राज्यवादी विस्तार की प्रवृत्ति की व्याख्या कर सके।

4. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर मार्क्स के विचार

मार्क्स के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर विचारों का अध्ययन करने में प्रमुख समस्या यह प्रतीत होती है कि उसने इन पर प्रकटत : बहुत कम ध्यान दिया । फिर भी यह त्रुटिपूर्ण मान्यता होगी कि इस विषय पर उसके पास कहने को कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं था ; उसने यह ठीक सोचा कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एक सान्दर्मिक अवधारणा के रूप में प्रतीत होते हैं या वर्णित किये जा सकते हैं तथा यह कहना सच होगा कि मार्क्स के इस विषय पर विचार न कभी प्रकट रूप से निर्मित किये गये या एक जगह एक साथ प्रस्तुत ही किये गये । उसके अनेंक लेख विषय पर सीधा प्रभाव रखते है तथा उन्हीं के निहितार्धो की सावधानी पूर्वक तुलना के माध्यम से इस विषय पर मार्क्स के चिंतन का पूर्ण रूप से मूल्यांकन किया जायेगा ।

यह तथ्य है कि कोई ऐसी विशिष्ट कृति नही है जिसमें मार्क्स और एंगेल्स ने अलग से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के घटनाक्रम पर ध्यान केन्द्रित किया हो । तथापि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के उनके सन्दर्भ मुख्यत : उनके सिद्धान्त के उस हिस्से में ढूंढें जाने चाहिये जिसे ऐतिहासिक और भौतिकवादी [12] कहा जाता है फिर भी यह तथ्य अपनें आप में यह संकेत नही देता कि मार्क्स और एंगेल्स अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और उनके महत्व से अनभिज्ञ थे या कि उन पर अधिक ध्यान दिये जाने का उनका झुकाव नहीं था । अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की अपेक्षा विश्व उनके अध्ययनों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है । फिर भी, कम से कम 1848 तक, मार्क्स और एंगेल्स ने यूरोपीय मामलों तक अपनी रूचि सीमित रखी । उनकें बाद के दृष्टिकोण में भी यूरोपीय केन्द्रीयता जारी रही किन्तु उनकी रूचि आश्चर्यजनक रूप से यूरोपिय सीमाओं तथा समय से परे विस्तृत हो गई ।

एक विश्वव्यापी व्यवस्था के रूप में विश्व ही एकमात्र उपलब्ध संरचना है जिसके अन्दर मार्क्स की कल्पना साकार हो सकती है । राज्यों में विभाजन अस्थायी है तथा लम्बे समय में महत्वपूर्ण। मानव जाति का राष्ट्रों और राज्यों में विभाजन अस्थायी है तथा जिसे समतलीय विभाजन कहा जाता है वह मूल नही है बल्कि वर्गों के कोणीय विभाजन से निकला हुआ सह–घटनाक्रम है । यह ध्यान रखना चाहिये कि अपनी युवावस्था में मार्क्स ने हीगल की तरह पहले राज्य पर बल दिया था तथा केवल बाद में उसने वर्ग की अवधारणा विकसित की [13] । देखिए उसका कथन : व्यक्ति ही व्यक्ति का राज्य का, समाज का, संसार है [14]

श्रम विभाजन से निकली हुई ऐतिहासिक आर्थिक निरन्तरता निजी सम्पति के माध्यम से वर्गों तक, प्रत्येक एक दूसरे से निकलते हुये विकास के इसी परिणाम क्रम में एक आगामी कदम–राज्य की और ले जाती है । राज्य सयंत्र कबीलाई समाज में नही जाना जाना था जहां न सिपाही थे न पुलिस मेन, कुलीन, राजा, सत्ता प्रतिनिधि, गर्वनर, न्यायाधीश, जेलें, मुकदमें तथा जहां मामले सही ढंग से चलने के लिये आविष्कृत थे । [15] राज्यों और राष्ट्रों में समतलीय विभाजन इस प्रकार वर्गो कें मध्य मूल संघर्ष का सब ही प्रक्षेपण है जो नीचे के, वास्तविक संघर्ष को छुपाने का कार्य करता है । राज्य केवल एक संक्रमणकालीन संस्था है जो संघर्ष में, क्रांति में विरोधियों को शक्ति से दबाने के लिये प्रयुक्त होती है । स्वतंत्र व्यक्तियों के राज्य की बात करना एक विशुद्ध बकवास है ।[16]

यद्यपि राज्य आर्थिक स्थितियों के परिणाम स्वरूप है, दोनों के मध्य ऊपरी ढांचे तथा आधार के समान अर्न्तक्रिया होती है ।[17] इसका तात्पर्य है कि राज्य पूर्णत : एक निष्क्रिय तथा मूल हीन संस्था नही है । यह आर्थिक घटनाओं से प्रतिक्रिया करता है तथा उन्हें बाधाएं डालने या तेज करने के अर्थ में प्रभावित कर सकता है । फिर भी मार्क्स और एंगेल्स की राज्य में न प्रतिरोध किये जा सकने योग्य आर्थिक प्रवाही को मूलत परिवर्तित नहीं कर सकता ।

मार्क्स की रुचि के अग्रिम मोर्चे में पूंजीवादी व्यवस्था आती है । वह आपने चारों तरफ इसका सक्रिय स्वरूप देखता है । राज्य उन्ही समान शक्तियों से अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में अर्न्तक्रिया में धकेले जाते हैं जो उन्हें अस्तित्व में लाती है तथा जिन्हें पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पन्न किया है। पूंजीवादी व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में फैलना पड़ता है क्योंकि केवल इसी एजेन्सी में इसके विकास की भावी सम्भावनायें हैं ।

इसे समझते हुए इसीलिये अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्धों को एक साथ ही पूंजीवादी व्यवस्था के प्रसार में योगदान देते हुये तथा साथ ही व्यवस्था के अन्दर अन्तरविरोधों को गहरा बनाते हुये देखा जाता है जो अन्त में इसके पतन का प्रबन्ध करेंगे । इस प्रकार उन सभी समाजो, में साम्यवादी क्रान्तिया लाई जायेगी जो उन समाजों में वर्गो, राज्यों, विश्वबाजारों व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नहीं जानेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जब तक कि वर्ग संघर्ष उनकी प्रक्रियाओं का निर्णायक है, दोहरी प्रकृति व विषय वस्तु बनी रहेगी । प्रथमत : बुर्जुआ वर्ग को न केवल राज्यों के अन्दर अन्य वर्गो से लड़ना है बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वह विदेशी बुर्जुआ वर्ग से शाश्वत संघर्ष में रहेगा । दूसरे अनुमान से अधिक, फिर भी एक निश्चित मात्रा में अन्तर्राज्य बुर्जुआ वर्ग के बीच सहयोग दर्शाया गया है यद्यपि सर्वहारा वर्ग की तरह बुर्जुआ वर्ग के पास किन्हीं साधनों से उस मात्रा में अन्तर्राष्ट्रीय एकता नहीं है जो राष्ट्रीय सीमाओं के आरपार उन्हें एक दूसरे से लड़ने से रोक सके । बुर्जुआ वर्ग केवल सबसे बुरे शत्रु अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के विरूद्ध ही अस्थाई तौर पर एक हो सकता है ।

जहां तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का ताल्लुक है, यह समझना होगा कि मार्क्स उनकी अनवरत युद्ध की अवस्था में विश्वास रखता है तथा यह संघर्ष सिद्धान्त उसके दृष्टिकोण का एक एकीकृत अंग है। युद्धों की शक्ति पूर्वक मार्क्स व एंगेल्स द्वारा निन्दा की गई है । राज्यों के उदय से पूर्व युद्धों का आदिम समुदायों के मध्य स्तर तक अस्तित्व रहा किन्तु पड़ौसियों की संपदा [18] (एक बार फिर आर्थिक गुटबंदी) नें उन व्यक्तियों के लालच को उत्तेजित किया जिन्होंने सम्पदा. की प्राप्ति को जीवन का एक मुख्य उद्देश्य मानना शुरू कर दिया था फिर भी जहां तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का ताल्लुक है मार्क्स ने युद्ध को एक विशिष्ट महत्ता प्रदान की [19] जिसमें मानव जीवन में हिंसा की सर्व व्यापकता ने आदि समुदायों के लियें सामाजिक एकीकरण कर्ता का कार्य किया तथा इस प्रकार यह प्रारम्भिक सामाजिक संगठनों की रचना में आकस्मिक कारक था । यह भी सुझाया गया कि युद्ध के लिए संगठन सामंतवादी समाज की स्थापना में एक बड़ा कारक था । इस विशेष प्रकरण के बाहर मार्क्स नें अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष और राजनीति को साधरणत : राष्ट्रीय राजनीति का विस्तार माना जो विद्यमान भौतिक स्थितियों से सीधे निकलती है । एक आर्थिक शक्ति के रूप में युद्ध का विचार (इसकी वकालत साम्राज्यवाद

के सामान्य सिद्धान्त के रूप में हॉब्सन और लेनिन ने की) पर यहां अब विचार किया जा सकता है ।

5. साम्राज्यवाद पर हॉब्सन के विचार

उन्नसवीं शताब्दी का अन्त न आने तक आर्थिक प्रतिक्रियाओं पर आधारित राज्यों के बीच राजनीतिक समस्याओं का एकीक्रत सिद्धान्त प्रकट नहीं हुआ था । पर्याप्त उत्सुकता से साम्राज्यवाद के साम्यवादी सिद्धान्त के अधिकांश सूत्र इस शताब्दी में अंग्रेज अर्थशास्त्री जें. ए. हाब्सन द्वारा उपल्बध कराये गये जिसने अपना सिद्धान्त उसकी पुस्तक, "साम्राज्यवाद एक अध्ययन" में सामने रखा जो 1902 में प्रकाशित हुई ।[20] उसने यूरोपीय राज्यों की 1870) के बाद साम्राज्यवाद प्रसार की पहल को सीधे आर्थिक कारणों से जोड़ा । हाब्सन ने जो कई मायनों में लार्ड कीन्स का पुर्ववर्ती था दलील दी की साम्राज्यवाद पूंजीवाद व्यवस्था के अन्तर्गत गलत बन्दोबस्त से उत्पन्न होता है जिसमें एक धनी अल्प संख्यक अति बचत करता है जबकि विपन्न तथा केवल जीवन जीने वाली बहुसंख्या के पास आधुनिक उपयोग के समस्त फलों का उपयोग करने के लिये क्रय शक्ति का अभाव होता है । पूंजीवादी समाज इस प्रकार अति उत्पादन व निम्न अपर्याप्त उपयोग की शोचनीय दुविधा को झेलते हैं । उत्पन्न अति की पूंजी ने, जिसका सही विनियोग देश के अन्दर नहीं किया जा सकता, ब्रिटेन जर्मनी हालैण्ड फ्रांस को अपने आर्थिक साधनों का बड़े से बड़ा हिस्सा उनके राजनीतिक नियंत्रण क्षेत्र के बाहर रखने के लिये बाध्य किया और तब नये क्षेत्रों को लेने के लियें राजनीतिक विस्तार की नीति को प्रेरित किया गया ।[21]

दूसरे शब्दों में, प्रमुख औद्योगिक देशों में अपर्याप्त निम्न उपभोग के इस सिद्धान्त ने यह दलील दी की उनके आर्थिक ढांचे में परिवर्तन के कारण एक आर्थिक शक्ति उत्पन्न हुई जिसने विदेशी विनियोग पर अधिक जोर दिया । [22] इस विनियोग को उन्नत करने व सुरक्षित रखनें हेतु राष्ट्र राज्यों के बाहर राजनीतिक सत्ता का प्रयास हुआ ताकि हथियारों के बढ़ते उत्पादन के साथ इस नीति को अपनाने वाले देशों की आवश्यक चुनौती का सामना किया जा सके तथा साम्राज्यवादी विस्तार की इस नीति के परिणामस्वरूप उपनिवेश वादी युद्धों से निपटा जा सके । साथ ही उद्योग के महान नियंत्रकों का यह प्रयत्न रहा कि विदेशी बाजार खोजकर और विदेशी विनियोगों से उनके अतिरिक्त सम्पदा प्रवाह को और चौड़ा किया जाए ताकि उन वस्तुओं व पूंजी को बाहर ले जाया जावे जिसे घरेलू बाजार में न बेचा जा सकता हो ।[23]

हॉब्सन ने अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों के प्रमुख कारक के रूप में पूंजीवादी लाभ कमाने पर लेनिन के आक्रमण का पूर्वानुमान लगा लिया था । फिर भी इस पर बल देना महत्वपूर्ण है कि हॉब्सन ने आर्थिक शक्ति को आवश्यक या अनेक आर्थिक घटना क्रम का जोड़ने वाला निरूद्देश्य परिणाम नहीं समझा । उसके विचार में एक साम्राज्यवादी नीति एक ऐसी आर्थिक स्थिति की उपज थी जिसने एक विशिष्ट वर्ग के हितों का पक्ष लिया ।[24] यह उस दबाव का परिणाम थी जो कई रुचिवान वित्तीय पूंजीपतियों व उनके समर्थकों द्वारा अपनी– अपनी सरकार पर डाला गया था । ऐसी नीति, उसने तर्क दिया, पीछे नहीं लौटायी जा सकती तथा उसका अधिकांश सिद्धान्त इस नीति के बुरे परिणामों को उजाकर करना है । वह उस मार्ग की वकालत करता है जिससे यह नीति बदली जानी चाहिये ।

6. लेनिन का साम्राज्यवाद व संघर्ष का सिद्धान्त

आधुनिक युग का साम्राज्यवाद का सर्वोत्तम प्रसिद्ध सिद्धान्तकार निस्सन्देह लेनिन था । लेनिन ने हॉब्सन के तर्क को एक व्याख्या में विकसित किया । उसने साधाराण तौर पर प्रमुख यूरोपीय साम्राज्यों के वास्तविक प्रादेशिक विस्तार की व्याख्या नहीं । यह कोई महत्वपूर्ण नहीं है कि जैसे हॉब्सन बोवर युद्ध में प्रभावित हुआ उसी प्रकार लेनिन प्रथम विश्वयुद्ध से जो उस समय उफान पर था जब लेनिन ने 1816 में अपना सिद्धान्त प्रकाशित किया । उसके लिये यह युद्ध पूंजीपति शक्तियों के मध्य एक साम्राज्यवादी युद्ध था । उपनिवेशों के विभाजन और पुनर्विभाजन के लिये, वित्तीय पूंजी के प्रभाव क्षेत्रों के लिए आदि [24] युद्ध के वास्तविक कारण तथा इन शक्तियों के मध्य अधिकांश संघर्षो के कारण लेनिन के अनुसार आर्थिक थे न कि राजनीतिक ।

रोजा लक्समबर्ग 1870–1919 जर्मन समाजवादी आन्दोलनकारी ने हॉब्सन के विश्लेषण का बारीकी से अनुशीलन किया जबकि हिल्फर्डिंग ने इसे और शुद्ध करते हुए पूंजी निर्यात को कार्टेल व्यापारिक संगठनों व एकाधिकारवादी व्यवस्थाओं की व्यवहार विशेषताओं से जोड़ा जो घरेलू नियोजन की संभावनाओं को सीमित करती है । बोल्शेविक क्रांति का प्रारूप कार न तो विद्वान था न ही मौलिक विचारक था हॉब्सन से उधार लिये गये विचारों के अतिरिक्त लेनिन एकाधिकारवादी पूजीवाद की भुमिका के हिल्फर्डिंग द्वारा किये विश्लेषण पर भी आश्रित रहा ।

"साम्राज्यवाद पूजीवाद के विकास की वह अवस्था है जिसमें एकाधिकारवादी व वित्तीय पूंजी के आधिपत्य ने स्वयं को स्थापित कर लिया है, जिसमें पूंजी के निर्यात ने अपना घोषित महत्व प्राप्त कर लिया है, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठों में मध्य विश्व के विभाजन का' श्री गणेश हो गया है, जिसमें विश्व के सब क्षेत्रों का बड़ी पूंजीवादी शक्तियों के मध्य विभाजन पूर्ण हो चुका है "।[25]

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय रूप से विस्तृत होती है तथा यह विस्तार अन्य देशों व क्षेत्रों पर राजनीतिक नियंत्रण के विस्तार की ओर ले जाता है । राष्ट्रीय पूंजी के केन्द्रीयकरण की शुरूआत होने व राष्ट्रीय एकाधिकार समस्याओं में बदलने से बैंक पूंजी व औद्योगिक पूंजी मिलने और वित्तीय पूंजी बनने के परिणाम स्वरूप नये वित्तीय गुट की उत्पत्ति होती है । इस विवेकपूर्ण आर्थिक आधार से एकाधिकारवादी प्रतिष्ठान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समूहों में विस्तृत होते हैं जो तब विश्व को आर्थिक भूभाग क्षेत्रों में बांट लेते है । यह तब महानतम पूजीवादी शक्तियों के बीच वास्तविक प्रादेशिक विभाजन में बदल जाता है । अन्त में चूंकि इस विभाजन में आर्थिक शक्ति नहीं प्रकट होती, यह शक्तियां पुन : विश्व को बांटना चाहती है और आखिरकार पूर्ण एकाधिकार प्राप्त करने के लिये संघर्ष व युद्ध की और मुड़ती है । युद्धों की व्याख्या इसलिये पूंजीवाद के अन्तिम विकास में अर्थात साम्राज्यवाद में, पूंजीवादियों के विश्व के आर्थिक क्षेत्रों के पुनर्वितरण के प्रयासों में की जा सकती है । ये आर्थिक क्षेत्र साधारणत : उपनिवेश नहीं हैं क्योंकि लेनिन ने तर्क दिया कि विश्व का दो मुख्य देशों के समूहों में विभाजन एक तरफ उपनिवेशों के स्वामी देश तथा दूसरी तरफ उपनिवेश इस युग की विशिष्ट विशेषता नहीं है । आश्रित देशों के रूपों की एक किस्म और भी है वे देश जो सरकारी

तौर पर राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हैं किन्तु जो वास्तव में वित्तीय व राजनीतिक निर्भरता के जाल में घिरे हुये है ।[26]

यद्यपि लेनिन ने स्वीकार किया कि विश्व में पूंजीवाद की सर्वोच्च अवस्था आने से पूर्व भी साम्राज्य रहा है पर एक सामान्य घटना क्रम के रूप में, सभी युगों में बिना सामाजिक आर्थिक व्यवस्थाओं और विशेषकर पूंजीवादी के सन्दर्भ के साम्राज्य की व्याख्या में उसकी रूचि नहीं थी ।

साम्यवाद को लेनिन का योगदान दोहरा था । प्रथमत : उसने एक संगठनात्मक सिद्धान्त प्रदान किया जिससे साम्यवादी दल सर्वहारा का अग्रिम दस्ता बन गया जिससे क्रांति के आने को तेज किया जा सके जिसे मार्क्स ने पूर्व में निश्चित, देखा । दूसरे, हाब्सन की कृति से बहुत अधिक सहारा लेते हुये जिसका की पहले वर्णन किया जा चुका, लेनिन ने साम्राज्य का एक सिद्धान्त विकसित किया जो, पूंजीवादी राज्यों से निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रभाव विषयक साम्यवादी सिद्धान्त की श्रेणी में रखा जाता है ।

7. युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा मार्क्सवादी–लेनिनवादी सिद्धान्त

द्वितीय विश्व युद्ध से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का इतिहास लेनिन के साम्राज्यवादी सिद्धान्त के, प्रति इतना अधिक दयालुतापूर्ण नहीं रहा है । यह सिद्धान्त मुश्किल से ही पूर्वी यूरोप में सोवियत साम्यवादी साम्राज्यवादी की व्याख्या कर सकता है । यद्यपि मार्क्सवादी यूरोप व वियतनाम सोवियत हस्तक्षेपों की सैद्धान्तिक व्याख्यायें समाजवाद और पूंजीवाद की शक्तियों के बीच संघर्ष के रुप में आते है किन्तु इस प्रकार की व्यवस्था भारत–चीन युद्ध में करना अधिकाधिक कठिन है। सोवियत–चीन दरार में तो यह असंभव है ।

1950 के दशक से साम्राज्यवाद का लेनिनवादी सिद्धान्त खासकर ब्रिटेन, फ्रांस, नीदरलैण्ड और बेल्जियम जैसी यूरोपीय शक्तियों द्वारा चलाई गई उपनिवेशवादी। सम्पत्ति की प्रक्रिया से, गम्भीरता पूर्वक दबाव युक्त बना दिया गया है । आर्थिक निर्धारणवाद की आधारभूत मान्यताओं के अनुसार पूंजीपतियों को जैसा कि वे वास्तव में लड़े उससे और अधिक कट्टरता से उन्हें अपनी साम्राज्यवादी संपदा को सुरक्षित रखने के लिए लड़ना चाहिये था । और अधिक पश्चिमी पूंजीवादी राज्यों में जनता का जीवन स्तर कृत्रिम रूप से ऊंचा होना आरोपित किया गया क्योंकि यह मूलत: उपनिवेशों के जन्मजात लोगों के शोषण पर आधारित था । उपनिवेश वाद की समाप्ति से पश्चिम के जीवन स्तर में स्पष्ट गिरावट दिखनी चाहिये थी किन्तु ऐसा नही हुआ । पिछले दो दशकों में हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और आर्थिक विकासों से साम्यवादी और अन्य मार्क्सवादी कई क्षतिपूरक तरीकों से साम्राज्यवाद और संघर्ष के उनके सिद्धान्तों में संशोधन करने के लिये बाध्य हुये हैं । साम्राज्यवाद समाप्ति तथा समानान्तर पश्चिमी जीवन स्तर में वास्तविक वृद्धि के विरोध को सही करने के लिये मार्क्सवादियों नें इस तर्क पर बढ़कर जोर दिया कि पश्चिमी अर्थ व्यवस्थाएं कृत्रिम रूप सें हथियारों की दौड़ से प्रेरित की जा रही है की युद्धोन्याद को चंद मुट्ठीभर एकाधिकार वादियों की समृद्धि के लिए बढ़ावा दे रही है ।[27] निस्सन्देह इसका स्वाभाविक परिणाम यह तर्क है कि जिस अनिच्छा व धीमेपन से पश्चिमी

सरकारें शस्त्र नियंत्रण समझौता वार्ताओं में शामिल होती है इसका कारण यह तथ्य है कि तथाकथित सामरिक औद्योगिक समूहों के विशाल हित निरन्तर चलने वाली सैनिक तकनीकी प्रतिस्पर्धा में दाव पर हैं ।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के द्वितीय विश्व युद्धो पर पश्चिम में लेनिन के साम्राज्यवादी सिद्धान्त का संशोधित रुपान्तरण जो नव उपनिवेशवाद के रूप में माना जाता है, के समक्ष लाया गया ।[28] यह शायद विसंगति पूर्ण है कि जिस समय में बड़े उपनिवेशवादी साम्राज्य ढह गये उसी समय पूंजीवादी शक्तियों द्वारा शासित एक अनोपचारिक साम्राज्य प्रेषित किया गया । प्रत्यक्ष राजनीतिक सत्ता का परित्याग कुछ समीक्षकों द्वारा एक चाल समझी गई जो राजनीतिक और आर्थिक निर्भरता को बनायें रखती है बिना किसी सामाजिक व अन्य उत्तरदायित्व लिये हुए । उपनिवेशवादी सिद्धान्त का मुख्य बिन्दु यह कि राजनीतिक सम्बन्ध प्राथमिक रूप से पूंजीवाद से सीधी जुड़ी हुई आर्थिक शक्तियों में सम्बद्ध हैं । दूसरे शब्दों में इस विश्लेषण में विचार किये गये हॉब्सन के तर्क के समान यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को आर्थिक शब्दों में समझने का प्रयास है जैसा कि एक समीक्षक इसे रखता है, नव उपनिवेशवाद के सिद्धान्त की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शाखा है आर्थिक साम्राज्यवाद का वह सिद्धान्त जिसे उसने परिभाषित किया है एक क्षेत्र का देश पर दूसरे का आर्थिक प्रभुत्व ।[29]

ऐसे अनेक विश्वसनीय पश्चिमी अध्ययन हुये हैं जो हॉब्सन व लेनिन जैसे सिद्धान्तकारों द्वारा सुझाई गई इस परिकल्पना को रद्द करते हैं कि पूंजीवाद आवश्यक रूप से साम्राज्यवाद या साम्राज्यवादी राज्यों के मध्य संघर्ष की तरफ ले जाता है । पहले स्थान पर साम्राज्यवाद पूंजीवाद के उदय से पहले आया तथा अनेक प्राचीन. साम्राज्यों व साम्राज्यवादी व्यवस्थाओं की यह सामान्य विशेषता थी । दूसरे, अधिकांश युद्धों जो परपक्व पूंजीवाद के युग में हुये वे हंस जे. भार्गेन्थाऊ, के, अनुसार प्राथमिक रूप से आर्थिक प्रेरणाओं के लिए नहीं लड़े गये । भार्गेन्थाऊ इन युद्धों का उदाहरण देता है – आस्टा – रशियन युद्ध, फ्रांस जर्मन युद्ध क्रीमियाई युद्ध, स्पेन–अमेरिका युद्ध रूस – जापान युद्ध तथा दोनों विश्व युद्ध ।[30]

रेमण्ड अरां ने विशेष रूप से लेनिन के उन प्रयत्नों को जिनमें प्रथम विश्व युद्ध की व्याख्या प्रतियोगी पूंजीवादी राज्यों से प्रेरित के रूप में की गई अस्वीकार किया क्योंकि उपनिवेशों के लिये प्रतियोगिता युद्ध प्रारम्भ होने तक समाप्त हो गई थी जो कुछ दशकों पूर्व चोटी पर थी[31] एक दूसरे आधिकारिक विद्वान ने भी इस परिकल्पना का विरोध किया कि साम्राज्यवाद साम्राज्यवादी देशों के मध्य संघर्ष की ओर ले जाता है । यह देखते हुये कि केवल बोर युद्ध के अपवाद सहित सभी उपनिवेशवादी सर्वा राजस्व से सुलझाए गये तथा किसी की कीमत पर ब्रिटेन के दो प्रखर उपनिवेशवादी प्रतियोगी प्रथम विश्व युद्ध के दौरान इसके मित्र राष्ट्र थे,[32] क्विनसी टाइट ने यह पाया कि युद्ध अतिवादी वर्चस्व के युगों के दौरान हुये किन्तु वे उन क्षेत्रों में सबसे कम आवृत्ति से हुये जो पूंजीवादी व्यवस्था में सर्वाधिक रूप से संगठिन थे ।[33]

8. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्त पर पूर्वी व पश्चिमी दृष्टिकोण

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों और इनके सामाजिक पश्चिमी सिद्धान्तकारों के बीच एक विवाद सा संवाद अभी तक नही हो पाया है । एक स्थिति आ गई है जो एक तरफ मार्क्सवादी लेनिवादी सिद्धान्त के प्रति पश्चिमी उपेक्षा व अविश्वसनीयता का मिश्रण है तो दूसरी तरफ मार्क्सवादी लेनिनवादियों द्वारा की गई अनुत्तरित आलोचनाओं की बाढ़ है जो उनके अपने पश्चिमी स्रोतों के नजदीकी व सावधानीपूर्वक किये गयें अध्ययन पर आधारित है । इस क्षण में दोनों के बीच विवाद के प्रश्न पर हमारा ध्यान आकर्षित होना चाहिये क्योंकि यह क्षण सामान्यत: देतांत की भावना से जुड़ा हुआ है ।

8.1 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के पश्चिमी सिद्धान्त विषयक मार्क्सवादी–लेनिनवादी दृष्टिकोण

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्त को अभिव्यक्ति संचरण व अन्य प्रचलित सिद्धान्तों को एक समन्वित समग्र में लाने का कार्य करना चाहिये । सोवियत तर्क के मुख्यबिन्दु इन सिद्धान्तों व तरीकों की प्राप्ति तथा औचित्य की मार्क्सवादी लेनिनवादी समझ और पश्चिमी समझ के मध्य अन्तरों में निहित है । मार्क्सवादी पद्धति को एक निश्चित तरीके या अन्वेषण की प्रक्रिया के रूप में पारीभाषित करता है । यह एक ऐसी पारिभाषा है जो कुछ पश्चिमी लेखकों को पूर्ण स्वीकार्य है[34] किन्तु पद्धति का मार्क्सवादी लेनिनवादी विचार इससे और अधिक विशिष्ट हो जाता है । नियमनकारी सिद्धान्तों की एक व्यवस्था जिस पर व्यावहारिक तथा इन्द्रियजन्य सैद्धान्तिक गतिविधियों का रूपान्तरण आधारित हो ।[35] दूसरे शब्दों में, पद्धति अन्वेषण की निश्चित प्रक्रिया या तरीका है, नियमनकारी सिद्धान्तों की एक व्यवस्था है जो सिद्धान्त के चार कार्यो को करने में प्रयुक्त होती है– अर्थ सम्बन्धी, व्याख्यात्मक, पूर्णज्ञानात्मक , नियंत्रणात्मक जिनकी सबकी उपलब्धि मान ली गई है ।

"वैज्ञानिक" पद्धतियों की सोवियत परिभाषा सामाजिक अस्तित्व और सामाजिक चेतना क सम्बन्धों कें उनके अववोध पर आधारित है । पद्धति अध्ययन की विषयवस्तु की वस्तुनिष्ठ प्रकृति के अनुरूप होनी चाहिये, इसे प्रर्याप्त रूप से इसके विषय को अभिवयक्त करना चाहिये तथा इसे विवेक रूप में तथा उन नियमों के अन्दर होना चाहियें जो विकास के नियम रूप में इससे निकलते हैं । दूसरे शब्दों में, पश्चिम की स्थिति की तरह पद्धति चयन में मार्क्सवाद–लेनिनवाद में कोई चीज दुर्घटना पूर्ण या मनमानी पूर्ण नहीं है । इस प्रकार आन्तरिक रूप से समन्वित पद्धति विज्ञान पुर्वानुमान से भौतिकवादी द्वंद्ववाद है । अत : सोवियत ज्ञान शास्त्र की यह मूल मान्यता है कि विज्ञान को 'घटना क्रम' से 'सार' तक भेदन की प्रक्रिया माना जाना चाहिए ।[36]

'वैज्ञानिक' की पश्चिमी परिभाषाओं में यदाकदा 'पर्याप्त' का विशेष हवाला दिया जाता है । मार्क्सवादी लेनिनवादी इस तत्व पर जोर देते है जो पश्चिमी भाषाओं में मान लिया जाता है।– पश्चिम में पुष्टिकरण औचित्य सामान्यत : ऐसे तत्वों से ताल्लुक रहता है । मार्क्सवादी लेनिनवादी व्याख्या के तीव्र विरोध में पुष्टिकरण । प्रमाणीकरण सदैव एक आत्मनिष्ठ प्रश्न है

या वास्तव में. अन्त : आत्मनिष्ठ प्रश्न है ।[37] पश्चिमी दृष्टिकोण में एक मान्यता तब प्रमाणित कही जाती है, जब उसका परीक्षण व परख ज्ञान के सन्दर्भित क्षेत्र के बड़ी संख्या में विशेषश्रों ने कर ली हो और जब इसे परीक्षण के परिणाम स्वरूप सामान्य विशेषज्ञ राय उस मान्यता के विश्वास को समर्थन देती हो ।[38] मार्क्सवादी–लेनिनवादी सिद्धान्तकार पश्चिमी सिद्धान्त की एक मुख्य धारा व्यवस्था विश्लेषण की भी सरंचनात्मक प्रकार्यवाद से निकले एकीकरण सिद्धान्तों के अनुसार 'वैज्ञानिक' नहीं हो सकते । सरंचनात्मक प्रकार्यात्मक निर्गमनों से पश्चिम समाज को गलत ढंग से एक अवयव के रूप में निर्मित करता है । साथ ही इसकी असाधारण भाग व संस्थायें इसे कायम रखने के साधन मानी जाती है । समस्त दुर्घटनाओं की उपेक्षा की जाती है तथा मार्क्सवादी लेनिनवादी इस दृष्टिकोण में वह सब देखने है जों रूढ़िवाद व सामाजिक ठहराव की बुर्जुआ विचार धारा से पूर्णत: सुसंगत है ।

अन्यत्र उद्धृत मारगेन्थाऊ के सन्दर्भ में शक्ति संतुलन के सिद्धान्तों पर सोवियत वर्गीय दृष्टिकोण की व्याख्या को कुचलने/निरपेक्ष करने की श्रेणीयां पहचानी जाये तथा शक्ति के बहुरंगीय प्रतिबिम्बों में राज्यों को व्यवस्थित किये जाने के आधारों पर आक्रमण करता है । शक्ति संतुलन का सिद्धान्त उन नियमितनाओं को प्रस्तुत को यथावत्जो पूंजीवादी राज्यों के सम्बन्धों पर नियंत्रण रखती है । इस क्रम में प्रभुत्व की प्रेरणा, शक्ति पर निर्भरता आदि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की सार्वभौमिक नियमित्ताओ के रूप में समाजवादी व्यवस्था के उदय की उपेक्षा की जाती है । [39]

8.2 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्त विषयक पश्चिमी दृष्टिकोण

जहां सोवियत मार्क्सवादी लेनिनवादी अधिकांश पश्चिमी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को दार्शनिक आधारों पर खारिज कर देते हैं वहां वे स्वयं भी कुछ सैद्धांनिक क्षेत्रों के पश्चिमी. कार्यकर्ताओं से और अधिक आकस्मिक असम्मान प्राप्त करते है । एक आनुमानिक यथार्थ की परिकल्पना की ओंकशॉट द्वारा की गई आलोचना जिसकी विज्ञान व्याख्या करता है तथा वैज्ञानिक व्याख्याओं से जो वैध ठहरती है वह यह है विज्ञान की सही प्रकृति एक पूर्ण स्थायी अनुभव को जगत के रूप में घोषित करती हैं ।[40] यह जगत, मात्रात्मक अवधारणाओं का जगत है तथा इसकी सामान्य मान्यतायें वैज्ञानिक जान के जगत की संरचनात्मक अवधारणाओं का विश्लेषण है तथा वे इन धारणाओं के बीच सम्बन्धों को अभिव्यक्त करती है जो कि स्वयं धारणाओं में अर्न्तनिहित है[41] ऑकशॉट की विज्ञान की आलोचना का केन्द्र यह है कि एक आनुभविक वास्तविकता उस तर्क से जों कि इसे घोषित करना है, से स्वतंत्र विद्यमान नहीं रहती । इस प्रकार यह अस्वीकार किया जाता है कि विज्ञान का सम्बन्ध देखे गये तथ्यों से है तथा यह घोषित किया जाता है कि यह एक मात्र अवधारणाओं के बीच मात्रात्मक सम्बन्धों से तल्लुक रखता है ।[42]

पश्चिमी लेखकों द्वारा सोवियत सिद्धान्तों को दो आधारों पर अमान्य ठहराया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर सोवियत लेखन किसी सिद्धान्त का निर्माण नही करता तथा यह कि इस विषय पर सोवियत चिंतन किसी भी प्रशंसनीय तरीके से विदेशी मामलों में सोवियत व्यवहार के बारे में सूचना देंने में असफल होता है । कोई भी सोवियत सिद्धान्त में द्वंद्वाद के

बहुल सन्दर्भ के सम्पर्क में आये बिना बहुत आगे तक नही बढ़ता तथा वास्तव में द्वंद्वाद जिसका अभिप्राय सोवियत पद्धति विज्ञान से भी है लेनिन के अनुसार मार्क्सवादी दर्शन का 'सार' है । विश्व राजनीति पर द्वंद्वात्मक विश्लेषण का सीधा प्रयोग सोवियत सिद्धान्तकारों को दो सामाजिक आर्थिक व्यवस्थाओं को पहचानने की ओर तथा उनके परस्पर सम्बन्धों को विरोधपूर्ण शत्रुता पूर्ण वर्णित करने की ओर ले जाता है । ये दोनों व्यवस्थायें दो बड़े वर्गो की पैदायश हैं और उनके माध्यम से राष्ट्र राज्य की संस्था के मार्फत वह विशाल वर्ग संघर्ष इसके अन्तिम इसके अन्तिम समाधान की और प्रगति करता है । दो व्यवस्थाओं का उदय निश्चित रूप से एक वास्तविकता है किन्तु यह प्रश्न कि उनका वर्गीय स्वरूप निर्धारण क्या वास्तव में उनकी प्रकृति की व्याख्या है, अभी भी अनिर्णीत है ।

दोनों व्यवस्थाओं के मध्य अर्न्तविरोधात्मक सम्बन्धों की मान्यता से वास्तविक सहयोग सम्बन्धों की सम्भावना पथभ्रष्टता के रूप में नगण्य समझी जाती है यद्यपि यह प्रतिपादित अर्न्त विरोधों की कठोरता पर सन्देह प्रकट करती है ।

यह भी देखा जा सकता है कि यद्यपि आंशिक रूप से एक दूसरे से मिलते हुए सोवियत सैद्धान्तिक प्रारूप के त्रिकोण सम सामयिक वातावरण से न नकारने योग्य समता रखते है । यह प्रारूप विश्व का वर्णन नहीं करता बल्कि यह उसकी उत्पत्ति विवेक तथा इसके निर्माणकारी अंगों के मूल सम्बन्धों की व्याख्या का ही एक प्रयास है। पुन: एक कारक जो उन्हें पश्चिमी सिद्धान्तकारों से अलग करता है वह उनकी तत्परता से प्रकट होता है जो इसके साथ समय स्थान में व्यापक रूप से बिखरी घटनाओं को अन्य देशों से या एक समग्र के रूप में विश्व से जोड़ता हैं । इस प्रकार संघर्ष स्थितियां अलगाव में देखे जाने की अपेक्षा पूर्व निश्चित निष्कर्षो की तरफ बढ़ने वाली एक व्यवस्थित प्रक्रिया की कड़ियों के रूप में देखी जाती है । पश्चिमी अवबोधनात्मक दृष्टिकोण से भिन्न मार्क्सवादी लेनिनवादी सैद्धान्तिक प्रिज्म जिससे सोवियत नीति निर्माता संसार की –देखते हैं बहुत कम अवसर या दुर्घटनाओं को प्रतिबिम्बित करता है तथा न ही सोवियत राजनीति के उद्देश्य जो तीव्रता से केन्द्र में लाये जाते हैं, पश्चिमी 'यथास्थिति' उद्देश्यों में से कोई साम्य रखने हैं ।

9. निष्कर्ष

मार्क्सवादी दर्शन सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी संघर्ष की मूल आवश्यकताओं द्वारा अस्तित्व में आया जिसका लक्ष्य पूंजीवादी सम्बन्धों की व्यवस्था को समाप्त करना तथा वर्गहीन साम्यवादी समाज का निर्माण करना है । मार्क्सवाद प्रगतिशील सामाजिक चिन्तक के समस्त पूर्व विकास का आवश्यक परिणाम था । यह वैज्ञानिक अवबोधन तथा विश्व के क्रांतिकारी रूपान्तरण का शक्तिशाली सैद्धान्तिक यंत्र बन चुका है ।

मार्क्सवादी दर्शन ने, जिसे नये ऐतिहासिक अनुभवों और विज्ञान की नई उपलब्धियों के आधार पर लेनिन ने समृद्ध किया, सोवियत संघ व अन्य देशों में समाजवादी क्रांति की विजय के लिए सिद्धान्तिक व विचारधारात्मक तैयारी में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । सम–सामयिक वैचारिक संघर्ष में मार्क्सवादी लेनिनवादी दर्शन विशेष रूप से महत्वपूर्ण है । खासकर द्वितीय विश्व युद्ध के तुरंत वाद के वार्षो में यह साम्राज्यवाद की विचारधारा का विरोध करते हुए, मानव

जाति के उज्जवल भविष्य के गहरे विश्वास के सहारे सामाजिक विकास तथा प्रगतिशील मानीवीय चिन्तन की महान रचनात्मक संभावनाओं की पताका को ऊंची थामे हुए है ।

मार्क्सवादी लेनिनवादी दर्शन के ऐतिहासिक विकास पर आधारित सामान्य निष्कर्षो के अतिरिक्त यह आवश्यक है कि हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अधिक सामयिक विकास पर खासकर द्वितीय विश्व युद्धों पर युग के विकास पर हमारा ध्यान केन्द्रीत करने की कोशिश करें । समाजवादी देशों में धीमी गति से शुरू किये गये आर्थिक व सामाजिक सुधारों के तथा उनकें विश्व व्यवस्था व उसके समक्ष मार्क्सवाद लेनिनवाद के सिद्धान्तों पर उनके निहितार्थों को समझना भी आवश्यक है । इन्हीं हाल के हुये विकासों में हम भूत की सैनि में भौतिकवादी की मार्क्सवादी लेनिनवादी दार्शनिक परम्पराओं, जिनके साथ सभी प्रकार के विचारों के प्रति असहिष्णुता थी, की निरन्तरता में एक धीमा ढ़ीलापन देख सकते हैं । यह सुधार का तरीका आंशिक रूप से खुश्चेव के समय सोवियत संघ के चिन्तन और नीतियों में प्रमुखता से उभरा तथा और अधिक सीमा तक मिखाइल गोर्वाचोव के वर्तमान नेतृत्व के अधीन ।

समाजवाद के इतिहास को एक विश्व व्यवस्था दृष्टिकोण के अन्तर्गत विचारित करनें के हाल ही के पश्चिमी प्रयत्न समाजवादी क्रांति की उन बाधाओं पर केन्द्रित है जो विशाल पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से उत्पन्न होती हैं ।[43] प्रत्येक राज्य यंत्र विश्व अर्थव्यवस्था की क्रियाओं से प्रतिबंधित होता है तथा अन्तर्राज्य व्यवस्था को कुछ सीमायें माननी पड़ती हैं, या उसे अन्य राज्यों द्वारा थोपी गई सजाओं को भुगतना पड़ता है ।

आधुनिक राज्यों को किसी भी राज्य से जो भिन्न करता है वह यह है कि तथ्य यह पहली अन्तर्राज्य व्यवस्था है जो एक समय में विश्व साम्राज्य में रूपान्तरित नहीं हुई है ।[44] हमारी अन्तर्राज्य व्यवस्था पूजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था के राजनीतिक ऊपरी ढ़ाचें के रूप में विकसित हुई है तथा यह वह तथ्य है जो आधुनिक राज्यों व आधुनिक अन्तर्राज्य व्यवस्था दोनों की विशिष्टताओं की व्याख्या करता है । अन्तर्राज्य व्यवस्था की सीमायें तथा विश्व अर्थव्यवस्था यदि स्पष्ट नहीं तो इस प्रकार कमोवेश समानार्थक अवश्य हो गई है ।

आधुनिक अन्तर्राज्य व्यवस्था के क्रियाकलापों से समाजवादी आन्दोलन व्यावहारिक दुविधा में फंस गये हैं । विश्व अर्थव्यवस्था के कार्याकलाप की वर्तमान प्रणाली की वास्तविकताओं तथा सक्रिय शक्तियों की समग्रता के समक्ष किसी एक संरचना की कमजोरियों का अर्थ है कि कल्याण व उत्पादन शक्तियों के विस्तार की संभावनायें जिसका कारण विश्व अर्थ व्यवस्था से पूर्ण वापस होने के प्रयत्नों से है की अल्पकालीन कीमत इसकी अपेक्षा अधिक ज्यादा है जिससे कोई सरकार राजनीतिक रूप से अपने आपको कायम रख सके । परिणाम यह है कि व्यवस्था विरोधी आन्दोलनों के अन्दर से विशाल सामाजिक दबाव व्याप्त है । वाल्सटीन के अनुसार एक राज्य को, उस राज्य के आर्थिक स्तर को वर्तमान अधिक विकसित राज्यों के आर्थिक स्तरों के समान लाने के लिये अतिरिक्त मूल्य के संग्रहरण के माध्यम से पूंजी का एककीकरण तथा उत्पादन और विनियम जो अभी इतने वस्तुक्रत नहीं है का और अधिक वस्तुकरण को आवश्यक रूप सें शामिल करना होता है । पकड़ने व समकक्ष होने का संक्षेप में अर्थ है सभी कोणों में मृत्यु के नियम की विजय जो इसके आधिपत्य के प्रतिरोधी थे ।

एक तरफ अन्त में इसे व्यवस्था विरोधी आन्दोलनों के समर्थकों द्वारा उनके पूर्व निश्चित लक्ष्यों को पूर्णत: धोखा देने के रूप में नहीं तो 'निराशा' के रूप में देखा जाता है तो दूसरी तरफ जिसकी मात्रा में ये आन्दोलन जिस किसी भी समझौता की गई शक्ल में जीवित रहते है अन्य जगहें पर अन्य आन्दोलनों को सामाजिक स्थान व बहुधा साधन उपलब्ध करवाते हैं और इस प्रकार विश्व व्यापी व्यवस्था विरोधी आन्दोलन की बढ़ती शक्ति में अपना योगदान देते हैं ।

10. सन्दर्भ और टिप्पणियां

1. राल्फ पेटमेन – 'कम्पीटिंग पेराडाइमस इन इंटरनेशनल पालिटिक्स', रिब्यू ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज, 1981, 30–49 पृ. 39
2. उपरोक्त पृ. 39)
3. क्विंसी राइट : डिवलपमेन्ट ऑफ व जनरल थ्योरी ऑफ इंटरनेशनल रिलेशंस होर्स वि. हैरीसन संपादित दी रोल ऑफ थ्योरी इन इंटरनेशनल रिलेशंस, प्रिसटन, एल. जे. वान मास्ट्रान्ड 1964 पृ. 20
4. 'डाईलेक्टिक्स' शब्द यूनानी शब्द डायलेक्टीकोर्ज से लिया गया है जिसका अभिप्राय वाद विवाद या तर्क से है । प्राचीन काल मे द्वंद्ववाद का अभिप्राय तर्क के माध्यम से या अपने विरोधियों के चिंतन के अर्न्त विरोधों का खुलासा कर सत्य को प्रकट करने से था ।
5. वी आई. लेनिन दी मार्क्स एंगल्स कोरसपोन्डेंस खण्ड 19 पृ. 554
6. 'यूजोर जिओजी' यह फ्रेंच शब्द है जिसका अग्रेंजी अर्थ है– मध्यम वर्ग किन्तु किसी को इस अनुवाद से गलत निष्कर्ष नही निकालने में सावधान होना चाहिये । मार्क्स नें इस शब्द का वही अर्थ लिया जो फ्रेच में है । बुर्जुआ शिक्षित धनी व्यापारियों और सौदागरों का वर्ग है, जो व्यापार में वृद्धि के साथ विकसित हुआ । जैसाकि मार्क्स ने देखा मध्यम वर्ग कभी जनसंख्या का विशाल आज वही बनता किन्तु इसकी शक्ति न संपत्ति बढ़ती गई ज्यों–ज्यों आर्थिक व्यवस्था आधिकाधिक व्यपारिक हुई ।
7. मार्क्स और एंगेल्स के लिये सर्वहारा वर्ग मजदूर वर्ग जो बुर्जुआ वर्ग सें संघर्ष में रत है वह राजनीतिक शक्ति है जो पूंजीवादी के विनाश व समाजवादी में संक्रमण को पूरा करेगी ।
8. उत्पादन का तरीकों जैसा कि अल्थूशर व बलिबार ने परिभाषित किया है सम्बन्धों के दो प्रतिमानों से बनता है : प्रकृति के वास्तविक दोहन तथा उत्पादन के स्वामित्व हरण का संयोग । उत्पादन के ये दो प्रतिमान यह दावा किया जाता है कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समस्त उत्पादन के दो विलीन नही हो सकते ।
9. उत्पादन सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों के आर्थिक स्वामित्व से निर्मित होते हैं । पूंजीवाद में इस सम्बन्धों में सर्वाधिक आधारभूत है उत्पादन साधनों पर बुर्जुआ वर्ग की मिल्कियत जबकि सर्वहारा केवल अपनी श्रम शक्ति का स्वामी है ।
10. कार्ल मार्क्स : केपीटल : एक्रिटिक ऑफ पालिटिक्ल इकॉनमी न्यूयार्क रेडंम हाऊस विशेष रूप से अध्याय 1, 7, 9, 11, 12, 16, 18 तथा 24.
11. जे .ए. हॉब्सन 'इम्पीरियलिज्म : ए स्टडी' लन्दन एलन एण्ड अनविन, 1968

12. एतिहासिक भौतिकवाद कहीं भी व्यवस्थित रूप से नही प्रतिपादित किया गया है तथा सामान्यत: निम्न कृतियों से पुर्न निर्मित किया जाता है : इकानामिक एण्ड फिलोसाफिकल मेन्सक्रिप्ट्स, जर्मन आइडियोलोजी कन्टीकूशन टू दि क्रिटिक ऑफ पालिटिकल इकानमी का प्रकाक्कथन तथा एंगेल्स की कृति दी आटिर्जन ऑफ फेमिली प्राइवेट प्रोपटी एण्ड दि स्टेट ।
13. वर्ग की धारणा का मार्क्सवादी सिद्धान्त में केन्द्रीय स्थान है । एक अर्थ में यह मार्क्स के सम्पूर्ण सिद्धान्त का आरम्भिक बिन्दु था क्योंकि एक सर्वहारा का विचार जो स्वयं में वास्तविक है एक नई राजनीतिक शक्ति जो अपने मुक्ति के संघर्ष में लगी हुई है के रूप में विकास प्रक्रिया ' के विश्लेषण की और उन्मुख किया ।
14. कार्लमार्क्स अर्ली टेक्स्ट्स डी. मेक्लीलन संपादित आक्सर्फ 1971 पृ 15,
15. फ्रेडरिक एंगेल्स दी आटिजिन ऑफ फेमिली प्राइवेट प्रापर्टी एण्ड दि स्टेट सलेक्टेड वर्क्स – लंदन लारेन्स एण्ड विशार्ट 1968 पृ. 519
16. ए बेबेल को लिखा पत्र 18– 19 मार्च 1975, सलेक्टेड वर्क्स पूर्वाक्त पृ. 335
17. आधार तथा वाह यू डयरी टार्च के विचार का मार्क्स प एंगेल्स द्वारा निर्माण यह प्रतिपादित करनें में लिये किया गया है कि समाज का आर्थिक ढांचा आधार राज्य व समाजिक चेतना उपरी ढांचा के रूपों व अस्तित्व को निर्धारित करता है । तदनुसार आर्थिक सम्बन्धों का कोई समुच्चय राज्य व सामाजिक चेतना के विशिष्ट रूपों के अस्तित्व को निर्धारित करता है जो इसके कार्य करने के लिये पर्याप्त हो तथा समाज आर्थिक बुनियाद में किसी प्रकार का परिवर्तन ढांचे में परिवर्तन की और ले जाता ।
18. फ्रेडरिक एंगेल्स – दि ओर्टिजिन —— पूर्वाक्त पू. 581
19. कालर्स मार्क्स प्रि केपिटलिस्ट इकानमिक फोर्मेशन्स अनुदित जेक कोहेन संपादित ई. जे हाब्सने लंदन, लारेन्स एण्ड विशार्ट 1964 पृ. 71
20. मार्क्सवादी सिद्धान्त में साम्राज्यवाद शब्द का सर्वाधिक साधारण उपयोग संकुचित अर्थ में उन्नत पूंजीवादी देशों तथा पिछड़े देशों के बीच के आर्थिक व सामाजिक सम्बन्धों के लिये किया गया है । साम्राज्यवादी का तात्पर्य प्रकाधिका खादी पूंजीवाद के युग में विश्व स्तर पर चलने वाली पूजीवादी संचयन की प्रक्रिया सें है । साम्राज्य का सिद्धान्त विश्व बाजार के सन्दर्भ में संचयन को अन्वेषण है ।
21. हाब्सन पूर्वाक पृ. 80
22. जारी पृ. 81 - 93
23. जारी पृ. 85
24. जी .इ. लेलिल : इम्पीरियलिज्म : दि हाइस्ट स्टेज ऑफ केपिटजिज्म न्यूर्याक इंटरनेशनल पब्लिशर्स 1939 फ्रांसिसी व जर्मन संस्करण की प्राक्कथन का पृष्ठ 9
25. जारी पृ 89
26. जारी पृ. 85
27. निकिता. एस ख्रचेतव फार विक्टरी ऑफ पीसफुल कम्पीटिशन विद केपीटिलज्मि न्यूर्याक ई. पी. डट्टन एण्ड कम्पनी 1960

28. उदाहरणार्थ देखे मिखाइल बाट बाउन आफटर इम्पीरियिलिज्म संशोधित संस्करण लन्दन, हीनमैन, 1970
29. आर. आई. रोड्स संपादित इम्पीरियिलज्म एण्ड अण्डर डवलपमेन्ट ए रीडर न्यूर्याक, मंथली रिव्यू प्रेस 1970 देखे जे. ओ. कोनोर, 'दी मीनिंग ऑफ इम्पीरियलिज्म ' ।
30. हैस जे. मॉर्गेन्थाऊ पीस एण्ड वार अनुदित रिर्चाड हार्वाड तथा एनेटे बेकर फाक्स गाडिनसिटी न्यूर्याक डवलडे 1966 पृ. 261
31. रेमण्ड एंरा, पीस एण्ड वार अनुदित रिचार्ड हार्वाड तथा एनेटेबकर फाक्स गार्डन सिटी न्यूयार्क डबलेड 1966 पृ. 61
32. रार्बट गिलपिन यू.एस. पावर एण्ड दि मल्टीनेशनल कारपोरेशन, न्यूर्याक, बेसिक बुक्स 1975 पृ. 74
33. क्विंसी राइट एस्टड्री ऑन वॉर शिकागों शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस 1965 पृ. 1163– 64
34. वर्नान वान डयक पालिटिकल साइन्स : ए फिलोसोफिकल एनोलिसिस स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1969 पृ. 114
35. विक्टर नेप मेथडोलाजिकल प्रोब्लमस ऑफ दि साइंस आफ स्टेट एण्ड लॉ 1972 पृ. 78
36. यह कहना कि वौनिक का अभिप्राय है वस्तुनिष्ठ यथार्थ से संगति, जिसका इस अर्थ में दावा किया जाता है मार्क्सवादी अकेला ही वैज्ञानिक है।
37. वर्नान वी डायक – पूर्वाक पृष्ठ 191 – 193
38. जारी
39. जी.आई. टंकिन ईंटरनेशन ला एझउ इंडियोलोजिकल स्ट्रगल इंटरनेशनल अनफेयर्स 1971/11 पृ. 25
40. मिखाइल ओक शॉट – एक्सपीरिएन्स एझउ इटसू मोडस केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1933 पृ. 170
41. जारी पृ. 172
42. जारी पृ. 182
43. वार्लस्टीन विश्व–अर्थव्यवस्था की अवधारणा को विश्व अर्थव्यवस्था की अवधारणा से भिन्न करता है। उसके अनुसार बाद वाली अवधारणा यह मानती है कि प्रथम अर्थव्यवस्थाओं की एक श्रृंखला है जौ क्षेत्र में राष्ट्रीय है तथा कुछ निश्चित दशाओं में से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था कही जाती है। इससे अलग विश्व– अर्थव्यवस्था की अवधारणा यह मानती है वहां एक अर्थव्यवस्था विद्यमान है जहां जारी विस्तारात्मक तथा सापेक्षिक रूस से श्रम का पूर्ण सामाजिक विभाजन उत्पादन प्रक्रियाओं के एकीक्रत समुचय के साथ है जो एक दूसरे से बाजार के माध्यम से सम्बंधित है जिसे किसी प्रकार जटिल तरीके से संस्थापित या उत्पन्न किया गया है।
44. इमानुएल वार्लस्टीन, दी. मॉडर्न वर्ल्ड सिस्टम, न्यूयार्क, एकेडामिक प्रेस।

11. संदर्भ ग्रन्थ

1. टाम बॉल्टीमोर (सं.), ए डिक्शनरी ऑफ मार्क्सिस्ट थॉट, ऑक्सफोर्ड, 1983
2. लिओन पी. वारदात पालिटिकल आइडियोलीजिज देयर आरिजिन्स एण्ड इम्पेक्ट एंगलबुड विलफस एन. जे. प्रेटिस हाल, 1979
3. लेसजेक् कोलाकोवस्की मैन करेन्ट स ऑफ मार्क्सिज्म आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1978
4. कुबालकोवा एण्ड क्रय्यूकशेंक: मार्क्सिज्म लेनिज्म एण्ड इंटरनेशनल रिलंशंस थ्योरी
5. ट्रेवड टेलर – एप्रोचज टु इंटरनेशनल रिलेशंस।

12. अभ्यास प्रश्न

1. 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मार्क्सवादी–लेनिनवादी उपागम' विषय पर एक लेख लिखिए ।
2. साम्राज्यवाद विषयक हॉब्सन के विचारों की समीक्षा कीजिए ।
3. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का पूर्वी व पश्चिमी संदर्भ क्या है? उनकी प्रतिनिधि–धाराणाओं की चर्चा कीजिए ।

इकाई 5
तृतीय विश्व के उपागम

इकाई संरचना

1. पृष्ठभूमि
2. तृतीय विश्व शब्द का अर्थ व लक्षण
3. तृतीय विश्व के देशों के लक्ष्य
4. उपसंहार
5. संदर्भ ग्रन्थ
6. अभ्यास प्रश्न

1. पृष्ठभूमि

यूरोपीयन साम्राज्य निर्माण का प्रथम दौर 15वीं सदी के दौरान शुरु हुआ था जब कि इंगलिश, फ्रेंच, डच तथा पुर्तगाल जैसी साम्राज्यवादी ताकतों ने व्यापारिक लाभ के लिए विदेशों में सैनिक बल का प्रयोग किया था । राष्ट्रीय सम्पति का आधिपत्य राष्ट्रीय शक्ति का मुख्य स्रोत था । सोना व चाँदी जैसे खनिज, सम्पति संचित करने का माध्यम थे; जिसमें कि आयात से अधिक निर्यात प्रमुख था ।

अठारहवीं सदी के अन्त तक यूरोपीय शक्तियां विश्व भर में फैल चूकी थी; यद्यपि जो उपनिवेशी साम्राज्य उन्होंने बनाया था वह उस समय धीरे–धीरे पतन की ओर बढ़ रहा था । ब्रिटेन के 13 उपनिवेशों ने 1776 में स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी । स्पेन के अधिकांश उपनिवेशों ने 19 वीं सदी के आरम्भ में ही स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी । इस दौर के साथ–साथ विश्व भर में नये विकास भी हुए । अहस्तक्षेप के आर्थिक सिद्धान्तों के आधारों के तहत मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों को नियमित करने वाले दर्शन के रुप में स्थापित हुई थी।

सन 1870 के आसपास आरम्भ होकर साम्राज्यवाद की नई लहर ने पूरे विश्व को समेट लिया था । पश्चिमी यूरोप के देशों ने विश्व को पुन : विदेशी साम्राज्यों में बांट लिया था । सन 1914 में प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ तक अफ्रीकी महाद्वीप सात यूरोपी शक्तियों के अधीन था । पूर्व तथा पैसेफिक क्षेत्रों में केवल थाईलैड, चीन व जापान, यूरोप या अमेरीका के सीधे नियंत्रण से मुक्त थे । पश्चिमी गोर्लाद्ध में अमेरीका ने अपनें महाद्वीप से बाहर तक अपना साम्राज्य फैला लिया था । स्पेन ने प्यूरीटो रिको पर अपना कब्जा जमा लिया था तथा अपने उपनिवेश की सीमा को पश्चिम की ओर हवाई तथा फिलीपीन्स तक पहुंचा दिया था ।

क्लासिकी या प्राचीन साम्राज्यवाद की तुलना में 19 वीं सदी के अन्त में नये साम्राज्य में साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच अभूतपूर्व स्पर्धा प्रमुख लक्षण रही थी जिनके लिए उपनिवेश राष्ट्रीय शक्ति व प्रतिष्ठा का महत्वपूर्ण प्रतीक थे । प्रथम विश्व युद्ध के विनाश ने एक स्थायी

तथा शान्तिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की मांग को जन्म दिया । युद्ध ने यूरोप' के देशों के बीच शक्ति सन्तुलन के विघटन का संकेत दिया था ।

सन 1930 तथा सन 1940 के आरम्भ में जर्मनी, जापान व इटली के विस्तारवादी इरादों ने विश्व भर के लिए चुनौती खड़ी कर दी थी । द्वितीय विश्व युद्ध में इनकी पराज्य के फलस्वरुप विश्व व्यापी साम्राज्य बनाने का खतरा कम हुआ तथा एक स्थायी विश्व व्यवस्था को बनाने के दौर में तेजी भी आई फलस्वरूप, उपनिवेशवाद के बाद का युग आरम्भ हुआ जिसनें कि उत्तर–दक्षिण के विवाद की शुरुआत भी की जिससें वर्तमान समय में हम भली भांति परिचित है ।

2. 'तृतीय विश्व' का अर्थ तथा लक्षण

तृतीय विश्व में गरीब व आर्थिक रुप से अविकसित देश आते हैं । ये देश इतनी अधिक संख्या में है कि यह कहना सरल होता है कि इनमें से कौन सा देश विकसित है और कौन सा नहीं है । तृतीय विश्व में महासागर के देश जापान, आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैंड को छोड़कर एशिया के सभी देश तथा दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर सभी अफ्रीकी देश तथा कनाडा व अमेरीका के अलावा पश्चिमी गोलार्द्ध के सभी देश शामिल हैं । कुछ सूत्रीकरण यूरोप के कुछ देशों को विकासशील अर्थ व्यवस्थाओं को श्रेणी मे रखते हैं (पुर्तगाल, स्पेन, ग्रीस, टर्की, यूगोस्लाविया, रोमानिया)। इस प्रकार तृतीय विश्व की जनसंख्या पूरे विश्व की जनसंख्या का 75 प्रतिशत है । सकल राष्ट्रीय उत्पादन के हिसाब से इसकी कुल वस्तुएं व सेवायें विश्व उत्पादन का केवल 20 प्रतिशत हैं। प्रति व्यक्ति आमदनी के आधार पर तृतीय विश्व के लिए औसतन वार्षिक आय 2000 डालर से कम होती है जबकि प्रथम विश्व (औद्योगिक) व द्वितीय विश्व (समाजवादी) में औसतन वार्षिक आय इससे कहीं अधिक होती है ।

हम उत्तर–दक्षिण विवाद के बहुआयामी मुद्दों को समझ सकते हैं । यदि हम इसकी निरन्तर अविकसितता के उत्तरदायी कुछ तथ्यों को अलग करके देखें जो कि आज विश्व में कई देशों की दुर्दशा को दर्शातें है हैंन्स सिंगर तथा जावेद अन्सारी (1977) ने जनसंख्या वृद्धि की उच्च दर, आय का निम्न स्तर, तथा तकनीकी निर्भरता जैसें कुछ तथ्यों को स्पष्ट किया जो कि अन्य आयामों से करीबी रुप से जुड़े हुए हैं ।

2.1 उच्च जनसंख्या वृद्धि

अमीर व गरीब देशों के बीच बढ़ते फासले के पीछे यह एक स्पष्ट कारण है । अन्य चीजों के अलावा उच्च जन्म दर का अर्थ है कि विकासशील देशों में नौजवानों की जनसंख्या का अनुपात बहुत अधिक है तथा एक बड़े पैमाने पर बढ़ती शहरी जनसंख्या को उच्च स्तर की सुविधाएं प्रदान करने के अलावा इन देशों को उत्पादकों को एक नई पीढ़ी तैयार करने के लिए अधिक संसाधनों का इस्तेमाल करना पड़ता है ।

2.2 आय का निम्न स्तर

यह एक प्रमुख लक्षण है जो कि तृतीय विश्व को प्रथम व द्वितीय विश्वों से भिन्न करता है । आय के निम्न स्तर की वजह से दोषपूर्ण आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियां उत्पन्न

होती है । लेकिन निम्न आय गरीब देशों को भविष्य में आर्थिक बचत करने से बचाती है । यह माना जाता है कि जब एक बड़ी संख्या में लोग कृषि क्षेत्र में लगे होतें है तो वास्तव में वे पूरी तरह से रोजगारों की श्रेणी में नहीं आते है । इनमें सें कुछ बेरोजगार की श्रेणी में आतें है । आर्थिक शब्दावली में इसका अर्थ होता है कि श्रम शक्ति इस्तेमाल की सीमा रेखा से नीचे हैं यह सिर्फ कृषि क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है वरन् उत्पादनों के सभी कारकों का कम प्रयोग गरीब देशों की अर्थव्यवस्था का प्रमुख लक्षण है । सिंगर तथा अन्सारी का सुझाव है कि आय वितरण का उच्च बढ़ती असमानताएं तथा उपभोग व निवेश के प्रतिरुपों में विकृतियां, श्रम शक्ति के न्यूनतम प्रयोग के कारण प्रभाव है; ये तत्व शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन व ऋण सुविधाओं के क्षेत्रों में अर्पयाप्त निवेश के लिए भी उत्तरदायी होते हैं । देश के सामाजिक व आर्थिक ढांचे में पूंजी निवेश की कमी के कारण गरीब देश गरीब ही रहतें हैं तथा उनमें व अमीर देशों के –बीच फासला बढ़ता रहता है ।

2.3 तकनीकी निर्भरता

विकासशील देश अपनी संसाधन निधि के लिए उचित स्वदेशी तकनीकी के विकास में योग्य नही सिद्ध हो पाये हैं । तकनीकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वे अमीर देशों पर आश्रित रहते हैं; यह गरीब देशों में सबसे गरीब देशों के लिए एक सत्य है तथा तृतीय विश्व के अपेक्षाकृत धनी देशों के लिए भी एक सत्य है । इसमें तेल निर्यातक देश भी शामिल है जिनकी अविकसित तकनीकी सामाजिक व आर्थिक वृद्धि व परिवर्तनों के मुख्य बाधक है । । तकनीकि विकास के असन्तुलनों को निम्नलिखित रुप सें उल्लिखित किया जा सकता है ।

विज्ञान व तकनीकी पर पूरे विश्व का व्यय अमीर देशों के अन्दर ही होता है तथा इन देशों की परिस्थितियों तथा साधन निधि के अनुकूल प्रणालियों द्वारा शोध व विकास इनकी समस्याओं को सुलझाने के लिए ही निर्देशित होते है; यद्यपि गरीब देशों की समस्याएं उस प्रकार की नही है । उदाहरण के लिए शोध की आवश्यकता उन्हें सरल उत्पादों के नमूने तैयार करने, छोटे बाजारों के लिए उत्पादन विकास तथा अनुवर्ती उत्पादों के नये प्रयोगों के विकास व स्वरुव में सुधार करने के लिए होती है तथा सबसे अधिक शोध की आवश्यकता उत्पादन व्यवस्था के विकास करने के लिए होती है जो कि उनकी प्रचुर श्रम शक्ति का प्रयोग करने के लिए होती है । इसके बजाय विकसित देशों में आधुनिक हथियारों, अन्तरिक्ष शोध, अणु शोध, आधुनिक उत्पादों, विस्तृत व उच्च आय वाले बाजारों का निर्माण तथा निरंतर रुप से उन प्रक्रियाओं की खोज पर अधिक जोर दिया जाता है जों कि पूंजी या उच्चस्तर की कार्य क्षमता से श्रम शक्ति को बचा सकें, (सिंगर तथा अन्सारी 1979)

सिंगर तथा अन्सारी के 'अमीर व गरीब ' देशों कें अध्ययन में तकनीकी निर्भरता के कारणों व परिणामों पर अधिक ध्यान दिया गया है । ध्यान देने योग्य परिणाम यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन में भागीदारी व तकनीकी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार को प्रभावित करनें को सम्मिलित इच्छाएं विकासशील देशों में विद्यमान है । विकासशील देश शक्तिशाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियों सें भी सम्बधित विचार रखते है जो कि अमीर देशों से गरीब देशों को तकनीकी जानकारी प्रदान करने का प्रमुख यंत्र है ।

2.4 विकासशील देशों में दोहरापन

कुछ मिलाकर विकासशील देशों के सामाजिक व आर्थिक ढांचों में दोहरापन पाया जाता है :-

अधिकांश तृतीय विश्व के देशों में एक विशाल व निष्क्रिय क्षेत्र पाया जाता है जो कि एक छोटे आधुनिक व औद्योगिक क्षेत्र से जुड़ा होता है जिसमें कृषि क्षेत्र से श्रम शक्ति व पूंजी के रुप में औद्योगिक क्षेत्र में संसाधनों की आपूर्ति की मुख्य कड़ी का काम करती है । औद्योगिक क्षेत्र में वृद्धि ग्रामीण क्षेत्र में सदृश विकास की प्रक्रिया में ना तो कोई भूमिका ही अदा कर पाती है तथा न ही निष्क्रिय क्षेत्रों में जनसंख्या वृद्धि को रोकने के लिए पर्याप्त रोजगार के अवसर ही पैदा कर पाई है।

विकासशील देशों के आर्थिक ढांचे में दोहरेपन का कारण उनका उपनिवेशी अतीत है जबकि केन्द्रीय शक्तियां अपने को निर्मित वस्तुओं का उत्कर्ष उत्पादक समझती थी तथा उपनिवेश खाद्य पदार्थो व कच्चे माल के उत्पादन का महत्वापूर्ण माध्यम समझे जाते थे । उपनिवेशी अर्थव्यवस्था के द्वितीय व तृतीय क्षेत्रों में फैलते प्रभाव की अनुपस्थिति इस का मुख्य परिणाम थी । अन्त में जनंसख्या वृद्धि ने निरन्तर आर्थिक वृद्धि के लिए आवश्यक बढ़ती आय की क्षमता को नष्ट कर दिया । फिर भी अच्छे जीवन की आशा ने कृषि क्षेत्रों से शहरों की तरफ जनसंख्या पलायन को बढ़ावा दिया जिसके फलस्वरुप शहरों की बंजर गन्दी बस्तियों में रहने वाले तथा आधुनिक लघु औद्योगिक क्षेत्र में काम की खोज करने वाले बेराजगारों की संख्या बड़े पैमाने पर पहुंच गयी थी।

विकासशील देशों में वेरोजगारों की संख्या के अनुमान भिन्न–भिन्न है । लेकिन सभी आकड़े एक ही स्थिति को दर्शाते है कि श्रम शक्ति के क्षेत्रों में बेरोजगारों की संख्या नयी नौकरियों से कहीं अधिक ज्यादा वढ़ी है । गरीब देशों की अमीर देशों पर तकनीकी निर्भरता इसी दुविधा का परिणाम हें क्योकि औद्योगिक देशों में आधुनिक तकनीकी का विकास श्रम शक्ति पर नही वरन् पूंजी पर आधारित है जो कि बेरोजगारों की दुर्दशा में सुधार लाने के बजाय उसे और बिगाड़ने में सहायक होता है ।

विकासशील देशो के आर्थिक ढांचे मैं सतत दोहरेपन से यह स्पष्ट होता है कि बढ़ते औद्योगिक क्षेत्रों वाले देशों में भी लाभ व्यापक रुप से नहीं हो सकते; वास्तव में गरीब देशों का औद्योगिक क्षेत्र केन्द्रीय औद्योगिक अर्थव्यवस्था की मात्र बाह्य सतह है जो कि प्रयोग की जाने वाली तकनीकी के लिए इन पर आश्रित है । विकासशील देशों के उन्हीं क्षेत्रों को लाभ होने की सम्भावनाएं होती हैं जो कि अपने को अमीर देशों से जोड़ सकने में सर्मथ्य होते है ।

तृतीय विश्व के देशों की समस्याएं एक दूषित चक्र के समान है जिससे ये देश निकल पाने के योग्य नहीं होते हैं क्योंकि इनकी समस्याएं अन्य जटिल समस्याओं जैसे गरीबी रुप से गुथी हुई हैं । अमीर देशो की अमीरी तथा गरीब देशों की गरीबी इस दशा का अपरिहार्य परिणाम है ।

विकासशील देशों की दुर्दशा स्पष्ट रुप से, उनकी सामाजिक व आर्थिक समस्याओं से ही नही जुड़ी है वरन् उत्तरी भाग के विकसित देशों से सम्बंधों से भी प्रभावित होती है । विकासशील देश उन पर तकनीकी व निर्मित वस्तुओं के साथ–साथ कच्चे माल व कृषि उत्पादों

की बिक्री के लिए बाजार व्यवस्था पर भी आश्रित है जो कि उनके लिए आयातित उत्पादों को खरीदने के लिए आवश्यक विदेशी 'मुद्रा का मुख्य स्रोत होते है

उत्तरी भाग के देशों को दक्षिण भाग के देशों से उत्पादकों के निर्यात के फलस्वरुप निर्भरता ने इस दूसरे पर निर्भर रहने वाली व्याख्या के विकास की प्रक्रिया को जन्म दिया है जिससे दक्षिण भाग के देशों में उत्तरी भाग के देशों के साथ सौदेबाजी की क्षमता बढ़ी है । विश्व पैट्रोलियम बाजार में तेल निर्यात तथा उत्पादन करने वाले देशों के संघ के प्रभाव ने यह स्पष्ट रुप से दर्शाया है । विकासशील देशों की आपस में व्यापारिक साझेंदारी कमजोर सिद्ध हुई है यद्यपि उत्तरी भाग के बाजारों में सभी स्पर्धा करते हैं जिससे दक्षिण भाग के देशों की एकता को खतरा तो पैदा होता रहता है पर साथ ही साथ उनकी आन्तरिक विभिन्नताएं और अधिक मजबूत होती हैं ।

विकासशील देश उत्तरी भाग के देशों के साथ व्यापार करने के लिए अधिक इच्छुक होते हैं जबकि विकसित देश आपस में 'भी व्यापार करना पसन्द करते है । विकासशील देश वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय भावों को स्वीकार करना पड़ता है । क्योंकि विकासशील देशों को विकसित देशों के उत्पादों व सेवाओं की आवश्यकता कहीं अधिक होती है जबकि विकसित देशों को विकासशील देशों के उत्पादों की आवश्यकता नही होती ।

स्पष्टतया विकासशील देश इन परिस्थितियों से सन्तुष्ट नहीं होते है । इसलिए वे वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में परिवर्तन के लिए कई तरह की नीतियां अपनाते है ।

3. तृतीय विश्व के देशों के लक्ष्य

तकनीकी निर्भरता एक ऐसा कारण है जिसके फलस्वरुप विकासशील देशों की विश्व विकास की प्रक्रिया में स्थिति सबसे नीचे बनी रहती है । सिंगर तथा अन्सारी का तर्क है ''यदि तकनीकी के क्षेत्रों में अन्तर को खत्म नहीं किया जाता तो विकासशील देशों की अमीर देशों की अर्थव्यवस्था पर निर्भरता बनी रहेगी तथा किसी भी तरह की सहायता, व्यापारिक रियासतें, अनुदान तकनीकी सहायता, तथा आकस्मिक दाम वृद्धि कतई लाभ प्रद नहीं हो सकते है । अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पर आधारित नीतियां ही विकास के मार्ग की इस मुख्य बाधा को दूर कर सकती है ।

3.1 नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था

इन समस्याओं से निपटने के लिए सन् 1970 के दौरान विकासशील देशों की नीतियों के अध्यादेश सामूहिक रुप से राजनीतिक क्षेत्र में नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के मांग के रुप में जाने जाते हैं । यह एक ऐसी 'व्यवस्था की मांग है जो कि तृतीय विश्व के देशों को वर्तमान अर्थिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के ढांचे में वंचिता से मुक्त करती है तथा विश्व के अमीर तथा गरीब देश के बीच नव उपनिवेशवादी व नव साम्राज्यवादी सम्बन्धों की निरन्तरता वाले ढांचें से मूलभूत रुप से भिन्न प्रकार की व्यवस्था की कल्पना करती है तृतीय विश्व के देश वर्तमान व्यवस्था को अपने सत्त शोषण का माध्यम समझते हैं । वास्तव में वे विश्व समुदाय में कानून व्यवस्था के अलावा विकसित देशो के साथ समान स्तर चाहते है । नई अन्तर्राष्ट्रीय

अर्थव्यवस्था को कार्यान्वित किया जाता है तो तो अमीर देशों सें गरीब देशों के पक्ष में आय व सम्पति का पुन वितरण इसके मुख्य परिणाम हो सकते हैं ।

नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग वास्तव में सन् 1950 व 60 के दशक में आरम्भ हुई थी जबकि तृतीय विश्व के देशों ने द्वितीय विश्व की सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों के समाधान के लिए विकसित औद्योगिक देशों के विरुद्ध एकजुट होना आरम्भ किया था । सन् 1964 में प्रथम संयुक्त राष्ट्र का व्यापार व विकास सम्मेलन इन प्रयासों का परिणाम था । यह सम्मेलन आगामी दशको के दौरान हुए कई सम्मेलनों के लिए अग्रदूत सिद्ध हुआ था । इसमें अमीर व गरीब देशों के बीच सम्बन्धों के विभिन्न पक्षों पर ध्यान केन्द्रित किया गया था।

सन् 1964 के सम्मेलन के दौरान गरीब देशों ने विश्व के अमीर देशों, से रियासते प्राप्त करने के लिए समिलित रुप से. ग्रुप 77 का निर्माण किया । ग्रुप 77 में आज से भी अधिक विकासशील देश शामिल हैं जो कि अभी भी उसी क्षमता के साथ कार्य कर रहे है । संयुक्त राष्ट्र संघ के सगठनो में सुयुक्त राष्ट्र व्यापार व विकास सम्मेलन (अंक टाड) भी एक स्थायी संगठन के रुप में कार्यशील है ।

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में बदलाव के साथ–साथ अंक टाड में प्राथमिक मुद्दों पर भी परिवर्तन आया है । अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर द्वितीय विश्व के दौरान हुए परिवर्तनों में अमरीका, पश्चिमी यूरोप तथा जापान जैसी औद्योगिक शक्तियों वाले केन्द्रों की उभरकर आना प्रमुख है । वैसे भी प्रत्येक औद्योगिक केन्द्र को अपनी विभिन्न प्रकार की जरूरतें व हित होते है तथा प्रत्येक केन्द्र तृतीय विश्व की मांगो की पूर्ति के लिए विभिन्न तरीकों से सामने आता है । अमेरीका एक महाद्वीपी शक्ति है तथा पश्चिमी यूरोप के देशों के साथ कई तृतीय विश्व के देशों में ऐतिहासिक व सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे है । द्वीप समूहों वाले देश जापान को कच्चे माल के आयात के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है । सन् 1979 में 'अंकटाड ' की पांचवी बैठक होने तक विभिन्न परिस्थितियों के विकसित प्रतिरुपों ने तृतीय विश्व से निपटने के लिए उत्तरी देशों की एकता को दुर्बल करना शुरु कर दिया था ।

दक्षिण भाग के देशों की विविधताएं भी तब तक स्पष्ट हो चुकी थी । विभिन्न स्तरों पर विकास तथा उत्तरी भाग के साथ विभिन्न, स्तरों पर आर्थिक व राजनीतिक गठबन्धनों ने उत्तर–दक्षिण संवाद के परिणामों में व्यक्तिगत रुप से देशों के हितों को प्रभावित किया ।

सन् 1970 के आरम्भ में उदाहरण. स्वरुप तृतीय विश्व के दो क्षेत्रीय संगठनों, दक्षिणी अमरीकी देशों का समूह तथा दक्षिण पूर्व एशियाई देशों की संस्था से जुड़े देशों के बीच आपसी संबन्ध बढ़े थे । तृतीय विश्व के इतिहास में अभूतपूर्व आर्थिक विकास की दरों को प्राप्त करनें में भी ये देश सफल हुए थे । उत्तरी व दक्षिण एशिया के अतिरिक्त तथा पेट्रोलियम संचय वाले देशों ने अपने पड़ौसी देशों के साथ मिलकर काफी आर्थिक तरक्की की जो कि विकासशील देशों के लिए एक, सामान्य बात नही थी । तृतीय विश्व में दक्षिण एशिया व सब–सहारन अफ्रीका के बचे हुए गरीब देश पिछड़ेपन की समस्या से निरन्तर ग्रसित थे । यूरोपी सुमदाय के साथ प्रथम व्यापार ही छोटे अफ्रीकी कैरीबियन व पैसेफिक क्षेत्रों के देशों के लिए अपने हितो को वहां के हितो से जोड़ने के लिए पर्याप्त आकर्षण था ।

दक्षिण के देशों में असमानताओं के कारण नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग की शक्ति कम हुई है । यद्यपि विभिन्न समान मुद्दों के कारण तृतीय विश्व के देश दबाव डालने में सफल रहे हैं । इस बात के संकेत नही मिलते हैं कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के परिवर्तन की प्रबल प्रेरणा को तृतीय विश्व के देश आसानी से त्याग सकेंगे ।

3.2 राजनीतिक स्वायत्तता

समता की प्रेरणा अर्थव्यवस्था तक ही सीमित न होकर राजनीतिक क्षेत्र को भी सम्मलित करती है । प्रतिष्ठा की समानता व प्रभाव भी प्रमुख मुद्दे है :

तृतीय विश्व के देशों के नेता यह नहीं चाहते है कि विभिन्न उच्च स्तरीय बैठकों में उनकी भागीदारी को नजरअन्दाज किया जाय । वे चाहते है कि उन्हें अपने विचारों से दबाव डालने का पूरा अवसर दिया जाय तथा हमेशा उनका विरोध न किया जाय । कई इस धारणा के विरुद्ध है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को वर्तमान श्रेणी बद्ध संगठन के रुप में स्थापित किया जाय जिसमें कि कुछ औद्योगिक व तकनीकी रुप से शक्तिशाली व अमीर देश तथा बल प्रयोग की क्षमता वाले देश नीतियां निर्धारित करे और जिनसे दूर दराज के देशों की आर्थिक स्थितियों को प्रभावित करने में मदद मिले । है तृतीय विश्व के देश नीति निर्धारण में अपनी समान भागीदारी चाहते है जो कि उन्हें हमेशा प्रभावित करती रही है । समता के प्रयास के पक्ष के साथ–साथ स्वायत्तता या स्वतंत्रता के लक्ष्य का मसला भी जुड़ा हुआ है ।

यह माना जाता है कि प्रत्येक देश बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के अपने आर्थिक व राजनीतिक मामलों के संचालन के योग्य हो । अपने संसाधनों का प्रयोग कैसे हो? इसके निर्धारण के लिए प्रत्येक देश स्वयं समर्थ हो, अपनी सीमाओं के अन्तर्गत कार्यरत उद्योगों के लिए किस तरह की औद्योगिक व कृषि नीति हो व ऋणों की व्याज दर विनिमय दर तथा निर्यात परिदान जैसे मामलों में नीति निर्धारण करने के योग्य हो

नव उपनिवेशवाद व नव साम्राज्यवाद के अर्थो में तृतीय विश्व के देशों ने आश्रित सम्बन्धों के अवशेषों को तोड़ने का प्रयास किया है । अधिकांश देशों ने इस भय की वजह से पूर्व–पश्चिम के संघर्ष से अलग रहने का दृढ़ विश्वास भी प्रदर्शित किया है कि एक तरह का प्रभुत्व दूसरे प्रकार के प्रभुत्व को प्रतिस्थापित कर सकता है ।

3.3 गुटनिरपेक्षता

तृतीय विश्व के देशों में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की शुरुआत सन् 1955 से हुई थी जब अफ्रीका तथा एशिया महाद्वीपों के 29 देशों ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष का माध्यम ढूढने के लिए बान्डुंग (इंडोनेशिया) में अपनी बैठक की थी । सन् 1966 में विश्व को विभाजिन करने वाले विवादों पर हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्तों पर जोर डालते हुए अफगानिस्तान के एक नीति प्रवक्ता ने गुटनिरपेक्षता की अवधारण को परिभाषित किया; अफगानिस्तान सभी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखना चाहता है तथा राजनीतिक व सैनिक संगठनों में न शामिल होनें की नीति अपनाना चाहता है । निरपेक्षता के सिद्धान्तों का पालन हमारें देश के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर निर्णय लेने का मुख्य आधार होगा ।

स्पष्ट रुप से यह वक्तव्य अफगानिस्तान में आन्तरिक गड़बड़ी व अव्यवस्था के दौर से पहले ही प्रकट किया गया जो कि सोवियत मार्क्सवादी सरकार के समर्थकों तथा देश की राजनीति शक्तियों के बीच झगड़े के फलस्वरुप हुई थी । इसका मुख्य परिणाम सन् 1979 में अफगानिस्तान में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप था । इस वक्तव्य ने गुटनिरपेक्षता की अवधारणा को प्रकट किया जिसके अनुसार किसी भी संगठन या गठबंधन के साथ सहयोग तृतीय विश्व की स्वतंत्रता को कम करने के बराबर कदम समझा गया था । जाम्बिया के राष्ट्रपति श्री केनथ कोंडा ने सन्1964 में "गुटनिरेपक्ष क्या है" यह प्रश्न पूछकर इस नीति की अच्छाइयों का प्रतिपादन किया । यह स्वतंत्रता व सम्प्रभुता का आदर करने का एक दृढ़ विश्वास है जो कि विश्व को विभाजित करने वाली प्रमुख वैचारिक लड़ाई में हिस्सा लेने से इन्कार करता है "हम अपनी गाड़ी को किसी दूसरे देश के इंजन से नहीं जोड़ेंगे जो कि उसे उनकी रेल की पटरी की तरफ खींचता हो" (होलस्टरी 1910)

आरम्भिक वर्षो के दौरान विश्व के कुछ प्रमुख राजनीतिक व्यक्तित्व गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के प्रवक्ता थे । कुछ समय बाद यद्यपि यह आन्दोलन अपनी एकता व राजनीतिक गठबंधन को खोने लगा था क्योंकि तृतीय विश्व में निहित अवमाननाएं इसकी शक्ति को नष्ट करने लगी थी । ये असमानताएं तृतीय विश्व द्वारा राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपनाये बए साधनों से भी प्रदर्शित होती है । यद्यपि ये सभी सैद्धान्तिक रुप से गुटनिरपेक्षता के लिए कटिबद्ध थे । गुटनिरपेक्षता के तीन अनुकरणीय व सक्षम माध्यम क्रातिकारी मुक्तिदाता, प्रथम तथा सहायक के रुप में सामने आते हैं ।

क्रांतिकारी मुक्तिदाता (परिमोचक) एक राष्ट्रीय भूमिका की अवधारणा है जो कि बाहरी विश्व की ओर निर्देशित होती है । क्रांतिकारी परिमोचक की भूमिका अपनाने वाले राष्ट्र का कार्य है कि वह दूसरें राष्ट्रों को मुक्ति दिलाये या क्रांतिकारी राजनेता वैचारिक प्रेरणा का स्रोत व शारीरिक व मानसिक सहयोग का क्षेत्र समझ सके, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद चीन तथा अल्जीरिया की विदेशी नीतियों के विभिन्न पक्ष इस भूमिका के अवधारणा के उदाहराण है । अन्य उदाहरण विशिष्ट शासक वर्ग में पायें जा सकते है जिन्हें दक्षिण अफ्रीका जैसे पड़ौसी देशों में आम जनता के व्यवस्थित शोषण के फलस्वरुप अपने कार्यों के पालन में कठिनाई प्रतीत होती है ।

जो देश क्रांतिकारी अनुभवों के पश्चात् जन्म लेते है उनमें क्रांतिकारी परिमोचक भूमिका के तत्व अधिक पाये जाते है । इस सम्बन्ध में यह जानना रूचिकर है कि तृतीय विश्व के राजनायिकों द्वारा वर्तमान विश्व व्यवस्था की जो भी आलोचना की जाती है वह विश्व व्यवस्था पर केन्द्रित न होकर उन तरीकों पर केन्द्रित होती है जिनके द्वारा तृतीय विश्व के वंचित देश विश्व व्यवस्था में पर्याप्त भागीदारी से बाहर रखे जाते हैं । यह दोहरापन तृतीय विश्व द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मसले पर अपनाए गए रुख से स्पष्ट प्रदर्शित होता है क्योंकि कानून उन्हें प्रतिष्ठा से वंचित रखते हैं तथा आम विकसित देशों के पक्ष में जाते हैं । लेकिन यह उनका उस घृणित व्यवस्था में प्रवेश सुनिश्चित करते है जिसके द्वारा वे अधिक प्रतिष्ठा व श्रेंणी के लिए प्रतिर्स्पधा कर सकते हैं । नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग उस अभिरुचि या झुकाव को दर्शाती है जिसमें कि क्रांतिकारी की मांग परिवर्तनों के फलस्वरुप जिन्दगी को हार से

बचाकर जीने की आशा बनी रहे जब कि राष्ट्र विश्व में राजनीतिक संगठन का एक प्रभुत्वशील रुप अभी भी हैं ।

अलगाव या पार्थक्य आर्थिक पिछेड़पन व राजनीतिक महत्ता की दुर्दशा का एक अन्य दिकविन्यास है । अलगाव वाद का अर्थ है कि बाहरी विश्व का सामना करने के लिए उचित है कि उससे सम्बन्ध काट दिये जाये; विश्व संरचना के सुधार के प्रयासों के बजाय अलगाववाद समाधान के रुप में विश्व मामलों से अलग रहने का उपदेश देता है ।

हाल के वर्षो तक मार्क्सवादी चीन ने विदेशी सम्बन्धों से स्वयं को अलग रखा तथा अपनी शक्तियों को आन्तरिक विकासों तक ही केन्द्रित किया ।

सहायक या समवर्ग एक तीसरा माध्यम है जिसे तृतीय विश्व के राजनेताओं ने अपनाया है । महाशक्तियों के संरक्षण के साथ साझेदारी के प्रोत्साहन सम्मोहक हो सकते है पर इस तरह के सम्बन्ध राष्ट्रीय सुरक्षा की भावना को ही नही बढ़ाते है वरन् आन्तरिक विकास के लिए वचन बद्ध विदेशी सहायता दिलाने में भी सहायक होते है विशेषतया घरेलू व विदेशी मामलों पर शत्रुओं से निपटने के लिए अस्त्र शस्त्र भी प्राप्त किये जा सकते है । इसलिए कुछ तृतीय विश्व के देश महाशक्ति के समवर्गी होने पर दिये जाने वाले भौतिक व राजनीतिक मुवायजों के बदले में स्वतंत्रता के आंशिक नुक्सान को उठावे के इच्छुक हो सकते हैं ।

कुछ तृतीय विश्व के देशों ने यद्यपि समवर्गी की भूमिका अदा करने का निर्णय लिया है । यह समझा जा सकता है । फिर भी यह गुटनिरपेक्ष आन्दोलनों के स्वीकृत सिद्धान्तों के विपरीत है । यह सत्य ही है कि कई विकासशील देशों ने समय–समय पर एक या दूसरी महाशक्ति से इतने करीबी रुप से सांठगांठ करना पसन्द किया है कि उनकी गुटनिरपेक्षा स्थिति पर प्रश्न चिन्ह लगाया जा सकता है । उदाहरण के तौर पर भारत की प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने, जो कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की व मुख्य प्रवक्ता भी थी, सन् 1971 में सोवियत रुस के साथ 'शान्ति व मैत्रीय सन्धि' की थी । क्यूबा ने भी सोवियत रुस की अपने सम्बन्ध रखे थे तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में रुसी सैनिकों को सैनिक आधार प्रदान किया था, तथा अपनी समाजवादी अर्थव्यवस्था को बरकार रखने के लिए बड़े पैमाने पर रुसी आर्थिक सहायता व ऋण के लिए उस पर निर्भर भी था ।

दक्षिणी गोलार्द्ध के अधिकांश राष्ट्रों के परम्परागत रुप से आर्थिक व राजनीति सहायता के लिए अमेरिका से करीबी सम्बन्ध रहें हैं तृतीय विश्व के अन्य देश राष्ट्रीय सुरक्षा के उद्देश्य से खासकर अमरीका से जुड़े रहे हैं । कई मध्य पूर्व के देश जैसे जार्डन । ईरान, सऊदी अरब तथा मिस्र, जो कि गुट निरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य भी. थे, ने समय–समय पर अच्छी मात्रा में सैनिक सहायता व अप्रत्यक्ष आश्वासन भी अमेरीका से प्राप्त किये हैं । द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कुछ एशियाई देशों ने आपसी सुरक्षा व्यवस्थाओं में अमेरीका से साझेदारी भी की है जिसमें पाकिस्तान, थाईलैड, फिलीपीन्स, चीन तथा कोरिया गणराज्य शामिल है

गुटनिरपेक्ष देशों के सन् 1979 के हवाना सम्मेलन के दौरान इसकी वैचारिक असमानताएं स्पष्ट रुप से सामने आयी जिसमें 90 देशों ने भाग लिया था । जैसा कि 'न्यूजवीक पत्रिका (सितम्बर 7, 1979) का मानना है इन देशों को ऐसी श्रेणियों में बांटा जा सकता है जैसे उग्र सुधारवादी, रुढ़िवादी व स्वतंत्र । देश सामान्यत: सोवियत रुस व चीन की

तरफ झुकाव रखते है' रुढ़िवादियों का दक्षिण की तरफ अधिक रुझान है तथा स्वतंत्र वर्ग के देश पूर्व–पश्चिम के संघर्ष में गुटनिरपेक्षिता के सिद्धान्त के प्रति कटिबद्ध है । इस विभाजन के आधार पर हवाना सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों में केवल आधे देश वास्वत में गुटनिरेपेक्ष समझे जा सकते है; बाकियों में 3 से लेकर 2 के हिसाब तक रुढ़िवादी तथा उग्र सुधारवादी वर्ग में विभाजित हो पायेंगें ।

सभी राष्ट्रों की विदेश नीति आन्तरिक राजनीतिक परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करती है । हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि गुटनिरपेक्ष के विभिन्न आयाम विभिन्न देशों के घरेलू राजनीतिक व आर्थिक परिस्थितियों के फलस्वरुप ही सामने आते है । फ्रीडम हाउस संगठन ने कई वर्षो तक विश्व के सभी देशों में राजनीतिक व नागरिक अधिकारों का तुलनात्मक मूल्यांकन किया तथा उसने आर्थिक व्यवस्थाओं के प्रकार व स्वरुप से, इनके, सह संबन्ध बताये हैं । इन आंकलनों का परीक्षण कुछ रुचिकर प्रतिरुपों को दर्शाता है:

उदाहरण स्वरुप उग्र सुधारवादी गुटनिरपेक्ष देशों में से फ्रीडम हाउस द्वारा कोई एक भी देश "खुली राजनीतिक व्यवस्था ' वाले वर्ग में रखा गया है जिसका अर्थ है कि पाश्चात्य विश्व में समझे जानें वाली राजनीतिक व नागरिक अधिकारों की कोई व्यवस्था । इन देशों में से कुछ ने समाजवाद व पूंजीवाद की मिश्रित व्यवस्था को अपनाया है । रुढिवादी देशों में भी पाश्चात्य देशों की संवैधानिक प्रजातंत्र की व्यवस्था की भांति खुली राजनीतिक व्यवस्था मुश्किल से ही दिखाई देती है लेकिन उग्र सुधारवादी गुटनिरपेक्ष देशों की. तुलना में इनकी राजनीतिक व्यवस्था अधिक उदार व खुली होती है।

वास्तविक गुटनिरपेक्ष देशों में कुछ घरेलू राजनीतिक व आर्थिक विशेषताएं है जो कि उग्र सुधारवादियों की बजाय रुढ़िवादी देशों की विशेषताओं सें अधिक समान है । साठ प्रतिशत से अधिक देशों में पूर्णतया या आंशिक रुप से खुली राजनीतिक व्यवस्था है तथा सभी देशों में या तो पूंजीवादी व्यवस्था है । या फिर समाजवादी व पूंजीवादी व्यवस्थाओं की एक मिश्रित व्यवस्था है कुछ पूर्णतया समाजवादी देश है ।

आश्चर्य जनक रुप से रुढिवादी देशों का, जहां कि या तो सेना सरकार सम्हालती है या वह समाज में एक प्रभुत्वशाली शक्ति है, अनुपात उग्र सुधारवादी देशों से कम है । वास्तव में तीनों समूहों के देशों में पर्याप्त मात्रा में कम अन्तर हैं।

गुटनिरपेक्षता तृतीय विश्व के देशों की विदेश नीतियों का महत्वपूर्ण रुख है जिसका उद्देश्य पूर्व–पाश्चात्य देशों के विवाद के सम्मुख अपनी विदेश नीतियों के उद्देश्यों को उच्चतम सीमा तक बढ़ाना है । तृतीय विश्व के शासक वर्गो द्वारा इस रुख की विविध व्याख्या विभिन्न घरेलू परिस्थितियों को प्रतिबिम्बत करती है जिसका उन्हें सामना करना पड़ता रहता है । इसमें विभिन्न स्तरों का औद्योगीकरण तथा आर्थिक विकास प्रमुख विषमताएं है । विभिन्न प्रकार की संस्कृतियां व परम्पराएं तथा धर्म व जातिगत मतभेदों कें फलस्वरुप होने वाली अव्यवस्था के घटते–बढ़ते भय का भी मनन करना महत्वपूर्ण है क्योंकि यें भी तृतीय विश्व की कठोर असमताओं जैसे लक्षणों का ही एक आयाम है

तृतीय विश्व की असमानताओं पर प्रगाढ़ प्रकाश डालने के बाद उनके समान लक्षणों व अनुभवों का परीक्षण भी महत्वपूर्ण है । तृतीय विश्व के देश विभिन्न दरों पर गरीबी, बीमारी,

भूख व निराशा का अनुभव करते हैं । उनके समाज विकसित व सम्पन देशों के समाजों से अधिक रुप से असमान है जो कि अभी भी उन्हें नियंत्रित करते है यह वास्तविकता केवल नृतीय विश्व की वर्तमानी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को ही नही निर्धारित करती वरन्, तृतीय विश्व के देशों के विश्व राजनीतिक व्यवस्था को बदलने के प्रयासों को भी निर्धारित करती है ।

उत्तर दक्षिण के बीच संघर्ष बहुआयामी जटिल तथा विस्फोटक है । वर्तमान में अमीर व गरीब देशों के बीच बढ़ती असमानताएं अव्यवस्था व हिंसा का कार्य करती है ।

दो तथ्य स्पष्ट रुप से सामने आते हैं एक तो सबसे अधिक प्रभावित देशों की वंचितता ने उनकी संचेतना को इतना ऊपर उठाया है कि सबने मिलकर सामूहिक रुप से विश्व राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था के पुर्नगठन का बीड़ा उठा लिया है जो इस बात को सुनिश्चिम करता है कि उत्तर दक्षिण विवाद विश्व राजनीति के परिवर्तन की सतत शक्ति के रुप में कार्य करता रहेगा । कुछ देश चिरकालीन कुण्ठा का समाधान करने के लिए सैनिक क्षमता. बढ़ा रहे है । जिसने कि इस संघर्ष व विश्व व्यापी समाधानों की खोज व क्रियान्वयन की आवश्यकता पर नये आयाम जोड़ दिये हैं ।

4. उपसंहार

सभी तृतीय विश्व के देश किसी भी एक महाशक्ति के सैनिक बल या औद्योगिक व तकनीकी शक्ति व क्षमता की बराबरी. नहीं कर सकते; यद्यपि तृतीय विश्व में सबसे अधिक संघर्ष व युद्ध होते है फिर भी परम्परागत अर्थो में उन्होने किसी से भी सन्धि नही की है । दूसरे अर्थो में तृतीय विश्व के देशों ने शक्ति उपागम को अपने संघर्षो को सुलझाने के लिए नही अपनाया है । संयुक्त राष्ट्र संगठन में तथा इसके माध्यम से इनकी कूटनीति के तरीके इस बात को स्पष्ट करते हैं । ये देश इस पर दृढ़ प्रतिज्ञ है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति प्रजातांत्रिक मूल्यों पर आधारित हो जब तक विश्व में असमान शक्ति वितरण है तब तक यह आवश्यक है कि संघर्ष कुछ शक्तिशाली राष्ट्रों की वजह से ही होंगे ।

तृतीय विश्व के देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संचार के महत्व पर जोर डालकर एक नया आयाम जोड़ा है । विभिन्न उपलब्ध अन्तर्राष्ट्रीय मंचों व प्लेटफार्मो के, अलावा सम्मेलनो व बैठकों के जरिये एक दूसरे से संचार का माध्यम तृतीय विश्व के देशों ने विकसित किया है । इस संदर्भ में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है ।

नृतीय विश्व के देशों द्वारा समता, न्याय व स्वतंत्रता के आधारों पर नई विश्व व्यवस्था की शुरुआत में निम्नलिखित अंशदानों का उल्लेख किया जा सकता है :–

(1) ये देश किसी भी प्रकार के भेद भाव के पस्त में नही है । इन्ही कारणों से इन्होनें कुछ अफ्रीकी देशों को श्वेतों की जकड़ से मुक्त करवाने के लिए लड़ाई लड़ी थी (मोरीबिया तथा इसकी आम जनता का दक्षिणी अफ्रीकी सरकार के विरुद्ध संघर्ष यहां उल्लेखित किया जा सकता है)।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के मुद्दों को इन्होनें राजनीतिक रंग दिया है तथा जिससें विकसित देशों के व्यवहार में निरन्तर परिवर्तन आता रहा है । 'अंकटाड ',

'ग्रुप 77 ' तथा गुटनिरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलनों ने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यस्था के उद्देश्यों को बढ़ाने में अधिक अवसर प्रदान किये हैं ।

(3) तृतीय विश्व के देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रभावी शक्ति के रुप में उभर कर सामने आये है जिस तरह से हर स्तर पर क्षेत्रीय सहयोग की महत्ता को अनुभव करते है वह उनकी अपनी पहचान को स्थापित करने में सहायक होगी ।

5. अतिरिक्त पाठ्य सामग्री

पुस्तकें

1. ए. जै. आर ग्रूम एण्ड पाल टेलर (स.) : इन्टरनेशनल आर्गनाईजेशन
2. चार्ल्स केगले एण्ड इ. आर विटकौफ, : वर्ल्ड पॉलिटिक्स : टेन्ड्स एण्ड ट्रांन्सफोरमेशन (न्यूर्याक : सेन्ट मार्टिन्स, 1981) अ. 7
3. जें. बन्ध्योपाध्याय, : नॉर्थ ओवर साऊथ : ए नॉन वेर्स्टन पर्सपेक्टिव ऑफ इन्टरनेशनल रिलेशन्स (न्यू दिल्ली : साऊथ एशियन पब्लिर्सस; प्रा. लि. 1982)

6. अभ्यास प्रश्न

1. तृतीय विश्व से आप क्या समझटते हैं ? यह किस अर्थ में विकासशील विश्व से भिन्न है?
2. तृतीय विश्व के लक्षणों की समीक्षा कीजिये ।
3. नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था एवं राजनीति में नृतीय विश्व की भूमिका पर प्रकाश डालिये ।

इकाई – 6
राष्ट्र शक्ति वैचारिक अनिवार्यतायें उनका समसामयिक महत्व

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. आधुनिक राज्य–व्यवस्था प्रमुख लक्षण
3.1 आधुनिक राज्य–व्यवस्था का विकास
3.2 आधुनिक राज्य–व्यवस्था का समसामयिक महत्व
4. आधुनिक राज्य–व्यवस्था के उप सिद्धान्त
4.1 संप्रभुता की अवधारणा–तात्पर्य एवं पक्ष
4.1 त–संप्रभुता के विभिन्न रुप, 4.1 थ–संप्रभुता का लोप
4.1 द– अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वाह्य संप्रभुता का स्वरुप
4.1 ध–वर्तमान परिपेक्ष्य में संप्रभुता
4.2 राष्ट्रवाद का सिद्धान्त – राष्ट्रवाद व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति
4.2 त–तात्पर्य, 4.2 थ– राष्ट्रवाद के मूल स्रोत
4.2 द– राष्ट्रवाद के विभिन्न रुप
4.2 $द^1$–उदार राष्ट्रवाद, 4.2 $द^2$–सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद
4.2 $द^3$–राष्ट्रवाद व साम्यवाद, 4.2 $द^4$ उ–द' एकीकृत राष्ट्रवाद
4.2 $द^5$–नवीन राष्ट्रवाद
4.2 ध– राष्ट्रवाद –वरदान एवं अभिशाप
4.2 न– निष्कर्ष
4.3 राष्ट्र शक्ति की धारणा– अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरुप
4.3 त– राष्ट्र शक्ति से तात्पर्य, 4.3, थ– राष्ट्र शक्ति राज्य वर्गीकरण का आधार,
4.3 द– नागरिक की व्यक्ति गत शक्ति एवं राष्ट्र शक्ति,
4.3 ध– राष्ट्रशक्ति के उद्देश्य, 4.3 न– राष्ट्र शक्ति का औचित्य,
4.3 य–राष्ट्र शक्ति के प्रकार, 4.3 व– राष्ट्र शक्ति की प्रयोग विधियां,
4.3 स–राष्ट्र शक्ति का मूल्यांकन आवश्यक क्यों 4.3 $स^1$–वाधक धारणायें,
4.3 $स^2$–उचित आधार
5. सारांश
6. शब्दावली
7. बोध प्रश्नों के उत्तर

8. संदर्भ ग्रन्थ

9. अभ्यास प्रश्न

1. उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यावहारिक स्वरुप को समझाने के लिये आधुनिक राज्यव्यवस्था एवं उसके आधार और राष्ट्र शक्ति की जानकारी अपेक्षित है । इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ सकेंगे कि

- आधुनिक राज्य व्यवस्था का प्रारम्भ कब व कैसे हुआ एवं इसके प्रमुख आधार क्या है?
- शक्ति–राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक सतत एवं स्थायी लक्षण है ।
- राष्ट्र शक्ति क्या है व हम राष्ट्र शक्ति की अपेक्षा क्यों करते हैं?
- राष्ट्र अपनी शक्ति का प्रयोग किस प्रकार करते है?
- राष्ट्र शक्ति पर नियंत्रण क्यों व कैसे सम्भव है?
- राष्ट्र शक्ति के मूल्यांकन के क्या उचित आधार है?

2. प्रस्तावना

राष्ट्रवाद एवं संप्रभुता परे आधारित राज्य व्यवस्था ने वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संबंध के स्वरुप को, परिवर्तित कर दिया है । अन्य राजनीति की तरह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति भी शक्ति की प्राप्ति, अभिवृद्धि एवं प्रदर्शन का रुप बन गई है । इस शक्ति राजनीति में राष्ट्र शक्ति की एक महती भूमिका होती है । यह भूमिका अपनी व अन्य राष्ट्रों की शक्ति के उचित मूल्यांकन पर निर्भर होती है । इस संदर्भ में यह भी अपेक्षित है कि राष्ट्र शक्ति प्रयोग हेतु उचित साधन का चयन करें । राष्ट्र शक्ति में असीमित वृद्धि को विश्व हित में नियंत्रित किया जाना भी आवश्यक होता है । इस शक्ति को सीमा में रखने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अंतर्राष्ट्रीय संगठन आदि को सशक्त एवं प्रभावशाली बनाया गया है ।

3. आधुनिक राज्य व्यवस्था

प्रमुख लक्षण के रूप में ' 'एक निश्चित क्षेत्र में एक शासन के अन्तर्गत राजनीतिक रूप से गठित व्यक्तियों का समूह राज्य कहलाता है । " ऐसे व्यक्ति समूह के लिए राज्य शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग मेकियाविली ने 1513 में किया था । सामान्यतया लेखक एक ही शब्द की पुनरावृत्ति से बचने के लिये राजा राष्ट्र व देश शब्द का परस्पर एक दूसरे के लिये प्रयोग करते हैं । वैसे ये तीनों शब्द समान–अर्थी नहीं हैं । राज्य शब्द से राजनीतिक उद्देश्य से गठित स्वतंत्र व्यक्ति समूह का राष्ट्र शब्द से समान संस्कृति के कारण संलग्न व्यक्तियो के समूह का एवं देश शब्द से एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के निवासियों के समूह का बोध होता है । आधुनिक राज्यों का आधार राष्ट्रीयता होने के कारण राज्य को राष्ट्र कहने की परम्परा बन गई है । ऐसा ही राष्ट्र–राज्य आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय ढांचे का मूलाधार है । इन राष्ट्रो के मध्य पारस्परिक नीति ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को परिचालित एवं नियंत्रित करती है । अत : कभी–कमी राष्ट्रों की राजनीति को विदेश नीति का समहार भी कहा जाता है अत : अंतर्राष्ट्रीय

सम्बन्धों के अध्ययन कर्ता के लिये आधुनिक राजा व्यवस्था से परिचित होना अति आवश्यक है । वर्तमान राज्य व्यवस्था के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित है :

* आधुनिक राज्यों के गठन का आधार क्षेत्रीयता है । यह एक ओर आर्थिक तकनीकी एवं सैनिक सुविधाओं व समस्याओं का कारण बनती है तो दूसरी ओर राज्य को एक असंदिग्ध वैधता भी प्रदान करती है ।
* आधुनिक राज्य आंतरिक एवं बाहा क्षेत्र में संप्रभु होते हैं । संप्रभुता के कारण राज्य को संप्रभु–राजनीतिक–इकाई माना जाता है । बोदां ने 1576 में राजा की ऐसी शक्ति को संप्रभुता नाम दिया था ।
* क्षेत्र, जनसंख्या, क्षमता, अर्थव्यस्था एवं शासन प्रणाली की दृष्टि से राज्यों में अत्याधिक भिन्नता होते हुए भी सभी राष्ट्र कानूनी दृष्टि से समान माने जाते है । 10204 वर्ग मील क्षेत्र एवं 30 लाख जनसंख्या वाला हेट राज्य एवं 30 लाख वर्ग मील क्षेत्र एवं 20 करोड़ जनसंख्या वाला अमरीका राज्य दोनों ही कानूनी दृष्टि से समान है । इससे राज्यों को अंतराष्ट्रीय सम्मेलनों में समान प्रतिनिधित्व का अधिकार मिला है । कुछ अपवाद के अलावा संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अंतर्गत भी राष्ट्रों की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है ।
* कानूनी समानता ने आधुनिक राज्यों को समान आत्मसम्मान भी प्रदान किया है । समान सम्मान की धारणा के फलस्वरुप सामान्यतया राज्य, अन्य राज्यों के हस्तक्षेप से सुरक्षित रहते हैं । अंतराष्ट्रीय कानून में मान्य अहस्तक्षेप का सिद्धान्त, इसी धारणा का विकसित एवं धर्म–सुधार आन्दोलन द्वारा घोषित आधुनिक राज्य का एक लक्षण इसका धर्म निरपेश स्वरुप है । यद्यपि कुछ राज्य अब भी धर्म सापेक्षता के पोषक है, किंतु यह स्थिति दीर्घ अवधि तक विद्यमान नही रह सकती।
* अंतराष्ट्रीयता पर आधारित होने के कारण, वर्तमान राज्य किसी एक व्यक्ति की धरोहर होने की अपेक्षा, उसके निश्चित क्षेत्र मेंस्थायी रुप से निवास करने वाले समस्त निवासियों की धरोहर होता है, अत : आधुनिक राज्यों के नागरिकों में राष्ट्रभक्ति की भावना अत्यंत प्रबल होती है ।

क्षेत्रीयता, संप्रभुता समानता, आत्म सम्मान, धर्मनिरापेक्षेता एवं राष्ट्रीयता अबलम्बित आधुनिक राज्य व्यवस्था मध्यकालीन राज्य व्यवस्था से बहुत भिन्न प्रणाली है । आधुनिक राज्य व्यवस्था के विकास की जानकारी के बिना इस भिन्नता को नही समझा जा सकता ।

3.1 आधुनिक राज्य व्यवस्था का विकास

ईसाई धर्मसत्ता एवं सामन्तवाद के फलस्वरुव मध्ययुगीन राज्य लगभग शक्ति हीन थे । सामन्तवादी व्यवस्था के कारण राजसत्ता विकेन्द्रित थी । धर्मसत्ता की राजसत्ता से श्रेष्ठता के, फलस्वरुप तत्कालीन शासक, धर्मसत्ता के हाथ में कठपुतली मात्र थे । पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार आन्दोलन के द्वारा निर्मित पृष्ठ भूमि 16 वीं एवं 17 वीं शताब्दी में धार्मिक एवं धर्म–निरपेक्ष शक्तियों और सामन्तों एवं वंशानुगत शासकों के मध्य संघर्ष का आधार बनी । तीस

वर्षीय धार्मिक युद्ध (1630 से 1648) वेस्ट फेलिया की संधि (1648) में समाप्त हुआ । इस संघर्ष से पोप की सत्ता एवं पवित्र रोमन साम्राज्य का अंत हो गया। धार्मिक एवं लौकिक शक्तियों के पराभव के फलस्वरुप रोमन केथोलिक चर्च एवं पवित्र–रोमन' साम्राज्य पर आधारित मध्ययुगीन एकता के खंडहर पर क्षेत्रीयता पर आधारित सर्वव्यापक एवं शक्ति सजग राज्यों की नवीन व्यवस्था का श्री गणेश हुआ । इस संधि के पश्चात् इंगलैड, फ्रांस स्वीडन व स्पेन बडी शक्ति के रुप में तथा डैनमार्क, हालैंड, पुर्तगाल व स्विट्जरलैंड लघुशक्ति के रुप में विकसित हुये । अन्य राज्य जैसे इटली पोलेंड व रुस, उस समय लगभग शक्ति हीन राज्य थे । वेस्टफेलिया द्वारा स्थापित राज्य अब भी लगभग उसी रुप में विद्यमान है । 1713 की यूट्रेक्ट संधि व 1815 के वियना समझौते से एवं 1919 की वर्साय सन्धि एवं इसके पश्चात् यूरोप में अन्य राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई । उपनिवेशवाद के उन्मूलन के साथ–साथ अन्यत्र भी राष्ट्र राज्य स्थापित हुये । इस तरह विकसित राज्य व्यवस्था को पाश्चात्य राज्य व्यवस्था व राष्ट्र राज्यव्यवस्था को पाश्चात्य राज्य व्यवस्था व राष्ट्र राज्य व्यवस्था भी कहा जाता है ।

3.2 आधुनिक राज्य व्यवस्था का समसामयिक महत्व

राष्ट्र–राज्य क्या भावी अन्तर्राष्ट्रीय ढांचे की इकाई बना रहेगा, इसके संबंध में दो विरोधी विचार प्रतिपादित किये जाते है । सी. ए. डबल्यू मेनिंग का मत है कि प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के प्रति निष्ठा राजनय संबंधी नियमों का व्यवस्थित सिद्धान्त, रुप एवं अन्तराष्ट्रीय संबंधों की उचित व्यवस्था हेतु अन्तराष्ट्रीय कानून के विकास के फलस्वरुप, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का परम्परागत ढांचा और भी अधिक सुदृढ़ हो गया है । अत : भविष्य में भी राष्ट्र–राज्य अन्तराष्ट्रीय व्यवस्था की इकाई बना रहेगा । उसके विपरीत, जॉन हर्त्स व केनेथे बोल्डिग जैसे विचारक बीसवीं शताब्दी में विकसित युद्ध की नई प्राणालियों जैसे आर्थिक युद्ध, वैचारिक युद्ध, हवाई युद्ध व आणुविक युद्ध, के कारण यह मानते है कि आधुनिक –राज्य–व्यवस्था का अस्तित्व अब डगमगाने लगा है । हर्त्स का तर्क है कि राज्यों की अभेद्यता, बाह्रा आक्रमण से सुरक्षा एवं आंतरिक शांति व सुव्यवस्था बनये रखनें की उनकी योग्यता पर निर्भर होती है । युद्ध के उपरोक्त वर्णित तरीकोंझने राज्य की क्षेत्रीय अखंडता की भावना को गहरा आघात पहुंचाया है । लिडेल हार्ट का कथन कि "युद्ध अब संघर्ष मात्र न रहकर, विनाश की प्रक्रिया वन पया है" । यह स्पष्ट करता है कि राज्य अभेद्यता व प्रभुता के सिद्धान्त काल्पनिक बनते जा रहे है एवं वर्तमान–राज्य–व्यवस्था भौतिक परिवर्तन के दौर से गुजर रही हैं । बोल्डिंग का मत है कि आणुविक शक्ति की संहायक–क्षमता के कारण आज प्रत्येक राष्ट्र दूसरे की अनुमति के कारण ही जीवित है । इसे उसने 'सशर्त–अस्तिंत्व ' की स्थिति कहा है । यह स्थिति पूर्ण प्रभुता के प्रतिबन्धित होने का संकेत करती है । वह यह भी मानता है कि राष्ट्र के लिये अपना वैध सीमा के अलावा 'संकट जनक सीमा ' की सुरक्षा करना भी आवश्यक हो गया है । इससे राज्यों की क्षेत्रीय–अखंडता की मान्यता भी प्रभावित हो रही है । राज्य अब अपनी आत्म रक्षा जैसे महत्वपूर्ण दायित्व को निभाने में असमर्थ होते जा रहे है । यह स्थिति राष्ट्र राज्य पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय –व्यवस्था में आमूल परिवर्तन का कारण बनेगी । नई युद्ध प्राणालियां जहां

आधुनिक–राज्य–व्यवस्था के लिये संकट का कारण बनी है । वहीं उपनिवेशवाद के उन्मूलन से नवीन राज्यों के उद्भव ने वर्तमान राज्य–व्यवस्था को नवजीवन भी प्रदान किया है । विश्व रंगमंच पर इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के अस्तित्व के कारण राष्ट्र राज्य के संबंध में निश्चित निष्कर्ष असंभव सा है किंतु फिर भी यह तो स्पष्ट है कि राष्ट्रों के मध्य बढ़ती पारस्परिक अंतर्निर्भरता के कारण, राष्ट्र राज्यों को अपनी पुरानी मान्यताओं में कतिपय संशोधन अवश्य करना पड़ेगा । अब राज्यों के लिये स्वहित की सर्वोपरि मानकर क्षेत्रीय अखंडता, प्रभुसत्ता एवं आत्म रक्षा के राग अलापना सम्भव नही होगा । बीसवीं शताब्दी में राष्ट्र संघ एवं सयुक्त–राष्ट्र–संघ जैसे गठित अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, अरब लीग, यूरोपीय–साझा बाजार जैसे निर्मित राष्ट्रेतर संगठन एवं राष्ट्र कुटुम्ब, विश्व समुदाय, अन्तर्राष्ट्रीय–व्यवस्था जैसें शब्दों की प्रतिध्वनि के फलस्वरुप राष्ट्र राज्य की आधारभूत मान्यताओं–स्वतंत्रता एवं संप्रभुता को भविष्य में गहरा आघात हो सकता है। रोनाल्ड जे. यालेम ने अपनी पुस्तक "क्षेंत्रवाद एवं विश्व व्यवस्था" में यह मत व्यक्त किया है कि – "हाल ही में गठित क्षेत्रीय संगठन राष्ट्र राज्य के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक ढांचें की इकाई का स्थान लेते जा रहे है। काल डॉयच, अर्नेस्ट बी. हास एवं अमिताई एलिओनी की भी मान्यता है कि विचारों की सामंजस्यता के कारण भविष्य में राष्ट्रों के बड़े संघ बनने लगेंगे। हास ने अपने 'छलकने के सिद्धान्त' (concept of spill over) के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि एक क्षेत्र में संपन्न एकीकरण अन्य क्षेत्रों में एकीकरण का प्रसार करता है, अत. निकट भविष्य मे राष्ट्र राज्य पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में परिवर्तन की संभावना अधिक हैं।

बोध प्रश्न 1

1. आधुनिक राज्य के प्रमुख लक्षणों को सौ शब्दों में समझाइये।
2. आधुनिक राज्य व्यवस्था का विकास लगभग दो सौ शब्दों में स्पष्ट कीजिए।
3. मेंनिग जान हर्त्स एवं बोल्डिंग के विचारों के आधार पर आधुनिक राज्य–व्यवस्था के भविष्य को दो सौ शब्दो में स्पष्ट कीजिये।
4. सही कथनों पर निशान (√) लगाइये।

   (1) आधुनिक राज्य व्यवस्था मध्यकालीन यूरोप में विद्यमान थी।

   (2) हास के 'छलकने का सिद्धान्त' विकेन्द्रीकरण से संबंधित है।

   (3) बोल्डिग के 'सशर्त अस्तित्व' का विचार प्रथम महायुद्ध की स्थिति संबंधित है।

   (4) तीस वर्षीय धार्मिक युद्ध का अंत वेस्टफेलिया की सन्धि से हुआ।

4. आधुनिक राज्य–व्यवस्था के उप सिद्धान्त

इस राज्य–व्यवस्था की कतिपय विशेषतायें ऐसी है जिनकों इससें पृथक नही लिया जा सकता। ये विशेषतायें आधुनिक राज्य– व्यवस्था उप सिद्धान्त माने जा सकते हैं। ये अधेलिखित है।

(1) संप्रभुता की अवधारणा।

(2) राष्ट्रवाद का सिद्धान्त

(3) राष्ट्र शक्ति की धारणा।

4.1 संप्रभुता की अवधारणा–तात्पर्य एवं पक्ष

इस अवधारणा का सर्वप्रथम व्यवस्थित विवेचन जीन बोदॉ के 1576 में प्रकाशित "गणतंत्र के विषय में" नामक ग्रन्थ में देखने को मिलता है। कानून द्वारा अनियंत्रित राजा के नागरिकों एवं प्रजाजनों पर सर्वोच्च अधिकार को उसने संप्रभुता बताया था। बिलोवी ने राज्य की सर्वोच्य इच्छा को एवं ओपनहीम ने अन्य सांसारिक सत्ता को संप्रभुता माना है। सी. एफ. स्ट्रांग ने संप्रभुता को राज्य के उस विशेष अधिकार के रुप में माना है जिसके बल पर वह कानून बनाने एवं उसको मन चाहे ढंग से, क्रियान्वयन के लिये स्वतंत्र होता है । राज्य की प्रभुसत्ता को असीमित, अनियंत्रित, अदेय, अविभाजित, निंरतर, निरपेक्ष एवं सर्वव्यापक बनाया गया है । इस संप्रभुता के सिद्धान्त को सर्वप्रथम वेस्टफेलिया की सन्धि में मान्यता मिली थी । राज्य की संप्रभुता शक्ति के दो पक्ष है – आंतरिक एवं बाहय । आंतरिक संप्रभुता राज्य को उसके क्षेत्र के निवासियों एवं संगठनों के लिये कानून निर्माण उनके क्रियान्वयन एवं इनके विरोध के दमन की अबोध शक्ति प्रदत्त करती है । यह राज्य के अपने क्षेत्र मेंनिषेधक क्षेत्राधिकार एवं राज्य को बाहय हस्तक्षेप से मुक्त रखने का भी आधार है । बाहय संप्रभुता अनर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रों की समानता, आत्म सम्मान एवं वैदेशिक संबंधों के निर्धारण में स्वतंत्रता की पोषक होती है । बाहय संप्रभुता का सर्वोच्च विशेषाधिकार युद्ध घोषित करने का अधिकार है ।

4.1 त–संप्रभुता के विभिन्न रुप

"गत सौ वर्षो में कुछ ही ऐसी राजनीतिक अवधारणायें रही है जो हमारे मध्य इतना अधिक वाद–विवाद का विषय रही हों जितनी कि संप्रभुता की धारणा । "दीर्घ अवधि तक चर्चा एवं परिस्थितियों के फलस्वरुप, संप्रभुता के अनेक रुप विकसित हुये है जैसे कानूनी संप्रभुता, राजनीतिक संप्रभुता व लोक प्रभुता, वास्तविक एवं नाम मात्र की प्रभुता और विधानत : व तथ्यत : प्रभुता । कानून निर्माता के पीछे– जो शक्तियां काम करती है : उनको राजनीतिक संप्रभु कहा जाता है । राज्य में वास्तविक शक्ति जनता में निहित होने के, कारण लोक प्रभुता की धारणा विकसित हुई है । संसदीय शासन में राज्याध्यक्ष व शासन–अध्यक्ष की शक्ति ने नाम मात्र की एवं वास्तविक संप्रभुता के विचार को प्रतिपादित किया है । एक राष्ट्र के किसी क्षेत्र पर अन्य राष्ट्र के अस्थायी नियंत्रण ने तथ्यत : एवं विधानत : प्रभुता के विचार को जन्म दिया है । इसीलिये प्रो. कोकोर यह कहने को बाध्य हुआ कि "राजनीति विज्ञान में और कोई ऐसा शब्द नही है जिसके इतने विविध अर्थ हों । " राज्य की संप्रभुता शक्ति के आधार पर निरंकुश एवं लोकतंत्रीय शासन दोनों को उचित सिद्ध किया जाता है । प्रस्तुत विवेचन में कानूनी संप्रभुता को ही आधार माना गया है ।

4.1 द–संप्रभुता का लोप

संप्रभुता शक्ति की एक विशेषता, निरंतरता भी है । एक राज्य की अन्य राज्य से पराजय अथवा किसी राज्य द्वारा अन्य राज्य को अपना संरक्षण मान लेना इस निरंतरता का

अंत कर देते हैं । इस स्थिति को ही संप्रभुता का लोप नाम दिया गया है । पराजित राष्ट्र पर विजेता राष्ट्र के कानून लागू होने पर पराजित राष्ट्र की संप्रभुता का लोप हो जाता है । एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य का संरक्षित प्रदेश बनने की स्थिति में भी संरक्षित राज्य की प्रभुता समाप्त हो जाती है । भूटान इसका उदाहरण है । राष्ट्रों के मध्य राजनीतिक संबंधों का, उनकी सम्प्रभुता पर प्रभाव नहीं पड़ता । दूतालय व्यक्तिगत अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं । दो राष्ट्रों की पारस्परिक सहमति पर आधारित होने के कारण यह समवर्ती–क्षेत्राधिकार माना जाता है । राजनीतिक संबंधों की स्थापना से संप्रभुता का लोप नहीं होता ।

4.1 अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बाह्य संप्रभुता का स्वरुप

आंतरिक संप्रभुता की अबाध सत्ता के विषय में आक्षेप होते हुये भी, राजनीति वैज्ञानिकों ने इसका समर्थन किया है । दूसरी और बाल संप्रभुता की अबाध सत्ता के बारे में दो अतिवादी, किन्तु अनुचित धाराणायें दृष्टिगत होती है । ओपेन हीम, बिलोवी जैसे विचारक बाह्य संप्रभुता की असीमित सत्ता के पक्षधर हैं । दार्शनिक रसेल हेरोल्ड लास्की, सी. जे. फ्रंडरिक जैसे विचारकों असामितता से, "आदिम अराजकना की स्थिति " उत्पन्न होने की सम्भावना के कारण वैदेशिक मामलों में सम्प्रभुता के परित्याग का सुझाव दिया है । लास्की ने संप्रभुता की समस्या नामक पुस्तक में यह विचार व्यक्त किया है कि "राजाओं के दैवी अधिकार की तरह राज्यों की संप्रभुता का सिद्धान्त भी समाप्त हो जावेगा। " उसने अपनी पुस्तक "ग्रामर आफ पोलिटिक्स" में यहां तक कह दिया है कि संप्रभुता की संपूर्ण अवधारणा का परित्याग राजनीति विज्ञान के हित में होगा । अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संप्रभुता के स्वरुप को, समझाने के लिये "प्रभुसत्ता के अधिकार क्षेत्र" को समझाना आवश्यक है । प्रभुसत्ता अपने अधिकार क्षेत्र में राज्य के उचित हितों के संवर्धन के लिये स्वशासन का अधिकार है । इससे संप्रभुता के निम्न आशय स्पष्ट होते हैं :

* प्रभुसत्ता का आशय अपनी इच्छानुसार किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मर्यादा के अतंर्गत स्वशासन है ।
* प्रभुसत्ता राष्ट्र की अखंडता का 'भावात्मक रुप है । अत : किसी भी राष्ट्र को दूसरे राज्य के क्षेत्र में हस्तक्षेप का वैधानिक अधिकार नहीं होता । अनधिकृत हस्तक्षेप के निवारणार्थ राष्ट्र प्रति प्रहार की कार्य वाही कर सकते हैं राजनयिक संबंध सें ही राज्य को अन्य राजा के क्षेत्र में कतिपय कार्य करने का अधिकार मिलता है ।
* प्रभुसत्ता के वैधानिक आशय के अनुसार सभी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से समान है।

प्रभुसत्ता का अधिकार क्षेत्र यह स्पष्ट करता है कि किसी भी राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मनमानी करने एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना का अधिकार नहीं है । राष्ट्रों की संप्रभुता परस्पर एक दूसरे की संप्रभुता पर अंकुश होती है अत : बाह्य क्षेत्र में संप्रभुता अबाध सत्ता नही हो सकती ।

4.1 ध–वर्तमान परिपेक्ष्य में संप्रभुता

यदि बाह्रा क्षेत्र में संप्रभुता अबाध शक्ति नही हो सकती तो संप्रभुता को सीमित नियंत्रित एवं विभाजित होना चाहिये । संप्रभुता के परम्परागत स्वरुप के पक्षधर सीमित एवं विभाजित प्रभुता के विचार को अनुचित एवं अव्यवहारिक मानते हैं । ये सार्वमौभिक राज्य को राष्ट्रों के समुदाय से उच्च एवं पूर्ण स्वतंत्र मानतें है । मॉर्गेन्थो ने भी विभाजित प्रभुता के विचार को तर्कहीन एवं राजनीतिक दृष्टि से अव्यावहारिक माना है । उसके मतानुसार विश्व शान्ति की स्थापना हेतु प्रभुसत्ता के कुछ अंश को त्यागने की सलाह देना वास्तविकता से आखें मूंद लेना है । संप्रभुता के विभाजन का तात्पर्य है संप्रभुता का अंश एवं संप्रभुता के अंत का तात्पर्य है आधुनिक राज्य व्यवस्था की समाप्ति अत : ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से मार्गेन्थो के कथन में सत्यता है, किन्तु यह भी कटु सत्य है कि संप्रभुता की परम्परागत धारणा में संशोधन किए बिना शांतिपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय समाज की कल्पना नहीं की जा सकती । क्विन्सी राइट ने अपने एक अध्ययन– 'मेनडेट्स अंडर दि लीग आफ नेशन्स ' – में राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से संप्रभुता को असीमित एवं अविभजित मानतें हुयें भी अंतर्राष्ट्रीय कानूनी की दृष्टि से यह माना है कि इसको, विश्लेषित विभाजित व सीमित किया जा सकता है । निम्न क्षेत्रों में इसे सीमित किया जाना चाहिये ।

(1) अंतर्राष्ट्रीय विवादों में स्वयं निर्णय लेने की शक्ति ।

(2) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सैनिक शक्ति का निर्माण एवं उसके प्रयोग की शक्ति ।

(3) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में मनमाने प्रतिबंध लगाने की शक्ति ।

एच. ई कोहन ने भी आपनी पुस्तक– 'रीसेंट थियोरीज आफ सॉवरेन्टी ' – में यह माना है कि, " अंतर्राष्ट्रीय कानून में संयुक्त प्रभुसत्ता, विभाजित प्रभुसत्ता एवं अंतर्राष्ट्रीय निगमों की प्रभुसत्ता जैसे विचारों का स्थान है " । उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विश्व शान्ति के संदर्भ में राज्य की प्रभुसत्ता का विचार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक जटिल विषय है । इस विषय स्थिति को पामर व परकिन्स ने इस तरहं व्यक्त किया है–"प्रभुसत्ता का शाब्दिक अर्थ है सर्वोच्च सत्ता, लेकिन फिर भी वर्तमान परिस्थिति में इसे सीमित होना चाहिये । यह निरपेक्ष व अविभाज्य है फिर भी इसे सीमित और विभाजित होना चाहिये । इसका अंतर्राष्ट्रीय कानून से विरोध है । फिर भी इसे अंतर्राष्ट्रीय कानून से संगति बैठानी चाहिये । पर्याप्त कठोर और अनम्य सिद्धान्त होने हुये भी इसका प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विकसित स्वरुप के अनुरुप होना चाहिये । "क्लॉड इगलेटन ने अपनी पुस्तक – 'द, फोर्सेज दैट शेप अवर फ्यूचर – में ऐसा ही व्यावहारिक दृष्टि कोण अपनाया है । उसके विचार में न तो संप्रभुता निरपेक्ष है और न इसका परित्याग ही संभव है । समस्या इस बात के निर्धारण की है कि ऐसे कौन से मामले हैं जिनको अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण में रखने से अधिक लाभ होगा व ऐसे कौन से मामले है जिनको स्वयं के, नियंत्रण में रखना अधिक लाभकारी होगा । अंत में यह कहना उचित होगा कि संप्रभुता उस समय तक किसी न किसी रुप में अस्तित्व में रहेगी, जब तक राष्ट्र–राज्य–व्यवस्था अंतर्राष्ट्रीय समाज का आधार रहेगी । अत : आवश्यकता यह है कि अतीत में संप्रभुत्ता की उपयोगिता एवं वर्तमान में इसकी वास्तविकता को दृष्टिगत रखकर अंतर्राष्ट्रीय

जगत की बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल संप्रभुता को अवधारणा को संशोधित किया जाए ताकि राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय हित में एकरूपता स्थापित हो सके ।

4.2 राष्ट्रवाद का सिद्धान्त–राष्ट्रवाद व अंतर्राष्ट्रीय राजनीति

आधुनिक राज्य व्यवस्था का दूसरा महत्वपूर्ण उपसिद्धान्त राष्ट्रवाद है । संप्रभु–राज्य–व्यवस्था के आधार के अतिरिक्त राष्ट्रवाद उसके आचरण का निर्धारण भी करता है । कल तक अंतर्राष्ट्रीय समाज को प्रभावित करने की क्षमता राष्ट्रवाद में है । "समसामयिक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति 'नामक पुस्तक में वाल्टर आर शार्प एवं ग्रापसन किर्क (Walter R.Sharp Grapson Krik) नें अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी के लिये राष्ट्रवाद का ज्ञान अति आवश्यक माना है । राष्ट्रवाद से ही ' 'वस्तुत : वर्तमान राज्य व्यवस्था के संम्पूर्ण व्यवहार को, राष्ट्रीय आशायें, राष्ट्रीय आशंकायें, राष्ट्रीय महत्वाकांक्षायें और राष्ट्रीय आशायें, राष्ट्रीय संघर्ष जैसे कुछ शब्दों के माध्यम से बहुत कुछ समझा जा सकता है ' 'हान्स कोन (Hans kohn) ने राष्ट्रवाद के स्वरुप नामक लेख में वर्तमान समय में राष्ट्रवाद के महत्व को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है "– अब तक संसार के राष्ट्र अपने–अपने रास्ते पर चलते थे जो बहुधा एक दूसरे से भिन्न होता था पर अब वे सब समान रुप से इस ' राष्ट्रवाद ' नामक सर्वाधिक बलवान सामूहिक चेतना से अधिकाधिक आकान्त होते जा रहे हैं । ' 'प्रो. कोन ने राष्ट्र–राज्य एवं राष्ट्रवाद को परस्पर एक दूसरे पर निर्भर एवं एक–दूसरे का सृजनकर्ता माना है । राष्ट्र वाद जहां राष्ट्रराज्य के निर्माण को प्रेरित करता है, वहीं राष्ट्रराज्य, राष्ट्रवाद की भावना को भी पुष्ट करता है । राष्ट्रराज्य पर आधारित वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के संचालन में राष्ट्रवाद की एक महती भूमिका होती है ।

4.2 त–राष्ट्रवाद से तात्पर्य

राष्ट्रवाद के तात्पर्य को समझने के लिये राष्ट्र, राष्ट्रराज्य, राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय आत्म निर्णाय के, सिद्धान्त देशभक्ति एवं अंध देश प्रेम को समझना आवश्यक है । राष्ट्र शब्द के कई ऐसे अर्थ है जिनका राज्य व्यवस्था से कोई संबंध नही होता । अर्नेस्ट रेनान ने समान भाषा अथवा किसी प्रजाति से संबंध को राष्ट्र निर्माण का आधार न मानकर अतीत में मिलाकर किये महान कार्यो की स्मृति एवं भविष्य में भी ऐसे ही महान कार्य करने की आकांक्षा को राष्ट्र निर्माण का आधार माना है । राष्ट्र स्वतंत्र राज्य के रुप में गठित या स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील ऐसे व्यक्तियों का एक समूह है जो स्वयं को कुछ विशेष कारकों के फलस्वरुप ऐसे ही गठित अन्य समूहों से पृथक इकाई के रुप में मानता है । स्वतंत्र राजनीतिक संगठन के रुप में गठित ऐसे राज्य को, राष्ट्र–राज्य कहा जाता है । बहुराष्ट्रीय राज्यों के विद्यमान होने के कारण यह तो स्पष्ट है कि राज्य व राष्ट्र समान अर्थी शब्द नहीं है किंतु वर्तमान लेखक राज्य व राष्ट्र शब्दों का परस्पर एक दूसरे के लिये प्रयोग करते है । राष्ट्रीयता, समाजशास्त्री लुइस वर्थ के अनुसार व्यक्तियों का ऐसा समूह होता है जो समान सांस्कृतिक परम्पराओं, समान उद्देश्य, समान ऐतिहासिक अनुभवों आदि के फलस्वरुप अपने क्षेत्र में संप्रभुता की स्थापना का इच्छुक हो अथवा विरोध के होते हुये भी आने राजनीनिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव को बनाये रखने

या उसमें विस्तार के लिये प्रयासरत हो । राष्ट्र व राष्ट्रीयताओं में स्वतंत्र राज्य के रुप में स्वयं को परिवर्तित कर लेने की इच्छा राष्ट्रीय आत्म निर्णय को अधिकार कहलाती है । मॉरगेन्थों का मत है कि "राष्ट्र को राज्य की आवश्यकता होती है । राष्ट्रवाद का राजनीतिक तकाजा है एक राष्ट्र एक राज्य, राष्ट्र राज्य उसका अन्तिम आदर्श है । " राष्ट्रीय आत्म निर्णय के अधिकार का अमरीकी राष्ट्रपति बुडड्रों विलग्न कट्टर समर्थक था । राष्ट्र–राज्य के प्रति स्वामिभक्ति को देश भक्ति कहा जाता है अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम एवं अन्य राष्ट्रों के प्रति घृणा, देश भक्ति का उग्र रुप होता है । वैसे राष्ट्रवाद की एक निश्चित संतोषजनक परिभाषा संभव नहीं है फिर भी उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रवाद मन की वह स्थिति विशेष है जो व्यक्ति में राष्ट्र–राज्य के प्रति सर्वोच्च भक्ति को जागृत करती है । हान्स कोन ने राष्ट्रवाद को मन की ऐसी ही स्थिति–विशेष माना है । जें. एच हेज ने राष्ट्रवाद को राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति का एक आधुनिक भावानात्मक सममिश्रण एवं इसकी अत्युक्ति माना है । प्रो. लुई. एल. स्नाइडर ने यह मानते हुये भी कि राष्ट्रवाद को सामान्य शब्दों में सही रुप में परिभाषित नहीं किया जा सकता उसको निम्न ऐसे शब्दों में स्पष्ट किया है जो कम से कम आपति जनक हों– "राष्ट्रवाद इतिहास व किसी काल विशेष में दृष्टिगत राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक हलचल का परिणाम होता है । यह ऐसे मानव समुदाय की मन–स्थिति, भावना या भावुकता का नाम है जो किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में रहता है समान भाषा बोलता है जिसका साहित्य राष्ट्र की आशाओं, आकांक्षाओं परम्पराओं और रीतिरिवाजों को अभिव्यक्त करता है । जिसमें अपने प्राचीन वीरों एवं महापुरूषों के प्रति सम्मान का भाव होता है तथा जो प्राय धार्मिक दृष्टि से अभिन्न होता है " । अत यह कहना उपयुक्त होगा कि राष्ट्रप्रेम राष्ट्रवाद का मूल स्वर है एवं राष्ट्रनिष्ठा की मात्रा से इसका अनुमान लगाया जा सकता है ।

4.2 थ–राष्ट्रवाद के मूल स्रोत

राष्ट्रवाद की उत्पति के मूल स्रोत दो भागों–स्वाभाविक एवं प्रचारात्मक में बांटा जा सकते है । स्वाभाविक स्रोत में बाह्य समानतायें, जैसे समान भौगोलिक क्षेत्र, समान धर्म, समान भाषा समान लिपि, समान प्रजाति के एवं व्यक्तियों की आंतरिक मनोवृत्तियों को प्रभावित करने वाली प्रवृतियाँ जैसे गौरवमय इतिहास की स्मृति, व्यक्तिगत असुरक्षा की भावना, एक ही विदेशी शासन के अंतगर्त सहे अत्याचार समान राजनीतिक आकांक्षायें, अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष की स्थिति, समान शासन व्यवस्था आदि को शामिल किया जा सकता है । बाह्य समानतायें राष्ट्रीय भावना को विकसित करने में सहायक अवश्य होती है किंतु ऐसी समानता के अभाव में भी राष्ट्रीय भावना का विकास संभव है । भारत में बाहा समानतायें अधिक है । किन्तु इसमें यहां राष्ट्रवाद के प्रसार में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई । आन्तरिक भावना को उदे्वलित करने वाली अनेक प्रवृत्तियों ने भारत में राष्ट्रीय भावना को जागृत एवं विकसित किया है । व्यक्ति गत असुरक्षा की भावना क्योंकर राष्ट्रवाद की भावना को जन्म देती है । यह निम्न कथन स्पष्ट करता है 19 वीं व 20 वीं शताब्दी में यूरोप में सामान्य मनुष्य, परम्परा के । विशेषत :

धर्म के बंधन से मुक्त हुआ । उसके व्यक्तिगत जीवन में बुद्धिवादिता का प्रभाव बढ़ा तथा बार–बार आर्थिक संकटों का दौर आया । इन बातों से व्यक्ति में असुरक्षा का भाव बढ़ा, जिसने मानसिक उत्तेजना को जन्म दिया, जो अन्तत : राष्ट्रवाद के रुप में फूट पड़ी । (मार्गेन्थो). । जर्मन फासिस्टवाद इसका उल्लेखनीय उदाहरण है । विस्तृत ब्रिटिश साम्राज्य की ब्रिटेन में राष्ट्रवाद की भावना को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका रही थी । प्रचारात्मक स्रोत के अंतगर्त राष्ट्रगीत की आवृत्ति, पाठ्यक्रमों का राष्ट्रीय दृष्टिकोण से निर्धारण, राष्ट्र के गौरवमय संस्कृति एवं इतिहास का अध्ययन, राष्ट्रीय पर्व का मनाया जाना, राष्ट्रीय ध्वज का फहराया जाना आदि को शामिल किया जा सकता है । जन प्रचार के विभिन्न साधन भी राष्ट्रवाद के विकास में सहायक होते हैं ।

4.2 द–राष्ट्रवसद के विभिन्न रुप

17 वीं शताब्दी से वर्तमान समय तक राष्ट्रवाद का विकास होता रहा है । कार्लटन हेज ने राष्ट्रवाद के विकास के पांच स्तरों का वर्णन किया है । भिन्न–भिन्न विशेषताओं के कारण इन स्तरों में राष्ट्रवाद के भी भिन्न–भिन्न रुप विकसित हुये । ये हैं–मानवतावादी, जैकोबिन, परम्परागत, उदार व एकीकृत । मानवतावादी राष्ट्रवाद का 18 वीं शताब्दी में जैकोबिन राष्ट्रवाद का फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति एवं नेपोलियन के युग में, परम्परागत व उदारवादी राष्ट्रवाद क्रमश : .20 वीं शताब्दी में विकास हुआ । क्विन्सी राइट ने राष्ट्रवाद के मध्य युगीन राजतांत्रिक क्रान्तिकारी उदार और सर्वाधिकार वादी रुप माने है अध्ययन की सुविधा की दृष्टि– से राष्ट्रवाद के विभिन्न प्रकारों का निम्न शीर्षको के अंतगर्त विवेचन किया जा सकता है ।

(1) उदार राष्ट्रवाद
(2) सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद
(3) साम्यवाद और राष्ट्रवाद
(4) एकीकृत राष्ट्रवाद
(5) नवीन राष्ट्रवाद

4.2 द[1] –उदार राष्ट्रवाद

17 वी 18 वीं शताब्दी के मध्य में मान्टेस्क्यू, वालटेयर लॉक, रुसो, जेफरसन जैसे दार्शनिकों की कृतियों ने उदार व मानवतावादी राष्ट्रवाद के उद्भव में योगदान दिया । आत्मनिर्णय के अधिकार व लोकतंत्र को इससे प्रेरणा मिली । मध्यम वर्ग, अमरीका व फ्रांस की क्रान्तियों व औद्योगिक क्रान्ति के कारण यूरोप में राष्ट्रवाद तेजी से विकसित हुआ । इस कारण राजतंत्र, सामन्तवाद व साम्राज्यवाद पर आधारित वहां की पुरानी व्यवस्था टूटने लगी एवं इनका स्थान ऐसे राष्ट्र–राज्यों ने ले लिया जिनकी विशेषतायें थी–सुदृढ़ शासन, समृद्ध व प्रभावी मध्यम वर्ग एवं निजी संपन्ति, मुक्त उद्यम पर आधारित उदार आर्थिक ढांचा ।

4.2 द[2] –सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद

19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की ओर से राज्य सत्तावादी स्वरुप ग्रहण करने लगे । उनमें व्यापार, उद्योग, उपनिवेश व सैनिक शक्ति के क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने लगी । इसी प्रतिद्वन्दिता का परिणाम था प्रमुख महायुद्ध । प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् संपन्न शान्ति संघियां जैसे वर्साय की संधि की कठोरता के कारण सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद के रुप मे, फासिस्टवाद, नाजीवाद का उदय हुआ । रुस में साम्यवाद के विकास से सर्वाधिकार वादी राष्ट्रवाद का प्रादुर्भाव हुआ । पेडेलफोर्ड व लिंकन के अनुसार, "ये सभी विचारधारायें राज्य को सत्ता का सर्वोच्च साधन मानती थी 'व्यक्तियों के अधिकार इस सत्ता के अधीन थे । उदार राष्ट्रवाद के मानवतावाद का स्थान राज्यवाद और तानाशाही शासन ने ले लिया । " इससे राष्ट्रभक्ति अंध देश भक्ति में बदल गई एवं घृणा व युद्ध को बढ़ावा मिला ।

4.2 द[3]–राष्ट्रवाद व साम्यवाद

साम्यवाद एक अंतर्राष्ट्रीय विचारधारा है । अत : साम्यवाद का सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद के रुप में विचार करना एक विरोधाभास सा प्रतीत होता है किन्तु व्यवहार में लेनिन के पश्चात् रुस में साम्यवाद का स्वरुप अधिक राष्ट्रवादी हो गया है । रुस द्वारा अपने क्षेत्र में विभिन्न जातियों के आत्म निर्णय के अधिकार की अवहेलना एशिया व अफ्रीका में राष्ट्रीय आन्दोलनों को सक्रिय सहयोग देना, पूर्वी यूरोप एशिया एवं लेटिन अमेरीका में साम्यवाद की ओट में रुस राष्ट्रवाद का प्रसार यूगोस्लाविया हंगरी चेकोस्लोवाकिया, रुमानिया आदि राज्यों में रुसी हस्तक्षेत्र रुस के सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद. के परिचायक हैं ।

4.2 द[4]–एकीकृत राष्ट्रवाद

एकीकृत राष्ट्रवाद के विचार के विस्तार में कोंते (Conte) तैन (Taine) बारेस (Barres) आदि का हाथ था । फ्रांसीसी विचारक चार्ल्स मोरेस ने इस राष्ट्रवाद को स्पष्ट करने में अधिक योग दिया है । हेज ने इस शब्द का प्रयोग चार्ल्स मोरेस से लेकर किया है । यह घृणा की राजनीति पर आधारित है । एकीकृत राष्ट्रवाद के मुख्य लक्षण है – राष्ट्रीय स्वार्थ की पूर्ति, राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बधन, आवश्यकता पड़ने पर सैनिक शक्ति का प्रयोग आदि । सर्वाधिकारी राज्यों के अतिरिक्त यूरोप व अमेरीका के लोकतंत्रीय राज्यों में भी ऐसा राष्ट्रवाद उभर रहा है । ऐसे राष्ट्रवाद का उद्देश्य, विश्वभर में अपने प्रभाव की वृद्धि होने के कारण मॉर्गेन्थों ने इसे राष्ट्रीय विश्ववाद (Nationalistic Universalism) नाम दिया है । पामर व परकिन्स ने इस नाम का समर्थन नहीं किया, क्योंकि विश्व में महाशक्तियों का ही उपरोक्त उद्देश्य है, अन्य राष्ट्रों का नहीं।

4.2 द[5] –नवीन राष्ट्रवाद

एशिया एवं अफ्रीका में उपनिवेशवाद के उल्मूलन के कारण नवीन राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई है । इनमें विकसित राष्ट्रवाद की भावना को नवीन राष्ट्रवाद कहा जाता है । आत्म

सम्मान, राजनीतिक स्वतंत्रता तथा स्वतंत्र नीति निर्धारण के प्रति जागरुकता राष्ट्रवाद के कुछ प्रमुख लक्षण है । नवोदित राष्ट्रों में राजनीतिक अस्थिरता की प्रवृतियां विद्यमान है । विदेशियों के प्रति द्वेष भाव व रंग भेद की नीति के विरोध के कारण अफ्रीकी व नीग्रो लोगों के राष्ट्रवाद को 'काला राष्ट्रवाद ' (Black Nationalism) कहा जाता है । विकसित राष्ट्रों द्वारा ऐसें नवोदित राष्ट्रों के प्रति सद् व्यवहार एवं समानता की नीति के अभाव के कारण भविष्य में नवीन राष्ट्रवाद क्या रुप लेगा, कुछ नहीं कहा जा सकता । यह निश्चित है कि आगामी निकट भविष्य में राष्ट्रवाद का प्रभाव बना रहेगा ।

4.2 ध–राष्ट्रवाद–वरदान एवं अभिशाप ?

निरंकुश शासन एवं साम्राज्यवाद से मुक्त कराने में राष्ट्रवाद ने अतीत में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय चरित्र एवं राष्ट्र शक्ति के निर्माण में भी राष्ट्रवाद की महती भूमिका रही है । राष्ट्रवाद व्यक्तियों में सहयोग, त्याग एवं सामाजिक भावों को जन्म देता है । राष्ट्र प्रेम व राष्ट्र भक्ति की प्रकृति को राष्ट्रवाद से ही प्रेरणा मिलती है । राष्ट्र राज्य पर आधारित आधुनिक राज्य व्यवस्था राष्ट्रवाद की ही कृति है । राष्ट्र के लिये राष्ट्रवाद के योगवाद को दृष्टिगत रख, यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि राष्ट्रवाद एक राष्ट्रीय सम्पत्ति है । दूसरी ओर उग्र राष्ट्रवाद ने विश्व में संघर्ष को जन्म दिया है । प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध का मूल कारण ऐसा ही राष्ट्रवाद था । बलवती राष्ट्रीय भावना विश्व शांति व अन्तर्राष्ट्रीय भावना के विकास में एक बड़ी बाधा बन गई है । इसीलिये श्री हेज ने राष्ट्रवाद को एक अभिशाप माना है । राष्ट्रवाद पर एक लेख मैं श्री रवीन्द्र नाथ टेगौर ने राष्ट्रवाद को 'समस्त जाति का सामूहिक व संगठित स्वार्थ ', शोषण के लिये संगठित शक्ति, ''स्वार्थ पूर्ण उद्देश्यों की सिद्धि हेतु राजनीति और व्यवसाय का संगठन'', 'आत्म पूजा ' आदि कहा है । शिलिटो (Shillito) के अनुसार राष्ट्रवाद व्यक्ति का दूसरा धर्म बन गया है । राष्ट्रीय हित, राष्ट्रीय गौरव के नाम पर असंख्य व्यक्ति व पर्याप्त शान्ति का विनाश हुआ है । इन सब के फलस्वरुप राष्ट्रवाद को निन्दनीय माना जाता है । इन सब के फलस्वरुप राष्ट्रवाद जहां एक ओर वरदान सिद्ध हुआ वही यह विश्व व्यवस्था के लिये अभिशाप भी साबित हुआ है ।

4.2 न–निष्कर्ष

राष्ट्रवाद एक नमनीय धारणा है । इसीलिये एक ओर लोकतंत्र व उदारवाद व दूसरी ओर निरंकुशवाद व सर्वाधिकारवाद के 'हित में इसका उपयोग किया गया है । राष्ट्रवाद स्वयं में न तो नैतिक धारणा है और न अनैतिक । अत : अंतर्राष्ट्रवाद के इस युग में इस बात की आवश्यकता है कि मानव की इस सर्वोत्तम भावना को रचनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रेरित किया जाना चाहिये । राष्ट्रवाद तभी अंतर्राष्ट्रवाद का एक महत्व पूर्ण आधार बन सकेगा ।

बोध प्रश्न 2

1. आधुनिक राज्य–व्यवस्था के महत्वपूर्ण उपसिद्धान्तो का नाम लिखिये ।
2. 'वर्तमान परिपेक्ष्य में संप्रभुता ' पर लगभग 200 शब्दों में अपने विचार व्यक्त कीजिये।
3. राष्ट्रवाद के मूल स्रोत के विषय में लगभग 100 शब्दों में विवेचना कीजिये ।

4. 'राष्ट्रवाद एक अभिशाप भी है एवं वरदान भी ' का 100 शब्दों में स्पष्ट कीजिये ।
5. सही एवं गलत कथन पर क्रमश : (√) व (x) का निशान लगाइये :
   (1) युद्ध में विजय से विजेता राष्ट्र की संप्रभुता का लोप हो जाता है ।
   (2) विचारक आन्तरिक प्रभुता की अबाध सत्ता के पक्षधर है ।
   (3) अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का आधार राजनीतिक संप्रभुता है । कानूनी संप्रभुता नहीं ।
   (4) 'ग्रामर ऑफ पोलिटिक्स ' नामक पुस्तक में प्रो. लास्कीक ने संप्रभुता की अवधारणा के अस्तित्व कों राजनीति विज्ञान के हित में माना है ।
   (5) राष्ट्रवाद व राष्ट्र राज्य परस्पर एक दूसरे के आधार है ।
   (6) विकीसत राष्ट्रों के राष्ट्रवाद को नवीन राष्ट्रवाद कहो जाता है ।
   (7) पामर व परकिन्स के अनुसार एकीकृत राष्ट्रवाद को 'राष्ट्रीवाद विश्ववाद ' कहना उपयुक्त नहीं है ।
   (8) राष्ट्रवाद व साम्यवाद में परस्पर विरोध होते हुये भी साम्यवाद को सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद कहा जाता है ।

4.3 राष्ट्रशक्ति की धारणा –अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरुप

आधुनिक राज्य व्यवस्था का तीसरा महत्वपूर्ण उपसिद्धान्त, राष्ट्र शक्ति की धारणा है । अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरुप की जानकारियों के बिना इसको नहीं समझा जा सकता । प्रो. मॉर्गेन्थो ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को शक्ति के लिये संघर्ष माना है । उनके मतानुसार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अंतिम उद्देश्य चाहे कुछ भी हो किन्तु उसका तात्कालिक उद्देश्य सदैव शक्ति होता है । अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के माध्यम से धार्मिक, दार्शनिक, आर्थिक व सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति शक्ति के द्वारा ही संभव होती है । अत सभी राष्ट्र शक्ति के इच्छुक होते है, किन्तु सभी राष्ट्र सभी समय समान रुप में शक्ति राजनीति में लिप्त नहीं होते । अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उनका लिप्त होना, उनकी विदेश नीति पर निर्भर होता है । मार्गेन्थो की राय है कि राष्ट्र सामान्यतया निम्न तीन प्रकार की विदेश नीति में से किसी एक नीति को अपनाते है।

* अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विद्यमान शक्ति वितरण कोबनाये रखने की यथास्थिति नीति ।
* स्वशक्ति वृद्धि हेतु इस शक्ति वितरण को परिवर्तित करने की साम्राज्यवादी नीति।
* अपनी शक्ति को बनाने रखने या वृद्धि हेतु शक्ति प्रदर्शन की प्रतिष्ठा–नीति ।

अत : अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्र शक्ति बनाये रखने, उसमें अभिवृद्धि करने, एवं उसके प्रदर्शन करने में ही लगे रहते हैं। वास्तव में वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति राजनीति का ही एक खेल है ।

4.3 त–राष्ट्र शक्ति से तात्पर्य

'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग सामान्यतया राज्य के लिये किया जाता है । राष्ट्रशक्ति शब्द इस तरह राज्यशक्ति का ही द्योतक है । 'शक्ति ' का तात्पर्य है दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता । अत: राष्ट्र शक्ति, राष्ट्र की वह क्षमता है, जिसके, बल पर वह अन्य राष्ट्रों को

स्वहित में प्रभावित करता है । प्रो. हार्टमान के अनुसार राष्ट्र शक्ति एक संप्रभु राष्ट्र का वह बल या क्षमता है जिसका उपयोग राष्टहित की आपूर्ति हेतु किया जाता है । जार्ज श्वारजेन बर्गर ने एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र पर थोपी अपनी इच्छा की अनुपालना की स्थिति में प्रभावशाली दबाव द्वारा उनको क्रियान्वित कराने की क्षमता को, राष्ट्र शक्ति माना है । प्रभाव धमकी रहित होता है, शक्ति नहीं । सैनिक शक्ति का वास्तविक प्रयोग, बल कहलाता है । अन्य विचारकों ने राष्ट्रशक्ति के संदर्भ में शक्ति, बल एवं प्रभाव के मध्य कोई अन्तर नहीं माना है । राष्ट्रशक्ति में, शक्ति, बल एवं प्रभाव सभी सन्निहित होते हैं ।

4.3 थ–राष्ट्रशक्ति–राज्य वर्गीकरण का आधार

राष्ट्रों के लगभग सभी प्रकार के संबंधों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप में शक्ति का योगदान होता है । अत : अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्यों के वर्गीकरण का आधार भी शक्ति होता है । शक्ति की गुणात्मक एवं संख्यात्मक क्षमता के आधार पर राज्यों की महान बड़ी, मध्यम व लघु शक्ति के रुप में गणना की जाती है । राष्ट्र हित के क्षेत्र एवं विस्तार और उनकी प्राप्ति की क्षमता इस वर्गीकरण का आकार है । राष्ट्रहित के सारे विश्व में विस्तार एवं उनकी प्राप्ति की क्षमता के कारण ही अमेरीका व रुस को. महान शक्ति कहा जाता है ।

4.3 द–नागरिक की व्यक्तिगत शक्ति एवं राष्ट्र शक्ति

राष्ट्र शक्ति पर विचार करते समय राष्ट्र शक्ति एवं नागरिक की व्यक्तिगत शक्ति के मध्य पारस्परिक संबंध के विषय में विचार करना भी आवश्यक है । सामान्यतया राष्ट्र के समस्त नागरिकों की सामूहिक शक्ति को राष्ट्र शक्ति कहा जाता है । वस्तुत यह शक्ति शासन संचालकों या सत्ताधारियों मे ही केन्द्रित होती है । राष्ट्रशक्ति में वृद्धि या हास का प्रभाव उन पर ही पड़ता है । जनसाधारण पर नही । किन्तु व्यवहार में सामान्य नागरिक पर भी ऐसी परिस्थितियों का प्रभाव देखने को मिलता है । मार्गेन्थो के अनुसार राष्ट्र के अंतर्गत व्यक्तियों का जीवन विभिन्न नियमों से नियंत्रित होता है । अत : राष्ट्र के नागरिक के रुप में उसकी महत्वाकांक्षायें दबी रहती है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नागरिक स्वयं को नैतिक दायित्व से नियंत्रित नही मानता । अत: मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राष्ट्र के प्रभाव में वृद्धि या हास के समय वह स्वयम् सहित समस्त राष्ट्र निवासियों के सम्मान में वृद्धि या हास का अनुभव करता है । मार्गेन्थो राष्ट्र में दो प्रकार के नागरिक मानता है–राष्ट्रीय आकांक्षाओं के साथ स्वयं को बदल कर लेने वाला बहुसंख्यक वर्ग व उसके प्रति पूर्णतया उदासीन रहने वाला अल्पसंख्यक वर्ग । बहुसंख्यक वर्ग ही राष्ट्र के अस्तित्व व शक्ति का आधार होता है । राष्ट्र शक्ति में वृद्धि या हास, नागरिकों के व्यक्तिगत प्रभाव में वृद्धि या कमी को प्रभावित करता है । मालदीव में शासन विरोधी विद्रोह को समाज करने में भारत के योगदान के फलस्वरुप जहां भारत के प्रभाव में वृद्धि हुई, वहीं भारत के नागरिकों का मालदीव एवं अन्य दक्षेस राज्यों में सम्मान भी बढ़ा ।

4.3 ध–राष्ट्रशक्ति के उद्देश्य

आत्म रक्षा एवं अपने प्रभाव में वृद्धि राष्ट्र शक्ति के दो प्रमुख उद्देश्य होते है । क्षेत्रीय अंखडता, सार्वभौमिकता राष्ट्रीय समानता एवं सम्मान के रक्षार्थ राष्ट्र को शक्ति की आवश्यकता होती है । इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि शक्ति विहीन राष्ट्र शक्ति संपन्न राष्ट्र के समक्ष आत्म समर्पण कर देते है । अत : प्रत्येक राष्ट्र अपने अस्तित्व की रक्षा के न्यूनतम दायित्व की पूर्ति हेतु शक्ति का सृजन एवं संचय करते हैं । राष्ट्रों को अपने प्रभाव विस्तार हेतु भी शक्ति की आवश्यकता होती है । इस प्रभाव विस्तार में राष्ट्र शक्ति के निर्माण में सहायक तत्वों का योगदान होता है । ऐसे साधनों के होते हुये भी, इन साधनों के उचित उपयोग की कला के होते हुये भी, इन साधनों के उचित उपयोग की कला के अभाव में राष्ट्र अपने प्रभाव का विस्तार नही कर पाते । तेल–संपदा के रुप में अतुलनीय शक्ति के आगार होते हुये भी, अरब राष्ट्र इसीलिये किसी न किसी महान शक्ति के पिछलग्गू बने हुये है । कुछ राष्ट्र प्रभाव वृद्धि हेतु शक्ति को साधन की अपेक्षा साध्य मानकर अपनी शक्ति में वृद्धि करते हैं द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् दो महान शक्तियों में शक्ति–संचय की प्रतियोगिता, शक्ति को साध्य मानने का ही परिणाम थी । संयुक्त राष्ट्र संघ के भूतपूर्व महासचिव ऊ थांट ने शक्ति राजनीति को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का एक स्वाभाविक दोष बनाया था एवं संघ के चार्टर को मूर्त रुप देने में इसे एक सबसे बड़ी बाधा बतायी थी । यद्यपि विश्व शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की दृष्टि से शक्ति राजनीति एक बुराई है किन्तु रीन होल्ड नीबूहर की इस मान्यता के कारण है कि "राष्ट्रों के अस्तित्व की इच्छा एवं उनकी शक्ति की इच्छा के मध्य स्पष्ट विभाजक रेखा की असंमवता है " के फलस्वरुप शक्ति राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक आवश्यक बुराई बन गई है । इसीलिये आधुनिक समय में प्रभाव विस्तार राष्ट्र शक्ति का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य बन गया है ।

4.3 न–राष्ट्र शक्ति का औचित्य

राष्ट्र शक्ति के समर्थकों ने इस शक्ति के औचित्य हेतु कानूनी एवं नैतिक तर्क प्रतिपादित किये है । संप्रभुता को राष्ट्र राज्य की आत्मा एवं समस्त गतिविधियों का केन्द्र बताकर, उसके रक्षार्थ शक्ति को अपरिहार्य बताया है । अत : शक्ति का सृजन व संचय एक राष्ट्र का कानूनी अधिकार है । नागरिकों एवं उनके हितों की सुरक्षा के दायित्व का तर्क देकर राष्ट्र शक्ति का नैतिक आधार पर समर्थन किया जाता है । इस हेतु शान्तिपूर्ण वातावरण की आवश्यकता होती है । ऐसा वातावरण शक्ति के द्वारा ही संभव होता है । यह कहा जाता है कि शांति तब ही संभव हो सकती है जबकि प्रत्येक राष्ट्र अन्य राष्ट्र से अधिक शक्तिशाली हो । शक्ति हीन राष्ट्रों के पराभव के आधार पर राष्ट्र शक्ति हेतु ऐतिहासिक तर्क भी दिया जाता है । व्यक्ति में शक्ति हेतु महत्वाकांक्षा एवं ऐसे ही व्यक्तियों के समूह से निर्मित राष्ट्र के आधार पर राष्ट्र के आधार पर राष्ट्र शक्ति को मानो वैज्ञानिक आधार पर 'भी उचित ठहराया जाता है । व्यक्ति एवं राज्य के हितों को समान बताकर एवं इस पृथ्वी पर 'राज्य को ईश्वर का चलायमान रुप ' कहकर, राज्य के सर्वशक्तिमान होने का तर्क दिया जाता है । आदर्शवादी विचारकों ने राष्ट्र शक्ति का इसी आधार पर समर्थन किया है । राष्ट्र शक्ति के औचित्य हेतु

चाहे कोई 'भी तर्क दिया जाए, पर यह स्पष्ट है कि राज्य सदैव से शक्ति के लिये इच्छुक रहे हैं ।

4.3 य–राष्ट्रशक्ति के प्रकार

ई. एच. कार ने राष्ट्र शक्ति के तीन रुप माने है–सैनिकशक्ति, आर्थिक शक्ति एवं जनमत को प्रभावित करने की शक्ति । पामर व परकिन्स ने इनके अतिरिक्त राजनय को भी राष्ट्र शक्ति का एक रूप माना है । अन्य विचारकों ने राजनय को राष्ट्र शक्ति का आधारभूत तत्व माना है । पामर व परकिन्स का मत है कि कभी–कमी टेलीरेन्ड व फ्रेंकलीन जेंसे राजनयज्ञों की दूरदर्शिता व कार्य कुशलता के कारण राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसा लाभ अर्जित कर लेता है जिसको अन्य तरीकों से प्राप्त करना असंभव होता है । राजनय को ऐसी परिस्थिति में, राष्ट्र शक्ति का एक रुप माना जा सकता है । राष्ट्र शक्ति का उग्रत्तम रुप सैनिक शक्ति है । वर्तमान समय में सैनिक शक्ति एक अत्यंत जटिल वस्तु है । अस्त्र–शस्त्र व सैनिक संगठन के अतिरिक्त, आर्थिक शक्ति, नागरिकों का मनोबल, सैनिक गठबंधन आदि भी सैनिक शक्ति के, अभिन्न अंग मानें गये हैं । आर्थिक शक्ति के बल पर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के नियंत्रण द्वारा अपने प्रभाव में वृद्धि कर सकता है । जनमत को प्रभावित करने की शक्ति को राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रचार एवं अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक युद्ध कहा जाता है । प्रचार नागरिकों की राष्ट्रीय भावना एवं उनके मनोबल का आधार होता हैं । मनोवैज्ञानिक युद्ध द्वारा राष्ट्र हित का संपादन एवं अन्य राष्ट्रों के नागरिकों के मनोबल को प्रभावित किया जाता है । राष्ट्र शक्ति के उपरोक्त रुप विश्लेषण की दृष्टि से ही उपयुक्त है । वैसे राष्ट्रशक्ति एक अविभाज्य इकाई होती है अर्द्ध–वृत्त या अर्द्ध–त्रिभुज की तरह राष्ट्र शक्ति के उपरोक्त रुप केवल काल्पनिक तथ्य है ।

4.3 र–राष्ट्र शक्ति के स्रोत

'जनसंख्या प्राकृतिक साधन व संख्यात्मक तत्वों के योग से राष्ट्रशक्ति कुछ अधिक है । एक राष्ट्र की संधि–संभावना, नागरिक धर्मनिष्ठा, संस्थाओं की नमनीयता, तकनीकी ज्ञान, दुष्कर परिस्थितियों के सहन की क्षमता आदि कुछ ऐसे तत्व है जो एक राष्ट्र की सम्पूर्ण शक्ति को निर्धारित करते है । " (विलियम एबेन्सटीन) अत : राष्ट्र शक्ति के मुख्य स्रोत, भौगोलिक स्थिति, जनसंख्या, प्राविधिकी, सैनिक क्षमता, राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय मनोबल, नेतृत्व एवं शासन व्यवस्था है । राष्ट्र शक्ति के इन स्रोतो को स्थिर व अस्थिर श्रेणी में वर्गीकृत किया जा सकता है । भौगोलिक जनसांख्यिक, आर्थिक प्राविधिकी व सैनिक शक्ति को स्थिर आधारभूत तत्व माना गया है । ये सभी तत्व परस्पर आश्रित व अंतनिर्भर होते हैं व राष्ट्र शक्ति उनकें सामूहिक योगदान का प्रतिफल होती है ।

4.3 ल–राष्ट्र शक्ति का नियंत्रण.

प्रभुता, दम्भ की जननी मानी जाती है । यह मत व्यक्ति एवं राष्ट्र दोनों की दृष्टि से उचित है । दर्प –युक्त प्रभुता व्यक्ति की तरह राष्ट्र के लिये भी हितकर नहीं होती । यह

परमार्थ के स्थान पर युद्ध, विशुद्ध राष्ट्रवाद के स्थान पद उग्र राष्ट्रवाद आदि प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करती है । ऐसी प्रभुता स्वयं राष्ट्र के लिए भी घातक होती है । युद्धोपरांत जर्मनी का पूर्वी व पश्चिमी जर्मनी में विभाजन इसका परिचायक है। अत : राष्ट्र शक्ति को मर्यादित किया जाना आवश्यक होता है । अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्र शक्ति को नियंत्रित रखने के लिये शक्ति संतुलन, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, सामूहिक सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, निशस्त्रीकरण, क्षेत्रीय संगठन आदि साधन प्रयुक्त किये जाते है ।

4.3 व–राष्ट्र शक्ति की प्रयोग विधियाँ

राष्ट्रशक्ति की उपयोगिता राष्ट्र द्वारा अपनी शक्ति के प्रयोग हेतु निर्धारित साधन पर अवलम्बित होती है । राष्ट्र अपनी शक्ति का प्रयोग साम, दान, भेद व दण्ड के द्वारा करता है । शक्ति प्रयोग की सरलतम विधि साम है । समझा–बुझाकर लक्ष्य प्राप्ति का प्रयास साम कहा जाता है । राजनय मध्यस्थता सदभाव पूर्ण प्रयत्न, सामनीति के अतंर्गत आते है । सहायता के माध्यम से हित पूर्ति दान कहा जाता है । आर्थिक सैनिक, तकनीकी व राजनीतिक, अशर्त अथवा सहायता दान विधि के अंतगर्त आते है । रूस का कश्मीर प्रस्ताव पर सुरक्षा परिषद में वीटो का प्रयोग, राजनीतिक दान का उदाहरण है । इस विधि का प्रयोग महान शक्तियों के साथ ही कुछ अन्य समर्थ राष्ट्र भी आजकल करने लगे हैं । गुप्त रुप में किसी राष्ट्र के विषय में प्राप्त जानकारी का स्वहित में प्रयोग भेद विधि कहलाता है । इस नीति द्वारा अन्य राष्ट्र के नागरिकों, अधिकारियों व सैनिकों में फूट डालने एवं उनको तोड़–फोड़ करने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है । अमरीका के केन्द्रीय गुप्तचर विभाग की गतिविधियां भेद–विधि के उपयोग का सर्वोत्तम उदाहरण है । दण्ड विधि का प्रयोग सजा अथवा बल प्रयोग के रुप में किया जाता है । प्रतिकर्म, प्रतिप्रहार प्रतिरोध, प्रतिवेष्टन, हस्तक्षेप जैसे तरीके दण्ड देने हेतु राष्ट्र हित की पूर्ति के लिये सशस्त्र सेनाओं का संघर्ष में सक्रिय उपयोग बल प्रयोग होता है । यह राष्ट्र शक्ति के प्रयोग का अंतिम विकल्प होता है । विषम परिस्थिति में राष्ट्र इन सभी विधियो का प्रयोग करते है । राष्ट्रों के मध्य युद्ध एक ऐसी ही परिस्थिति होती है ।

4.3 स–राष्ट्र शक्ति का मूल्यांकन आवश्यक क्यों ?

राष्ट्र शक्ति का मूल्यांकन इसलिये आवश्यक है कि :–

* राष्ट्र शक्ति का साधनों के अनुरुप अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में योगदान निश्चित किया जा सके ।
* राष्ट्र हितों की आपूर्ति हेतु उचित विदेश नीति का निर्माण किया जा सके ।
* राष्ट्र की संभावित शक्ति को वास्तविक शक्ति में परिवर्तित किया जा सके । अपनी व अन्य राष्ट्रों की वास्तविक एवं संभावित शक्ति का तुलनात्मक विश्लेषण किया जा सके ।
* राष्ट्र शक्ति के, निर्बल पक्ष को सबल बनाने हेतु प्रयास किया जा सके ।
* प्रत्येक राज्य में विदेश मंत्रालय पर राष्ट्र शक्ति के मूल्यांकन का दायित्व होता है।

4.3 स[1] –बाधक धारणायें.

राष्ट्र शक्ति का मूल्यांकन करना एक अत्यंत जटिल कार्य है । शक्ति के विश्लेषण कर्ता का अपने राष्ट्र के प्रति आस्था के फलस्वरुप वह अपने राष्ट्र की शक्ति का वास्तविकता से अधिक एवं अन्य राष्ट्रों की शक्ति का क्षमता से कम अनुमान लगा सकता है । राष्ट्र शक्ति के भावात्मक तत्वों की अस्थिरता, सभी तत्वों की परिवर्तनशीलता एवं शासन द्वारा शक्ति प्रदर्शन हेतु तथ्यों को बढ़ा चढ़ा कर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति शक्ति तत्वों के सही मूल्यांकन में बाधक होती है ।

मॉर्गेन्थो की यह राय है कि राष्ट्र शक्ति का विश्लेषण कर्ता मूल्यांकन करते समय निम्न तीन बाधक धारणाओं सें प्रभावित होकर गलत निष्कर्ष निकाल सकता है :

(1) शक्ति की सापेक्षता के स्थान पर राष्ट्र शक्ति को निरपेक्ष मान लेना । किसी भी राष्ट्र की शक्ति का अनुमान अन्य राष्ट्रों की शक्ति से तुलना करके ही लगाया जा सकता है । किसी भी राष्ट्र की शक्ति निरपेक्ष नहीं हो सकती । 1919 एवं 1936 के पश्चात् क्रमश : फ्रांस व जर्मनी की शक्ति को निरपेक्ष मान लिया गया था । द्वितीय महायुद्ध के समय फ्रांस का सर्वप्रथम जर्मनी के समक्ष आत्मसमर्पण व युद्ध की समाप्ति के पूर्व जर्मनी का मित्र राष्ट्रों से पराजित होना यह स्पष्ट करते है कि किसी भी राष्ट्र की शक्ति निरपेक्षा नहीं हो सकती । शक्ति एक सापेक्षिक शब्द है ।

(2) अतीत में राष्ट्र शक्ति के किसी एक तत्व के निर्णायक योगदान के आधार उसे स्थायी महत्व का तत्व मान लेना । 1917 सें 1943 की स्टालिनग्राड की लड़ाई तक रुस को सैनिक दृष्टि से एक निर्बल राष्ट्र माना जाता था । यह भी विश्वास था कि दूसरे क्षेत्रों में संभावित परिवर्तन के पश्चात् भी रुस सैनिक दृष्टि से एक निर्बल राष्ट्र हीबना रहेगा । किन्तु 1943 में स्टालिनग्राड की लड़ाई में, अपनी तिरोहित शक्ति के प्रदर्शन द्वारा रुस ने सभी राष्ट्रों को अचंभित कर दिया था । इसके आधार पर यह धारणा विकसित हुई थी कि यूरोप व एशिया का भावी अधिपति स्टालिन होगा ।

(3) राष्ट्र शक्ति के किसी एक तत्व के आधार पर शक्ति का मूल्यांकन करना । भौगोलिक स्थिति, सैनिक क्षमता, राष्ट्रवाद में से किसी एक को आधार मान कर राष्ट्रशक्ति के मूल्यांकन करने के प्रयास किये गये हैं । होशोफर एवं उसके शिष्यो, ने भू राजनीति को पराभौतिकी के रुप में परिवर्तित करके यह सुझाव दिया था कि जर्मनी इसको वैचारिक शस्त्र के रुप में अपनाकर अपनी शक्ति में वृद्धि कर सकता है । भौगोलिक स्थिति को एक निर्णायक तत्व मान कर राष्ट्र शक्ति के मूल्यांकन करने की भूल उपरोक्त धारणा में दृष्टिगत होती है ।

4.3 स[2] –उचित आधार

राष्ट्र शक्ति के आधार भूत तत्व किसी भी राष्ट्र में आदर्श अनुपात में विद्यमान नहीं लेते । यह भी संभव है कि कई आधारभूत तत्वों के होते हुये भी एक राष्ट्र लघु अथवा मध्यम

शक्ति का ही स्तर प्राप्त कर सके व कुछ राष्ट्र केवल कतिपय तत्वों के आधार पर ही विश्व शक्ति बन जावें । शक्ति–राजनीति के खेल में यह सब संभव है । इसलिये प्रत्येक ऐसे राष्ट्र के लिये, जो शक्ति राजनीति में लिप्त होने का इच्छुक हो । शक्ति का उचित मूल्यांकन करना अति आवश्यक है । प्रो. हार्टमान नें उस हेतु निम्न चार कर्तव्य–निर्देश प्रस्तुत किये हैं :

(1) राष्ट्रशक्ति के सभी आधारभूत तत्व परसर आश्रित व अंतनिर्भर होते है ।

(2) उत्तम शासन एवं सैनिक शक्ति द्वारा ही एक राष्ट्र की संभावित शक्ति को वास्तविक शक्ति में परिवर्तित किया जा सकता है ।

(3) राष्ट्रशक्ति के सभी तत्वों का सही सही मापन असंभव होता है । राष्ट्रीय चरित्र एवं राष्ट्रीय मनोबल जैसे भावात्मक तत्वों का मापन तो असंभव है ही किन्तु भौगौलिक, जनसांख्यिकी, प्राकृतिक साधन एवं सैनिक क्षमता का भी सही तथ्यों के अभाव में ठीक तरह से मापन नहीं किया जा सकता ।

(4) राष्ट्रशक्ति के सभी तत्व परिवर्तित होते रहते है । ' 'प्रतिदिन राष्ट्रों की संभावित शक्ति एवं वास्तविक शक्ति में परिवर्तन होता रहता है । यह सभी राष्ट्रों के लिये सत्य है यद्यपि परिवर्तन की मात्रा प्रत्येक राष्ट्र में भिन्न –भिन्न होती है'' (हार्टमान)

भ्रामक एवं बाधक धारणाओं से बचकर विशेषतया कर्ता को हार्टमान द्वारा बताये गये कर्तव्य–निर्देशों के अनुसार निष्पक्ष होकर राष्ट्र शक्ति का मूल्यांकन करना चाहिये । तब ही राष्ट्र शक्ति का उचित अनुमानित मूल्यांकन संभव हो सकता है ।

बोध प्रश्न 3

(1) राष्ट्र शक्ति के औचित्य को 50 शब्दों में स्पष्ट करें ।

(2) नागरिक की व्यक्तिगत शक्ति व राष्ट्रशक्ति के मध्य संबंध को 100 शब्दों न समझाइये ।

(3) राष्टूशक्ति की प्रयोग विधियों को 200 शब्दों में स्पष्ट करें ।

(4) निम्नलिखित सही कथनो पर (√)निशान लगाइये?

1. शक्ति राजनीति में राष्ट्रशक्ति अनावश्यक है ।
2. आत्म रक्षा व प्रभाव विस्तार राष्ट्रशक्ति के प्रमुख उद्देश्य है ।
3. दम्भ–युक्त–प्रभुता राष्ट्र के लिये घातक होती. है ।
4. सुरक्षा परिषद में किसी राष्ट्र के पक्ष में वीटो का प्रयोग दान होता है ।

5. सारांश

पोपशाही एवं सामन्तवाद के पुनर्जारण एवं धर्मसुधार द्वारा, उन्मूलन के पश्चात् राष्ट्र राज्य आधारित राज्य व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ । संप्रभुत्ता, राष्ट्रवाद व राष्ट्रशक्ति इस व्यवस्था के मुख्य स्तम्भ हैं । संप्रभुता वरदान एवं अभिशाप दोनों ही सावित हुई है । विश्व शांति एवं अन्तर्राष्ट्रीय वाद के हित में इन दोनों सिद्धान्तों के विषय में पुर्नविचार एवं परिमार्जन की आवश्यकता है । वैसे राष्ट्र राज्यों के अस्तित्व तक, राष्ट्र हित की आपूर्ति हेतु राष्ट्रशक्ति

की आवश्यकता रहेगी, किन्तु समसामयिक परिस्थितियों में विश्व के व्यापक हित को ध्यान में रखकर राष्ट्र शक्ति को मर्यादित सीमा में रखना अति आवश्यक है ।

6. शब्दावली

समाहार योग	मात्र
शक्ति सजग,	शक्ति के प्रति जागरुक
संवर्द्धन	वृद्धि हेतु.
प्रतिकर्म	बदले की कार्यवाही
प्रतिप्रहार	बदले की कार्यवाही
परिवेष्टन	घेराबन्दी

7. बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1.

(1) 8.2 देखें

(2) 2.1 देखें

(3) 2.2 देखिये

(4) (4) सही

बोध प्रश्न 2.

(1) 3 देखिये

(2) 3.1ध के आधार पर लिखें ।

(3) 3.2थ के आधार पर लिखें ।

(4) 3.2ध देखिये

(5) 5 I (x) II (√)III (x) IV (x) V (√)VI (x) VII (√) VIII (√)

बोध प्रश्न 3

(1) न देखें ।

(2) द देखें ।

(3) 3.3 व देखें ।

(4) 2 व 3 सही है ।

8. संदर्भ ग्रन्थ

1. स्प्राउट एच व स्प्राउट एम : **फाउन्डेशक्स आफ इंटरनेशनल पालिटिक्स,** नई दिल्ली
2. हार्टमान एफ. एच : **द रिलेशन्स आफ नेशन्स,** न्यूयार्क (1967)
3. हार्टमान एफ. एच : **रीडिंग्स इन इन्टरनेशनल रिलेशन्स,** न्यूयार्क (1952)
4. मॉरगेन्थो एच. जे. : **पालिटिक्स अंमग नेशन्स,** न्यूयार्क

5. पामर व परकिन्स : **इंटरनेशनल रिलेशन्स**
6. चक्रवर्ती आर. : **इंटरनेशनल रिलेबास,** द वर्ल्ड प्रेस प्राइवेट लिमिलेड (1970)
7. गुप्ता कैलाशचन्द्र एवं : **अंतर्राष्ट्रीय राजनीति (सिद्धान्त व व्यवहार),** जय प्रकाश अग्रवाल रामेश्वरदयाल एण्ड कम्पनी मेरठ (1970)

9. अभ्यास प्रश्न :–

1. आधुनिक राज्य व्यवस्था के लक्षणों एवं महत्व पर प्रकाश डालिये।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में सम्प्रभुता की बदलती हुई अवधारणा की व्याख्या कीजिये।
3. समसामयिक युग में राष्ट्र के उभरते विभिन्न रुपों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
4. राष्ट्र शक्ति की अवधारणा से आप क्या समझते हैं? इसके प्रमुख स्रोतों पर प्रकाश डालिये।

इकाई– 7

राष्ट्रशक्ति के आधारभूत तत्व एवं उनकी परिवर्तनशीलता

इकाई संरचना

0. उद्देश्य

1. प्रस्तावना

2. राष्ट्रशक्ति के आधारभूत तत्व

2.1 भौगोलिक तत्व (आकार) 2.1 त–स्थलाकृति 2.1 थ–अवस्थिति

2.1 द–जलवायु 2.1 ध–भू राजनीति

2.2 जन सांख्यिक तत्व

2.2 त–जनसंख्या 2.2 थ–जनसंख्या की संरचना

2.2 द–वृद्धिदर 2.2 ध–धनत्व, नागरिक दशा एवं व्यवसायिक संरचना

2.2 न–शैक्षणिक स्तर एवं उत्पादक क्षमता

2.3 आर्थिक तत्व

2.3 त–खाद्यान

2.3 थ–खनिज पदार्थ

2.3 द–औद्योगिक क्षमता

2.4 प्राविधिक एवं सैनिक तत्व

2.4 त–युद्ध प्राविधिक

2.4 थ–सशस्त्र सेना

2.4 द–आसूचना

2.4 ध–सैनिक नेतृत्व

2.5 सांस्कृतिक तत्व

2.5 त–राष्ट्रीय चरित्र

2.5 थ–राष्ट्रीय मनोबल

2.6 राजनीतिक तत्व

2.6 त–उत्तम शासन

2.6 थ–उत्तम राजनय

2.6 द–राजनीतिक विचारधारा

2.6 ध–राजनैतिक नेतृत्व

3. तत्वों की पारस्परिक अंतनिर्भरता

4. तत्वों की परिवर्तनशीलता

5. सारांश

6. शब्दावली

7. बोध प्रश्नों के उत्तर

8. अभ्यास प्रश्न

0. उद्देश्य

राष्ट्र शक्ति की वैचारिक अनिवार्यतायें एवं उनके समसामयिक महत्व से परिचित होने के उपरान्त, इसके निर्माणकारी तत्वों की जानकारी अपेक्षित है । इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप यह समझ सकेंगे कि –

1. राष्ट्र शक्ति के निर्माणकारी तत्व कौन कौन से हैं ?
2. ये तत्व पारस्परिक रूप में कैसे अंतनिर्भर होते हैं ?
3. ये तत्व किस प्रकार परिवर्तित होते रहते है ?
4. तत्वों की परिवर्तनशीलता का राष्ट्र शक्ति पर तदनुकूल क्या प्रभाव पड़ता है ?

1. प्रस्तावना

राष्ट्र के व्यक्तित्व का विकास, उसकी शक्ति पर निर्भर होता है । राष्ट्र शक्ति स्थिर एवं अस्थिर तत्वों द्वारा निर्मित होती है । इन तत्वों की पारस्परिक अंतर्निभरता एवं परिर्वतनशीलता, राष्ट्र शक्ति को प्रभावित करती है । राष्ट्र शक्ति का मूल्यांकन करते समय इन तथ्यों को दृष्टिगत रखना आवश्यक है ।

2. राष्ट्र शक्ति के आधारभूत तत्व

विदेशनीति निर्धारण करते समय नीति निर्माता को, अपने व अन्य राष्ट्रों के साधनों का तुलनात्मक परीक्षण करना होता है । परीक्षण के उचित मापदण्ड के अभाव में, इनके प्रभाव का केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है । ये साधन राष्ट्रशक्ति के आधारभूत तत्व कहलाते हैं । राष्ट्रशक्ति के इन तत्वों एवं इनकों स्थिर एवं अस्थिर तत्वों के रूप में वर्गीकृत करने के संबंध में लगभग सभी विचारकों का समान दृष्टिकोण है । भूगोल, जनसंख्या प्राकृतिक साधन, सैन्य शक्ति व प्राविधिकी को स्थिर तत्व माना है एवं राष्ट्रीय मनोबल, राष्ट्रीय चरित्र व नेतृत्व को अस्थिर तत्व कहा जाता है । अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इनका निम्न वर्गीकरण अधिक उपयुक्त है । भौगोलिक, जनसांख्यिक, आर्थिक, सैनिक एवं प्राविधिकी, सांस्कृतिक और राजनीतिक ।

2.1. भौगोलिक तत्व – (आकार)

विचारकों ने भूगोल को राष्ट्र शक्ति का एक स्थायी आधार माना है । भौगोलिक दृष्टि से एक राज्य के क्षेत्र, स्थलाकृति, अवस्थिति एवं जलवायु का विवेचन आवश्यक है । विश्व में अदन व गेम्बिया जैसे छोटे राज्यों से लेकर चीन, सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्राजील व आस्ट्रेलिया जैसे बड़े राज्य विद्यमान है । आकार को केवल मात्र राष्ट्र शक्ति नही माना जाता किन्तु राष्ट्र का यह लक्षण, उसे एक शक्ति के रूप में विकसित करने का, एक ठोस

आधार अवश्य है । प्रचुर प्राकृतिक साधन एवं जलवायु की विभिन्नता प्रदत्त करने के अतिरिक्त विशाल आकार, आक्रमण के समय सुरक्षा एवं महत्वपूर्ण उद्योगों के सुरक्षित स्थानों में निर्माण में भी सहायक होता है । आणुविक युग में उद्योगों की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक है कि उनका निर्माण पृथक पृथक सुरक्षित स्थानों पर हो । विशाल आकार वाले राज्यों में उद्योगों के निर्माण के संबंध में इस नीति को अपनाया जा सकता है । विशाल आकार के कारण रूस नेपोलियन एवं द्वितीय महायुद्ध के समय जर्मनी के आक्रमण का दृढ़ता से मुकाबला कर सका । 1937 एवं 1945 में चीन विस्तृत क्षेत्र के फलस्वरूप जापानी आक्रमणों से अपनी रक्षा करने में सफल रहा । दूसरी और लग्जेम बर्ग, डेनमार्क होलैंड व बेल्जियम जैसे छोटे राज्य, चंद दिनों में ही जर्मनी के समक्ष आत्म समर्पण करने के लिए (द्वितीय महायुद्ध में) बाध्य हो गये । विशाल आकार खाद्यानों व खनिज पदार्थो में राष्ट्र को आत्म निर्भर बनाकर, उसकी शक्ति में अभिवृद्धि करता है, वही संचार व परिवहन की सुव्यवस्थित एवं राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक होने के कारण राष्ट्र शक्ति के पराभव का आधार भी बनता है । यदि बड़े आकार का अधिकांश भाग रेगिस्तान (आस्ट्रेलिया) या अन्य कारणों से अनुपयोगी हो, तो वह राष्ट्रशक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

2.1. त–स्थलाकृति

राष्ट्र शक्ति के निर्माण में स्थलाकृति की भी एक महती भूमिका होती है । राष्ट्रीय एकीकरण, आंतरिक परिवहन एवं सीमा की सुरक्षा हेतु क्षेत्र की निरन्तरता व प्राकृतिक सीमा अधिक सहायक होती है । क्षेत्र का बिखराव, राष्ट्रीय सुरक्षा में बाधक होता है । युनान, फिलिपाइन्स व इंडोनेशिया में क्षेत्र की निरन्तरता का अभाव है । पाकिस्तान से बंगला देश (भूतपूर्व पाकिस्तान) का स्वतंत्र होना, क्षेत्रीय बिखराव की निर्बलता को पुष्ट करता है । पर्वत श्रृंखलाओं से निर्मित प्राकृतिक सीमा राष्ट्रीय सुरक्षा में तो सहायक होती है किंतु अर्तराष्ट्रीय व्यापार में अवरोध बनती है । स्थलाकृति का अधिक कटा फटा होना, प्राकृतिक एवं कृत्रिम बंदरगाहों के निर्माण की दृष्टि से उपयोगी होता है । ऐसी स्थलाकृति यूरोपीय राज्यों के लिये वरदान साबित हुई है ।

2.1. थ–अवस्थिति

अवस्थिति की दृष्टि से राष्ट्र शक्ति का विश्लेषण निम्न तीन आधारों पर किया जा सकता है । (1) खगौलीय स्थिति (2) समुद्र से सामीप्यता (3) पडौसीय' स्थिति । राज्यों की खगौलीय स्थिति का, वहां की जलवायु अर्थव्यवस्था एवं नागरिक स्वास्थय पर प्रभाव पड़ता है । समाशीतोषण कटिबंध में स्थित राज्य उष्ण एवं शीत कटिबन्धों में स्थित राज्यों की तुलना में अधिक शक्तिशाली होते है । मिश्र सुमेरिया, बेबींलोनिया जैसी प्राचीन सम्यतायें इस क्षेत्र में ही विकसित हुई थी । वर्तमान समय में शक्ति राजनीति में लिप्त राष्ट्र भी सामान्यतया इस कटिबन्ध में स्थित है । समुद्र, शक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है । स्थलीय राज्य, जैसे नेपाल, भूटान, चेकोस्लोवाकिया स्विटजरलैंड, शक्ति राजनीति में एक गौण शक्ति ही बने रहते हैं । स्विटजरलैंड को तटस्थता की नीति, इसलिये अपनाना पड़ा है । स्थलीय राज्य परागमन संघी

की आवश्यकता के कारण, अन्य राष्ट्र की अवांछित शर्ते मानने को बाध्य हो सकते हैं । यूरोपीय राजनीति से आवश्यकतानुसार संलग्नता एवं पृथकता की नीति, ब्रिटेन अपनी विशेष स्थिति के कारण ही अपना सका । ब्रिटेन की परम्परागत शक्ति संतुलन की नीति, इस स्थिति की ही देन है । पडौसिय स्थिति भी राष्ट्र शक्ति को प्रभावित करती है । पोलेंड की खुली सीमा के कारण उसका चार बार विभाजन चीन व जापान के मध्य संघर्ष एवं सहयोग के परम्परागत संबंध, नेपाल व भूटान द्वारा अपने एवं भारत व चीन के हितों में समन्वय बनाये रखना आदि उदाहरण पड़ौसीय अवस्थिति के प्रभाव के परिचायक हैं । युद्धकला, राजनय एवं विदेश नीति भी अवस्थिति से प्रभावित होती है । क्यूबा में रुस व अमरीका, दोनों महाशक्तियों द्वारा अपना प्रभाव बढ़ाने के प्रयास एवं 'द्वितीय महायुद्ध के पूर्वतक अमेरीका की यूरोप के संबंध में पृथकता की नीति पर अवस्थिति का प्रभाव दृष्टिगत होता है ।

2.1 द–जलवायु

जलवायु राज्य की अवस्थिति पर निर्भर होती है । मानवीय क्षमा एवं राष्ट्रीय उत्पादन जलवायु द्वारा प्रभावित होते हैं । अत्यधिक शीत जलवायु वाले क्षेत्र जैसे ग्रीनलैड, आइसलैंड, कनाडा व रुस के उतरी क्षेत्र, स्थायी मानवीय निवास के लिये अनुपयुक्त हैं । इन क्षेत्रों में विद्यमान खनिज पदार्थो का दोहन भी इसलिये संभव नही हो सका है । अत्यधिक उष्ण व शुष्क प्रदेश भी राष्ट्र के लिये भार होते है । मानवीय गतिविधियों की दृष्टि से समशीतोष्ण जलवायु सर्वोत्तम होती है । ऐसी ही जलवायु वाले राज्य अतीत से मानवीय गतिविधि के केन्द्र बिन्दु रहे हैं । निश्चित जलवायु पर तापक्रम एवं तापक्रम पर धरती की उर्वरता निर्भर होती है । जनसंख्या का घनत्व एवं मानवीय व्यवहार भी जलवायु निश्चित करती है ।

हिप्पोक्रेटस, अरस्तु मोन्टेस्क्यू बर्कले आदि विचारकों ने जलवायु को मानवीय व्यवहार का मापदण्ड माना है । स्प्राउट व स्प्राउट का जलवायु संबंधी निभ निष्कर्ष, राष्ट्र शक्ति पर इसके प्रभाव व महत्व को इंगित करता है । "अस्मरणीय समय सें उच्चस्तरीय मानवीय सफलता के मार्ग में जलवायु कभी कम कभी अधिक व कभी बहुत अधिक बाधा रही है ।"

2.1 ध–भू–राजनीति

कतिपय भू–राजनीतिज्ञों ने राष्ट्र शक्ति के निमार्ण में भूगोल के महत्व को अविश्वस्नीय रुप में प्रस्तुत किया है । ऐसे विचारकों में मेकिंडर, कार्ल होशाफर, स्पाइकमैन मुख्य हैं । मेकिंडर ने वोल्गा नदी, आर्कटिक सागर, यांगटीसी नदी एवं हिमालय पर्वत के मध्य स्थित क्षेत्र को विश्व राजनीति का केन्द्रीय स्थल मानकर यह मत प्रतिपादित किया था कि पूर्वी यूरोप का शासक केन्द्रीय स्थल पर केन्द्रीय स्थल का शासक विश्वद्वीप पर (एशिया यूरोप अफ्रीक) व विश्वद्वीप का शासक संपूर्ण विश्व पर शासन करेगा । उसका उपरोक्त 'निष्कर्ष इस मान्यता पर आधारित था कि विश्व राजनीति में स्थल शक्ति की जल शक्ति की तुलना में महती भूमिका होती है । मेकिंडर के उपरोक्त 'हार्टलैंड सिद्धान्त ' को अनुपयुक्त बताकर स्पाइकमैन ने 'रिमलैंड सिद्धान्त 'प्रतिपादित किया था । आणुविक युग में ऐसे सिद्धान्तों का कोई

महत्व नहीं है, फिर भी इनसे यह तो स्पष्ट होता है कि स्थल व समुद्र राष्ट्र शक्ति के निर्माण में योगदान देते हैं व निकट भविष्य में वायुमंडल व अंतरिक्ष भी इसी श्रेणी में आ जावेंगे ।

2.2 जन सांख्यिक तत्व

वैज्ञानिक युग में मानव श्रम की घटती हुई उपयोगिता के पश्चात् भी जनशक्ति, राष्टूशक्ति का एक महत्वपूर्ण आधार है जनशक्ति के महत्व का मूल्यांकन जनसंख्या, आयुवर्ग के आधार पर जनसंख्या के स्वरुप, नागरिकों के शैक्षणिक स्तर एवं उनकी उत्पादन क्षमता के उचित विश्लेषण द्वारा किया जा सकता है ।

2.2 त–जनसंख्या

जनसंख्या के वितरण की दृष्टि से राष्ट्रों में समानता दृष्टिगत नहीं होती । जनसंख्या की दृष्टि से चीन, भारत, रुस, संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे राज्य भाग्यशाली है । वैसे विश्व में कम जनसंख्या वाले राज्यों की संख्या अधिक है । अधिक जनसंख्या वाले राज्यों में उत्पादन. उत्पादित वस्तुओं के उपभोग, मशीन संचालन आदि कार्य सुगमता सें संपन्न हो जाते है । स्थानीय बाजार की उपलब्धि के फलस्वरूप राष्ट्र में नव स्थापित उद्योगों को अधिक जनसंख्या एक ठोस आधार प्रदान करती है । युद्ध काल में पर्याप्त संख्या में सैनिकों की भर्ती अधिक जनसंख्या वाले राज्य में सुगमता से संभव है । पर्याप्त जनसंख्या विजेता राष्ट्र को विजय से अर्जित सभी लाभों का उपभोग करने के लिये भी उपयोगी होती है । जर्मनी की कम जनसंख्या के कारण हिटलर पराजित राज्यों के प्रशासन हेतु योग्य व्यक्तियों का चयन नहीं कर पाया । 1870 में फ्रांस प्रजा से पराजित हुआ । इसके पूर्व प्रजा फ्रांस से पराजित होता रहा था । तर्क यह दिया जाना है कि विजेता राष्ट्र अपनी जनसंख्या की अधिकता के, कारण विजयी रहा था । क्षेत्र के अनुपात में जनसंख्या की कमी, कनाडा व आस्ट्रेलिया के एक बडी शक्ति बनने के मार्ग में, एक प्रमुख बाधा है । पांच करोड़ तीस लाख जनसंख्या वाला ब्रिटेन एवं चार करोड़ सत्तर लाख जनसंख्या वाला फ्रांस अपने उपनिवेशों की जनसंख्या के बल पर शक्तिशाली राष्ट्र बनने में सफल हुये थे । राष्ट्र शक्ति के लिये पर्याप्त जनसंख्या की आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए मुसोलिनी ने इटली में जनसंख्या वृद्धि के लिए आह्वान किया था । उसका विचार था कि नौ करोड़ जर्मन एवं बीस करोड़ स्लाव की तुलना में चार करोड़ इटली वासी कुछ भी नहीं है । विकासशील राष्ट्र जनसंख्या की वृद्धि को नियंत्रित करने का प्रयास करते है । प्रों. डेविस का मत है कि आवश्यकता से अधिक जनसंख्या एक राष्ट्र के सैनिक बल को आक्रामक की अपेक्षा रक्षात्मक नीति अपनाने, अन्य राष्ट्रों की सहायता प्रदान करने के स्थान पर सहायता ग्रहण करने को बाध्य कर सकती है । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसे राज्यों का महत्व गौण हो जाता है ।

2.2 थ–जनसंख्या की संरचना

आयु वर्ग की दृष्टि से जनसंख्या की संरचना का भी राष्ट्र शक्ति पर प्रभाव पड़ता है । वृद्धों या अल्प वयस्कों की जनसंख्या में अधिकता राष्ट्र, राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था व शक्ति के

लिये हितकर नहीं होती । पंद्रह से पैंतीस वर्ष की आयु के युवा वर्ग का जनसंख्या में बाहुल्य राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था एवं सैनिक शक्ति में वृद्धि में सहायक होता है । ऐसे ही बाहुल्य के कारण 1940 में जर्मनी फ्रांस की तुलना में एक करोड़ अधिक व्यक्तियों को सैनिक सेवा के लिये जुटाने में सफल रहा था । युवा वर्ग की कमी, फ्रांस के पतन का एक मुख्य कारण बना । दूसरी ओर युवा शक्ति का समुचित उपयोग करने में किसी राष्ट्र की विफलता, आंतरिक अस्थिरता उत्पन्न कर सकती है । युवा वर्ग की अकर्मण्यता, जनसंख्या में वृद्धि का आधार बन कर राष्ट्र शक्ति के विकास में बाधक बन जाती है ।

2.2 द–वृद्धि दर

जनसंख्या में वृद्धि या कमी की दर भी, राष्ट्रीय शक्ति के संदर्भ में एक विचारणीय विषय है । विकासशील राज्यों में विकसित राज्यों की तुलना में जनसंख्या वृद्धि की दर अधिक है । एशिया, अफ्रीका, लेटिन अमेरिका व यूरोप में वृद्धि की दर क्रमश : 200, 2. 3, 2. 8, व 0. 9 है । जनसंख्या वृद्धि की दर के आधार पर 2012 में भारत की जनसंख्या, चीन की जनसंख्या से अधिक हो जावेगी । जनसांख्यिकी आधार पर भारत, उस समय विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य होगा । जनसंख्या में वृद्धि की प्रवृत्ति राष्ट्र शक्ति की बढ़ती हुई क्षमता को इंगित करती है एवं इसमें कमी की प्रवृत्ति इसके ह्रास का प्रथम चिन्ह मानी जाती है ।

2.2 ध–घनत्व, नगरीकरण एवं व्यावसायिक संरचना

एक राष्ट्र में औद्यौगीकरण, जनसंख्या के घनत्व, नगरीकरण एवं व्यावसायिक संरचना पर निर्भर होता है। एक वर्ग किलोमीटर में ब्रिटेन में जनसंख्या का घनत्व 224 है। यह वहां के औद्योगीकरण में सहायक हुआ है। चीन, भारत, रुस, जापान, अमेरिका व ब्रिटेन में, नगर निवासियों का प्रतिशत क्रमश: 15, 20,50,70 व 85 है। नगरीकरण की इस प्रवृत्ति ने तदनुकूल, इन राज्यों के औद्योगीकरण को प्रभावित किया है। कृषि व्यवसाय की तुलना में गैर कृषि व्यवसायों के प्रति अधिक आकर्षण औद्योगीकरण के लिये आवश्यक होता है। अमेरिका व इंग्लैंड में कार्यरत जनसंख्या का क्रमश 88 एवं 96 प्रतिशत भाग गैर की। व्यवसायों से संबंधित है। इन राज्यों के औद्योगीकरण का यह तथ्य एक महत्वपूर्ण आधार माना जाता है।

2.2 न–शैक्षणिक स्तर एवं उत्पादक क्षमता

जनसंख्या का शैक्षणिक स्तर भी राष्ट्र शक्ति को प्रभावित करता है। साक्षरता प्रतिशत, तकनीकी एवं गैर तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने वालों का प्रतिशत, पुस्तकों एवं पत्र–पत्रिकाओं की संख्या आदि से एक राष्ट्र के शैक्षणिक स्तर का पता लगाया जा सकता है। तकनीकी ज्ञान एवं प्रखर बौद्धिक क्षमता से युक्त जन–शक्ति राष्ट्र शक्ति के लिये वरदान होती है। रुस व अमेरिका में लगभग शत प्रतिशत साक्षरता, इन राज्यों के शक्ति वर्द्धन में सहायक बनी है। जनसंख्या की उत्पादक क्षमता का भी राष्ट्र शक्ति के निमार्ण में योगदान होता है। यह व्यक्तियों को संतुलित भोजन की उपलब्धि एवं उचित सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था पर निर्भर होती है। एक अमरीकी

औसतन भोजन के रुप में 3140 केलोरीज व 92 ग्राम प्रोटीन केलोरीज व 49 ग्राम प्रोटीन है। अत: भारतीयों की तुलना में अमरीकियों की उत्पादन क्षमता अधिक हौना स्वाभाविक है। एक राजस्थानी की तुलना में, एक पंजाबी की उत्पादन क्षमता की अधिकता का भी यही रहस्य है।

यद्यपि जनशक्ति, राष्ट्र शक्ति के निर्माण एवं अभिवृद्धि को समग्र रुप में प्रभावित करती है, किन्तु इसके महत्व को राष्ट्र की औद्योगिक व सैनिक शक्ति के विकास की पूर्व पीठिका के रुप में मानना ही अधिक श्रेयस्कर है।

बोध प्रश्न

1. निम्न कथनों में से सही व गलत पर (√) व (x) निशान लगाइये।
   I. बड़ा आकार राष्ट्र के लिये अभिशाप भी है व वरदान भी।
   II. स्थलाकृति का बिखराव राष्ट्रीय एकीकरण में सहायक होता है।
   III. जनसंख्या में. उतरोत्तर कमी राष्ट्र शक्ति के ह्रास का प्रतीक है।
   IV. भोजन के रुप में केलोरीज का सेवन व्यक्ति की उत्पादक क्षमता कामापदण्ड है।
2. भू–राजनीति की व्याख्या सौ शब्दों में कीजिये।
3. राष्ट्र के औद्योगीकरण में सहायक जनसंख्या की विशेषताओं को सौ शब्दों में स्पष्ट कीजिये।

2.3 आर्थिक तत्व

एक राष्ट्र की आर्थिक शक्ति उपलब्ध प्राकृतिक साधन, कच्चा माल एवं औद्योगिक क्षमता पर आधारित होती है। प्रकृति से प्राप्त मानवोपयोगी उपहार जैसे वन जलप्रपात, भूमि, उर्वरता, धूप आदि प्राकृतिक साधन की श्रेणी में आते हैं । उपयोग के द्वारा इन साधनों को संपदा में परिवर्तित किया जाता है । प्राकृतिक साधन की प्रचुरता राष्ट्र पर वाह्य आक्रमण को प्रोत्साहित करती है । कच्चा माल, कृषि उत्पाद, पशु–उत्पाद एवं खनिज (प्राकृतिक साधन भी) के रुप में उपलब्ध होता है । समरोपयोगी महत्व के कारण कोयला, लोहा, पेट्रोलियम, यूरनियम जैसें खनिज, राष्ट्र शक्ति के लिये अत्याधिक उपयोगी होते है । औद्योगिक क्षमता के आभाव में इनका उपयोग संभव नही होता । आर्थिक तत्व के अंतर्गत खाद्यान खनिज पदार्थ एवं औद्योगिक क्षमता का विवेचन अपेक्षित है ।

2.3 त– खाद्यान्न

राष्ट्र शक्ति खाद्यान्न की स्थिति पर काफी निर्भर होती है । इसमे आत्मनिर्भरता एवं पर– निर्भरता क्रमश : राष्ट्र की सबलता व निर्बलत की द्योतक होती है । खाद्यान्न मैं पर– निर्भरता के कारण, ब्रिटिश नौ–सैना सामुदायिक मार्गो की सुरक्षा हेतु सदैव सजग रहती थी, ताकि आयातित खाद्यान्न उपलब्ध होते रहें । विश्व युद्धों के समय खाद्यानों की आपूर्ति की बाधा ने इस राष्ट्र के जीवन पर गंभीर संकट उपस्थित कर दिया था । खाद्यान की कमी के कारण जर्मनी को युद्ध काल में, शीघ्र विजय द्वारा लम्बी लड़ाई से बचने, अन्न–उत्पादक पूर्वी यूरोप के राज्यों पर अधिकार करने एवं खाद्यान प्राप्त होने वाले सामुद्रिक मार्गो के रक्षार्थ

ब्रिटिश नौ सेना को क्षति पहुंचाने जैसी नीतियो का अवलम्बन करना पड़ता था । रुस व अमेरिका का खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता होना इन राष्ट्रों की शक्ति का सूचक है । "सेनायें उदरों पर यात्रा करती है" कहावत एक राष्ट्र के, लिये खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता की आवश्यकता को पुष्ट करती है । कभी–कभी कुछ परिवर्तन खाद्यान की आत्मनिर्भरता पर प्रतिकूल प्रभाव डालते है । स्पेन की शक्ति का पराभव 17 वीं 18 वीं शताब्दी में प्रशासनिक अदूरदर्शिता के कारण जंगलों की कटाई से, खेतीहर क्षेत्र के रेगीस्तान में परिवर्तित होने के कारण हुआ । कृषि तकनीक के द्वारा खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता ने भारत को एक शक्ति के रुप में विकसित होने का अवसर प्रदान किया है ।

2.3. थ–खनिज–पदार्थ

राष्ट्र शक्ति के लिये खनिज पदार्थो के महत्व में वृद्धि युद्ध–प्राविधिकी की देन है । प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक कोयला व खनिज लोहे का महत्व अधिक था । इनकी प्रचुरता ने ब्रिटेन को विश्व शक्ति बना दिया था । होरमान गोयरिंग का यह कथन–मक्खन खाने से हमारी सेनायें मोटी होती है जबकि इस्पात हमको ताकतवर बनाता है खनिज लौह के महत्व का परिचायक है । प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उद्योग एवं युद्ध में तेल की उपयोगिता बड़ी है । इसमें आत्मनिर्भरता एवं इसके उपयोग की क्षमता के कारण रुस व अमेरिका प्रथम पंक्ति वाले राष्ट्र बन गयें हैं । तेल की बढ़ती उपयोगिता के आधार पर क्लीमेंशो ने तेल की एक बूंद को सैनिकों के रक्त की एक बूंद के समान बतलाया था । इसीलिये फ्रांस, ब्रिटेन एवं अमेरिका ने निकट पूर्व के राज्यों के तेल क्षेत्रों में तेल कूटनीति द्वारा अपनें प्रभाव क्षेत्रो की स्थापना की थी । अणु शक्ति की खोज के पश्चात् यूरेनियम खनिज के बाहुल्य वाले राज्यों जैसे कनाडा रुस अमेरिका के प्रभाव में वृद्धि हुई है । सौर ऊर्जा के शक्ति के एक स्रोत के रुप में विकसित होने पर समशीतोष्ण एवं उष्ण – कटिबन्ध के राष्ट्र विश्व राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने की स्थिति में आ जावेगें । भारत भी ऐसे भाग्यशाली राष्ट्रों में से एक होगा । 1955 में न्यूयार्क टाइम्स के, विज्ञान–संपादक ने यह मत व्यक्त किया था कि सूर्य के लेशमात्र विकिरण से प्राप्त ऊर्जा विश्व में उपलब्ध संपूर्ण यूरेनियम से उत्पन्न ऊर्जा से कहीं अधिक होगी । अब तक विभिन्न स्रोतों से प्राप्त ऊर्जा को उसने उपरोक्त वर्णित भू क्षेत्र में, एक दिन में सूर्य से उपलब्ध होने, वाली ऊर्जा से कम आंका था । सभी महत्वपूर्ण खनिजों में विश्व का कोई भी राष्ट्र आत्म निर्भर नहीं है । इसीलिये सामर्थ्यवान राष्ट्र, युद्धोपयोगी भंडार बना लेते हैं । रुस व अमेरिका कोयला, लोहा, तेल व यूरेनियम की उपलब्धि की दृष्टि से भाग्यशाली राष्ट्र है. एवं इनका समुचित लाभ इन राष्ट्रों ने प्राप्त किया है । खनिजों की खोज एवं उनके दोहन में आई गति भारत की राष्ट्र शक्ति में अभिवृद्धि का एक शुभ संकेत है ।

2.3 द–औद्योगिक क्षमता

औद्योगिक क्षमता ही, खनिजों को राष्ट्र शक्ति के लिये उपयोगी बनाने का माध्यम होती है । इसके अभाव में यूरेनियम के भंडार वाला कांगों, अपने प्रभाव की अभिवृद्धि में असमर्थ रहा है । इसी के अभाव में साधन उपलब्ध होते हुये भी रुस 1930 तक एक बड़ी शक्ति नहीं

बन सका था । औद्योगिक क्षमता में अग्रणी होने के कारण ब्रिटेन ही कभी, एक मात्र विश्व शक्ति बन सका था । किन्तु औद्योगिक प्रतिद्वन्द्विता के फलस्वरुप अब यह द्वितीय श्रेणी का राष्ट्र बन गया है । योजना बद्ध विकास में भारत द्वारा औद्योगीकरण को प्राथमिकता देने का उद्देश्य, औद्योगिक क्षमता को बढ़ाना है । इस क्षमता के अभाव के कारण पश्चिमी एशिया के राष्ट्रों को क्यूबा वेनेजुएला को क्रमश : संपूर्ण पेट्रोलियम, तांबा, खनिज लौह व टिन निर्यात करना पड़ता है । विश्व में औद्योगिक क्षमता के केन्द्र स्थल उत्तरी अमेरिका, पश्चिमी यूरोप, रुस व जापान है । एशिया व अफ्रीका के अधिकांश राष्ट्र इस क्षमता से वंचित है । इस क्षमता से युक्त राष्ट्र खनिज संपदा का अभाव होते हुये भी अपने प्रभाव वृद्धि कर लेते हैं जर्मनी इसका एक अच्छा उदाहरण है । औद्योगिक क्षमता संभावित शक्ति को वास्तविक शक्ति में परिणत करने में काफी सहायक होती

2.4 प्राविधिक एवं सैनिक तत्त्व

2.4 त–युद्ध प्राविधिकी

लक्ष्य प्राप्त करने के लिये राज्य अतीत से युद्ध का एक साधन के रुप में उपयोग करते आये हैं । युद्ध में सफलता युद्ध तकनीकी पर निर्भर होती है । संघर्ष के समय सर्वप्रथम नई तकनीक को अपनाने वाले पक्ष को सदैव लाभ होता है । ब्रिटिश नौ सेना के विरुद्ध सर्वप्रथम जर्मनी द्वारा पनडुब्बियों का प्रयोग इस राष्ट्र के लिये लाभप्रद रहा था । जल व थल सेना के मध्य सामाजिक सहयोग की तकनीक द्वारा जापान व जर्मनी ने मित्र राष्ट्रों को युद्ध में एक गंभीर चुनौती दी थी । तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मंत्री चर्चिलत ने संसद के गुप्त अधिवेशन में यह स्वीकार किया था कि ब्रिटेन की जल, थल व नभ क्षेत्र में पराजय, नभ शक्ति की सैनिक दृष्टि से उपयोगिता से अनभिसता, का परिणाम थी । प्राचीन समय में रणभूमि में अनेक प्रकार के व्यूहों की रचना युद्ध तकनीक का ही एक रुप थी । अमेरिका द्वारा प्रयुक्त आणुविक प्राविधिकी के कारण द्वितीय महायुद्ध में जापान को तत्काल आत्मसमर्पण का निर्णय लेना पड़ा । शस्त्रों की सहायक शक्ति में वृद्धि, नवनिर्मित शस्त्रों की उपयोगिता का अल्पविधि में ही घट जाना एवं सीमित युद्ध की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के फलस्वरुप युद्ध प्राविधिकी का महत्व बढ़ता जा रहा है ।

2.4 थ–सशस्त्र–सेना

प्रभावशाली सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के अभाव के कारण अपनी स्वतंत्रता एवं अखंडता के रक्षार्थ प्रत्येक राष्ट्र सशस्त्र सेनाओं का गठन करता हैं । सैनिकों की पर्याप्त संख्या सैनिक शक्ति का प्रमुख आधार होती है । अत. राष्ट्र नियमित सैनिकों के अतिरिक्त, सुरक्षित सैनिकों की प्रादेशिक सेना का भी गठन करते हैं । संकटकाल में तत्काल सुरक्षित सैनिकों की भर्ती ,राष्ट्रों को मनोवैज्ञानिक सुरक्षा प्रदान करती है । संख्या के अतिरिक्त सैनिक शक्ति को अधिक प्रभावशाली बनानें के लिये, सैनिकों का प्रशिक्षण एवं उन्हें सैन्य विज्ञान की जानकारी कराना भी आवश्यक हैं । इससे सैनिकों में आत्म विश्वास एवं अनुशासन की भावना विकसित होती है । सशस्त्र सेना की उपयोगिता नवीनतम शस्त्रों की आपूर्ति सैनिक गठबंधन एवं राष्ट्र में व अन्यत्र

पर्याप्त संख्या में सैनिक अड्डों के निर्माण से ही बढ़ती है । महान शक्तियों को महानता ऐसी ही सशस्त्र सेना ने प्रदत्त की है ।

2.4 द–आसूचना

शत्रु–राष्ट्र के संबंध में उपलब्ध जानकारी सैनिक शक्ति के लाभकारी उपयोग हेतु आवश्यक है । आसूचना ऐसी ही जानकारी प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन है । इसीलिये अधिकांश राष्ट्र आसूचना संगठन की स्थापना करते हैं । अमरीकी गुप्तचर विभाग आसूचना का उद्देश्य दूसरे राष्ट्रों के संबंध में ऐसी जानकारी प्राप्त करना है जो संबंधित राष्ट्र के विजय में राजनीतिज्ञों एवं सैनिक अधिकारियों को उचित निर्णय लेने एवं उनकें क्रियान्वयन में सहायता दे सके । अरब इज़रायली संघर्ष में नव स्थापित इज़रायल राज्य की आश्चर्य जनक विजय आसूचना का ही परिणाम थी ।

2.4 ध–सैनिक नेतृत्व

सैनिक शक्ति का और महत्वपूर्ण आधार सैनिक नेतृत्व है । विषम प परिस्थितियों में सैनिकों के मनोबल को प्रोत्साहित करके असंभव को भी संभव बना लेना, प्रभावशाली सैनिक नेतृत्व पर निर्भर होता है । पश्चिम में जूलियस सीजर, नेपोलियन, नेल्सन, हिटलर, रोमेल मुसौलिनी व मेकार्थर एवं भारत में भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य बाबर, शिवाजी, सुभाष चन्द्र आदि सेनानायक नेतृत्व की ऐसी ही क्षमता के धनी थे । ' तुम मुझें खून दो, में तुम्हे आजादी दूंगा " का नारा देकर सुभाष चन्द्र बोस ने आजाद–हिन्द–फौज को एक शक्तिशाली सेना में परिवर्तित कर दिया था ।

बोध प्रश्न 2

1. खाद्यन्न के क्षेत्र में आत्म निर्भरता एवं पर निर्भरता का राष्ट्र शक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है? 100 शब्दों में स्पष्ट कीजिये?
2. युद्ध प्राविधिकी को सउदाहरण 100 शब्दों में समझाये ।
3. निम्न कथनों में से सही कथन चुनिये ।
   I. प्राकृतिक साधनों का उपयोग ही इनको संपदा में परिवर्तित करता है ।
   II. सेनायें उदरों पर यात्रा नहीं करती हैं ।
   III. औद्योगिक क्षमता के अभाव में भी रुस 1930 के पूर्व एक बड़ी शक्ति था ।
   IV. आधारभूत प्राविधिकि युद्ध में विजय का मार्ग प्रशस्त करती है ।
   V. विषम परिस्थितियों में सैनिकों के मनोबल को हतोत्साहित करना सैनिक नेतृत्व की पहचान है ।

2.5 सांस्कृतिक तत्व

राष्ट्रीय चरित्र एवं मनोबल राष्ट्र शक्ति के भावात्मक तत्व है । राष्ट्रीय इतिहास संस्कृति एवं समाज व्यवस्था इनके प्रणेता है । भारत की शान्ति उन्मुख नीति एवं जापान व चीन की विस्तारवादी प्रवृत्ति इतिहास प्रदत्त है । अमरीका में व्यक्ति वादी एवं आशावादी

दृष्टिकोण, कम जनसंख्या, प्रचुर भूमि एवं द्रुत प्रगति के परिणाम है । एकीकृत व समरुप समाज, विघटित व विषम समाज की अपेक्षा राष्ट्र प्रेम का अधिक स्रोत होता है । अत : प्रो. हार्टमान ने इस तत्व को ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक–समाजशास्त्रीय तत्व के नाम से सम्बोधित किया है । चरित्र व मनोबल राष्ट्रीय संस्कृति के प्रतिबिम्ब होते है । अत : इसे सांस्कृतिक तत्व कहना अधिक उपयुक्त है ।

2.5 त–राष्ट्रीय चरित्र

प्रत्येक राष्ट्र का एक विशेष चरित्र होता है । राष्ट्रीय चरित्र ही राष्ट्र के नागरिकों का अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रति दृष्टिकोण निर्धारित करता है । ऐसे ही दृष्टिकोण राष्ट्र शक्ति के निर्माण के आधार होते हैं । हेरोल्ड निकोत्सन का निम्न कथन देखिये । ' 'राष्ट्रीय नीति राष्ट्रीय चरित्र द्वारा पोषित व शासित होती है । और मैं तो यह कहूंगा कि राष्ट्रीय चरित्र को समझे बिना नीति को नही समझा जा सकता । " कुछ राष्ट्रों के राष्ट्रीय चरित्र के प्रमुख लक्षण इस प्रकार है : दृड़ संकल्प रूसी का पांडित्य–प्रदर्शन व अनौपचारिकता अमरीकी चरित्र के, समृद्धि प्रियता व उत्तेजना फ्रांसीसी चरित्र के सामान्य सूझ–बूझ व समझौतावादी प्रवृति ब्रिटिश चरित्र के एवं उदासीनता सदृश अलगाव वाद भारतीय चरित्र के लक्षण माने गये हैं । शक्ति संतुलन नीति एवं द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय राजनीति गौण योगदान की सहर्ष स्वीकृति ब्रिटिश राष्ट्रीय चरित्र के अनुकूल कदम थे । फ्रांस के उन्माद युक्त राष्ट्रवाद एवं 1945 के पश्चात् विश्व के परिवर्तित शक्ति संतुलन की अस्वीकृति में, वहां का राष्ट्रीय चरित्र प्रतिबिम्बित होता है । राष्ट्रीय चरित्र का गलत आंकलन, विदेश नीति के सफल क्रियान्यवन में बाधक होता है । रुसी व ब्रिटिश चरित्र के आंकलनों में भूल, हिटलर के पतन का मुख्य कारण बनी । चीन संबंधी त्रुटिपूर्ण धारणा के कारण मेकार्थर की कोरिया नीति असफल रही थी । मतभेद भूलकर एक हो जाने की भारतीय प्रवृत्ति से अनभिज्ञता के कारण 1962 व 1965 में क्रमश : चीन व पाकिस्तान को असफलता हाथ लगी ।

2.5 थ–राष्ट्रीय मनोबल

मनोबल वह शक्ति है जो व्यक्ति को राष्ट्र हित की ओर प्रेरित करती है । प्रो. आर्गेन्सकी ने इस शक्ति को राष्ट्रीय मनोबल नाम दिया है । उसके अनुसार राष्ट्रीय मनोबल "एक मानसिक दशा है जिसे बहुधा देश भक्ति या देश प्रेम के नाम से सम्बोधित किया जाता है । यह राष्ट्र वाद का एक महत्वपूर्ण तत्व है । यह व्यक्तिगत हित के स्थान पर राष्ट्रहित को प्राथमिकता देने की प्रवृति को जन्म देता है । राष्ट्र शक्ति सैनिकों व नागरिकों में ऐसे ही मनोबल की अपेक्षा करती है । मनोबल का युद्ध एवं शांति दोनों ही परिस्थितियों में महत्व होता है । यह व्यक्तियों को राष्ट्रहित में अधिक परिश्रम करने त्याग करने एवं दृढ़ता से संघर्ष करने को प्रेरित करता है । मनोबल के कारण ही, 1940 में ब्रिटैन की लड़ाई व 1941 –42 में लेनिनग्रेड का घेरा, नागरिकों की दिन प्रतिदिन की गतिविधियों को प्रभावित नहीं कर सके । 1965 का भारत पाक संघर्ष, पाकिस्तानी सैनिकों में मनोबल की कमी एवं भारतीय सैनिकों में उच्च मनोबल का परिचायक है । संकुचित भावनायें व आकास्मिक घटनायें मनोबल को

हतोत्साहित करती है । शासन–स्वरुप, राष्ट्रीय एकीकरण, विचारधारा, प्रचार एवं नेतृत्व मनोबल निर्माण में सहायक होते हैं । जर्मन जाति की श्रेष्ठता के आधार पर हिटलर ने जर्मन मनोबल को जागृत करके वर्साय की अपमान जनक संधि से जर्मनी को मुक्त कराने में सफलता प्राप्त की थी । राष्ट्रीय चरित्र एवं मनोबल की श्रेष्ठता राष्ट्र शक्ति का महत्वपूर्ण सकारात्मक आधार होती है ।

2.6 राजनीतिक–तत्व

राष्ट्र शक्ति का व्यावहारिक रुप राजनीतिक शक्ति होता है । इसीलिये राजनीतिक स्थिरता प्रशासनिक कुशलता राजनीतिक विचारधारा एवं नेतृत्व राष्ट्र शक्ति के लिये संजीवनी सदृश होते है । शक्ति निर्माण में सहायक अन्य तत्व राजनीतिक सक्रियता के अभाव में महत्वहीन होते हैं । इस: तत्व का विवेचन उत्तम शासन राजनय, राजनीतिक विचारधारा एवं राजनैतिक नेतृत्व के अंतर्गत किया जा सकता है ।

2.6 त–उत्तम शासन

मॉर्गेन्थो के अनुसार राष्ट्रशक्ति के संदर्भ में उत्तम शासन से निम्न तीन बातों की अपेक्षा की जाती है :

(1) उपलब्ध साधनों के अनुरुप विदेश नीति का निर्धारण ।

(2) निर्धारित नीति के क्रियान्वयन हेतु विभिन्न साधनों के मध्य संतुलन स्थापित करना ।

(3) निर्धारित नीति के समर्थन में जन समर्थन प्राप्त करना ।

विद्यमान साधनो के महत्व को कम या अधिक आककर निर्मित विदेश नीति राष्ट्र हित में नहीं होती । द्वितीय महायुद्ध तक यूरोपीय राजनीति से साधनों के अभाव में, दो महायुद्धों के मध्य पोलेंड ने, बड़ी शक्ति की भूमिका निभाने का असफल प्रयास किया । विदेश की सफलता, साधनों के मध्य संतुलन पर भी निर्भर होती है । ब्रिटेन ने नौ सैनिक शक्ति द्वारा उपनिवेश स्थापित करके, अपनी प्राकृतिक शक्ति के विभिन साधनों के मध्य संतुलन स्थापित किया एवं प्रथम महायुद्ध तक विश्व शक्ति की भूमिका को सफलता से निभाया । जन समर्थन के अभाव में चेम्बरलेन के समय की ब्रिटिश विदेश नीति सफल नहीं हुई । इस संदर्भ में डफ कूपर का मत है कि प्रधान मंत्री चेम्बरलेन, 'टाइम्स ' के कथन को जनमत मान लेंने व मुख्य संचेतक क कथन को अनुदारवादी राय मान लेनें के कारण तत्कालीन नीति के विषय में सही जनमत का अनुमान नहीं लगा सका । राष्ट्र शक्ति की दृष्टि से उपरोक्त बातों को दृष्टिगत रख कर विदेश नीति निर्माण करने वाले शासन को उत्तम शासन कहा जा सकता है, चाहे शासन का रुप राज्यतंत्र, जनतंत्र या अधिनायकतंत्र ही क्यों न हो । वैसे ईमानदार निष्पक्ष व योग्य लोकसेवकों से युक्त संवैधानिक शासन को समग्र रुप में, राष्ट्र शक्ति हेतु श्रेष्ठ शासन माना जा सकता है।

2.6 थ–उत्तम राजनय

उत्तम राजनय को मॉर्गेन्थों ने राष्ट्रशक्ति का मस्तिष्क बताया है । इसके दृष्टि भ्रम, दोष पूर्ण निर्णय व निर्बल निश्चय राष्ट्र शक्ति को अन्य साधनों से मिलने वाले लाभ को धूमिल कर देते है । मॉर्गेन्थो ने राजनय के अंतर्गत विदेश नीति के निर्माण व क्रियान्वयन में सहायक राजनीतिक नेतृत्व तक सभी स्तरों को शामिल माना है । राजनेताज्ञ, राजनय, व संबधित प्रशासनिक अधिकारी आदि राजनय के अंतर्गत आते है । इनके प्रयास के कारण ही राष्ट्र की संभावित शक्ति वास्तविक शक्ति में परिवर्तित होती है । उत्तम राजनय के द्वारा फ्रांस ने प्रथम महायुद्ध के पूर्व पुन : उस ख्याति को अर्जित कर लिया था । जिसने उसे 1870 के फ़ांस–प्रण्शा युद्ध में खो दिया था । ब्रिटिश शक्ति के उतार–चढ़ाव राजमय के ही परिणाम थे । कार्डिनल वूल्जे. कसिलरे. मेजेरीम, टेलीरेंड, जर्मनी में बिस्मार्क, इटली में काबूर के उत्तम राजनय के फलस्वरुप ही इन. राष्ट्रों को अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ था ।

2.6 द–राजनीतिक–विचारधारा

राष्ट्र शक्ति के विकास में फासिस्टवाद, नाजीवाद, साम्यवाद, लोकतंत्रवाद जैसी विचारधारा ने भी योगदान दिया है । राष्ट्र में एक ही विचारधारा का अस्तित्व राष्ट्रीय एकता में सहायक होता है । साम्यवादी विचाराधारा के सहयोग से स्थापित राष्ट्रीय एकता की रुस को महाशक्ति बनाने में सक्रिय भूमिका रही है । लोकतंत्रीय राज्यों में विचारधारा की एकता का अभाव, राष्ट्रीय एकता की समस्या उत्पन करता है । अत : ये राष्ट्र आंतरिक समस्याओं में उलझे रहने के कारण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अपेक्षित योगदान नहीं कर पाते । भारत में धर्म निरपेक्षवाद, समाजवाद एवं लोकतंत्रवाद को संयुक्त राष्ट्रीय विचार धारा बनाकर राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का प्रयास रहा है । ऐसे राष्ट्रों। में विचारधारा की अपेक्षा नेतृत्व राष्ट्र शक्ति के लिये अधिक प्रभाव शाली होता है ।

2.6 ध–राजनीतिक नेतृत्व

राष्ट्र शक्ति की अभिव्यक्ति राजनीतिक नेतृत्व पर निर्भर होती है । इनकी सूझ बूझ ही, राष्ट्र शक्ति के विभिन्न तत्वों में संतुलन व समन्वय स्थापित करती है । गुटनिरपेक्षता की नीति श्री नेहरू के गंभीर चिंतन की देन है । मनोबल के निर्माण में राजनीतिक नेतृत्व की महती भूमिका होती है । नेतृत्व, विकासशील एवं लोकतंत्रीय राज्यों का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रभाव बढ़ाने में सहायक हुआ है । नेहरू, नासीर मिश्र व टीटो इसी आधार पर अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच पर उभर कर आये है ।

बोध प्रश्न 3.

1. राष्ट्र शक्ति के लिये मनोबल के महत्व को सौ शब्दों में स्पष्ट कीजिये ।
2. उत्तम शासन संबंधी मॉर्गेन्थों के विचार को सौ शब्दों में समझाइये ।

3. तत्वों की पारस्परिक अंतर निर्भरता

प्रत्येक निर्माणकारी तत्व की, राष्ट्रशक्ति के लिये पृथक–पृथक उपयोगिता से परिचित होने के पश्चात् यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि राष्ट्र शक्ति के संदर्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व कौन सा है? कुछ विचारकों ने भूगोल, जनसंख्या, आर्थिक व प्राविधिकी जैसे वस्तुपरक तत्वों को मनोबल, राष्ट्रीय चरित्र जैसे आत्मपरक तत्वों से अधिक वरीयता दी है । इंग्लैंड की भौगोलिक स्थिति को उस राष्ट्र के लिये सर्वाधिक महत्व का तत्व बताया जाता है । इस विशेष स्थिति के फलस्वरुप ही जूलियस सीजर से लेकर हिटलर तक महत्वाकांक्षी विजेता ब्रिटेन को अपने नियंत्रण में लाने की अपनी लिप्सा को तृप्त नहीं कर सके । दो हजार पूर्व इंग्लैंड के लिये इस स्थिति का जो महत्व था वह आज भी है । कुछ विचारक राष्ट्र शक्ति हेतु आत्मपरक तत्वों को अधिक वरीयता देते हैं । मॉर्गेन्थो राष्ट्रीय मनोबल एवं उत्तम राजनय को क्रमश : राष्ट्रशक्ति की आत्मा एवं मस्तिष्क तुल्य मानता है । मनोबल को राष्ट्र की संपूर्ण गतिविधियों का प्रेरक तत्व बताया जाता है । यह भी कहा जाता है कि उत्तम राजनय के अभाव में, एक राष्ट्र लघु शक्ति की सीमा भी नहीं पार कर सकता है । इसके अभाव में उसके अन्य प्रभावशाली तत्व केवल सुव्यवस्था में ही बने रहते है । विदेश मंत्री टिटलेस्कू के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण रूमानिया में दो महायुद्धों की मध्यावधि में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को अपने साधनों की क्षमता से अधिक प्रभावित किया था । उन्नीस वीं शताब्दी में बेल्जियम जैसा छोटा राज्य ,अपने शासक लियोपोल्ड प्रथम व द्वितीय के चातुर्य व चपलता के फलस्वरुप यूरोपीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सका था । राष्ट्र शक्ति के लगभग प्रत्येक तत्व को, किसी न किसी राष्ट्र में उसके महत्वपूर्ण योगदान के आधार पर, राष्ट्र शक्ति के लिये सर्वाधिक महत्व का तत्व बताया जाता है । वास्तव में इन तत्वों की वस्तुपरकता एवं आत्मपरकता के कारण इनके संबंध में तुलनात्मक श्रेष्ठता पर विचार करना संभव नहीं हैं । ये सभी तत्व वस्तुत : परस्पर आश्रित एवं अंर्तनिर्भर होते है । ये संयुक्त रुप से राष्ट्र शक्ति का निर्माण करते हैं । सभी तत्वों की समृद्धि के बल पर ही, राष्ट्र को शक्तिशाली बनाया जा सकता है । इनमें परस्पर संतुलन व समन्वय आवश्यक होता है । उदाहरणार्थ विशाल जनसंख्या, प्रचुर प्राकृतिक 'साधनों से युक्त एवं आर्थिक दृष्टि से संपन्न राष्ट्र के लिये ही वरदान साबित होती है, अन्यथा यह राष्ट्र के लिये अभिशाप बन जाती है । तकनीकी निकास के अभाव में अन्य तत्वों के सदुपयोग के अभाव में काई भी राष्ट्र एक शक्ति नही बन सकता । वास्तव में राष्ट्रशक्ति सभी तत्वों के सामूहिक योगदान का प्रतिफल होती है ।

4. तत्वों की परिवर्तनशीलता

प्रकृति के जड़ एवं चेतन सभी पदार्थो में परिवर्तन की प्रवृत्ति देखने को मिलती है । राष्ट्र शक्ति के तत्व भी इस सनातन सत्य के अपवाद नहीं हैं । इसके निर्माण में सहायक वस्तुपरक एवं आत्मपरक तत्व भी प्राकृतिक प्रकोप, बाह्य घटनाओं, आकस्मिक घटनाओं, राष्ट्र की आंतरिक स्थिति, शासकीय नीति एवं मानव प्रकृति आदि के कारण परिवर्तित होते रहते है । प्राकृतिक प्रकोप राष्ट्र की अर्थव्यवस्था, जनशक्ति एवं कभी–कभी उसके अस्तित्व को प्रभावित करते हैं । ऐसी मान्यता है कि सिंधुघाटी सभ्यता का पटाक्षेप सिंधु नदी की बाढ़ के प्रकोप के

कारण हुआ था । राजस्थान में रेगिस्तान का पूर्व की ओर प्रसार कालांतर में इस प्रदेश की भूमि की उर्वरता को प्रभावित कर सकता है । उन्नीस वीं शताब्दी के उतरार्द्ध में भारत के बाहर घटित कुछ घटनाओं ने, जैसे इटली व रुस की क्रमश ईथोपिया व जापान द्वारा पराजय तथा इटली एवं जर्मनी के एकीकरण, भारत में राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहित किया था । राष्ट्रों में बढती पारस्परिक अंर्तनिर्भरता के फलस्वरुप, किसी भी राष्ट्र में घटित महत्वपूर्ण घटना, अन्य राष्ट्रों को भी प्रभावित करती है । जातिवाद, भाषावाद, संप्रदायवाद, क्षेत्रवाद, राजनीतिक दलों में आंतरिक कलह एवं अस्थिर व निर्बल शासन किसी भी राष्ट्र की आंतरिक स्थिति को जर्जर कर देते हैं । इन परिस्थितियों में सबल एवं सक्षम शासन की स्थापना संभव नहीं होती जो एक राष्ट्र की संभावित शक्ति को वास्तविक शक्ति में परिवर्तित करने के लिये आवश्यक है । सुदृढ़ आंतरिक स्थिति ही, सबल विदेश नीति की जनक होती है । एकीकृत एवं समरुप राष्ट्र, राष्ट्रशक्ति का एक प्रमुख संबल होता है । आत्मपरक तत्वों पर सामान्य आकास्मिक घटनाओं का काफी प्रभाव पड़ता है । युद्ध के समय किसी बड़ी लड़ाई में राष्ट्र की पराजय, प्रभावशाली नेता का निधन, युद्धपोत का समुद्र में डूब जाना आदि आकस्मिक घटनायें राष्ट्रीय मनोबल पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है । दूसरी और उचित शासकीय नीति के फलस्वरुप प्रकृति का राष्ट्रहित में उपयोग, औद्योगिक क्षमता में वृद्धि, तकनीकी विकास आदि संभव हो सकते हैं । योजना बद्ध विकास की नीति अपनाकर भारत ने प्राविधिकी, अर्थ व्यवस्था तथा औद्योगिक क्षमता में अभिवृद्धि का मार्ग खोज लिया है । लंका एवं मालद्वीप की आंतरिक समस्याओं के समाधान हेतु सेना को भेजने का निर्णय भारत की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठता वृद्धि में सहायक सिद्ध हुआ है । मानव प्रकृति भी सहयोगी होती है । हिटलर व मुसौलिनी की विश्व विजेता पददलित जर्मनी एवं अपमानित इटली, द्वितीय महायुद्ध के पूर्व यूरोप की प्रमुख शक्ति बन गये थे । अत : स्पष्ट है कि राष्ट्र शक्ति के सभी तत्व परिवर्तित होते रहते हैं । इन्हीं परिवर्तनों के कारण, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में गत्यात्मकता आई है । अन्यथा इसका स्वरुप सदैव एक सा बना रहता । इन परिवर्तनों का प्रभाव राष्ट्र के लिये हितकर भी हो सकता है व अहितकर भी । उदाहरणार्थ, खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता, आधारभूत उद्योगों की स्थापना, आणुविक व अंतरिक्ष तकनीक से अभिज्ञता एवं सशस्त्र सेनाओं के, आधुनिकीकरण ने भारत के लिये एक बड़ी शक्ति बनने का मार्ग प्रशस्त किया है । वहीं बढ़ती हुई संकुचित मनोवृत्ति व आतंकवाद की प्रवृत्ति का, भारत पर प्रतिकूल प्रभाव भी पड़ सकता है ।

राष्ट्र शक्ति के विश्लेषण कर्ताओं के लिये तत्वों की परिवर्तनशीलता की प्रवृति को दृष्टिगत रखना अति आवश्यक है । इसकी अवहेलना करके राष्ट्रशक्ति का उचित विश्लेषण संभव नहीं है । तत्वों की गतिशीलता इस तथ्य की भी परिचायक है कि राष्ट्रशक्ति का कोई भी एक महत्वपूर्ण तत्व इसका एक स्थायी आधार नही हो सकता । अत : उचित मूल्यांकन हेतु सभी तत्वों का परीक्षण किया जाना चाहिये । परिवर्तन की यह प्रवृत्ति यह भी सिद्ध करती है कि राष्ट्रशक्ति का विश्लेषण शक्ति सापेक्षता को दृष्टिगत रख कर किया जाना चाहिये, क्योंकि शक्ति निरपेक्षता केवल काल्पनिक सत्य है । तत्वों की परिवर्तनशील प्रवृत्ति शक्ति विश्लेषण कर्ता के लिये विश्लेषण हेतु उचित मार्गदर्शन प्रदान करती है ।

बोध प्रश्न

1. सही कथन पर (√) चिन्ह लगाइये :

I. राष्ट्र शक्ति के तत्व आत्म निर्भर होते हैं ।

II. द्वीप के रुप में ब्रिटेन की स्थिति राष्ट्र के लिये वरदान साबित हुई है ।

III. राष्ट्र शक्ति के तत्व अपरिवर्तित होते हैं ।

IV. राष्ट्रशक्ति का एक प्रमुख महत्वपूर्ण तत्व सदैव राष्ट्र शक्ति का निर्णायक तत्व बना रहता है ।

2. राष्ट्र शक्ति के तत्वों की परिवर्तनशीलता के कारणों को सउदाहरण लगभग 100 शब्दों में स्पष्ट कीजिये ।

3. तत्व परिवर्तनशीलता शक्ति विश्लेषण कर्ता का मार्ग दर्शन करती है । इसे 50 शब्दों में स्पष्ट कीजिये?

5. सांराश

शक्ति समस्त तत्वों की स्मृद्धि पर निर्भर होती है । परिस्थितियों तत्वों को उपलब्ध महत्व के आधार पर विचारक राष्ट्र शक्ति के प्रत्येक तत्व को सर्वाधिक महत्व का तत्व बताते रहे हैं । वस्तुपूरक एवं आत्मपरक संयुक्त रूप से राष्ट्र शक्ति का निर्माण करने है । मानव भावना पर आधारित आत्मपरक तत्वों का तो परिवर्तित होना स्वाभाविक है । किंतु वस्तुपरक तत्व भी परिर्वतन प्रक्रिया से विमुख नहीं है । प्राकृतिक प्रकोप, बाह्य एवं आकस्मिक घटनाओं, राष्ट्र की आंतरिक स्थिति, शासकीय नीति एवं मानव प्रकृति के कारण, सभी तत्वों का महत्व परिवर्तित होता रहता है । इनकी परिवर्तनशीलता के कारण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति सदैव चेतन बनी रहती है । तत्वों की परिवर्तनशीलता को दृष्टिगत रखे बिना, राष्ट्र शक्ति का उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता ।

6. शब्दावली

तटस्थता नीति	:	अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से उदासीनता की नीति ।
गुट निरपेक्षता	:	शक्ति गुटों से संबंधित न होना ।
प्राविधिक	:	तकनीक
स्थालाकृति	:	राज्य के भू–भाग की बनावट
अवस्थिति	:	राज्य क्षेत्र की स्थिति
भू राजनीति	:	भौगोलिक परिस्थितियों पर आधारित राजनीति

7. बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न न. 1. 1. I.(√) II. (x) III. (√) IV. (√)

2. 2.1 ध देखिये

3. 2.2 ध देखिये

बोध प्रश्न न. 2. 1. 2.3 त देखिये

2. 2.4 त देखिये

3. II

बोध प्रश्न न. 3. 1. 2.5 थ देखिये

2. 2.6 त देखिये

बोध प्रश्न न. 4.1. I. (√) II. (x) III. (√) IV. (√)

2. 2. 2 के आधार पर लिखें।

3. 4. 1 के आधार पर लिखें।

5. अभ्यास प्रश्न

1. शक्ति के विभिन्न तत्वों की बदलती भूमिका पर प्रकाश डालिए।
2. राष्ट्रीय शक्ति के रूप में युद्ध एवं युद्ध प्राविधिक महत्व पर प्रकाश डालिये।
3. राष्ट्र शक्ति के तत्वों की पारस्परिक अन्र्तनिर्भरता उनकी परिर्वतन शीलता की व्याख्या कीजिये।

इकाई –8

राजनय

इकाई संरचना

0. उद्देश्य

1. प्रस्तावना

2. राजनय से तात्पर्य

2.1 शब्द–उत्पति के आधार पर

2.2 पद्धति के आधार पर

2.3 लक्ष्य या कार्य के आधार पर

2.4 सार आधार पर

2.5 निष्कर्ष

3. राजनय व विदेश नीति

4. राजनय का विकास तदर्थ–राजनय का युग।

4.1 आधुनिक राजनयिक पद्धति का प्रारंभ

4.2 स्थायी राजनयिक व्यवस्था का प्रारंभ व विकास

5. राजनय के उद्देश्य

5.1 प्रधान राजनीतिक: उद्देश्य

5.2 प्रधान अराजनीतिक उद्देश्य

5.3 गौण उद्देश्य

6.1 राजनय के रूप

6.1 पुरातन राजनय। गुप्त राजनय

6.2 प्रकट राजनय। नूतन राजनय

6.3 शिखर राजनय

6.4 गुप्त व प्रकट राजनय–एक तुलनात्मक समीक्षा

6.5 विक्रता व योद्धा राजनय

6.6 लोकतात्रिक व तानाशही राजनय

7. राजनयित नीतियां व चाल

8. राजनयज्ञ–वर्गीकरण, उन्मुक्तियां व कार्य

8.1 वर्गीकरण

8.2 परिजन वर्ग

8.3 वाणिज्य दूत

8.4 विशेषधिकार व उन्मुक्तियां

8.5 कार्य

8.6 हित रक्षा
8.7 प्रतिनिधित्व
8.8 समझौता वार्ता
8.9 प्रतिवेदन
9. राजनय की भूमिका
10. राजनय की सीमायें
11. राजनय का हास
12. वर्तमान समय में राजनय की भूमिका
13. सारांश
14. बोध प्रश्नों के उत्तर
15. शब्दावली
16. संदर्भ ग्रन्थ
17. अभ्यास प्रश्न

0. उद्देश्य

इस इकाई में राष्ट्रहित की अभिवृद्धि में सहायक राजनय का विवेचन किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान पायेंगे कि:–

(1) राजनय का क्या तात्पर्य है।

(2) राजनय के विभिन्न रुप कौन–कौन से हैं?

(3) राजनयज्ञों के कार्य व उन्मुक्तियां क्या–क्या हैं?

(4) राजनय की क्या सीमायें हैं?

(5) राजनय की वर्तमान समय में क्या भूमिका है?

1. प्रस्तावना

राष्ट्र शक्ति अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का आधार है। प्रत्येक राष्ट्र राष्ट्रहित के क्रियान्वयन हेतु शक्ति की अपेक्षा करता है। शक्ति में हास राष्ट्र के लिये घातक होता है। अत: शक्ति की अभिवृद्धि हेतु प्रत्येक राष्ट्र प्रयास रत रहता है। शक्ति अभिवृद्धि में राजनय की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राजनयिक तकनीक में परिवर्तन के कारण राजनय के अनेक रुप विकीसत हुये हैं। परिवर्तित परिस्थितियों में राजनय की भूमिका में कमी को राजनय का पराभव कहा गया है। वैसे राज्यों की स्वतंत्रता एवं पारस्परिक निर्भरता का प्रतीक होने के कारण राजनय की उपयोगिता राज्य–व्यवस्था के अस्तित्व तक बनी रहेगी।

2. राजनय से तात्पर्य

राजनय एक बहुअर्थी शब्द है। भिन्न –भिन्न स्थितियों को स्पष्ट करने हेतु इसका उपयोग किया गया है । हेराल्ड निकोल्सन ने राजनय शब्द की पांच विभिन्न अर्थो में पहचान की है । ये हैं : –

(1) विदेश नीति का पर्यायवाची शब्द ।

(2) वार्ता अथवा विचार–विमर्श की स्थिति ।

(3) वार्ता प्रक्रिया या इस प्रक्रिया में प्रयुक्त साधन ।

(4) अंतर राज्यीय संचार से सम्बन्धित विदेश–सेवा की विशेष शाखा

(5) तथ्य प्रस्तुतीकरण की विशेष कला ।

विभिन्न अर्थो में प्रयोग के फलस्वरुप, राजनय एक अत्यंत अस्पष्ट शब्द हो गया है । राजनय को शब्द–उत्पति, तत्त्व, पद्धति व सार को दृष्टिगत रखकर ही ठीक तरह से समझा जा सकता है।

2.1 शब्द उत्पति के आधार पर

राजनय शब्द की उत्पति यूनानी क्रिया डिप्लोन (Diploun) जिसका तात्पर्य है तह करना । लेटिन संज्ञा डिप्लोमा (Diploma) भी उत्पत्ति मूलक है जिसका अर्थ है दोहरा अभिलेख यद्यपि दोनों ही शब्द किसी गोपनीय पत्र को ही इंगित करते है किन्तु आधुनिक विचारकों ने राजनय का आदि शब्द डिप्लोमा को ही माना है । रोमन साम्राज्य में धातु आसा पत्र डिप्लोमा कहलाते थे । इनमें मुद्रा अंकित शाही. अनुशंसा पत्र पारपत्र आदि को विशेष ढंग से तह एवं संलग्न करके रखा जाता था । इनकी अत्यधिक वृद्धि के फलस्वरुप इनके रख–रखाव व पठन हेतु ग्रन्थ रक्षक नियुक्त किये जाने लगे । सत्तरहवीं शताब्दी तक उपरोक्त ये कार्य ही राजनयिक कार्य माने जाते थे । अठाहरवीं शताब्दी के उतरार्द्ध में डिप्लोमा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को प्रकट करने वाला एक राजनीतिक शब्द बन गया । ओस्ट्रोवर (Ostrover) के मतानुसार राजनय का अर्थ, अभिलेख के स्थान पर विषय सूची एवं पत्र के स्थान पर पत्र प्रस्तुतीकरण की शैली में परिवर्तित हो गया । राजनय के रुप में विकसित इस नवीन शब्द का अर्थ, अन्य राज्यों से संपर्क करने हेतु नियुक्त व्यक्ति के कार्य करने की कला माना जाने लगा । राजनय शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1796 में प्रकाशित एडमंड बर्क की पुस्तक 'लेटर्स ऑन ऐ रेनीसाइड पीस ' में किया गया था । 18 वीं शताब्दी के अंत तक राजनय शब्द का आम प्रयोग होने लगा था । अत : शब्द उत्पत्ति के आधार पर राजनय के संबंध में ये तथ्य स्पष्ट होते है :–

(1) राजनय का क्षेत्र है – राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक संबंध ।

(2) राज्य प्रतिनिधि द्वारा अन्य राज्य के समक्ष अपने पक्षको उचित ढंग से प्रस्तुतीकरण की कला ।

2.2 पद्धति के आधार पर

राजनय को एक पद्धति के रुप में परिभाषित करने वाले विचारकों में अर्नेस्ट साटो, हेरोल्ड निकोल्सन का नाम अग्रणी है । आक्सफोर्ड आंग्ल भाषा शब्द कोष एवं एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में भी राजनय को पद्धति के रुप में परिभाषित किया है । निकोल्सन के मतानुसार राजनय अंतराष्ट्रीय प्रक्रिया की वह पद्धति है जिसमें योग्य एवं मान्य प्रतिनिधियों द्वारा राज्यों के मध्य वार्ता का संचालन किया जाता है । आक्सफोर्ड शब्द–कोष में; समझौता वार्ता द्वारा अंतर्राष्ट्रीय संबंध के प्रबन्ध कौशल को राजनय बताया गया है । एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका ने

वार्ता के उद्देश्य की अपेदना पद्धति को राजनय का केन्द्रबिन्दु माना हैं । अर्नेस्ट साटो स्वतंत्र राज्यों के मध्य शासकीकय संबंधों के संचालन में बुद्धि व चातुर्य के प्रयोग को राजनय मानता है।

2.3 लक्ष्य या कार्य के आधार पर

राजनय द्वारा संपादित कार्यो को आधार मानकर राजनय को परिभाषित करने वालों में ई. एम. जान्सन एवं डा. गार्डन प्रमुख विचारक हैं । "राजनय अंतर्राष्ट्रीय संबंधो के अधिकेन्द्रों पर प्रभाव डालने वाली शक्तियों के मापने का एक जटिल व नाजुक उपकरण है जबकि भौतिक विज्ञान के भूकम्पलेखी कुछ उत्पातों का ही पता चला पाते है । तब जटिल यंत्र के रुप में राजनय माध्यम से ऐसे विवादों, गलत फहमियों, मतविभिन्तताओं जिनके कारण अंतराष्ट्रीय समस्यायें गंभीर रुप धारण कर लेती है । को रोका सुधारा व कम किया जा सकता है " (जान्सन, दी डाइमेन्शन्स आफ डिप्लोमेसी) । गार्डन ने राज्यों के संवधों पर आधारित हितों की संपूर्ण व्यवस्था को राजनय के अंतर्गत माना है । उसके अनुसार राजनय का सामान्य लक्ष्य, राज्यों की सुरक्षा व शान बनायें रखना एवं प्रत्यक्ष. उद्देश्य राज्यों के मध्य शांति एवं सामंजस्यता को बनाये रखना है या ऐसा होना चाहिये । रिबेस चाइल्ड के अनुसार राजनय वह करता है जो एक राज्य की नीति को अन्य राज्यों को स्पष्ट करने एवं यदि संभव हो तो स्वीकार कराने में सहायक होती है । उसने राजनय को विदेश नीति क्रियान्वित करने वाली प्रक्रिया माना है । ग्रेट सोवियत एनसाइक्लोपीडिया में राजनय को विदेशों में प्रतिनिधित्व करने वाली राज्यीय संस्थाओं द्वारा शांतिपूर्ण तरीको से संचालित ऐसी गतिविधियां माना है जो राजग के शासकीय वर्ग की विदेश नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति और उसके अधिकारों एवं हितों की सुरक्षा से संबंधित होती है । ओस्टोवर की दृष्टि में राजनय संबंधी सोवियत दृष्टिकोण शासकीय वर्ग को राजनय का एक तत्व मान लेने, राजनय के उद्देश्यों के विवरण एवं इसे विदेश नीति का एक साधन मान लेने के कारण, राजनय के, परम्परागत दृष्टिकोण से भिन्न है ।

2.4 सार आधार पर

अर्नेस्ट दी हास एवं ऐलन एस. हवाइटिंग ने सार रुप में राजनय को निम्न शब्दों में परिभाषित किया है "राजनय एक दूसरे पक्ष पर राजनीतिक आर्थिक एवं संचयी दबाव है जिन्हें समझौता करने वालो के समक्ष मांग व रियायतों के रुप में औपचारिक रुप में रखा जाता है । "

2.5 निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन को दृष्टिगत रखकर राजनय के संबंध में निम्न निष्कर्ष अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है – राज्यों की राजधानी में रहने वाले विदेशी स्थायी प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक संपर्क और दिवपक्षीय, बहुपक्षीय, अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों एवं संगठनों द्वारा वैदेशिक संबंधों का संचात्नन राजनय है ।

3. राजनय व विदेश नीति

विदेश नीति के क्रियान्वयन में साधन के रुप में राजनय की महती भूमिका को लख कर मॉर्गेन्थो जैसे विचारकों ने विदेश नीति व राजनय को समरुप मान लिया है । प्रो. मॉर्गेन्धो ने राजनय के चार नियत कार्य माने है :

(1) स्वशक्ति के संदर्भ में राष्ट्रीय लक्ष्यों का निर्धारण ।

(2) अन्य राष्ट्रों के लक्ष्यों का मूल्यांकन ।

(3) लक्ष्यों की सामंजस्यता का निर्धाराग ।

(4) लक्ष्यों के क्रियान्वयन हेतु उपयुक्त साधनों का प्रयोग ।

राजनय को एक साधन की अपेक्षा साध्य मान लेने के फलस्वरुप प्रो. मार्गेन्थो राजनय व विदेश नीति के मध्य कोई भेद नहीं देख सके । इन दोनों के मध्य निकट का संबंध होते हुये भी ये परस्पर भिन्न–भिन्न विचार हैं ।

विदेश नीति राजनय की तुलना में; एक अधिक व्यापक विचार है । इसका संबंध राष्ट्रीय आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के रक्षण व संवर्द्धन से होता है । राजनय के अंतर्गत राजनय उनके लक्ष्य, कार्य एवं कार्य पद्धति ही आते हैं । अत : राजनय एक सीमित विचार है लेस्टर या पियर्सन के मतानुसार राजनय नीति का निमार्ण नही करता । यह इसका संचार एवं स्पष्टीकरण करता है एवं इसके प्रबन्ध हेतु वार्ता एवं प्राप्त करने हेतु प्रयास करता है । हेरोल्ड निकोल्सन ने इन दोनों के बीच अंतर को इन शब्दों में स्पष्ट किया है "विदेश नीति राष्ट्रीय आवश्यकताओं की सामान्य धारणा पर आधारित है (इस अर्थ में साध्य है) । दूसरी ओर राजनय साध्य न होकर साधन है । लक्ष्य न होकर एक प्राणाली है । यह बातचीत, समझौता, हितो के आदान–प्रदान तथा संप्रभु राज्यों के मध्य उठते रहने वाले झगड़ो को रोकने का प्रयास करता है । यह एक ऐसा माध्यम है जिससे विदेश नीति युद्ध के स्थान पर समझौते द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करती है" । किंतु निकोल्सन का यह मत कि युद्ध का प्रारंभ इस तथ्य का परिचायक है कि राजनय शांति पूर्ण तरीका से राज्य हित सवर्द्धन के प्रमुख उद्देश्य में असफल रहा है । युद्ध से राजनय का अंत नही अपितु उसकी भूमिका में परिवर्तन होता है ।

राजनय व विदेश नीति का परस्पर घनिष्ठ संबंध है । निर्बल राजनय उचित विदेश नीति की असफलता का एवं सबल राजनय विदेश नीति की 'भूलों पर आवरण का कार्य करती है । उत्तम विदेश नीति का आधार, उत्तम राजनय होता है । इतनी घनिष्ठता के पश्चात् भी विदेश नीति के संदर्भ में राजनय केवल एक साधन एवं प्रक्रिया मात्र है ।

4. राजनय का विकास–तदर्थ राजनय का युग

व्यवसाय के रुप में राजनय का इतिहास अत्यंत प्राचीन है । छोटे पक्षियों के मध्य, आखेट क्षेत्र की सीमा को दृष्टिगत रखकर निकोल्सन राजनय को इतिहास का पूर्ववर्ती मानता है । लेस्टर पियर्सन की भी यह मान्यता है कि राजनय की प्रक्रिया एवं उद्देश्य इतिहास के सूत्र पात के समय भी विद्यमान थे । उसकी यह धारणा है कि जब किसी बर्बर नर ने पड़ौस की गुफा से किसी नारी को शक्ति के बल पर अपनी पत्नी बनाने की अपेक्षा वार्ता द्वारा पत्नी बनाया होगा तब ही राजनय का सूत्र पात हुआ होगा । विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में

राजनयिक तकनीक विद्यमान थी । भारत में महाकाव्य काल में तो राजनय अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एक सामान्य लक्षण बन गया था । रामायण में हनुमान व अंगद एवं महाभारत में श्री कृष्ण व संजय द्वारा दूत कार्य करने का उल्लेख मिलता है । श्री कृष्ण ने द्रोपदी को कौरवों के समक्ष दूत के रुप में जाने की उपयोगिता को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया था– "मैं कौरवों के समक्ष स्पष्ट रुप में तुम्हारे प्रश्न को प्रस्तुत करूंगा । यदि मेरे प्रयत्न असफल रहे व युद्ध अवश्यभावी हुआ तो हम दुनिया को यह बता सकेंगे कि उनका पक्ष अनुचित है व हमारा उचित ताकि दुनिया हमारे विषय में भ्रान्ति निर्णय न ले सके । " के. एम. पन्नीकर, श्री कृष्ण के इस कथन में राजनय के सभी रहस्य निहित मानतें है । कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र ' में राजनयिक व्यवहार एवं दूत संबंधी विस्तृत नियमों का विवेचन मिलता है । यूनानी नगर राज्यों एवं साम्राज्यवादी रोम में तदर्थ दूत भेजने की प्रथा विद्यमान थी । अनुबंधों के प्रति सम्मान की भावना विकसित करने एवं संधियों की अनुपालना हेतु बंधक व्यवस्था की स्थापना में रोम का सक्रिय योगदान रहा था । राजनय की तदर्थ व्यवस्था दीर्घ समय तक विद्यमान रही ।

4.1 आधुनिक राजनयिक पद्धति का प्रारम्भ

आधुनिक राजनयिक पद्धति का प्रारंभ बाइजेन्टाइन साम्राज्य में हुआ । वेनिस के माध्यम से इसका यूरोप में प्रसार हुआ । वैदेशिक कार्यो की देखरेख एवं वार्ताकारों के प्रशिक्षण हेतु सर्वप्रथम एक विशेष विभाग का गठन इसी राज्य में हुआ । प्रशिक्षित व्यक्तियों को राजदूत नियुक्त करने की प्रथा प्रारंभ हुई । ये राजदूत अपनें शासक के प्रतिनिधि मानें जाते थे । मेजबान राज्यों के आंतरिक मामलों की यथा संभव जानकारी एकत्रित करना भी इनका कार्य था । राज्य की सुरक्षा को बनायें रखना एवं इसकी शक्ति का संवर्द्धन करना राजनय के लक्ष्य माने जाते थे । बेनिफर्स फ्लोरेंस व पोप व्यवस्था ने पन्द्रहवीं शताब्दी तक राजनयिक पद्धति की अभिवृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान दिया । इन राज्यों ने प्रलेखों की सुरक्षा हेतु राज्य अभिलेखागार की स्थापना की । निश्चित अवधि तक राजदूतों की नियुक्ति प्रारंभ की एवं राजदूतों के स्तर, व्यवहार व उन्मुक्तियों संबंधी नियम बनाये । इन कदमों से राजनयिक पद्धति के प्रति आकर्षण में अभिवृद्धि हुई । परिणाम यह हुआ कि व्यापारिक नगर विश्व विद्यालय व व्यावसयिक श्रेणी भी राजनयिक पद्धति का अनुसरण करने लगे ।

4.2 स्थायी राजनयिक व्यवस्था का प्रारंभ एवं विकास

पंद्रहवीं शताब्दी के उतरार्द्ध में राजनय एक स्थायी व्यवस्था के रूप में विकसित हो सका । पोप का राजनीतिक पराभव एवं आधुनिक राज्य व्यवस्था का सूत्रपात इसमें सहायक सिद्ध हुये । 1450 में मिलान के शासक ने कोसिमो –डी– मेडिसी नामक राज्य में निकोडिमस डी पोन्ट्रमोली नामक व्यक्ति को स्थायी दूत नियुक्त करके स्थायी दूत–व्यवस्था का सूत्रपात किया । सतरहवीं शताब्दी तक यह व्यवस्था एक सामान्य प्रथा बन गई थी । वियना कांग्रेस ने 1504 में पोप जूलियस द्वितीय द्वारा नितिगत अग्रगमन सूची (Table of Precedence) के कारण उत्पन्न तनाव एवं संघर्ष को, परिचय–पत्र के प्रस्तुत करने के दिनांक के आधार पर अग्रगमन दिया । इसी अवधि में फ्रांस ने ऐतिहासिक राजनय का मॉडल विकसित किया । इसके

अंतर्गत राजनय को एक स्थायी गतिविधि के रुप में मान्यता दी गई । रिशलू (Richelieu) ने यह स्पष्ट किया कि राजनय एक तदर्थ कदम की अपेक्षा एक अनवरत प्रक्रिया है । इसी सिद्धान्त को डी. केलियरस ने और आगे बढ़ाया । उसनें प्रशिक्षित राजनयिक सेवा के महत्व पर बल दिया एवं एक अच्छे राजनयज्ञ के आवश्यक गुणों को भी स्पष्ट किया । 1919 तक फ्रांस में राजनय की इसी पद्धति का स्वरूप अनुसरण किया गया । प्रथम महायुद्ध तक राजनय का स्वरुप गोपनीय बना रहा । साम्राज्य प्रसार, व्यापारिक प्रतिस्पर्धा एवं संचार साधनों के विकास के फलस्वरुप गुप्त एवं पुरातन राजनय के स्वरुप में शनै शनै : परिवर्तन होता गया । लेनिन व राष्ट्रपति विल्सन ने क्रमश 1917 व 1918 में प्रकट राजनय का समर्थन करके परम्परागत राजनय के पराभव में वृद्धि की । राजनय की नवीन पद्धतियां जैसें प्रकट राजनय, शिखर राजनय, सम्मेलन राजनय विकसित हुईं । इन राजनयों के विकास में राष्ट्र संघ एवं संयुक्त–राष्ट्र–संघ ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजनय मानव इतिहास के समान ही प्राचीन है । "राजनय न तो एक आविष्कार है और न किसी विशेष राजनीतिक व्यवस्था की क्रीड़ा (Pastime) है । यह मानवों के मध्य एवं राष्ट्रों के मध्य विवेकशील संबंध का एक आवश्यक तत्व है । निकल्सन के अनुसार राजनय एक गतिशील धारणा है । इसकी तकनीक व पद्धति परिवर्तित होती रही है व होती रहेगी ।

5. राजनय के उद्देश्य

शांतिपूर्ण उपायों द्वारा राष्ट्रहित का संवर्द्धन राजनय का प्रमुख उद्देश्य है । राष्ट्रहित की स्पष्ट व्याख्या के अभाव में, सामान्य तथा विदेश नीति के लक्ष्य ही राष्ट्रहित के अंतर्गत आते है । विदेश नीति के लक्ष्य ,तात्कालिक, मध्यवर्ती व दूरवर्ती अथवा प्रधान व गौण लक्ष्य के रूप में वर्गीकृत किये जा सकते हैं । आत्मरक्षा, राष्ट्रीय सुरक्षा, एवं जनकल्याण प्रधान लक्ष्य माने जाते है । इनमें से प्रथम दो राजनीतिक एवं अंतिम अराजनीतिक लक्ष्य कहे जाते हैं। प्रत्येक राष्ट्र प्रधान लक्ष्यों की व्याख्या अपने अपने ढंग से करते हैं । राजनय के उद्देश्यों का विवेचन भी प्रधान व गौण उद्देश्यों के रुप में किया जा सकता है ।

5.1 प्रधान राजनीतिक उद्देश्य

महान शक्तियां आत्म रक्षा एवं राष्ट्रीय सुरक्षा की इस तरह से व्याख्या करती हैं । जिससे वह अन्य राज्यों व राजनयज्ञों पर अपने राष्ट्र का नियंत्रण स्थापित कर सके । अपने राजनीतिक दबाव के विस्तार द्वारा अन्य पर अपनी मांगे थोपना, उनसे अनुचित रियायतें प्राप्त करना एवं किसी संधि या समझौते में अपनी इच्छित शर्तो को स्वीकार कराने का लक्ष्य रखती है । लघु शक्तियों एवं विकासशील राष्ट्रों के राजनय का प्रधान राजनीतिक उद्देश्य आत्म रक्षा व सुरक्षा के लिये बड़ी शक्तियों से समझौता करना मात्रा होता है । शीतयुद्ध के पराभव, राष्ट्रों में क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति में विस्तार, असंलग्न राष्ट्रों में वृद्धि एवं महान शक्तियों में विकसित हो रही सहयोगात्मक प्रवृत्ति के फलस्वरुप अब ऐसे राष्ट्रों में, राजनीतिक दबाव के आगे नतमस्तक होने की भावना समाप्त होती जा रही है ।

5.2 प्रधान अराजनीतिक उद्देश्य

आर्थिक एवं व्यापारिक हितों का संवर्द्धन राजनय का प्रधान अरांजनीतिक उद्देश्य होता है । बड़ी शक्तियां कोटा, लाइसेंस, मुद्रा, नियंत्रण आदि उपकरणों के माध्यम से अधिक से अधिक आर्थिक एवं अप्रत्यक्ष रुप में राजनीतिक लाभ प्राप्त करने का प्रयास करती है । खाद्य व तेल राजनय इसके उपयुक्त उदाहरण है । विकसित एवं विकसशील राज्यों के मध्य व्यापारिक हितों के संवर्द्धन के फलस्वरुप ही पारस्परिक मतभेद बढ़ रहे है ।

5.3 गौण उद्देश्य

राजनय के गौण उद्देश्य निम्न हैं : –

(1) नैत्य–राजनयिक संबंध का क्रियान्वयन ।

(2) राष्ट्र हित हेतु राजनयिक सम्मेलनों का आयोजन अथवा अन्यत्र आयोजित सम्मलनों में सम्मिलित होना ।

(3) प्रचार हेतु राजनयिक सम्मेलन आंमत्रित करना । नैत्य राजनयिक संबंध बनाये रखने का उद्देश्य, पारस्परिक राष्ट्रीय उद्देश्यों एवं नीतियों को समझाना एवं स्पष्ट करना और विचारों का आदान–प्रदान करना होता है । विविध स्तर की सद्भावना यात्राओं का उद्देश्य यही होता है । द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय सम्मेलनों का आयोजन एवं ऐसे सम्मेलनों में, शामिल होने का उद्देश्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप में भिन्न–भिन्न होता है । विवाद को सुलझाने की अपेक्षा विवाद में बाधा प्रस्तुत करने या अन्य सुविधायें प्राप्त. करने हेतु ऐसे सम्मेलन आयोजित किये जाते हैं 1945 से 1955 तक सोवियत रुस ने लगभग चार सौ सम्मेलनों में भाग लिया था अंत में उसे ऑस्टिया को तटस्थ राष्ट्र बनाने के निर्णय को मानना पड़ा । सशस्त्र संघर्ष के समय आयोजित ऐसे सम्मेलनों का उद्देश्य विश्व जनमत को अपने पक्ष में करने अथवा अपनी सैनिक स्थिति एवं उपलब्धियों को सुदृढ़ करना होता है 1945 के पश्चात आयोजित अधिकांश निशस्त्रीकरण सम्मेलन प्रचारर्थ एवं एक दूसरे को बदनाम करने के उद्देश्य से ही आयोजित किये गये थे। प्रकट राजनय में प्रचारात्मक गतिविधियां अधिक सक्रिय हो गई हैं।

बोध प्रश्न 1

1. निम्न प्रश्नों का उत्तर कम से कम शब्दों में दीजिये।

(अ) राजनय शब्द की उत्पति के दो स्रोत बताइये।

(आ) राजनय व विदेश नीति को सम रुप मानने वाले विचारक बताइये।

(इ) वियना काँग्रेस ने राजनयिक क्षेत्र में उत्पन्न तनाव के निराकरण हेतु क्या कदम उठाया?

(ई) राजनय के मुख राजनीतिक उद्देश्य कौन–कौन से है?

2. निम्न प्रश्नों के उत्तर अधिक से अधिक एक में दीजिये :

(क) राजनय की शब्द–उत्पति के आधार पर व्याख्या कीजिये।

(ख) राजनय के गौण उद्देश्यों का विवेचन कीजिये।

(ग) राजनय व विदेश नीति के पारस्परिक संबंध की समीक्षा करें।

(घ) राजनय के विकास से संबंधित तदर्थ राजनय के युग का विवेचन कीजिये।

3. राजनय की शब्द उत्पति, लक्ष्य, पद्धति एवं सार के आधार पर विवेचना कीजिये। (उत्तर हेतु शब्द सीमा 600)

6. राजनय के रुप

कालातीत से राजनय के प्रयोग के फलस्वरुप राजनय के कई रुप विकसित हुये हैं। डा. स्टीफन केरटर्ज (Dr. Stepphon Kerterz) ने राजनय के विभिन्न रुपों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है:

आधार	**रुप**
1. वार्ता में संलग्न पक्षों की संख्या	(1) द्विपदायि राजनय
2. गोपनीयता	(2) बहुपक्षीय या सम्मेलन राजनय
3. राजनयिक क्षेत्र की व्यापकता	(1) गुप्त राजनय (2) प्रकट राजनय
4. कार्यपद्धति	(1) पुरातन राजनय (2) नूतन राजनय
5. राजनीतिक स्वरुप	(1) विक्रेता राजनय (Shopkeeper's Diplomacy)
6. राष्ट्राध्यक्षों द्वारा प्रत्यक्ष वार्ता	(2) योद्धा राजनय (Warriors Diplomacy)
	(1) लोकतांत्रिक राजनय (2) तानाशाही राजनय
	(1) व्यक्तिगत राजनय (2) समानान्तर राजनय (प्रो. रोहन के अनुसार)
	(3) शिखर राजनय (1943 में क्यूबेक सम्मेलन के पश्चात् रुजवेल्ट व चर्चित द्वारा प्रयुक्त)
7. अस्थायी प्रकृति के विशिष्ट राजनयिक कार्य तदर्थ राजनय (विशेष दूत अथवा आयोग द्वारा)	
8. राष्ट्रों का समूह संगठन राजनय (Coalition Diplomacy)	

उपरोक्त वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि राजनय के रुप, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के संचालन हेतु प्रयुक्त विशेष तकनीक या प्रक्रिया के आधार पर बनते हैं । उदाहरणार्थ खेल राजनय, तेल राजनय खाद्य राजनय आदि । भविष्य में राजनय के अन्य रुप भी विकसित हो सकते हैं। राजनय के उपरोक्त रुप एक दूसरे से पूर्णतया पृथक नहीं है । अपितु एक दूसरे से संलग्न है उदाहरणार्थ गुप्त व पुरातन राजनय । राजनय के कुछ प्रमुख रुपों का विवेचन यहां प्रस्तुत है ।

6.1 पुरातन राजनय / गुप्त राजनय

पुरातन राजनय को परम्परागत राजनय, गुप्त राजनय, शांत राजनय (Quiet Diplomacy डा. हेमरशजोल्ड द्वारा प्रयुक्त) आदि नाम से भी सम्बोधित किया जाता है । हेरोल्ड निकोल्सन ने पुरातन राजनय के निम्न तक्षण बतलायें है ।

(1) अंतराष्ट्रीय गतिविधियों का केन्द्रबिन्दु यूरोप ।

(2) यूरोप की संयुक्त व्यवस्था से संबंधित बड़ी शक्तियां लघु शक्तियों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण व उत्तरदायी ।

(3) यूरोपीय राज्यों में व्यावसायिक संचालन के सामान्य मानदण्ड से युक्त प्रशिक्षित राजनयिक सेवा ।

(4) वार्ता प्रक्रिया की निरन्तरता ।

(5) गोपनीयता ।

आधुनिक युग के प्रारंभ से लेकर प्रथम महायुद्ध तक यूरोप में पुरातन राजनय प्रचलित था । "पुरातन राजनय अंतर्राष्ट्रीय समझौता वार्ता की कला का नाम था, जिसे यूरोपीय राष्ट्रों के मजे, पेशेवर राजनयज्ञ, इस धारणा के साथ प्रयुक्त करते थे कि राजनय सदैव गुप्त व सत्त चलती रहने वाली प्रक्रिया है और उसके माध्यम से शांति बनाये रखना उनका महान दायित्व है । (डा. महेन्द्र कुमार, थियोरीटिकल आस्पेक्टस आफ इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स) प्रथम महायुद्ध को राजयनिक विफलता का परिणाम मानने, लेनिन द्वारा रुसी अभिलेखागार के गुप्त अभिलेखों के प्रकाशन से अनर्थकारिणी दुरभि संधियों के प्रकाश में आने, अमरीकी राष्ट्रपति विल्सन द्वारा प्रकट समझौतों का समर्थन करने एवं संचार व दूरसंरचार के साधनों के विकास के कारण गुप्त या पुरातन राजनय अब अतीत का विषय बन गया है ।

6.2 नवीन राजनय / प्रकट राजनय

नूतन राजनय को प्रकट राजनय या लोकतांत्रिक राजनय भी कहा जाता है । सम्मेलन राजनय एवं शिखर राजनय प्रकट राजनय के दो प्रमुख रुप है । सम्मेलन राजनय, तीन प्रमुख रुप में उभर कर आया है । ये है मुक्त सम्मेलन राजनय (Independent Conference Diplomacy) उदाहरणार्थ जनेवा आर्थिक सम्मेलन 1922 राष्ट्रीयता पर हेग सम्मेलन 1930

(2) संगठन राजनय– क्षेत्रीय या राष्ट्रोत्तर संगठन जैसे अमरीकी राज्यों के संगठन, राष्ट्रमंडल, दक्षेस सम्मेलनों में प्रयुक्त राजनय, संगठन राजनय की श्रेणी में आता है । लेस्टर पियर्सन ने संगठन राजनय के महत्व को इन शब्दों में स्पष्ट किया है –"इस नवीन युग में जिसमें हमने प्रवेश किया है । " विदेश शाह एवं रणनीति की प्रभावशाली इकाई राष्ट्र राज्य नहीं है, चाहें वह कितना ही बड़ा हो, किन्तु ऐसे राज्यों का संगठन है जो विशेष उद्देश्य हेतु एकीकृती हो गये हैं व एकीकृत रखे जा रहे हैं ।" वैसे स्वार्थ व संकोच का एक साथ निर्वाह अंसभव होने के, कारण संगठन राजनय में अनेक कठिनाइयां उत्पन हो जाती है । संगठन की कट्टर विचारधारा एवं रणनीति राजनय के आधार को निर्बल कर देती है । संगठन राजनय का यह एक प्रमुख दोष है ।

(3) संसदीय राजनय (Parliamentary Diplomacy)

अमरीकी विदेश मंत्री डीनरस्क ने राष्ट्रसंघ व संयुक्त राष्ट्र संघ में अंतराष्ट्रीय समस्याओं पर होने वाले विचार–विमर्श को संसदीय राजनय नाम दिया है । संसदीय राजनय गंभीर अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विश्व समाज का ध्यान आकर्षित करने में सहायक सिद्ध हुआ है । फिर भी ऐसे संगठनों के सदस्यों पर नियंत्रण के अभाव, सदस्य राष्ट्रों का स्वार्थपूरक दृष्टिकोण एवं मत प्रयोग के समय गंभीरता व निष्पक्षता की कमी के फलस्वरुप यह राजनय समस्याओं के समाधान में गतिरोध अथवा विलम्ब का कारण बनता है । उपरोक्त विवेचन के आधार पर नूतन राजनय की निम्न विशेषतायें स्पष्ट होती है :

(1) सम्पूर्ण विश्व तक राजनयिक गतिविधियों का प्रसार ।

(2) राजनयिक गतिविधियों में सभी राष्ट्रों का लगभग समान योगदान ।

(3) राजनयिक वार्ताओं का प्रकाशन ।

(4) राजनयज्ञों की अपेक्षा तदर्थ व शिखर राजनय के महत्व में वृद्धि ।

(5) राजनय में लोकतांत्रिक पद्धति का प्रयोग ।

6.3 शिखर राजनय

1955 के जेनेवा सम्मेलन के पश्चात् शिखर राजनय अधिक प्रचलित हो गया है। शिखर राजनय का विकास व्यक्ति गत राजनय एवं शिखर सम्मेलनों (1815 की वियना कांग्रेस 1919 का वर्साय शांति सम्मेलन) से हुआ है । शिखर राजनय नई बोतल में पुरानी शराब के समान है । विदेश नीति के निर्धारण एवं वैदेशिक मामलों का प्रबन्ध राज्याध्यक्ष या शासनाध्यक्ष स्तर पर किया जाना, शिखर राजनय कहलाता है । यह राजनय समस्या के शीघ्र व प्रत्यक्ष समाधान, गम्भीर समस्या के संबंध में सैद्धान्तिक सहमति प्राप्त करने, परम्परागत राजनयिक स्तर पर उत्पन्न गतिरोध का शीघ्रता से हल करने एवं विश्व समस्याओं के प्रति सार्वजनिक आकर्षण उत्पन करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है । किंतु दूसरी ओर यह राजनय, राजनयज्ञों के मनोबल को कम करने शिखर राजनय में भाग न लेने वाले राज्यों की सत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव डालने, वार्ता की असफलता के पश्चात् राजनयिक गतिविधियों में गतिरोध उत्पन्न करने, अपर्याप्त सूचनाओं के कारण वार्ता के भंग होने, धूमिल आशाओं में वृद्धि करने आदि का भी कारण बनता है । फिर भी वर्तमान आधुनिक युग में शिखर राजनय का सर्वाधिक उपयुक्त रुप प्रतीत होना हैं । पर्याप्त प्रारंभिक पृष्ठभूमि के पश्चात आयोजित शिखर राजनय राज्यों के मध्य शांति पूर्ण सह अस्तित्व की प्रवृत्ति के विकास में अत्यन्त लाभदायक हों सकता है ।

6.4 गुप्त व प्रकट राजनय – एक तुलनात्मक समीक्षा

वर्तमान समय में गुप्त व प्रकट राजनय में से कौन सा राजनय उपयुक्त है, इस पर भी यहां विचार करना आवश्यक है । अध्येता आरोप लगाते हैं :–

(1) समझौता वार्ता के समय प्रस्तुत रियासतों व प्रति रियासतों की जानकारी से उत्पन्न जन–आक्रोश से समझौता वार्ता भंग होने की संभावना ।

(2) समझौता वार्ता का समझौते की अपेक्षा दुष्प्रचार के लिये प्रयोग ।

ये तर्क उचित नहीं हैं; क्योंकि एक तो वार्ता में गतिरोध राजनीति प्रेरित होते हैं । दूसरे, पूरित युद्ध की शिथिलता के पश्चात् प्रकट राजनय द्वारा ही गंभीर समस्याओं का समाधान हुआ है । इसके अतिरिक्त, यह भी अस्वीकार्य है कि दुष्प्रचार सदैव असत्य होता है । छोटे राज्यों पर वार्ता के समय डाले जाने वाले दबाव का उन राष्ट्रों द्वारा प्रकट कर देना, दुष्प्रचार नहीं माना जा सकता । यदि पेरिस शांति सम्मेलन में जर्मनी पर थोपित अनुचित दबाव प्रकट हो गए होते तो जर्मनी को, पददलित व अपमानित करने वाली शांति सन्धि सम्पन्न नही हुई होती । गुप्त राजनय का समर्थन करने वाले समस्या के समाधान में गतिरोध की अपेदना कुछ ले–देकर संपन्न समझौते को अधिक श्रेययस्कर मानतें है । प्रकट राजनय में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों की अपेदना, राजनयज्ञ का अनुभव व विवेक, समस्या समाधान में अधिक सहायक होता है । निकोल्सन गुप्त राजनय पर लगाये जाने वाले ऐसे आरोपों के लिये, जैसे दुरभि सन्धियों व कुचक्रों का जनक एवं युद्ध विभिषिका का प्रेरक मानना, दोष पूर्ण विदेश नीति को उत्तरदायी मानता है । दोनों के पक्ष व विपक्ष में कई तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं । किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि व्यवहार में प्रकट राजनय गुप्त राजनय की तुलना में कम हानिप्रद सिद्ध हुआ है । प्रकट राजनय ही तृतीय विश्व युद्ध की संभावना को धूमिल बनाने का एक महत्वपूर्ण कारक रहा है । राजतंत्रात्मक व्यवस्था की देन गुप्त–राजनय का, लोकतंत्रिक व्यवस्था से मेल असंभव है । प्रकट राजनय की लोकतंत्रात्मक पद्धति से संगति के कारण वर्तमान समय में इसे अधिक उपयुक्त व उपयोगी माना जा सकता है ।

6.5 विक्रेता व योद्धा राजनय

विक्रेता–राजनय व योद्धा–राजनय का आधार समझौता वार्ता में प्रयुक्त तकनीक है । विक्रेता राजनय बर्फ जैसा ठंडा होता है । यह विद्या लक्ष्य प्राप्ति हेतु सोच–समझकर कदम उठाने एवं शनै : शनै : अपने विरोधी को अपने पक्ष का समर्थक बनाने की तकनीक का समर्थन करती है । इसके विपरीत योद्धा राजनय आग व तूफान की भांति होता है जो पृथ्वी को जलाकर भस्म कर देता है । यह उग्र, झगडालू एवं गतिशील होता है । 1919 से 1945 तक ब्रिटेन और 1933 से 1935 तक हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी ने विक्रेता राजनय का अनुसरण किया था । 1935 के पश्चात्, यूरोप में जर्मनी के प्रसार हेतु हिटलर द्वारा अपनाये गये राजनय को योद्धा राजनय कहा जा सकता है । व्यवहार में विक्रता राजनय में राजनयज्ञों के राजनीतिक कौशल के पीछे राष्ट्र शक्ति का बल होता है । ये ही बल योद्धा राजनय का भी आधार होते हैं । अत : तकनीक की भिन्नता के अतिरिक्त इन दोनों राजनय का स्वरुप लगभग समान होना है।

6.6 लोकतांत्रिक व तानाशाही राजनय

राजनयिक शब्दावली में विक्रेता एवं योद्धा राजनय के स्थान पर क्रमश लोकतांत्रिक व तानाशाही राजनय का प्रयोग किया जाता है । वैसे ये दोनों गोपनीयता में विश्वास नहीं रखते ।

दोनों का ही लक्ष्य राष्ट्रीय–स्वार्थ की अभिवृद्धि करना है । इनको इनके द्वारा प्रयुक्त नीतियां व चालें, परस्पर एक दूसरे से पृथक करती हैं । वार्ता में आस्था समझौतों का परिपालन, पदत्त वचन की रक्षा, वार्ता के समय शिष्ट एवं नम्र व्यवहार आर्थिक, राजनीतिक व सैनिक सहायता का अवलम्बन, लोकतांत्रिक राजनय के प्रमुख लक्षण है । पाश्चात्य एवं प्रमुख गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का राजनय इस श्रेणी में आता है । साम्राज्यवादी एवं साम्यवादी राज्यों द्वारा प्रयुक्त राजनय तानाशाही राजनय की श्रेणी में आता है । असंयत भाषा का प्रयोग, दुष्प्रचार, वाक्छल, समझौतों की अनुपालना, समझौतों की इच्छित व्याख्या, वचन भंग एवं वार्ता के समय हठी रूख अपनाना, तानाशाही राजनय की विशषतायें है ।

7. राजनयिक नीतियां व चालें (The Techniques of Tacties of Diplomacy)

राजनयज्ञों द्वारा समझौता वार्ता के समय अनुकूल परिस्थितियों के निर्माण हेतु कुछ चालों और परिस्थितियों के विश्लेषण शर्तो के प्रस्तुतिकरण एवं लक्ष्यों के स्पष्टीकरण हेतु कुछ नीतियों का सहारा लिया जाता है । वैसे ये समस्त चालें व नीतियां कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित साम, दान, दण्ड व भेद नीति के अंतर्गत आ जाती है । फिर भी राजनय के वास्तविक प्रयोग के आधार पर के. जे. होलस्ती द्वारा वर्णित निम्न नीतियां व चालें अधिक समयोचित प्रतीत होती हैं ।

चालें

(1) किसी विशेष परिस्थिति का निर्माण एवं दोहन ।

(2) समझौता वार्ता की अवधि में वृद्धि का प्रयास ।

(3) वार्ता के समय दृढ़ रूख का प्रदर्शन ।

(4) दुष्प्रचार ।

(5) आंतरिक अस्वीकृति की चाल ।

नीतियां

(1) समझाव बुझाव ।

(2) पुरस्कार प्रदान करना ।

(3) अग्रिम पुरस्कार एवं रियायतें प्रदान करना ।

(4) हिंसक व अहिंसक दण्ड की धमकी देना । अहिंसक दण्ड की धमकी क्षति पहुंचाने की अथवा लाभ प्राप्ति से वंचित करने की धमकी के रुप में हो सकती है ।

(5) अहिंसक दण्ड देना । (राष्ट्रों के मध्य विद्यमान पारसरिक विरोध के कारण अहिंसक दण्ड की नीति अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विरोधी राष्ट्र द्वारा निष्कृत कर दिये जाने के कारण प्रभावकारी सिद्ध नहीं होती) ।

(6) बल–प्रयोग

बोध प्रश्न 2

1. निम्न प्रश्नों के उत्तर अधिक से अधिक पांच पंक्तियों में दीजिये :

(अ) पुरातन राजनय के प्रमुख लक्षण बताइये।

(आ) नूतन राजनय विशेषतायें कौन–कौन सी है।

(इ) शिखर राजनय एक नई बोतल में पुरानी शराब के समान है। स्पष्ट कीजिये।

(ई) के. जे. होलस्ती ने कौन–कौन सी राजनयिक चालें बताई हैं ?

(उ) विक्रेता व योद्धा राजनय के पीछे राष्ट्र शक्ति का बल होता है। कैसे ?

2. निम्न प्रश्नों का उत्तर अधिक से अधिक एक पृष्ठ में दीजिये:

(1) गुप्त व प्रकट राजनय की तुलनात्मक समीक्षा कीजिये।

(2) सम्मेलन राजनय के तीन प्रमुख राज्यों का वर्णन कीजिये।

(3) शिखर राजनय को समझाइयें। वर्तमान समय में इराकी उपयोगिता को भी स्पष्ट कीजिये।

(4) लोकतांत्रिक लक्षणों के आधार स्पष्ट कीजिये।

(5) राजनयिक नीतियों को स्पष्ट कीजिये।

8. राजनयज्ञ : वर्गीकरण, उन्मुक्तियां व कार्यरण

8.1. वर्गीकरण

1815 की वियना कांग्रेस एवं 1818 की एक्स–ला–शेपिल कांग्रेस ने राजदूतों की पौर्वापर्य क्रम में निम्न चार श्रेणियां निर्धारित की थीं :

(1) असाधारण व पूर्णाधिकारी राजदूत।

(2) असाधारण दूत एवं पूर्णाधिकारी आमात्य।

(3) आवासी आमात्य।

(4) कार्यदूत।

1919 के राजनयिक संबंधों के वियना सम्मेलन की 14 वीं धारा में राजनयज्ञों की इन तन श्रेणियों को ही मान्यता दी है:–

(1) राजदूत अथवा समान स्तर के राजनयिक आयोग के अध्यक्ष।

(2) दूत या आमात्य।

(3) कार्यदूत।

प्रथम दो राज्याध्यक्ष द्वारा व अंतिम विदेश विभाग द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। ये नियुक्तियां पद के प्रमाण पत्र द्वारा की जाती है। संप्रभु राज्य, पोप व संयुक्त राष्ट्र–संघ ही प्रथम श्रेणी के राजदूत नियुक्त कर सकते हैं। पोप द्वारा नियुक्त राजदूत 'लीगेट' या 'नन्शिओं' कहा जाता है। कार्डीनल के ही 'लीगेट' नियुक्त किया जा सकता है। कार्डीनल के अतिरिक्त किसी अन्य नियुक्त व्यक्ति को 'नन्शिओं' कहा जाता है। राष्ट्र मंडलीय राज्यों के राजदूत उच्चायुक्त कहे जाते हैं। वियना सम्मेलन की धारा 4 के अनुसार व्यक्ति विशेष को राजदूत नियुक्त करने के पूर्व संबंधित राज्य की सहमति प्राप्त करना आवश्यक है। धारा 9 के अनुसार राजदूत अथवा राजनयिक कर्मचारियों में से किसी को भी अंवाछित व्यक्ति घोषित किया जा

सकता है। धारा 11 में राजनयिक आयोग को स्वीकार करने वाले राज्य को आयोग की सदस्य संख्या निर्धारित करने का अधिकार होता है। आजकल प्रथम श्रेणी के राजदूतों के अतिरिक्त अन्यों का महत्व गिरता जा रहा है। कालांतर में ये श्रेणियां लुप्त हो सकती हैं। एक राज्य में नियुक्त सभी विदेशी राजदूतों का समुदाय 'राजनयिक निकाय' एवं वरिष्ठ राजदूत 'दूत शिरोमणि' कहा जाता है।

8.2 परिजन वर्ग

स्थायी राजदूत के परिजन वर्ग के अंतर्गत दूतावास में कार्यरत कर्मचारी जैसे परामर्शदाता सचिव, सहचारी, दुभाषिया तथा राजनयिक, संदेश वाहक, राजदूत का निजी परिवार एवं निजी सेवक आते हैं। प्रथम दो शासकीय व अंतिम दो अशासकीय श्रेणी में आते हैं।

8.3 वाणिज्य दूत

व्यापार व वाणिज्य के हितों की रक्षार्थ अन्य राज्यों में नियुक्त व्यक्ति वाणिज्य दूत कहलाते है । महावाणिज्य दूत, वाणिज्य दूत, सहायक वाणिज्य दूत एवं वाणिज्य प्रतिनिधि वाणिज्य दूतों की श्रेणी में आते है । ऐसे पद पर नियुक्त व्यक्ति के विषय में कोई आपति न होने पर आतिथेय सरकार कार्यानुमति पत्र (Exequater) जारी करती है । इसको प्राप्त करने के पश्चात् ही वाणिज्य दूत उस राज्य में अपना कार्य प्रारंभ कर सकते हैं व्यापारिक हितों की सुरक्षा के अतिरिक्त पार–पत्र देने, अपने राज्य के वहां निवासी नागरिकों के कानूनी लेखों, साक्षियों, पत्रों को प्रमाणित करने एवं उस राज्य के बंदरगाहों पर आने वाले स्वदेशी जहाजों के नाविकों पर अनुशासन नियंत्रण व निरीक्षण संबंधी कार्य भी वाणिज्य दूत द्वारा किये जाते है । राज्य की व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुरूप इन दूतों की संख्या कम या अधिक होती रहती है । ये दूत अपने राज्य के राजदूत की तरह उन्हें अनतिक्रमणीयता एवं राज्य क्षेत्र बाह्यता के विशेपधिकार उपलब्ध नहीं होते ।

8.4 विशेषधिकार एवं उन्मुक्तियां (Privileges and Immunities)

अपना कार्य सुचारु रुप से संचालित करने के, उद्देश्य से राजदूतों को वियना सम्मेलन की धारा 22, 24, 29, 31 और 34 के अंतर्गत निम्न विशेषाधिकार व उन्मुक्तियां प्रदान की गई है:–

(1) राज्याध्यक्ष द्वारा पद के प्रमाण पत्र (Letters of Credential) द्वारा नियुक्ति। राज्याध्यक्ष को एक विशेष समारोह में संक्षिप्त भाषा के साथ पद के प्रमाण पत्र के प्रस्तुतीकरण का एवं शासनाध्यक्ष से सीधा संपर्क करने का विशेषाधिकार।

(2) 'परम श्रेष्ठ' (Excellency) कहलाने का विशेषाधिकार।

(3) वैयक्तिक सुरक्षा तथा अनतिक्रमणीयता (Inviolalility of Person)की उन्मुक्ति यह उन्मुक्ति युद्धाविधि में भी प्राप्य है। अतिथ्य राज्य राजदूत को गिरफ्तार करने व मारने के अधिकार से वंचित होता है। परिजन वर्ग भी पूर्ण सुरक्षा के अधिकारी होते है।

(4) दूतावास पर आतिथेय राज्य का क्षेत्राधिकार नही होता। राज्य की पुलिस दूतावास में प्रवेश नहीं कर सकती। दूतावास में राजनीतिक अपराधियों को शरण दी जा सकती है। इस उन्मुक्ति को राज्य क्षेत्र वाह्ययता (Extraterritoriality) कहा जाता है ।

(5) आतिथेय राज्य के दीवानी एवं फौजदारी क्षेत्र से उन्मुक्ति। न्यायालन में गवाही देने से भी राजदूत मुक्त होता है।

(6) आतिथेय राज्य के करों से उन्मुक्ति।

(7) उपासना एवं पत्र व्यवहार की स्वतंत्रता।

8.5 कार्य

सुदूर अतीत से राजदूत के कार्यो के संबंध में विचार व्यक्त किये जाते रहे हैं । ऐरमालो बारबरो (Ermalo Barbaro) ने राजदूत का प्रथम कर्तव्य अपने राज्य की सुरक्षा एवं अभ्युदय के विषय में वार्ता, विचार एवं सलाह देना बतलाया है । जर्मनी के बुलो द ऐल्डर (Bullow the Elder) के अनुसार राजदूत उपदेशक, न्यायाधीश व दार्शनिक नहीं है अपितु एक ऐसा व्यक्ति है जिसका एक मात्र संबंध राज्य के वास्तविक एवं प्रत्यक्ष हित से होता है । इटली के बनार्ड दि रोजियर (Bernarnd di Rosier) वे राज के हितों की सुरक्षा, मित्रता की पुष्टि विवादों का समाधान, भविष्य में संभावित मतभेदों के कारणों का निराकरण आदि राजदूत के कार्य माने है । समकालीन राजदूतों के कार्य एवं उपरोक्त व्यक्त विचारों को दृष्टिगत रखकर हित रक्षा, प्रतिनिधित्व, समझौता वार्ता एवं प्रतिवेदन प्रस्तुतीकरण राजदूत के प्रमुख कार्य माने जा सकते है । इन प्रमुख कार्यो के अतिरिक्त प्रेषक व आतिथेय राज्य के मध्य मित्रता प्रोत्साहन, आर्थिक सांस्कृतिक वैज्ञानिकों संबंधों का विकास और क्षेत्रीय व अंतर्राष्ट्रीय संगठनों से संबंधित कार्य भी राजदूतों द्वारा किये जाते हैं । प्रमुख कार्यो का विवेचन यहां प्रस्तुत है ।

8.6 हित रक्षा

अपने राज्य एवं अपने देशवासियों के हितों की सुरक्षा राजदूत का प्रथम कर्तव्य है । आतिथेय राज्य में राजनीतिक उथल–पुथल के समय किसी विदेशी को शरण देना, गृह युद्ध अथवा अंतर्राष्ट्रीय युद्ध के समय अपने नागरिकों की सुरक्षा, देशवासियों के प्रति होने वाले अन्याय का निराकरण आदि कार्य इस कार्य के अंतर्गत आते हैं । इन कार्यों के संपादन के समय सन्धियों व अंतर्राष्ट्रीय विधि को दृष्टिगत रखना आवश्यक है हित संपादन जैसे जटिल कार्य की सफलता लर्च (larche) के अनुसार निम्न चार बातों पर निर्भर होती हैं ।

(1) परिस्थितियों का स्पष्ट आभास ।

(2) अपनी वास्तविक कार्यक्षमता की जानकारी ।

(3) लचीली पद्धति का प्रयोग ।

(4) राष्ट्रीय हितों की प्राथमिकता एवं क्रम बद्धता से भिन्नता ।

8.7 प्रतिनिधित्व

राज्याध्यक्ष का प्रतिनिधि होने के कारण राजदूत को, निम्न कार्य करने होते हैं : –

(1) दूसरे राज्यों के राजदूतों के सम्मान में आयोजित समारोह व भोज में सम्मिलित होना ।

(2) अपने राष्ट्रीय पर्व पर समारोह व भोज आयोजित करना ।

(3) सन्धियों पर हस्ताक्षर करना एवं सन्धि दस्तावेजों को प्राप्त करना ।

(4) अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेना एवं राज्य की ओर से मतदान करना ।

सही प्रतिनिधित्व हेतु यह आवश्यक है कि राजदूत अपने राज्य के विगत एवं वर्तमान जीवन के सभी पक्षों से पूर्णतया परिचित हो । यह इसलिये भी आवश्यक है क्योंकि आतिथेय राज्य के नागरिक उसे ही उसके राष्ट्र का प्रतीक मानते हैं व उसी के माध्यम से उसके राज्य की पहचान निर्मित करते हैं ।

8.8 समझौता वार्ता

राजदूत का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य समझौता वार्ता है । वार्ताओं में वह मध्यस्थ के रुप में नहीं अपितु एक विक्रेता के रुप में भाग लेता है ताकि वह अपने राष्ट्र के लिये अधिकाधिक लाभ अर्जित कर सके । उसे डी काइयेर के मतानुसार अपने तर्क इस तरह अपने प्रतिस्पर्धियों के दिल व दिमाग में धीरे–धीरे उतारना चाहिये जैसे एक–एक बूंद पानी रिस–रिस कर धरती को मेधता हुआ नीचे तक अपनी जगह बना लेता है । "वास्तव में समझौता वार्ता की कला इतनी अधिक महत्वपूर्ण है कि बड़े से बड़े राज्यों का भाग्य वार्ता के उचित एवं अनुचित रुप में संचालन और वार्ताकार की क्षमता पर निर्भर होता है । " (Francois de Callieses) । दीर्घ अवधि तक चलने वाली अंतर्राष्ट्रीय वार्ताओं में धैर्य अति आवश्यक होता है । 1648 की वेस्ट फेलिया सन्धि, एवं 1955 की ऑस्ट्रिया सन्धि, संबंधित राष्ट्रों की वार्ताक्षमता एवं धैर्य के कारण ही सम्पन्न हो सकी । इस संदर्भ में हार्टमान का यह कथन अत्यन्त उपयुक्त है । "वार्ता में जो कुछ मांगा जाता है । उसे देने, एवं जो कुछ चाहा जाता है उसे प्राप्त करने के मध्य, एक नाजुक संतुलन होता है । यदि वार्ताकार वार्ता को अपने द्वारा प्रदान की जाने वाली सभी सुविधाओं का प्रस्ताव करके या प्रारंभ ही में अपनी आशा के अनुरुप अंतिम समझौता का आभास देकर, प्रारम्भ करता है तो वह अंत में एक ऐसा समझौता करने के लिये विवश हो जाता है जो उसकी आशा एवं उसके प्रतिद्वंदी की मांग के मध्य के अनुरुप हो " ।

8.9 प्रतिवेदन

अतिथेय राज्य के विविध क्षेत्रों संबंधी तथ्यों के पर्यावलोकन पर निर्मित उसका प्रतिवेदन विदेश नीति निर्धारण का आधार होता है । तध्यों का संकलन, आवश्यक एवं उपयोगी तथ्यों का चयन–चयनित तथ्यों का अपनी सरकार को, प्रस्तुतीकरण जैसे कार्य प्रतिवेदन से संबंधित होते हैं । राजदूत को इसीलिये विदेश में अपनी सरकार की आंख व कान माना जाता है । राजदूतों को तथ्यों का संकलन कुशलता व समझदारी से करना चाहिये । जासूसी से नही ।

"अपने अतिथेय राज्य की स्थिति से अपनी सरकार को पूरी तरह से एवं नियमित रुप से सूचित रखना, राजदूत का कार्य है । यह कार्य उसमें ज्ञान जिज्ञासा, प्रेरणा, औचित्य एवं सबसे अधिक निर्णय क्षमा की अपेक्षा करता है ।" प्रो जिमर्न का यह कथन प्रतिवेदन संबंधी कार्य हेतु राजदूत में वांछित योग्यताओं की दृष्टि से अत्यंत उपयुक्त है ।

9. राजनय की भूमिका

समझौता वार्ता के समय अपनी मांगो की स्वीकृति हेतु डाले गये राजनीतिक आर्थिक व सैनिक दबावों की प्रभावकारिता अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के, ताने–बाने पर निर्भर होती है । ऐसे ताने–बानों का निर्माण, राजनय की भूमिका के अंतर्गत आता है । इस संदर्भ में राजनय की भूमिका निम्न रुपों में प्रकट होती है ।

1. अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का गठन

गुप्त एवं प्रकट राजनय के युग में क्रमश : शक्ति संतुलन व्यवस्था एवं सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के निर्माण में राजनय की पहली भूमिका रही है । मैत्री संबंधों में परिवर्तन करके शक्ति असंतुलन को संतुलित करने एवं राष्ट्रों की युद्ध लोलुपता को नियंत्रित करने हेतु राष्ट्र संघ एवं संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना में राजनय का प्रमुख योगदान रहा है ।

2. अंतर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण

राज्यों के पारस्परिक व्यवहार को व्यवस्थित रुप देने के, उद्देश्य से प्रारंभ में बहुपक्षीय राजनय एवं उनीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध से सम्मेलन राजनय ने प्रभुसत्ता, राज्य मान्यता, आत्म रक्षा, अंतर्राष्ट्रीय दायित्व, सहमति, नेकनियती, सामुद्रिक स्वतंत्रता, सांस्कृतिक संपत्ति, खुला समुद्र, जल, थल व नभ युद्ध संबधी नियम निर्माण में उल्लेखनीय योगदान दिया है । हेग व जेनेवा में आयोजित कई सम्मेलनों ने अंतर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण, को एक गति प्रदान की है ।

3. शान्ति, युद्ध एवं मिश्रित अवस्था की स्थिति का निर्माण

प्रो. रेमैंड आरो (Prof. Ramand Aron) ने शक्ति (राज्यों द्वारा एक दूसरे को प्रतिकार कर सकने की क्षमता) को अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शान्ति का आधार माना है । राजनय की संतुलन की शान्ति (Peace of Equilibrium) प्रभुत्व की शान्ति (Peace of Hegemony) तथा साम्राज्य की शान्ति (Peace of Empire) जैसी स्थितियों के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका होती है । युद्ध मिश्रित शान्ति या भय–जन्य–संतुलन (Equilibrium of ferror) अर्थात शीत युद्ध की स्थिति में राजनय की भूमिका युद्ध निरोध (शस्त्रतों की स्पर्धा, निरोधक दुष्प्रचार आदि) समझाव बुझाव (गुट निरपेक्ष राष्ट्रों की भावना में इच्छित परिवर्तन) तोड़ फोड़ (शत्रु शिविर में फूट डालना) के रुप में दृष्टि गत होती है । युद्ध के प्रारंभ (नाजी जर्मनी राजनय) एवं युद्ध काल में शत्रुपक्ष के मनोबल को गिराने में राजनय की भूमिका प्रभावशाली होती है ।

4. विश्व जनमत को इच्छित दिशा देना

राष्ट्रों द्वारा राजनय का उपयोग विश्व जनमत को इच्छित दिशा देने हेतु भी किया जाता है । द्वितीय महायुद्ध के पश्चात सोवियत एवं पश्चिमी राजनय में इस हेतु प्रतिस्पर्धा देखने को मिलती है । अमरीकी राष्ट्रपति आइज़नहावर का यह कथन देखिए – "वर्तमान जीवन का मुख्य तथ्य यह है कि संसार में आज मानव की शासन संबंधी दो प्रबल विचार धारायें विद्यमान है जो राजनय के माध्यम से संसार के लोगों की मित्रता, निष्ठा एवं सहायता प्राप्त करने हेतु निरंतर संघर्षरत है । " राजनय ने परस्पर विरोधी विचार करके शान्ति स्थापना हेतु विश्व जनमत को एक निश्चित दिशा प्रदान की है ।

10. राजनय की सीमायें

किसी भी राजनयिक गतिविधियों का प्रभाव विश्व के एक इकाई बन जाने के कारण सम्पूर्ण विश्व पर पड़ता है । अत राजनयिक गतिविधियां न तो पूर्णतया समाप्त ही हो सकती है और न निष्क्रिय ही । इससे स्पष्ट है कि राजनय की सीमा से तात्पर्य उसकी प्रभाव उत्पन्न करने में असफलता, कश्मीर, फिलिस्तीन निशस्त्रीकरण आदि समस्याओं के अध्ययन व विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि वार्ता में इच्छित प्रभाव उत्पन करने में निम्न तत्व सामान्यतया बाधक बनने हैं :

1. समस्या के संबंध में राष्ट्र की मान्यतायें

राष्ट्र द्वारा किसी समस्या को अपनी मूलभूत मान्यताओं से संबंधित करके समस्या के प्रति हठी दृष्टि कोण अपना लेना राजनयिक समाधान के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है । भारत व पाकिस्तान ने काश्मीर समस्या को क्रमश धर्म निरपेक्षता व हिन्दु प्रभुत्व से संलग्न करके समस्या को जटिल बना दिया है । इसी तरह अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर 'राष्ट्रीय भूमिका ' को दृष्टिगत रख कर निर्णय लेना (अमरीका द्वारा स्वयं को लोकतंत्र का रक्षक मान कर निर्णय लेना) समस्या के राजनयिक समस्या के समाधान में बाधक बनता है ।

2. अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का स्वरुप

राष्ट्रों के शक्ति पर आधारित संबंध अथवा अंतर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्मित अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था, राजनयिक समाधान में बाधक बनती है । युद्धोपरांत 38 वीं समानान्तर रेखा पर कोरिया का विभाजन बाद में निर्मित शक्ति संबंधों (चीन का कोरिया युद्ध में प्रवेश) के फलस्वरुप समाप्त नही किया जा सका । इसी तरह प्रभुसत्ता, आत्मरक्षा, अंतर्राष्ट्रीय दायित्व से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय सिद्धान्त राजनयिक दबावों को निष्फल कर देते है ।

3. विपक्षी का समान बलशाली होना

विपक्षी यदि समान रुप से बलशाली है अथवा दुर्बल पक्ष सहायक राष्ट्रों के बल पर अपने प्रतिपक्षी के समान बलशाली हो जाए तो राजनयिक प्रयास में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है । पाकिस्तान को अमरीका व चीन से मिलने वाले समर्थक कारण कश्मीर समस्या के समाधान के राजनयिक प्रयास अब तक असफल रहे हैं ।

4. हीन राजनयिक क्षमता

राजनयज्ञ को बल प्रदान करने वाली राष्ट्र की आंतरिक व बाह्य शक्ति के क्षीण होने पर भी, राष्ट्र के राजनयिक प्रयास असफल हो जाते है । राजनीतिक आर्थिक व सैनिक क्षमता

के बल पर यदि राजनयिक कौशल सौदेबाजी की स्थिति को प्रभावित करने में असमर्थ हो तो एक ऐसी होनी स्थिति उत्पन होती है जिसमें दूसरा पक्ष समस्या का समाधान अपने पक्ष में करा लेता है ।

5. विक्रता राजनय अपनाने वाले राष्ट्र की साख

राजनयिक सफलता ऐसे राष्ट्र की साख पर भी निर्भर होती है । नात्सी जर्मनी के वचन भंग के कारण ही पोलिश राजनयज्ञों ने जर्मनी द्वारा प्रस्तुत समझौते की शर्तों को जानते हुये भी ठुकरा दिया था कि ऐसी स्थिति में जर्मनी पोलेंड पर आक्रमण कर सकता है ।

6. जनमत व दबाव गुटों का भय

ऐसा भय भी राजनयिक समझौता वार्ता पर अंकुश का कार्य करता है । सामान्य व पूर्ण निशस्त्रीकरण के क्षेत्र में अमरीकी राजनयिक प्रयास अमरीकी शस्त्र निर्माताओं के दबाब गुट के विरोध के कारण अब तक असफल रहे है ।

11. राजनय का हास

कुछ विशेष परिस्थितियों के फलस्वरुप परम्परागत राजनय की तकनीक व प्रक्रिया को अब अपनाना असंभव हो गया है । राजनयज्ञों को अतीत में प्राप्त कार्य स्वतंत्रता भी अब उपलब्ध नही हो रही है । राजनय के संबंध में उत्पन इस नवीन परिस्थिति को लॉर्ड वेन्सिटार्ट (Lard Vansittart) व प्रो. मॉर्गेन्थो ने राजनय का ह्रास (Decline of Diplomacy) व प्रो. हार्ट मान ने राजनय की व्याधि (Ailment of Diplomacy) कह कर सम्बोधित किया है । लार्ड वन्सिटार्ट ने इस ह्रास के लिये सर्वाधिकारवादी साम्रावादी शक्तियों के व्यवहार को उत्तरदायी माना है । यह व्यवहार राजदूतों को वापस बुलाने की मांग, जासूसी, आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप, राजनय का प्रचार हेतु उपयोग आदि में दृष्टिगत होता है । लार्ड वेन्सिटार्ट के अनुसार, "शब्दों की इस गहन वृद्धि में बन की ऐसी गन्ध निहित है जो चंचल लताओं की तरह प्राचीन धारणाओं को धीरे–धीरे सुलगाकर राख कर देती है । " प्रो. राबर्टसन की यह मान्यता है कि राजनय का कार्य रुप (Efficient) केवल शक्ति संतुलन व्यवस्था ही में संभव है । विध्वंसक शस्त्रों के विकास, राजनीतिक व सामाजिक क्रान्तियों एवं नवोदित स्वतंत्र राष्ट्रों के अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण से, शक्ति संतुलन व्यवस्था ध्वंस हो गई है । यह स्थिति राजनय के ह्रास का कारण बनी है । प्रो. हार्टमान ने परम्परागत राजनय का सूत्रपात, महाशक्तियों का कम अनुभव व व्यवहार, राजनयिक व्यवहार में गिरावट को उत्तरदायी माना है । प्रकट राजनय में राजनयिक समझौता वार्ता सार्वजनिक होती है । हार्टमान की मान्यता है कि "इसके फलस्वरुप राजनय रुपी जहाज दुर्बलता रुपी बालूतट से टकराकर लगभग नष्ट हो गया है । एक बार वार्ता के सार्वजनिक होने, पर राष्ट्रीय प्रतिष्ठा इसमें अनिवार्य रुप में सम्मिलित हो जाती है" । राजनय के प्रति अमरीका व रुस के व्यवहार की भिन्नता भी इस व्याधि का एक प्रमुख कारक हैं । अमेरिका की यह धारणा है कि नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित सर्वोत्तम तर्क ही राजनयिक समस्याओं के समाधान के उचित आधार होते है । सोवियत रुस राजनय को उसके व उसके प्रतिद्वंदी पूंजीपति राज्यों के मध्य राजनीतिक एवं प्रचारात्मक युद्ध के रुप में मानता है प्रो. हार्टमान की मान्यता है कि, "पहले दृष्टि कोण की यह मान्यता है कि राजनयिक

वार्ता सर्वव्यापी नैतिक सिद्धान्तों के व्यावहारिक क्रियान्वयन से संबंधित होती है । इसके विपरीत दूसरा सिद्धान्त राजनय को छल व कपट युक्त कदमों का समूह मानता है जो साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा रुस की घेराबंदी व पराजय हेतु अपनाये जाते रहे है । " ऐसे वातावरण में पारस्परिक लेन–देन की प्रक्रिया पर आधारित परम्परागत–राजनय का प्रभाव हीन होना स्वाभाविक है । पारस्परिक दोषारोपण असंयत शब्दों के प्रयोग, प्रचारात्मक प्रहार एवं प्रतिहार समकालीन राजनयिक व्यवहार में गिरावट के प्रतीक है । ऐसी परिस्थिति में महत्वपूर्ण राजनयिक समस्याओं के समाधान के विषय में सोचने की अपेक्षा यह अधिक उपयुक्त है कि जो कुछ हो रहा है वह पर्याप्त है । प्रो. मॉगेन्थो ने राजनय के पराभव के लिये निम्न परिस्थितियों को उत्तरदायी माना है :–

(1) राजनय के महत्व का ह्रास राजनयज्ञों क गुप्त कुचक्रों के फलस्वरुप राजनय के महत्व में कमी आई है ।

(2) संचार साधनों का विकास इसके फलस्वरुप राजनयिक प्रतिनिधियों पर विदेश विभाग तत्काल नियंत्रण स्थापित कर सकता है इस नियंत्रण ने राजनयज्ञों द्वारा स्वतंत्र निर्णय लेने की स्थिति को समाप्त सा कर दिया है ।

(3) संसदीय प्रणाली के राजनय का विकास संयुक्त राष्ट्र संघ के रुप में राजनय की इस पद्धति के विकास ने द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय गुप्त राजनयिक वार्ताओं एवं राजनयज्ञों के महत्व को कम कर दिया है ।

(4) राजनय के क्षेत्र में महाशक्तियों का पदार्पण ।

(5) समकालीन विश्व राजनीति का स्वरुप समकालीन विश्व राजनीति साम्यवादी एवं गैर साम्यवादी शक्ति गुटों के मध्य शक्ति के लिये संघर्ष है । अत समझौता वार्ता के द्वारा राजनय, इन शक्ति गुटों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने में, एक असहाय दर्शक मात्र है । मार्गेन्थो के अनुसार, "जिसे वह महत्वपूर्ण समझते हैं, उसको तिलांजलि दिये बिना वह पीछे नहीं हट सकते । संघर्ष का खतरा वहन किये बिना, वह आगे नही बढ़ सकते । समझाव बुझाव केवल छल है । " ऐसी परिस्थितियों में राजनय संचालन हेतु लगभग कुछ भी शेष नही रहा है व इसका अप्रचलन लगभग निश्चित है ।

12. वर्तमान समय में राजनय की भूमिका

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेना अनुचित है कि राजनय निष्प्रयोजन हो गया है । राज्य अपने समक्ष उपलब्ध तीन विकल्पों में से युद्ध, हितों का बलिदान व राजनय –अंतिम विकल्प का ही चयन अधिक श्रेयस्कर समझते हैं । आणुविक युग में युद्ध का चयन मूर्खतापूर्ण दुस्साहस होगा । हितों का बलिदान, आत्म–समर्पण का ही दूसरा नाम होगा । लोकतंत्र में राज्य अपने हितों के बलिदान करने की स्थिति में भी नही होते । वर्तमान– समय में युद्ध की स्थिति उत्पन्न होते ही आणुविक युद्ध की आशंका व भय के कारण युद्ध विराम के लिये प्रयास प्रारंभ हो जाते है । युयुत्सु राष्ट्रों (Belligerent Power) पर समझौता वार्ता हेतु अंतर्राष्ट्रीय दबाव डाले जाते हैं । आज विश्व शांति बनाये रखना सभी राष्ट्रों का दायित्व है । ये दायित्व राजनय के माध्यम से ही निभाया जा सकता है । इस तरह

वर्तमान समय में राजनय का स्वरुप एक पक्षीय या बहुपक्षीय की अपेक्षा अंतर्राष्ट्रीय हो गया है । यहीं विशेषता वर्तमान राजनय को गत राजनयों से पृथक करती है । इस तरह यह स्पष्ट है कि पद्धति में प्रभावशाली परिवर्तन के पश्चात भी राजनय का उपयोग निरर्थक नहीं हो सकता । "वास्तव में राजनय एक ही साथ राज्यों की स्वतंत्रता एवं अंतनिर्भरता का द्योतक है एवं इनके मध्य पारस्परिक संबंध हेतु एक महती आवश्यकता है । अतएव राज्यों की ऐसी व्यवस्था की निरंतरता तक अंतर्राष्ट्रीय संचार हेतु राजनय एक अति आवश्यक तकनीक बनी रहेगी । " (आर चक्रवर्ती, **इन्टरनेशनल रिलेशन्स**)

बोध प्रश्न 3

1. निम्म प्रश्नों का उत्तर दीजिये (500 शब्दो में)

(1) राजदूत के कार्यो का विवेचन कीजिये ।

(2) राजनय के ह्रास से संबधित प्रो. मॉर्गेन्थो व प्रो. हार्टमान के विचारो को स्पष्ट कीजिये।

(3) 'राजनय की सीमा ' से क्या तात्पर्य लिया जाता है? उन कारकों को बताइये जो समझौता वार्ता में इच्छित प्रभाव उत्पन्न करने में बाधक बनते है ।

2. निम्न प्रश्नों का उत्तर अधिक से अधिक 15 पंक्तियों में दें ।

(1) वर्तमान युग में राजनय की भूमिका को स्पष्ट कीजिये ।

(2) राजदूतों के विशेषधिकार व उन्मुक्तियों को बताइये ।

(3) वाणिज्य दूतों द्वारा किये जाने वाले कार्यो का वर्णन कीजिये ।

3. निम्न प्रश्नों के कम से कम शब्दों में उत्तर दीजिये?

(1) दूत शिरोमणि से क्या तात्पर्य हैं?

(2) कार्यानुमति पत्र का किससे संबंध हैं?

(3) राजनयिक निकाय किसे कहते हैं?

(4) पद के प्रमाण पत्र किसके लिये व किसके द्वारा जारी किये जाते हैं?

(5) भय–जन्य–संतलुन की स्थिति में राजनय की क्या भूमिका होती है?

13. सारांश

राजनय की उचित व्याख्या इस शब्द की उत्पत्ति इसके लक्ष्य तथा पद्धति के आधार पर ही संभव है । किसी न किसी रुप में इतिहास–पूर्व से विद्यमान राजनय के, अब तक अनेक रुप विकसित हुये हैं । वैसे राष्ट्रहित का संवर्द्धन राजनय का उद्देश्य है किन्तु राष्ट्र हित की अस्पस्टता के कारण विदेश नीति के उद्देश्य ही राजनय माने जाते है । इन उद्देश्यों की पूर्ति में राजनयज्ञों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है जिन्हें पारस्परिक आधार पर अनेक विशेषाधिकार व उन्मुक्तियां उपलब्ध होती है । अतीत में अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के, गठन अंतर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण आदि में राजनय की महती भूमिका रही है । किन्तु अब कुछ कारकों के फलस्वरुप राजनय समझौता वार्ता में इच्छित प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाता । इसे ही राजनय की सीमायें कहा जाता है । संचार साधनों में क्रान्ति, संसदीय राजनय के प्रारंभ आदि के कारण परम्परागत राजनय का पराभव हुआ है। इस पराभव का आशय राजनय की समाप्ति से नही है। आणुविक युद्ध की आशंका के कारण राज्यों के समक्ष समझौता वार्ता ही एक मात्र उचित विकल्प है। इसने

राजनय के स्वरुप को अंतर्राष्ट्रीय बना दिया है। अत: विद्यमान राज्यव्यवस्था के अस्तित्व तक राजनय का महत्व बना रहेगा।

14. बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. (अ) यूनानी क्रिया डिप्लोन (2) रोमन संज्ञा डिप्लोमा
   (आ) प्रो. मॉर्गेन्थो
   (इ) परिचय–पत्र प्रस्तुतीकरण के दिनांक से निश्चित किया।
   (ई) आत्म रक्षा एवं राष्ट्रीय सुरक्षा।
2. (क) 2. 1 देखिये।
   (ख) 5.3 देखिये
   (ग) 3 के आधार पर उत्तर दे।
   (घ) 4 पर उत्तर आधारित हो।,
3. 2 के अंतर्गत किये गये विवेचन को देखिये।

बोध प्रश्न 2

1. (अ) 6.1 देखिये।
   (आ) 6.2 का अंतिम चरण देखें ।
   (इ) अतीत के व्यक्तिगत राजनय एवं शिखर सम्मेलनों का नवीन नाम होने के कारण। 7 में 'चालें' शीर्षक देखिये।
   (ई) राजनयज्ञ राष्ट्र शक्ति के बल पर ही विक्रेता तकनीक अपनाता है। योद्धा राजनय का आधार ही राष्ट्र शक्ति का बल होता है।
2. (1) 6.4 देखिये।
   (2) 6.2 सम्मेलन राजनय देखिये।
   (3) 6.3 के आधार पर उत्तर दीजिये।
   (4) 6.6 के आधार पर स्पष्ट कीजिये।
   (5) 7 में राजनयिक नीतियां शीर्षक देखिये।

बोध प्रश्न 3

1. (1) 8.5 के आधार पर लिखें।
   (2) 11 में प्रो, हार्टामान व प्रो. मॉर्गेन्थो के विचार देखिये।
   (3) 10 को देखकर उत्तर लिखिये।
2. (1) 12 देखिये।
   (2) 8.4 देखिये।
   (3) 8.3 के आधार पर उत्तर लिखिये।
3. (1) राजदूतों में वरिष्ठ राजदूत दूत शिरोमणि होता है।
   (2) वाणिज्य दूत से ।

(3) राजदूतों के समुदाय को राजनयिक निकाय कहा जाता है।

(4) राजदूतों के लिये, राष्ट्राध्यक्षों द्वारा।

(5) राजनय की भूमिका युद्ध निरोध, समझाव बुझाव कव तोड़ फोड़ के रुप में दृष्टिगत होती है।

15. शब्दावली

(1) अभिलेखागार – अभिलेख संग्रह करने का स्थान।

(2) निराकृत – प्रभावहीन।

(3) युयुत्सु राष्ट्र – युद्ध–रत–राष्ट्र।

(4) भूकम्पलेखी भूकम्प के स्थान एवं तीव्रता बताने वाले यंत्र।

(5) दुरभिसंधि – अनुचित शर्त युक्त गोपनीय संधि।

(6) संतुलन की शांति – शक्ति संतुलन के कारण स्थापित शान्ति।

(7) प्राधान्य की शान्ति – शक्तिशाली राष्ट्र की प्रधानता पर आधारित शान्ति।

(8) भय–जन्य–संतुलन – युद्ध भय के कारण उत्पन्न संतुलन।

16. संदर्भ ग्रन्थ

(1) आर चक्रवर्ती, **'इंटरनेशनल रिलेशन्स'** दी वर्ल्ड प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, कलकता।

(2) के. गुप्ता व आर अग्रवाल, **'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति** (सिद्धान्त एवं व्यवहार) जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी मेरठ ।

(3) मॉर्गेन्थो, **'पालिटिक्स अंमग नेशन्स'**

(4) पामर व पार्किन, **इन्टरनेशनल रिलेशन्स ।**

17. अभ्यास – प्रश्न

1. राजनय से आप क्या समझते है? राजनय एवं विदेशनीति में अन्तर बताइये, ।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आधुनिक राजनयिक पद्धतियों के महत्व पर प्रकाश डालिये।
3. राजनय के विभिन रूपों की आलोचनात्मक चर्चा कीजिये।

इकाई – 9
सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन

इकाई संरचना

0. उद्देश्य
1. प्रस्तावना
2. सामूहिक सुरक्षा का अर्थ और प्रकृति.
3. सामूहिक सुरक्षा की मौलिक मान्यताएं
4. सामूहिक सुरक्षा की विषेशताएं
5. सामूहिक सुरक्षा और राष्ट्र संघ
6. सामूहिक सुरक्षा और संयुक्त राष्ट्र संघ
7. सामूहिक सुरक्षा के मार्ग में बाधाएं
8. सामूहिक सुरक्षा और असंलग्नता
9. सामूहिक सुरक्षा और क्षेत्रीय संधियां
10. शक्ति संतुलन का अर्थ और प्रकृति
11. शक्ति संतुलन के रूप
12. शक्ति संतुलन की धारणाएं
13. संतुलन की प्राप्ति के तरीके
14. शक्ति संतुलन की विशेषताएं
15. शक्ति संतुलन का महत्व
16. सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन में अंतर .
17. क्या सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन एक दूसरे के पूरक है?
18. इकाई सारांश
19. अभ्यास प्रश्न
20. संदर्भ ग्रंथ

0. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है–

1. सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन की अवधारणा से अवगत कराना ।
2. सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन किस प्रकार विश्व शांति रखना चाहते हैं? तथा
3. सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन किस हद तक प्रभावी रहे हैं?

1. प्रस्तावना

असुरक्षा की भावना से ग्रसित राष्ट्र हमेशा से अपनी सुरक्षा के उपाय ढूंढते रहे हैं । इसी भावना ने सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन की अवधारणाओं को जन्म दिया है । विश्व शांति और राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए ये दोनों ही काफी महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं । सामूहिक सुरक्षा एक इस प्रकार का तरीका है जिसमें एक राष्ट्र पर हुए आक्रमणों या आक्रमण को सभी राष्ट्रों

पर किया गया आक्रमण समझा जाता है । परिणामस्वरूप, सामूहिक शक्ति से आक्रमणकारी राज्य का मुकाबला किया जाता है । सामूहिक सुरक्षा को प्राप्त करने के लिए राष्ट्रों के बीच संधियां और समझौते किए जाते हैं । इसमे समझौता करने वाले सभी राष्ट्र एक साथ उस राष्ट्र की हर प्रकार की – आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक सहायता करते हैं जिस पर आक्रमण किया जाता है ।

शक्ति संतुलन के अन्तर्गत शक्तिशाली राष्ट्र हमेशा विश्व में संतुलन बनाए रखता है । विद्वानों की मान्यता है कि विभिन्न प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों के आपसी संबंधों का निर्धारण और विश्लेषण शक्ति संतुलन के आधार पर किया जा सकता है । पामर और परकिन्स का विचार है कि ' 'शक्ति संतुलन अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का आधारभूत सिद्धांत है ।

2. सामूहिक सुरक्षा का अर्थ और प्रकृति

सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा का उदय 17 वीं सताब्दी में ओसनाब्रुक संधि एवं विलियम पेन द्वारा दी गई ' 'यूरोपियन आर्डर " से हुआ । पर आधुनिक समय में राष्ट्रपति विल्सन को इस धारणा का प्रवर्तक माना जाता है । सामूहिक सुरक्षा का महत्व प्रथम विश्व युद्ध के बाद और बढ़ गया । राष्ट्रपति विल्सन ने राष्ट्र संघ की स्थापना करके सामूहिक सुरक्षा को व्यावहारिक रूप से और संस्थागत रूप से जोड़ने का प्रयास किया ।

सामूहिक सुरक्षा को विद्वानों ने अलग – अलग तरह से परिभाषित किया है :–

1. मारगेन्थ्यू– सामूहिक सुरक्षा का अर्थ है– "एक सभी के लिए तथा सभी एक के लिए।"
2. पामर और परकिन्स के अनुसार – ' 'सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के निर्धारण का एक रूप है, जिसके द्वारा शक्ति संतुलन के सिद्धांत की समाप्ति हो जाती है । इससे समाज की प्रकृति तथा व्यवहार में बड़ा अंतर उत्पन्न हो जाता है । "
3. औरगेन्सकी की मान्यता है– " विश्व के समस्त राज्य यह शपथ ले कि वे किसी भी आक्रमणकारी के विरूद्ध एकत्र हो जाएंगे और जिस राष्ट्र पर आक्रमण हुआ है उसकी रक्षा करेंगे, और उसे अपनी ज्यादा शक्ति के द्वारा अलग–अलग कर देंगे।"
4. क्लॉड – सामूहिक सुरक्षाएं शक्ति संतुलन और विश्व सरकार के बीच की स्थिति है। सामूहिक सुरक्षा ही वर्तमान में विश्व शांति का एक मात्र प्रभावी उपाय है ।
5. स्वोजन बर्जर – यह एक ऐसी मशीनरी है जिसमें संयुक्त रूप से कार्यवाही करके किसी भी ऐसी आक्रमणकारी कार्यवाही को रौका जाता है, जो विश्व व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा करती है । इसका तात्पर्य यह है कि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का सीधा संबंध शांति व्यवस्था से है । संयुक्त राष्ट्र संघ के एक अधिवेशन में एक अमरिकी प्रतिनिधि का भी यही विचार था कि ' 'सुरक्षा का सबसे अच्छा उपाय है संयुक्त कार्यवाही । यदि हम इसके विरोध में जाते हैं तो पूर्ण असुरक्षा रहती है । " परन्तु पुन : यह बात समझ लेनी चाहिए कि हर संयुक्त कार्यवाही सामूहिक सुरक्षा नहीं है ।

इस प्रकार साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सामूहिक सुरक्षा का अर्थ है – "सभी राष्ट्रों की सुरक्षा जो सामूहिक रूप से सैनिक अथवा असैनिक माध्यम से प्राप्त की गई हो। " अब सुरक्षा किसी राज्य विशेष की समस्या न होकर सभी राज्यों की होगी और सभी राष्ट्र सामूहिक रूप से इसके, लिए प्रयत्नशील होंगे । सामूहिक सुरक्षा के लिए संस्थागत ढाँचें की आवश्यकता होती है ।

3 सामूहिक सुरक्षा की मौलिक मान्यताएं : –

सामूहिक सुरक्षा के पीछे यह मान्यता है कि विभिन राष्ट्रों की बीच विवाद उत्पन होंगे । इन विवादों में कुछ का निपटारा शांतिपूर्ण तरीकों से संभव है पर कुछ न सुलझने वाले विवादों से युद्ध का आरंम्भ हो सकता है । पर युद्ध विश्व के लिए खतरा है इसलिए इसे अधिक प्रभावी सामूहिक सुरक्षा द्वारा रोका जा सकता है । सामूहिक सुरक्षा युद्धों के कारण या परिणाम का विश्लेषण नहीं करता । यह सिर्फ युद्ध का जबाव सामूहिक तरीके से युद्ध करके देता है । इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा कुछ मूलभूत मान्यताओं पर आधारित है । ये हैं :–

1. विश्व समुदाय को सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था में विश्वास होना चाहिए । सभी राष्ट्रों को अपनी जिम्मेवारी समझनी चाहिए तथा निभाना चाहिए । जैसा कि हैटी के प्रतिनिधि ने राष्ट्र संघ में जब इटली ने अविसिनिया पर आक्रमण किया था कहा, ' छोटा या बड़ा, मजबूत या कमजोर, पास या दूर, गोरा या रंगीन यह नहीं भूलना चाहिए कि किसी दिन हम भी किसी के लिए इथियोपिया हो सकते हैं । "
2. सभी सदस्य राष्ट्रों को यह विश्वास होना चाहिए कि दूसरे राष्ट्र आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता करेंगे । ऐसा न होने पर राष्ट्रों में शस्त्रीकरण, गठबंधन और आपसी होड़ बढ़ेगी तथा सामूहिक सुरक्षा का उद्देश्य कभी पूरा नहीं होगा ।
3. यह सम्भव होना चाहिए कि सम्भावित युद्ध करने वालें राष्ट्र के विरूद्ध सामूहिक कार्यवाही की जा सके । इस स्थिति को जटिल शक्ति का संतुलन कहा जाता है ।

4 सामूहिक सुरक्षा की विशेषताएं

सामूहिक सुरक्षा की निम्न विशेषताएं है :

1. यह शक्ति के आक्रामक उपयोग के विरुद्ध है । विवादों को शांतिपूर्ण तरीको से सुलझाना चाहिए ।
2. यह शक्ति के प्रयोग के विरुद्ध नही है पर शक्ति का प्रयोग युद्ध रोकने के लिए होना चाहिए ।
3. इसकी मान्यता है कि शांति अविभाज्य है । विश्व के किसी भी भाग में युद्ध शांति के लिए खतरा है ।
4. यह किसी एक राष्ट्र के फायदे के लिए नही है ।

5 सामूहिक सुरक्षा और राष्ट्र संघ

प्रथम विश्व युद्ध के भंयकर परिणामों से आतंकित लोगों ने राष्ट्र संघ का निमार्ण करके विश्व शांति प्राप्त करने का प्रयत्न किया । इसके लिए वे चाहते थे कि सामूहिक सुरक्षा का

दायित्व इसी संस्था को सौंपा जाए । पर ऐसा वे नही कर पाए यद्यपि उन्होंने इस संस्था के चार्टर के 16 वे अनुच्छेद में ऐसी व्यवस्था भी की परन्तु कतिपय राजनीति कारणों से यह संस्था सामूहिक सुरक्षा पद्धति को लागू करने में सफल नहीं हो पाई ।

6 सामूहिक सुरक्षा और संयुक्त राष्ट्र संघ

द्वितीय विश्व में बड़े पैमाने पर नए अस्त्र–शस्त्रों का प्रयोग किया गया । इससे युद्ध के परिणाम बड़े भंयकर निकले । सभी के मनों पर आतंक और भय छा गया था । एक ऐसी संस्था जो इन युद्धों को रोक सके का गठन करने की बात लोग सोचने लगे । इस बार संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन एक विश्व संस्था के रुप में हुआ । इसके चार्टर में यह बताया गया है कि यह संस्था इस लिए गठित की गई है ताकि तृतीय विश्व युद्ध को टाला जा सके और आगामी संतति विश्व युद्धों से दूर अमन और चैन से अपना जीवन बिताएं । संयुक्त राष्ट्र संघ को यह जिम्मेदारी सौंपी गई कि वह सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था करें ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत छठे और सातवें, अध्याय में विशेषाधिकार प्रदान किए गए हैं । इसके अन्तर्गत बनाई गई "सुरक्षा परिषद" को चार्टर के अन्तर्गत छठे और सातवें अध्याय में विशेषाधिकार प्रदान किए गए है । इसके अन्तर्गत कहा गया है कि विश्व शांति बनाए रखना सुरक्षा परिषद का दायित्व है । विवादों के कारण तथा विवाद खोजना और बाद में उनका समाधान प्रस्तुत करना सुरक्षा परिषद का कार्य है । चार्टर के अन्य भागों में सुरक्षा परिषद को अधिकार देते हुए लिखा गया है कि "संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य सुरक्षा परिषद के आदेश देने पर अथवा उसके द्वारा किए महत्वपूर्ण समझौतों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने के लिए आवश्यक सैनिक सहायताएं तथा सुविधाएं उपलब्ध कराएंगे । "चार्टर में की गई ये व्यवस्था बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को कानूनी रुप में स्वीकार किया है इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर स्विटजरलैंड जो एक तटस्थ राज्य है संघ का सदस्य नहीं बना ।

सुरक्षा परिषद सामूहिक सुरक्षा के लिए दो प्रकार से कार्य करती है :

1. असैनिक तरीके से–जिसमें वह राजनीतिक तथा आर्थिक प्रतिबंध की कार्यवाही करती है।
2. ठोस सैनिक कार्यवाही इसमें सैनिक कार्यवाही करके वह समस्या का समाधान करती है।

सुरक्षा परिषद को अपने इस सामूहिक सुरक्षा को व्यवहार में लाने के कई अवसर मिले । कुछ में सफलता मिली पर अधिकतर असफलता ही हाथ आई । कुछ ऐसी समस्याएं जिनमें सुरक्षा परिषद का आवाहन हुआ निम्न है :–

ईरान की समस्या– सुरक्षा परिषद से ईरान ने 19 जनवरी 1946 में यह प्रार्थना की कि वह रुसी सेनाओं को ईरान से हटाए या वापस भेज दे । रुस ने अपने पक्ष में तर्क दे कर सुरक्षा परिषद को अपने पक्ष में करने का प्रयास किया । अन्तत : सुरक्षा परिषद इस बात से संतुष्ट थी कि रुसी सेनाएं इरान में ईरानी इच्छाओं के विरुद्ध है अत : ईरान को खाली कर देना चाहिए । और रुस को वहां से हटना पड़ा ।

कोरिया की समस्या– संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष सामूहिक सुरक्षा के परीक्षण के लिए 1950 में कोरिया संकट की समस्या आयीं इस संकट के समय संघ की कार्यवाही बहुत कमजोर सिद्ध हुई । यह विश्व का विश्वास प्राप्त करने में सफल नही हो पाई । अमेरिका ने कोरिया युद्ध में अकेले ही संघर्ष किया । उसने उत्तरी कोरिया पर आक्रमण करके दक्षिणी कोरिया को बचाया परन्तु अमेरिका का यह कदम सामूहिक सुरक्षा की भावना से नहीं अपितु साम्यवादी प्रसार को रोकने के लिए उठाया गया कदम था । फिर भी संघ के आदेश पर 15 से अधिक राष्ट्रों ने अपनी शस्त्र सेना भेजी थी ।

दक्षिण अफ्रीका की समस्या– रंग भेदी नीति के लिए कुख्यात दक्षिण अफ्रीका को भी आखिरकार संयुक्त राष्ट्र संघ का कोपभाजन बनना ही पड़ा । ज्यादातर राष्ट्रों ने दक्षिण अफ्रीकी गोरी सरकार के काले कारनामों के कारण उससे संबंध तोड़ लिए । सिर्फ ब्रिटेन और अमेरिकी सरकार उसके हितैषी सिद्ध हुए । अन्तत : अमरीकी सरकार को भी बाध्य होकर सुरक्षा परिषद द्वारा लगाए गए आर्थिक प्रतिबंधों का अनुमोदन करना ही पड़ा और आज दक्षिण अफ्रीका रंग भेद नीति से मुक्त हो चुका है ।

कुवैत की समस्या– 1991 में जब इराक ने कुवैत पर कब्जा कर लिया एक भयानक स्थिति उत्पन्न हो गई । संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रतिबंधों का इराक पर कोई असर नही हुआ फलत : अमेरिका तथा उसकी सहयोगी राष्ट्रों ने इराक पर हमला बोल दिया । इस समस्या में भी सामूहिक सुरक्षा कारगर सिद्ध न हो पायी ।

7 सामूहिक सुरक्षा के मार्ग में बाधाएं

सामूहिक सुरक्षा के सफल न होने के लिए कुछ पहलू जिम्मेदार हैं । इन बाधाओं में निम्न प्रमुख है :- –

1. राष्ट्रों को निषेधाधिकार प्राप्त होना । निषेधाधिकार प्राप्त राष्ट्र हमेशा इससे बचे रहते है अत : सामूहिक सुरक्षा का प्रयोग केवल कमजोर राष्ट्रों के लिए होता है ।
2. कभी–कभी युद्ध को शुरु करने वाला कौन है यह तय कर पाना कठिन होता है ।
3. सभी राष्ट्र युद्ध को रोकने के पक्ष में नहीं होते है क्योंकि इससे उनका स्वार्थ जुड़ा होता है ।
4. सामूहिक सुरक्षा में हमेशा युद्ध का खतरा बना रहता है ।
5. राष्ट्रों में आपसी अविश्वास की भावना भी एक महत्वपूर्ण बाधा है ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सिद्धान्त : सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा बहुत अच्छी है पर व्यावहारिक रुप में यह उतनी प्रभावी नहीं है । इस संदर्भ में पामर और परकिन्स का विचार बहुत महत्वपूर्ण है । वे कहते है "संयुक्त राष्ट्र संघ अपनी प्रकृति के कारण वास्तविक सामूहिक सुरक्षा का प्रभावी साधन न तो कभी था और न ही कभी भविष्य में हो पाएगा ।"

8 सामूहिक सुरक्षा और असंलग्नता

असंलग्नता या गुट–निरपेक्षता का तात्पर्य एक ऐसी नीति से है जो किसी भी सैनिक गुटबंदी में शामिल नही होती है । परन्तु असंलग्न राष्ट्र स्वयं एक स्वतंत्र समूह के रुप में

सामने आए और आज यह "नाम" में परिवर्तित हो गए हैं । इनका उद्देश्य है राष्ट्रीय सुरक्षा के साथ–साथ अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा एवं शांति बनाए रखने वाली नीतियों का निर्माण एवं उनका अनुसरण करना । इस दृष्टिकोण से देखा जाये तो असंलग्नता एक प्रकार से सामूहिक सुरक्षा का वातावरण तैयार करती है ओर सहायक का रोल' निर्वाह करती है । असंलग्नता आयी ही इसलिए कि आक्रमणकारी शक्तियों या साम्राज्यवादी अथवा किसी भी अन्य प्रकार की गुट–शक्तियों को जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा हो उसका विरोध कर सके । राष्ट्रों में नैतिकता और त्याग का आदर्श बनाए । सैनिक संधि के शांति प्राप्त करने के तरीकों का विरोध करें ।

असंलग्नता की नीति को अपनाने वाले राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ को बहुत महत्व देते है तथा सामूहिक सुरक्षामें भी विश्व संस्था को महत्वपूर्ण माना जाता है । इतनी सारी समानताएं होते हुए भी दोनों में एक बड़ी असमानता है और वह यह है कि गुट निरपेक्ष राष्ट्र या असंलग्न राष्ट्र या जिन्हें निर्गुट राष्ट्र कहा जाता है वे उनमें से किसी एक राष्ट्र के ऊपर आक्रमण होने से आक्रमणकारी राष्ट्र के खिलाफ मिलकर कार्यवाही नहीं करते हैं जबकि सामूहिक सुरक्षा में इसके विपरीत होता है । फिर भी ज्यादातर मान्यताओं में सामूहिक सुरक्षा और असंलग्नता की नीतियां एक दूसरे के काफी निकट हैं ।

9 सामूहिक सुरक्षा और क्षेत्रीय संधियां

क्षेत्रीय संधियां जो संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का विरोध नहीं करती हैं और जो विश्व व्यवस्था और शांति बनाए रखने में सहयोग देती हैं उनको स्वीकार किया गया है । परन्तु विश्व राजनीति में ध्रुवीकरण के कारण विश्व दो सैनिक तथा राजनीतिक खेमों में बंटकर रह गया है । इससे सैनिक गुटबंदियों की संधियों को प्रोत्साहन मिला है और ये फलत :शांति के स्थान पर तनाव की वृद्धि करते हैं । अत : इन्हें सामूहिक सुरक्षा की सहयोगी नहीं कहा जा सकता । बल्कि ये इस धारणा के विपरीत ही कार्य करती है । नाटो, सीटो, बगदाद पैक्ट आदि संधियों ने शांति के बदले तनाव ही पैदा किया है ।

10 शक्ति–संतुलन का अर्थ और प्रकृति

शक्ति संतुलन काफी पुराना और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सबसे विवादास्पद अपधारणा है । शक्ति–संतुलन के विचार का महत्वपूर्ण समय 1500 ई. से प्रारम्भ हुआ और महत्वपूर्ण रहा । 1948 ई. में वेस्टफालिया के संधि के समय यह और भी महत्वपूर्ण हो गया तथा अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का महत्वपूर्ण अंग बन गया । इसकी महत्ता नेपोलियन के पतन (1815) के समय तक बनी रही । अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में इसका उपयोग लगातार होता रहा । स्नाइडर का मत है कि "शक्ति संतुलन आज भी अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का केन्द्र बिन्दु है" परन्तु कुछ विचारक यह भी मानते हैं कि आज के संदर्भ में यह सिद्धांत अपनी मान्यता खोता जा रहा है अत : कुछ लोग इसके तीव्र आलोचक भी हैं ।

शक्ति संतुलन को ठीक प्रकार से समझने के लिए यह जरुरी है कि उसकी परिभायाएं प्रस्तुत की जाएं। कुछ परिभाषाएं निम्न हैं : –

1. इनिस क्लॉड–"शक्ति संतुलन की यह समस्या नहीं है कि इसके क्या अर्थ है, समस्या यह है कि इसके बहुत अर्थ हैं । "

2. मारगेन्थ्यू–"शक्ति संतुलन सामान्य सामाजिक सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है"
3. प्रोफेसर बी. फे–शक्ति संतुलन का अर्थ है "राष्ट्रो के परिवार के सदस्यों की शक्ति में न्यायपूर्ण तुल्य मारित जो कि किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र पर अच्छा–अच्छा लादने से रोकता है। "

शक्ति संतुलन की परिभाषाएं यह स्पष्ट करती हैं कि यह सिद्धान्त राष्ट्रों को सुरक्षा प्रदान करके उसकी अखंडता बनाए रखता है । यहां पर डिकिन्स की बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि संतुलन शब्द में समानता और असमानता दोनों ही अर्थ समाहित हैं । इससे दो बातें पुन: सामने आती हैं, पहली तो यह कि शक्ति संतुलन गतिशील है ओर दूसरी स्पाइक मैन की विवेचना कि सत्य तो यह है कि कोई राष्ट्र सिर्फ उसी प्रकार के शक्ति संतुलन में रुचि रखता है जो उसके पक्ष में होता है ।

11 शक्ति संतुलन के रुप

शक्ति संतुलन के दो रुप हैं :

1. सैद्धांतिक और 2 व्यावहारिक

1. सैद्धांतिक दृष्टिकोण से भी इसके दो रुप है

(अ) साधारण रुप और

(आ) जटिल रुप ।

(अ) साधारण संतुलन तब कहा जाता है जब दो रुप से शक्तिशाली राष्ट्र विरोधी गुट में रहते हैं।

(आ) जटिल रुप तब देखने को मिलता है जबकि राष्ट्रों के अनेक समूह एक दूसरे में संतुलन करते हों तथा इस संतुलन के अंतगर्त कई उप संतुलन भी मिलते है ।

2. व्यावहारिक रुप

इसके अन्तर्गत प्रत्यश विरोध तथा प्रतिद्वन्दिता सम्मिलित रहती है । यह मारगेन्थ्यू के सिद्धान्त के अनुसार है । प्रत्यक्ष विरोध के अन्तर्गत दो राष्ट्रों या गुटों या समूहों के मध्य सीधा विरोध होता है । इसमें एक गुट अपनी शक्ति के आधार पर दूसरे पर हावी होना चाहता है । और दूसरा गुट अपनी शक्ति के द्वारा पहले गुट का विरोध करता है । यही कारण है कि इस प्रकार के संतुलन हेतु राष्ट्र लगातार अपनी शक्ति में वृद्धि करते रहते हैं ।

यह आपसी होड़ सामाज्यवादी मनोवृत्ति को बढ़ावा देती है या फिर यथास्थिति कायम रखने का प्रयास किया जाता है ।

12 शक्ति संतुलन की धारणाएं

शक्ति संतुलन की निम्न पांच प्रमुख धारणाएं है :

1. राज्य के हितो की रक्षा हर सम्भव उपाय द्वारा होनी चाहिए, चाहें अन्तिम रुप से युद्ध की क्यों न करनी पड़े ।
2. जब तक राष्ट्र के वास्तविक व प्रमुख हित खतरे में न हों राज्य यथास्थिति बनाए रखने का प्रयास करते है ।

3. आक्रमणकारी राज्यों को आक्रमण करने से रोकने की व्यवस्था है । जिस पर आक्रमण हुआ है उसकी रक्षा होती रहे ।
4. राज्य की शक्ति का भली–भांति मूल्यांकन करना और भविष्य के लिए लाभ उठाना ।
5. विशेष नीति आपनाते समय राजनीतिज्ञों और कूटनीतिज्ञों को शक्ति के सिद्धान्त को आधार मानना चाहिए ।

13 शक्ति संतुलन की प्राप्ति के तरीके

मारगेन्थ्यू ने शक्ति संतुलन प्राप्ति के लिए सहज ढंग से बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही है । इनके अनुसार शक्ति संतुलन की स्थापना या तो भारी पलड़े के वजन को कम करके या कमजोर पलड़े के वजन को बढ़ाकर की जा सकती है । पामर और परकिन्स ने अपनी पुस्तक अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में अग्रलिखित तरीकों द्वारा संतुलन स्थापित करने की व्याख्या की है :

1. गठबंधनों का निर्माण
2. मुआवजा देना
3. शस्त्रीकरण और निशस्त्रीकरण
4. हस्तक्षेप और अहस्तक्षेप
5. अन्त : स्थ राज्य
6. विभाजित करो और शासन करो

1. गठबंधनों का निर्माण–

एक राष्ट्र विशेष का आकांक्षावादी होना दूसरे के लिए खतरा बन जाता है । ऐसे में अन्य राष्ट्र उसके विरुद्ध हो जाते हैं । इस प्रकार अस्थायी या स्थायी मित्रता स्थापित करके उग्र आकांक्षावादी को रोका जा रहा है । यूरोप में ऐसा समय–समय पर होता रहा है । उदाहरणार्थ, १८९२ में फ्रांस और रूस के बीच एक संधि की गई जिसमें कहा गया कि यदि जर्मनी या इटली ने फ्रांस पर आक्रमण किया तो रूस उसे हर सम्भव सहायता देगा तथा यदि रूस पर आस्ट्रिया जर्मनी ने आक्रमण किया तो फ्रांस उसे हर सम्भव मदद देगा । द्वितीय विश्व युद्ध के बाद नाटो, सीटो आदि इसी प्रकार के उदाहरण हैं।

2. मुआवजा

युद्ध में विजेता राष्ट्र शत्रु भूमि को प्राय : मुआवजे में प्राप्त कर लेता है । इसका उदाहरण है पोलैंड का विभाजन, जर्मनी का विभाजन आदि । जब मुआवजा सीधे रुप से भूमि से नहीं जुड़ता है तो मारगेन्थ्यू का विचार है–राजनीतिक मामलों में कूटनीतिज्ञों की सौदेबाजी अपने सामान्य रुप में मुआवजा का ही एक सिद्धान्त है जो आने मूल रुप में शक्ति–संतुलन से सीधा संबंधित है ।

3. शस्त्रीकरण और निशस्त्रीकरण

शक्तिशाली राष्ट्र इस बात पर विशेष ध्यान देते हैं कि राष्ट्रीय सुरक्षा हेतु उनकी सैनिक तैयारी में कमी न रहने पाये परिणामस्वरुप शस्त्रों की दौड़ शुरु हो जाती है और शक्तियों के मध्य तनाव का वातावरण बन जाता है । जो कि बहुत भयानक सिद्ध हो सकता है । अत यह सिद्धान्त प्रचलन में आया कि एक स्थायी शक्ति संतुलन प्राप्त करने के लिए शस्त्रों की दौड़ पर

रोक लगायी जानी चाहिए । इसके लिए लगातार प्रयत्न किए जा रहे हैं और कई बार नि : शस्कत्रीरण हेतु महत्वपूर्ण संधियों द्वारा अच्छे परिणाम भी प्राप्त हुए हैं । परन्तु ज्यादातर अवस्था में नि : शस्त्रीकरण सफल नही हो पाया है । असल में, साल्वेडोर का कथन सर्वथा उचित है कि नि : शस्त्रीकरण की समस्या वास्तव में निशस्त्रीकरण की समस्या नहीं है । यह तो विश्व समुदाय के संगठन की समस्या है । अत : वास्तव में यह शक्ति संतुलन की समस्या है ।

4. हस्तक्षेप और अहस्तक्षेप

इस माध्यम से शक्ति संतुलन प्राप्त करने के प्रयत्न किए जाते हैं । ब्रिटेन ने इसका सर्वाधिक उपयोग किया है । ब्रिटेन कह योगदान यूरोपीय शक्ति संतुलन में सबसे अधिक रहा है । हस्तक्षेप में अपनी तटस्थता की नीति का थोड़ा सा त्याग किया जाता है और आवश्यकता पड़ने पर इसके द्वारा पूर्ण रुप से युद्धों में भी भाग लिया जाता है । अहस्तक्षेप एक प्रकार से सुझाव देने की नीति है । हस्तक्षेप का उदाहरण है– 'भारत का बांग्लादेश में, अमेरिका का कोरिया में आदि ।

5. अन्त : स्थ राज्य की स्थापना

जहां अन्तःस्थ या तटस्थ राज्य नहीं होते वहां प्रतिद्वद्धी राज्य सीधे एक दूसरे के विरोध में आते है । यही कारण है कि इन प्रतिद्वद्धी राज्यों के बीच अन्त : स्थ राज्य या तटस्थ इलाके बना दिए जाते है । उदाहरणर्थ– भारत और चीन के मध्य इसी प्रकार का अन्त : स्थ राज्य तिब्बत था । पोलैंड भी इसी प्रकार से रुस और जर्मनी के बीच अन्त : स्थ राज्य है।

6. विभाजित करो और राज्य करो

इसे पिंग–पॉन्ग की नीति भी कहा जाता है । इस नीति का प्रयोग सर्वाधिक और प्रभावशाली ढंग से ब्रिटेन द्वारा किया जा रहा है । इसके अलावा रुस और अमेरिका ने भी एक दूसरे के विरुद्ध इस नीति का उपयोग करके शक्ति संतुलन बनाने का प्रयास किया है । भारत के स्वतंत्रता आंदोलन को कमजोर करने में अंग्रेजों ने हिन्दु एवं मुसलमानों में फूट डालने के लिए इस नीति का अनुसरण किया था । यही नीति अमेरिका और रुस एक दूसरे के मित्रों को तोड़ने में उपयोग करते हैं ।

14 शक्ति संतुलन की विशेषताएँ

1. शक्ति संतुलन की पहली विशेषता है कि इससे यथास्थिति प्राप्त की जा सकती है । पर यह यथास्थिति हमेशा के लिए स्थायी नहीं होती ।
2. शक्ति संतुलन में ऐतिहासिक और राजनीतिक दोनों ही प्रवत्तियॉ हैं । विद्वान शक्ति का संतुलन तब मानते है जब दोनों गुट समान शक्तिशाली हों और विरोधी कमजोर स्थिति में हो ।
3. शक्ति संतुलन न तो तानाशाही और न ही प्रजातंत्रात्मक पद्धतियों के लिए उचित है।
4. शक्ति संतुलन की राजनीति बड़े लोगों का खेल है, छोटी शक्तियों का नहीं ।
5. इसमें गतिशीलता है जो स्थिति और समय के अनुसार परिवर्तित होती रहती है ।

15 शक्ति संतुलन का महत्व

शक्ति संतुलन के महत्व के बारे में विद्वानों में मतभेद रहा है । विद्वानों का एक वर्ग मानता है कि शक्ति संतुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आधारभूत सिद्धांत है और यह आज भी महत्वपूर्ण है । जबकि दूसरे पक्ष के विचारंकों का कहना है कि शक्ति संतुलन की अवधारणा अब पुरानी पड़ गई है । फरेरा का मत है कि उन्नीसवीं शताब्दी का यूरोप युद्धों के लिए विख्यात रहा है इस समय युद्धों को सीमित रखने और स्थानीय बनाये रखने में शक्ति संतुलन की राजनीति ने बहुत योगदान दिया है । युद्ध अथवा शांति दोनों के ही द्वारा शक्ति संतुलन की स्थापना जाती रही है । शक्ति संतुलन के महत्व का आंकलन उसके पक्ष में दी जाने वाली तत्यों से किया जा सकता है पर यह आंकलन तब हक अधुरा रहेगा जब तक उसके विपक्ष में दिए तर्को पर ध्यान नही दिया जाता । अत : यहाँ पक्ष और विपक्ष में तर्को का अध्ययन आवश्यक है ।

1. शक्ति संतुलन की राजनीति का महत्व इसलिए ज्यादा है क्योंकि इसके द्वारा उन राष्ट्रों की उम्मीदों पर पानी फेर दिया गया जो सम्पूर्ण विश्व पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते थे । इसका सबसे अच्छा उदाहरण– जर्मनी तथा इटली के द्वारा द्वितीय विश्व युद्ध के माध्यम से सम्पूर्ण विश्व पर आधिपत्य जमाने का इरादा और उनकी संयुक्त शक्ति का सामना करने हेतु ब्रिटेन, अमेरिका कनाडा तथा रूस आदि राष्ट्रों का मैत्री संगठन बनाना ।
2. उन छोटे– छोटे तथा कमजोर राष्ट्रों की रक्षा होना जिनपर शक्तिशाली राष्ट्र अपनी गिद्ध निगाहें जमायें थे कि मौका मिले और उन्हें खा जाए । नीदरलैंड, बेल्जियम और बालकन राज्यों की रक्षा शक्ति संतुलन द्वारा ही की जा सकी ।
3. फरेरो का मत है कि शक्ति संतुलन के सिद्धांत ने युद्ध को ज्यादा फैलने से रोकने और उसे स्थानीय बनाए रखने में मदद की । इसका उदाहरण इतिहास में भरा है ।
4. क्विन्सी राइट का यह मत है कि शक्ति संतुलन प्रत्येक राज्य के मन में यह विश्वास जमाता है कि यदि उसने दूसरे राज्य पर आक्रमण किया तो अन्य राज्यों के संगठित प्रयासों द्वारा उसका विरोध किया जाएगा । निश्चय ही यह आक्रमणों को हतोत्साहित करता है ।

विपक्ष में तर्क : –

1. शक्ति संतुलन प्राप्त करने हेतु राष्ट्र आपस में प्रतिद्वन्दिता करते हैं । वे आने आप को इतना अधिक शक्तिशाली बना लेना चाहते है, जिससे उन पर आक्रमण न हो और यदि हो तो वे पराजिन न हो जाएं । यह तनाव नए शस्त्रीकरण की दौड़ को प्रोत्साहित करता है ।
2. शक्ति संतुलन से शांति प्राप्त नहीं की जा सकती है । इतिहास इस बात को प्रमाणित करता है कि जिस समय शक्ति संतुलन का प्रयोग किया गया उसी समय सबसे ज्यादा युद्ध हुआ ।
3. यह बात पूर्ण रुप से सत्य नही है कि यदि किसी एक राष्ट्र के पास सर्वाधिक शक्ति हो जाए तो अन्य राष्ट्रों की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है ।

4. राष्ट्र अपनी शक्ति का विकास हमेशा आक्रमण या संधियों द्वारा नहीं करते वरन ज्यादातर अवस्था में अपने आन्तरिक साधनों का सही उपयोग करके भी करते रहते हैं।

शक्ति संतुलन का सिद्धांत आज की जटिल राजनीतिक व्यवस्था में अभी भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है । यह तब तक महत्वपूर्ण बना रहेगा जब तक कोई विश्व संस्था चाहे वह संयुक्त राष्ट्र संघ ही हो, एक बहुत शक्तिशाली संस्था का रुप प्राप्त न कर ले । यह सर्वविदित है कि ऐसा निकट भविष्य में संभव नही है । अत : शक्ति संतुलन की आवश्यकता और महत्व निरंतर बना रहेगा । पर फिर भी इसका महत्व पहले जैसा नहीं रहा । इसकी उपयोगिता में कमी आयी है । यह सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनों ही रुपों में सत्य है कि यदि शक्ति का व्यापक रुप से वितरण और संतुलन हो तो युद्ध को लम्बे समय के लिए टाला जा सकता है । यह युद्धों को टालने की रामबाण ओषधि नही है।

16 सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन

सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन दोनों का उद्देश्य विश्व शांति है । दोनों युद्ध और तनाव से विश्व को दूर रखने का प्रयास करते हैं । दोनों का संबंध रक्षा अथवा सुरक्षा से है पर फिर भी दोनों की कार्य प्रणालियाँ बहुत भिन्न है । सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन के निम्न प्रमुख अन्तर है –

1. शक्ति संतुलन में यह प्रयास किया जाना है कि विश्व का कोई भी राज्य इतना शक्तिशाली न हो जाए कि अन्य राष्ट्रों को अपने अधीन बना ले । पर सामूहिक सुरक्षा में इस बात पर कोई ध्यान नही दिया जाता है ।
2. सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत करती है जिससे संधि या समझोते इस बात को स्वीकार करते हैं कि यदि संधि में शामिल किसी एक राज्य पर कोई आक्रमण होता है तो वह अन्य सभी सन्धिकारी राज्यों पर भी किया गया आक्रमण माना जाएगा । पर शक्ति संतुलन में संधि की ऐसी व्यवस्था नहीं होती ।
3. सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था बनाने के लिए कार्य करती है जबकि शक्ति संतुलन में व्यवस्था और अव्यवस्था दोनों ही स्थितियाँ पनपती है ।
4. मूलभूत रुप से शक्ति संतुलन विश्व को गुटबाजी में बाँटता है जबकि सामूहिक संस्था की मान्यता अन्तत : एक विश्व की है ।
5. आक्रमण का सामना करने की प्रणाली के आधार पर दोनों भिन्न हैं । शक्ति संचालन गुटबाजी का सहारा होता है जबकि सामूहिक सुरक्षा में सामान्य सहयोग को ही आधार माना जाता है ।
6. सामूहिक सुरक्षा सिद्धांतों चलती है और शांति संतुलन का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत व्यावहारिक रहता है ।

17 क्या सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन एक दूसरे के पूरक हैं?

क्वीन्सी राइट के अनुसार "शक्ति संतुलन और सामूहिक सुरक्षा के बीच संबंध एक ही समय में सहायक एवं विरोधी दोनों ही रहे हैं " । यह एक कथन दोनों के संबंध की उचित

विवेचना करता है । पर इसके साथ ही यह भी सत्य है कि दोनों की मौलिक मान्यताएँ एक दूसरे से भिन्न हैं । सामूहिक सुरक्षा का उद्देश्य है आक्रमण करने वाले राष्ट्र के विपरीत अन्य सभी राष्ट्रों को एक जुट करना । जबकि शक्ति का संतुलन, शक्ति को संतुलित बनाए रखने के प्रयास में लगा रहता है । सामूहिक सुरक्षा का राष्ट्रों की ओर से काफी दायित्व होता है । इसमें शक्ति संतुलन की अपेक्षा अधिक जिम्मेवारी होती है । सामूहिक सुरक्षा में प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित को अन्य राष्ट्रों को राष्ट्रीय हित के साथ मिला कर देखता है तथा एक विश्व व्यवस्था के रुप में हमलावर राष्ट्र का सामूहिक रुप से मुकाबला करता है । शक्ति संतुलन में राष्ट्रीय हित और उसे बनाए रखना सर्वोपरि है ।

इन सब अंतरों के बावजूद सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन एक दूसरे के पूरक भी हैं । सामूहिक सुरक्षा का मूल उद्देश्य है– अन्तर्राष्ट्रीय शांति और व्यवस्था बनाए रखना । शक्ति संतुलन भी शक्ति को संतुलित बनाए रख कर विश्व शांति प्राप्त करता है । अत : उद्देश्य दोनों के एक है । साध्य एक है बस साधन में अनतर है । शक्ति संतुलन राष्ट्र विशेष को अधिक शक्तिशाली होने से रोकता हे । सामूहिक सुरक्षा शक्ति संतुलन के बदले एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करना चाहता है जिसमें एक विश्व समाज का निमार्ण हो । ऐसे समाज में जहां शांति व्यवस्था बनी रही । ऐसी व्यवस्था स्थापित होने पर गुटबंदी शस्त्रीकरण युद्ध आदि के लिए कोई स्थान नही होगा । जबकि शक्ति के संतुलन में इन बातों का महत्व बहुत होता है पर इस प्रकार की स्थिति का प्राप्त होना बिल्कुल. असम्भव प्रतीत होता है । फलत : सामूहिक सुरक्षा और शक्ति का संतुलन दोनों ही अपने – अपने दायरे में काम करते रहते हैं तथा विश्व में शांति बनाए रहने में लगे रहते हैं ।

सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन के बीच के संबंध को समझने के लिए कुछ उदाहरण आवश्यक हैं ।

पहला उदाहरण है राष्ट्र संघ का । इस संघ के निर्माताओं ने यह सोचा था कि यह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सुरक्षा स्थापित करेगा । इसे शक्ति संतुलन को खत्म करना था । शक्ति संतुलन के बदले शक्ति समुदाय की बात की गई थी । पर वास्तव में ऐसा नहीं हो सका । अमेरिका तथा कई अन्य राष्ट्रों ने इसका सदस्य बनना अस्वीकार कर दिया । रूस और जर्मनी भी इसके बाद में सदस्य बने । इस कारण राष्ट्र संघ शक्तिशाली राष्ट्रों के समान शक्तिहीन साबित हुआ । १९२९ का आर्थिक संकट, हिटलर का शासन में आना, जापान का मन्चूरिया पर आक्रमण आदि राष्ट्र संघ की कमजोरी का उदाहरण हैं । यह विश्व शांति संतुलन को खत्म करने में असफल रहा । ओपनहाइम ने अपनी पुस्तक में ठीक ही कहा है कि राष्ट्र संघ जैसी संस्था शक्ति संतुलन के महत्व को घटाने के बदले बढ़ा देती है । क्योंकि शक्तिशाली राष्ट्र को राष्ट्र संघ की परवाह नहीं होती है ।

दूसरा उदाहरण है संयुक्त. राष्ट्र संघ का । संयुक्त राष्ट्र संघ की– स्थापना द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुई । यह संस्था राष्ट्र संघ से अधिक शक्तिशाली तथा विश्व राजनीति से वास्तविकता में जुड़ी थी । इसमें सामूहिक सुरक्षा को काफी महत्व दिया गया था । पर पांच शक्तिशाली राष्ट्रों को निषेधाधिकार देकर सुरक्षा परिषद को काफी कमजोर बना दिया गया । निषेधाधिकार होने की वजह से ये राष्ट्र अपने विरूद्ध किसी भी प्रस्ताव को वीटो कर सकते है ।

इसके बाद सुरक्षा संधियों ने भी सामूहिक सुरक्षा को कमजोर बना दिया है । कोरिया में ही उत्तरी तथा दक्षिणी कोरिया को समर्थन दे विभिन राष्ट्रों ने शक्ति के संतुलन का उदाहरण दिया । यहां सामूहिक सुरक्षा विफल रही । अत : संयुक्त राष्ट्र संघ में शक्ति संतुलन का बोल बाला रहता है ।

अत : जब तक विश्व अलग – अलग राष्ट्रों में बंटा तबतक शक्ति संतुलन का महत्व बना रहेगा । एक विश्व की स्थापना से ही इसका महत्व खत्म हो सकता है । इस प्रकार जैसा कि क्वीन्सी राइट ने कहा है सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन का संबंध विपिन अंतरों के बावजूद एक दूसरे का पूरक भी है ।

18 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य

सामूहिक सुरक्षा आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिाति में एक महत्वपूर्ण स्थान रखने वाली प्रवृत्ति है । राष्ट्रों की नीतियों में इसका समावेश किया में गया है । शक्ति संतुलन की अपेक्षा विश्व शांति को प्राप्त करने तथा राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए यह एक महत्वपूर्ण नीति मानी जाती है । यद्यपी यह भी एक यथार्थ है कि यह विश्व शंति की गारंटी नहीं है और न ही राष्ट्रीय सुरक्षा की । मारगेन्थ्यू ने सामूहिक व्यवस्था को आज की परिस्थितियों में योग्य नहीं पाया है और उनका कहना हैं कि यह नीति बुद्धिमतापूर्ण भी नहीं है क्योंकि इसमें कोई भी युद्ध सीमित या स्थानीय नही किया जा सकेगा । उसका स्वरूप विश्व युद्ध का ही होगा ।

शक्ति संतुलनं सामूहिक सुरक्षा की अपेक्षा पुरानी अवधारणा है शक्ति संतुलन विश्व में शक्ति का ऐसा संतुलन बनाना चाहता है ताकि युद्ध न हो और शांति का वातावरण बना रहें पर शक्ति संतुलन गुटबंदी, शस्त्रीकरण, आपसी होड़ आदि को बढ़ावा देता है । इससे हमेशा तनाव का वातावरण बना रहता है । सामूहिक सुरक्षा के कारण इसके महत्व में कमी आई है । सामूहिक सुरक्षा की कमजोरियों ने ही शक्ति संतुलन को खत्म होने से बना लिया है । सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन एक दूसरे से मिलकर आपने उद्देश्य – विश्व शांति को प्राप्त करने में जुटे रहते हैं । इस उद्देश्य की प्राप्ति में दोनों के तरीको में अंतर है । शक्ति संतुलन आज भी बरकरार है और सामूहिक सुरक्षा के पूरक के रूप में भी देखा जाता है ।

19 अभ्यास प्रश्न

1. सामूहिक सुरक्षा की व्याख्या कीजिए तया सामूहिक सुरक्षा और शक्ति संतुलन में अन्तर स्पष्ट कीजिए ।
2. सामूहिक सुरक्षा पद्धति को लागू करने में संयुक्त राष्ट्र संघ कहां तक सफल रहा है?
3. “सामूहिक सुरक्षा एक मृग तृष्णा हैं”। विवेचना कीजिए ।
4. शक्ति संतुलन से आप क्या समझते हैं? उसकी क्या मुख्य विशेषताएँ हैं? इसको कायम रखने के क्या साधन हैं?
5. "शक्ति संतुलन की अवधारणा एक ऐसी अवधारणा है जो पुरानी पड़ गई है और बेकार है, क्योकि वह आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के पेचीदे यथार्थ को नही खोज पाती और न ही बता पानी है । " विवेचना कीजिए ।

20 संदर्भ ग्रन्थ

1. मॉरगेन्थ्यू– **थ्योरी ऑफ इंटरनेशनल पालिटिक्स**
2. पामर और परकिन्स – **इंटरनेशनल रिलेसन्स**
3. महेन्द्र कुमार – **थेयोरेटिकल आसपेक्टस् ऑफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स**
4. गाँधी जी राय – **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति**

इकाई–10

नि:शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. अवधारणाओं का प्रसंग
4. नि:शस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण के विविध उपागम
5. नि:शस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण की उपलब्धियां
6. प्रगति–अवरोध के कुछ कारण
7. वैकल्पिक कार्य–योजना की संकल्पना
8. निष्कर्ष
9. उद्धराग एवं संदर्भ ग्रन्थ
10. अभ्यास–प्रश्न

1. उद्देश्य

इस इकाई की रचना का उद्देश्य है : –

I. नि:शस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण का अभिप्राय स्पष्ट करना,

II. दोनों को समझने के विविध उपागमों की समीक्षा करना,

III. नि: शस्त्रीकरण व शस्त्र नियंत्रण की उपलब्धियां तथा सीमाओं को समझना; तथा

IV. वैकल्पिक कार्य–योजना की चर्चा करना ।

2. प्रस्तावना

नि:शस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण विश्व स्तर पर सैन्य संगठन एवं विस्तार के पारम्परिक एवं गैर–पारम्परिक पक्षों के प्रति तार्किक अनुक्रिया है । आज की वास्तविकता यह है कि अल्बर्ट आइंस्टीन की युगान्तरकारी वैज्ञानिक खोज कि ऊर्जा को पदार्थ में बदला जा सकता है ($E= mc^2$) स्वयं व्यक्ति के चेतन क्रिया–कलापों के कारण मानवना के लिए एक अभिशाप बन गई है । एक ओर व्यक्ति प्रकृति पर विजय द्वारा वस्तुत : 'सुपरमेन ' बन गया है तो दूसरी ओर उसकी इस क्षमता के अनुरूप उसका विवेक नहीं पनप सका है । इसी के फलस्वरुप वह अपने लिए आज ज्यादा से ज्यादा कीमत पर बड़े से बड़ा जोखिम खरीदता दिखाई देता है ।[1] आज से लगभग डेढ़ दशक पहले ही विश्व का सैन्य व शस्त्र खर्च प्रतिवर्ष 350 अरब अमेरिकी डॉलर हो चुका था ।[2] उसी समय यह अनुमान किया गया था कि खर्चे की यह दर बहुत अधिक चिंताजनक रुप से बढ़ रही है । 1900 की तुलना में 1976 के दौरान हथियारों पर खर्च 30 गुणा अधिक हो गया था ।[3] खर्च की इस दौड़ में विकासशील देशों का योगदान केवल 7.5% था । इसका अर्थ यह है कि दुनिया की बड़ी शक्तियां अपना विश्व–दर्जा बढ़ाने की दृष्टि से इस दिशा में अधिकाधिक खर्च कर रही हैं । उन्हें इस बात की कोई चिन्ता ही नहीं हैं

। कि दुनियां की बुनियादी जरूरतें पूरी भी हो पा रही हैं या नही । ऐसा करने के लिए उनके वैचारिक मतभेद भी नहीं आड़े आते । सब कुछ भुला कर वे इस अभियान में एक दूसरे के साथ हैं और दुनिया पर अपनी 'ठेकेदारी ' थोपने पर पूरी तरह आमादा भी ।[4] इस स्थिति से बचाव विश्व–विकास की खोई प्राथमिकताओं को, फिर से पाने के लिए निहायत जरूरी है ।

3. अवधारणाओं का प्रसंग

नि:शस्त्रीकरण के अनेक स्वरुप विद्यमान है और उनको उनके यथा क्रम में समझना उचित होगा। नि: शस्त्रीकरण सामान्य नि: शस्त्रीकरण, स्थानीय नि :शस्त्रीकरण, नि :शस्त्रीकरण के गुणात्मक तथा मात्रात्मक पक्ष, शस्त्र–नियंत्रण इत्यादि प्रक्रियाओं के अभिप्राय समझना विषय के विश्लेषण के पूर्व आवश्यक है । मॉर्गेन्थो ने तीन मूल विभेदों के माध्यम से इन्हें स्पष्ट किया है।[5] मॉर्गेन्थो के अनुसार नि: शस्त्रीकरण से आशय है हथियारों का उन्मूलन अथवा उनमें घटाव (कमी) जबकि शस्त्र नियंत्रण का अर्थ है सैनिक स्थिरता के निर्माण की दृष्टि सें हथियारों की दौड़ का प्रभावी नियमन । सामान्य नि: शस्त्रीकरण व्यावहारिक स्तर पर अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के सभी सदस्यों द्वारा सहमत किसी व्यवस्था के प्रकार का उल्लेख करता है । जैसें 1932 का विश्व नि: शस्त्रीकरण सम्मेलन । दूसरी ओर, स्थानीय नि: शस्त्रीकरण राष्ट्रों की इस सीमित उद्देश्य से संलग्नता का परिचायक है जैसे 1817 की रश–बैगो संधि । गुणात्मक नि : शस्त्रीकरण केवल कुछ विशेष प्रकार के शस्त्रों के घटाव अथवा उन्मूलन से सम्बन्धित है, जैसे सामरिक हथियार परिसीमन संधि ('साल्ट ' संधि), परमाणु अस्त्र के परीक्षण पर आंशिक प्रतिबन्ध सम्बन्धी संधि (पार्शल टेस्ट बेन संधि) तथा आणविक अस्त्र प्रसार निषेध संधि (एन. पी. टी.) जबकि मात्रात्मक नि: शस्त्रीकरण सभी अथवा अधिकांश अस्त्र–प्रकारों में व्यापक कमी करने के उद्देश्य को समर्पित है । इसका उदाहरण विश्व नि : शस्त्रीकरण सम्मेलन में प्रतिनिधित्व प्राप्त सभी देशों के व्यापक लक्ष्य से चरितार्थ होता है । सामान्यत : नि : शस्त्रीकरण का उद्देश्य है विद्यमान हथियार कें भण्डारों (Stock piles) का घटाव अथवा उन्मूलन । उसका उद्देश्य भविष्य सम्बन्धी किसी शस्त्र प्राविधिकी के आविष्कार अथवा प्रयोग का नियमन करना नही है । अपने इस अर्थ–रुप में यह शस्त्र–नियंत्रण की परिधि का निर्माण करता है । नि :शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण इस अर्थ में एक–दूसरे के पूरक है न कि विरोधी। नि : शस्त्रीकरण का उद्देश्य है : –

I. सर्वाधिक बुरी स्थिति में मानव सभ्यता के विलोप समेत भविष्य सम्बन्धी घातक युद्धों की आशंका का उन्मूलन तथा ।
II. अन्तर्राष्ट्रीय एकता की 'भावना के अनुरुप सैनिक उद्देश्यों को समर्पित वर्तमान कालिक संसाधनों का शांतिपूर्ण रचनात्मक तथा विकासात्मक कार्यो और लक्ष्यों के लिए पुर्नआबंटन । "[6]

4. नि:शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण के विविध उपागम

नि:शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण मिलकर अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शांति व व्यवस्था स्थापित करने का योगदान देते हैं । ये तथ्यत : शांति व व्यवस्था के साध्य को सुलभ करने

वाले साधन का सूत्रापात करते हैं । विशेषत. महाशक्तियों के स्तर पर हथियारों की होड़ के नियमन द्वारा नि: शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण दुनिया में शक्ति–संतुलन की स्थापना का महती योगदान भी देते हैं । जहां सामूहिक सुरक्षा सामूहिक बल के नियोजन द्वारा किसी राष्ट्र अथवा राष्ट्र समूहों की आक्रामक व्यूह–रचना को ध्वस्त करने का उपक्रम करती हैं, वहीं नि: शस्त्रीकरण अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को उन साधनों से ही वंचित करना चाहता है जिनकी सहायता से युद्ध लड़े जाते हैं । इस प्रकार नि: शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रक्रियाओं से अन्तरंग जुड़े हुए हैं । नि: शस्त्रीकरण को विकास से जोड़ने के हाल के प्रयासों ने तो अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के संदर्भ में नि: शस्त्रीकरण के सहयोगी घटक को दर्जे की और भी अधिक प्रगाढ़ बना दिया है । समस्या केवल यह है कि नि :शस्त्रीकरण की समस्या तक कैसे पहुंचा जाए और उसका संसाधन कैसे हो?

नि:शस्त्रीकरण के संदर्भ में एक प्रबल दृष्टिकोण तो यह है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की अन्तर्निहित जटिलताओं के मद्देनजर उसके प्रति एक सावधानी परक तथा संतुलित दृष्टि अपनाई जाए । यह दृष्टि कोण अपने क्रम में इन लोकप्रिय तथा आभासित रुप से प्रवंचक धारणाओं का अतिक्रमण करता है कि :

(1) युद्ध अनियमित हथियारों की होड़ से पैदा होते हैं, तथा

(2) नि: शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण शस्त्र–निर्माण एवं भंडारण की प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने की क्षमता रखते हैं ।[7]

प्रस्तुत दृष्टिकोण इन दोनों धारणाओं को इस आधार पर अस्वीकार करता है कि ये धारणाएं नि :शस्त्रीकरण तथा उसकी वास्तविक प्रयोज्यता में निहित कार्य–कारणत्व के तत्व को समझने में असमर्थ हैं । पहली धारणा तो यह दृष्टिकोण इस आधार पर अस्वीकार करता है कि इसके द्वारा हथियारों की होड़ को एक प्रकार का स्वचालन या आत्म–निहित तर्क सा मिलता है। और यह आभास सा होता है कि जैसे स्वयं हथियारों के भण्डार अपने आप अन्तर्राष्ट्रीय तनाव तथा संघर्ष बुनने लगते है । दूसरी धारणा इस मत के अनुसार इस आधार पर अमान्य लगती है कि जैसे स्वयं नि: शस्त्रीकरण से दुनिया में शान्ति और सुरक्षा पनपने लगेगी जबकि ऐसा है नहीं और हो भी सकता । वस्तुत : ऐसा तब होगा जब दुनियां में निहित शक्ति–सम्बन्धों के वैशेषिक प्रतियोगी संवेगों का आमूल नाश होगा । इस दृष्टिकोण की यह स्पष्ट मान्यता है कि नि: शस्त्रीकरण अनिवार्यत: अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अभिकर्ताओं के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रकट सहमति और संगति का ठीक वैसा ही परिणाम है जैसा हथियारों की होड़ अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा तथा प्रतियोगी भाव का । ये स्वयं अपने आप में न साध्य हैं और न हो सकते हैं । ये तो अधिक से अधिक साध्य को समर्पित साधन ही हो सकते है । अत हथियारों की होड़ तथा नि: शस्त्रीकरण तत्काल ही युद्ध के कारण व प्रभाव बनने की क्षमता रखते हैं ।

अभी हाल में रॉवर्ट. नील्ड ने नि: शस्त्रीकरण के प्रति तीन वैकल्पिक उपागम प्रतिपादित किए हैं। ये इस प्रकार हैं :–

(i) पारम्परिक–विश्वव्यापी उपनाम

(ii) अन्त : क्षेत्रीय नियंत्रण एवं संतुलन (inter–regional checks and balances) द्वारा नि: शस्त्रीकरण पाने का क्षेत्रीय उपागम; तथा

(iii) वैयक्तिक शस्त्र–आपूरकों के संयम से उपलब्ध पूर्ण नि: शस्त्रीकरण का उपागम

(i) पारम्परिक–विश्वव्यापी उपागम

यह उपागम इस पूर्व–कल्पना पर आधारित है कि सभी देशों की सर्व सम्मति से एक सहमतिपूर्ण समय–सारिणी के अनुसार दुनियां में सामान्य एवं पूर्ण नि: शस्त्रीकरण सम्भव हो सकेगा । नील्ड के अनुसार अन्तर्युद्ध काल (inter–War period) में उस समय इस उपागम के बीज अंकुरित हुए जब सभी प्रमुख यूरोपीय शक्तियों ने अमेरिका व जापान के साथ एक ऐसी तात्कालिक कार्य–योजना को चरितार्थ करने की कोशिश की जो एक–दूसरे को राष्ट्रेतर लाभ अर्जित करने स रोकती थी । नील्ड ने इस उपागम को इस आधार पर भी स्पष्ट किया है कि अक्सर यह उपागम एक 'विश्व व्यापी सांख्यिकीय नाटक ' से भी परिपुष्ट होता है जिसके अन्तर्गत यह आकलन प्रस्तुत किए जाते हैं कि सैनिक मद में कितनी कटौती कितने गुणी उद्देश्यों की पूर्ति में सक्षम हो सकेगी ।[8] दूसरे विश्व युद्ध के उपरान्त भी यह उपागम समय–समय पर प्रयोग लाया जाता रहा है । नील्ड इस उपागम से प्रकट उपायों को 'प्रसाधनात्मक ' (Cosmatic)[9] मानते हैं अर्थात् ऐसे उपाय जो प्रगति की ओर बढ़ने की चेष्टा तो करते हैं लेकिन उपलब्ध कुछ नहीं करा पाते ।

(ii) क्षेत्रीय उपागम

प्रत्येक क्षेत्र के लिए इस उपागम का तर्क–सार यह है कि इसके द्वारा हर क्षेत्र ऐसी व्यवस्थाएं करेगा जिनसे उस क्षेत्र में पारस्परिक आधार पर सहमत हथियारों की सीमा से अधिक हथियार नहीं आ सकेंगे । इस उपागम का सुझाव है कि प्रत्येक क्षेत्र में निहित देश अपने शस्त्र–भंडारण व संचय पर कुछ सीमाएं लगाएं । इस सहमति के प्रभावी पूरक के रुप में हथियारों की सप्लाई करने वाले देशों के साथ भी एक ऐसी सहमति आवश्यक है जिसके द्वारा वे स्वीकृति–स्तर से अधिक शस्त्र इन देशों को न दें, और इस समूचे प्रकरण में एक ऐसी 'केन्द्रीय देख–रेख की व्यवस्था ' हो जो कि स्वयं हथियार पाने वाले देशों से परिचालित हो । नील्ड यह महसूस करते हैं कि इस प्रकार का क्षेत्रीय सहयोग आसान नहीं है परन्तु "सम्भवत : छोटे स्तर से शुरुआत करके दुनियां में ऐसे व्यवहार्य क्षेत्रों की खोज हो सकती है जहां यह उपागम चरितार्थ हो " [10]

(iii) संयम द्वारा पूर्ण नि:शस्त्रीकरण सम्बन्धी उपागम

यह संयम वैयक्तिक शस्त्र–आपूरकों के स्तर पर चरितार्थ होना आवश्यक है । नील्ड यह महसूस करते है । कि आर्थिक कठिनाइयां इतनी अधिक प्रभावी है तथा हथियारों में निहित अनुसंधान व विकास व्यय इतना अधिक है कि हथियारों के व्यापार के बिना उसे संतुलित कर पाना अत्यधिक मुश्किल है । नील्ड ने इस अनुभूति के साथ स्वीडन के विशेष संदर्भ में इस उपागम की सम्भावनाओं का गहन अध्ययन किया और यह पाया कि हथियारों का भारी निर्यातक होने के बावजूद स्वीडन ने कभी भी तनाव ग्रस्त क्षेत्रों को हथियारों का निर्यात न ही

किया । अपने अध्ययन के क्रम में इस वैयक्तिक संयम की सम्भावनाओं को खोजते हुए नील्ड ने इस नीति के अन्तर्गत दो लाभों की संकल्पना की है :

(1) जिस स्तर तक हथियार सप्लाई करने, वाले देशों की संख्या आज कम है, उस स्तर तक उनमें परस्पर प्रतिस्पर्द्धा की मात्रा समाप्त प्राय हो सकती है । यह कमी सहमति अथवा टकराव द्वारा संयम की सम्भावनाओं को परिपुष्ट कर सकती है, तथा

(2) यह संयम विदेश नीति के व्यापक आकार एवं स्वरुप को सैन्य–विरोधी भाव–मुद्राएं प्रदान करता है जो कि संयम को पुन : परिपुष्ट करते हैं । इससे हथियारों की अंधी दौड़ को स्वयमेव विराम सा लग सकता है और समस्या की विकरालता गिरफ्तार हो सकती है ।

5. नि:शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण की उपलब्धियां

नि:शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण की उपलब्धियां काफी सीमित रही हैं, विशेषत: नि: शस्त्रीकरण की । इसका प्रयोग एक राजनीतिक बड़बोलेपन के रुप में अधिक हुआ है बनिस्पत किसी रचनात्मक गतिविधि के । अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में यह प्रवृत्ति दूसरे विश्व युद्ध के बाद से बरकरार है । जी. सी. डी. (जनरल एण्ड कम्पलीट डिसार्मामेन्ट–सामान्य तथा सम्पूर्ण नि: शस्त्रीकरण) की शब्दावली ईजाद करने के बावजूद दुनियां के देश, विशेषकर बड़ी शक्तियां, इस उद्देश्य की प्राप्ति से सम्बधित किसी भी गम्भीर प्रयास में प्राय : विफल रही है । इसका अर्थ यह नहीं है कि नि: शस्त्रीकरण की दिशा में प्रस्ताव नहीं तैयार किए गए हैं । यह तो बहुत हुए हैं आईजनहॉवर योजना (1953) से शुरु होकर ऐसे प्रस्ताव तो विचारार्थ बहुत प्रतिपादित हुए है जैसे नि: शस्त्रीकरण से सम्बधित संयुक्त राष्ट्र उपसमिति के प्रस्ताव. (1954); नि :शस्त्रीकरण पर शिखर सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ, फ्रांस व ब्रिटेन ने भाग लिया (1955), लंदन सम्मेलन (1957); बुल्गारिया के प्रस्ताव (1958); पोलेण्ड के प्रस्ताव (1958), निकिता खुरश्चेव के प्रस्ताव (1959), जिनेवा सम्मेलन की सिफारिशें (1960) तथा केनेडी प्रस्ताव (1961) । उल्लेखनीय बात यह है कि इन समस्त प्रस्तावों एवं सिफारिशों के पीछे आवश्यक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक इच्छा तथा पहल का सर्वथा अभाव था जिसकी वजह से विचार वस्तुत : चरितार्थ नहीं हो सके । सुधार सम्बन्धी सभी विचारों के इदगिर्द बड़ी शक्तियों के परस्पर अविश्वास व संशय विद्यमान थे जो एक–दूसरे की विध्वंसक क्षमता के प्रति अनाश्वस्त थे । खुरश्चेव ने इस प्रवृति को बिल्कुल साफ प्रकट किया जब उन्होंने यह टिप्पणी की कि कोई परमाणु अस्त्र "आंटी की अलमारी में भी बन्द पड़ा हो सकता है । "

आई. सी. बी. एम (इन्टर कॉन्टिनेन्टल बैलिस्टिव मिसाइल–अन्तर–महाद्वीपीय दूरी से मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों) के विकास के बाद से अब अचानक विध्वंसक युद्ध की सम्भावनांए तो लगभग समाप्त सी हो गई है परन्तु उनकी आशंका से उत्पन्न भय उतना ही अधिक बढ़ गया है । इस विकास का आकलन करते हुए रिचर्ड स्टर्लिंग का यह कथन उल्लेखनीय है कि ऐसे विकास से अब दुनियां के किसी भी 'भाग में आणुविक अस्त्र मिनटों में पहुंचाए जा सकते हैं । ऐसी स्थिति में वे "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अमिट तत्व बन गए है । " स्टर्लिंग का यह

निष्कर्ष है कि "समूचे विश्व में सैन्य बलों के वास्तविक उन्मूलन के अर्थ में नि :शस्त्रीकरण कोई जीवंत विकल्प नहीं है । (दुनियां में व्याप्त) नई परिस्थितियां (सामान्य एवं पूर्ण नि :शस्त्रीकरण सम्बन्धी) समस्त प्रस्तावों का मखौल उड़ाती है । ऐसे सभी प्रस्ताव जो समस्त आणविक अस्त्रों के उ उन्मूलन का आग्रह करते है (वस्तुत :) प्रचारात्मक अभ्यास से अधिक कुछ नही है क्योंकि आज की दुनियां में उनका उन्मूलन सत्यापित नहीं किया जा सकता" ।[12]

शस्त्र–नियंत्रण को दूसरी ओर नि: शस्त्रीकरण की अपेक्षा अधिक उत्साहपूर्वक उपलब्धियां अर्जित करने का श्रेय जाता है । दुनियां के अधिकांश राजनेता शस्त्र–नियंत्रण के अधिक पक्ष में थे क्योंकि वे हथियारों की होड़ तथा सैन्य प्राविधिकी की अपरिहार्यता के विषय में पर्याप्तत : आश्वस्त थे । 'यथार्थवाद ' का यह तकाजा था कि हथियारों के असत्यापनीय उन्मूलन की अपेक्षा उसके नियमन तथा नियंत्रण पर अधिक जोर दिया जाए । महाशक्तियां तथा मध्यस्थ शक्तियां दोनों इस दिशा में व्यवहार्य नियंत्रण व्यवस्था की पक्षधर थीं । इस दिशा में पहला उल्लेखनीय प्रयास 1963 में आणविक अस्त्र निषेध संधि के रुप में प्रस्तुत हुआ । यह संधि यद्यपि उसके उल्लंघन के विरुद्ध कोई सर्वसम्मत उपाय जुटाने में विफल रही । परीक्षण–क्षेत्र के निरीक्षण के विषय में क्योंकि महाशक्तियों के मध्य मतभेद थे और इस कारण यह मामला अनिर्णीत रहा था, यह संधि भूमिगत परीक्षण को रोकने से सम्बन्धित निषेधात्मक प्रावधान संयोजित नहीं कर सकी । भूमिगत परीक्षण दूर से नहीं जांचे जा सकते थे । उनके लिए तो परीक्षण–स्थल पर ही निरीक्षण की कोई कारगर व्यापक व्यवस्था आवश्यक थी । उस समय महाशक्तियों ने यह उदार आश्वासन अवश्य दिया था कि वे भविष्य में कभी इस आशय की सहमति की व्यवस्था का सूत्रपात करेंगी । लेकिन ऐसा आज तक सम्भव नहीं हो सका । आज अधिकांश महाशक्तियों ने भू–सतह के नीचे अपनी आणविक परीक्षण गतिविधियों का व्यापाक जाल निर्मित कर लिया है । और इस दिशा में उनका कोई प्रबल मनोयोग दिखाई नहीं देता । आणविक–क्लब की पूर्ण–सदस्यता पाने की लालसा में चीन और जापान ने अन्य शक्तियों का साथ नही दिया और इस संधि पर अपने हस्ताक्षर नहीं किए । वे अपनी आणविक परीक्षण और खोज में तल्लीन दिखाई देते है ।

इस दिशा में अन्य महत्वपूर्ण कदम था **1968 की आणविक अस्त्र प्रसार निषेध संधि (एन. पी. टी.)** । यह संधि आणविक अस्त्र युक्त देशों से यह आग्रह करती है कि वे उनका भावी प्रयोग एवं प्रसार न करें । साथ ही यह संधि गैर आणविक शक्तियों को आणविक प्राविधिकी के माध्यम से आणविक हथियारों के निर्माण के लिए भी मना करती है । आणविक शक्ति युक्त देशों को इसमें यह मनाही है कि वे आणविक प्राविधिकी किसी भी अन्य देश को स्थानांतरित करें । इस संधि को विकासशील देशों तथा कुछ गैर–यूरोपीय शक्तियों से गम्भीर प्रतिरोध मिला । चीन को इसमें अमेरिकी साम्राज्यवाद तथा रुसी सामाजिक संशोधनवाद के बीच गठजोड़ की संगीन बनावट दिखाई दी । भारत को यह विषमताकारक प्रकट हुई क्योंकि इसमें उसके अनुसार विकासशील देशों के राष्ट्रीय हितों एवं सुरक्षा कारकों की स्पष्ट उपेक्षा की गई थी। ऐसे ही मत कई अन्य देशों व उनके जन–संचार साधनों द्वारा व्यापक रुप से प्रकट किए गए।

संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ की **सामरिक अस्त्र परिसीमन वार्ताएं** तथा तत्सम्बन्धी सहमतियां शस्त्र–नियंत्रण की दिशा में एक अन्य उल्लेखनीय कदम रहे । सामरिक अस्त्र परिसीमन से सम्बन्धित ये सहमतियां दो व्यापक श्रेणियों को समर्पित थी :–

(अ) सामरिक रक्षात्मक अस्त्र परिसीमन, तथा

(ब) सामारिक आक्रामक अस्त्र परिसीमन ।

इन दोनों श्रेणियों में परस्पर कार्य–कारणत्व सम्बन्ध स्थापित है । **साल्ट (स्ट्रेटिजिक आर्म्स लिमिटेशन टॉक्स/ट्रीटीज) – I** में यह व्यवस्था की गई कि न तो अमेरिका और न रुस अपनी–अपनी सीमाओं में इन अस्त्र–व्यवस्थाओं को नियोजित करने का कोई प्रयास करेंगे । दोनों ने ही **ए. बी. एम. व्यवस्थाओं** की केवल दो–दो इकाइयों को अपने यहां सीमित रुप से रखने पर सहमति प्रकट की–एक राजधानी के इर्द–गिर्द तथा दूसरी आई. सी बी. एम. साइलो प्रक्षेपण स्थल पर केन्द्रित थी । प्रत्येक प्रक्षेपण स्थल पर प्रक्षेपकों की अधिकतम संख्या 100 निर्धारित की गई । **साल्ट– II** ने व्यापक भविष्य के संदर्भ में एक दीर्घसूत्रीय आधार पर सामाजिक अस्त्र परिसीमन की कार्य–योजना को मंजूरी दी ।

इस प्रकार शस्त्र–नियंत्रण हथियारों की होड़ को दुनिया में नियमित करने में आंशिक रुप से अवश्य सफल हुआ है । हालांकि इस सफलता ने विश्व–परिदृश्य पर कोई युगान्तरकारी प्रभाव नहीं छोड़ा है ।आज भी विश्व के देश सैनिक मदों पर अंधाधुंध खर्च कर रहे हैं । इन संसाधनों को अन्तर्राष्ट्रीय विकास प्रक्रियाओं में लगाने की प्रवृत्ति अधिकांशत: अनुपस्थित दिखाई देती है ।

इस खण्ड की चर्चा अधूरी रहेगी यदि नि: शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण को बढ़ाने की दिशा में संयुक्त राष्ट्र गतिविधियों का विशेष उल्लेख न हो । 1970 के दशक को "नि: शस्त्रीकरण दशक" के रुप में घोषित करते हुए संयुक्त राष्ट्र ने विकास और नि: शस्त्रीकरण । शस्त्र नियंत्रण प्रक्रियाओं को परस्पर सहयोगी और पूरक प्रक्रियाओं के रुप में संसाधित करने पर बल दिया । 1978 में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने पांच सप्ताह का एक विशेष अधिवेशन इस दिशा में हुई प्रगति के आकलन को समर्पित किया । साथ, ही इस अधिवेशन में नि: शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण को और प्रभावी आधार दिलाने के उद्देश्य से भावी कार्य–योजनाओं और उपायों को भी निर्धारित करने की एक व्यापक वैचारिक पहल की गई ।

6. प्रगति अवरोध के कुछ कारण

नि:शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण की प्रगति–मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध तो यह है कि विश्वव्यापी दुष्प्रभुता सम्पन्न प्रतियोगी संवेगों को दूर किए बिना नि: शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण को उपलब्ध करने की सतत चेष्टा की जाती. रही है । आज जब शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तथा राजनीति में विश्व दर्जे का एकमात्र नियामक है और आणविक शक्ति–सम्पनता उसकी सबसे बड़ी गारंटी तो कौन इस दर्जे को कैसे समाप्त करने की सोच सकता है? शक्ति का वैकल्पिक परिप्रेक्ष्य जब तक न प्रस्तुत हो और जब तक वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को परिचालित न करे नव तक नि: शस्त्रीकरण और शस्त्र–नियंत्रण की बात होती रहेगी और

हथियार बनाने और बढ़ाने के काम भी होते रहेंगे । एक–दूसरे के प्रति व्याप्त अविश्वास इस दोहरेपन को और पुख्ता करता रहेगा । आवश्यकता इस बात की है कि शक्ति के साध्य रुप को तोड़ा जाए, उसके साधनात्मक चरित्र को पुष्ट किया जाए और यह सहज अनुभुति हो कि शक्ति अपने आप में कुछ नहीं है जब तक उससे कुछ बड़ा और ज्ञाधिक बेहतर दीर्घशाली लक्ष्य न पाया जाए जैसे विकास का लक्ष्य, अन्तर्राष्ट्रीय समझ का लक्ष्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक–वितरणकारी न्याय का लक्ष्य । इन लक्ष्यों से जुड़ कर ही शक्ति सार्थक हो सकती है तथा उसका सत्ता व औचित्य में रूपांतरण हो सकता है । इसी क्रम में हथियारों की होड़ भी ठहर सकती है ।

कुल्स्की ने इस दिशा में प्रगति–अवरोध के निम्नलिखित कारण इंगित किए है ।[13]

1. हथियारों के परिसीमन विचार पर की इच्छा व उनका परिसीमन तथा राष्ट्र–राज्यों के मध्य पारस्परिक विश्वास व समझ में गहरा सम्बन्ध है । यदि वे यह सोचते हैं कि निकट भविष्य में उनकी प्रतिस्पर्द्धाएं और संघर्ष नही समाप्त हो सकते तो उन्हें यह आशंका घेर लेती है कि हथियारों पर कोई भी रोक उन्हें एक ऐसे कठोर आवरण में जकड़ लेगी जिससे बाहर निकल पाना उनके लिए कठिन प्रतीत होगा । वे प्राविधिकी –प्रगति से अपने को तेजी से समानुकूल नहीं कर सकेंगे और शक्ति की दौड़ में अपना मुकाम खो बैठेंगे । यह भय शस्त्र–नियंत्रण से सम्बन्धित समस्त उपक्रमों के बुनियादी तौर पर कमजोर बना देता है । उनके प्रति वैचारिक दृढ़ता व नैतिक आवेश ढीले पड़ जाते हैं;
2. किसी भी नि: शस्त्रीकरण से सम्बन्धित सहमति के लिए यह अपरिहार्य है कि उससे सहमतिकारी पक्षों की सापेशिक शक्ति –स्थिति यथावत रहे, उसमें कोई बदलाव का प्रसंग न उपस्थित हो । यह उपलब्ध कर पाना अत्यंत कठिन है क्योंकि यह सम्भव ही नही है कि विभिन्न प्रकार के हथियारों के लिए कोई ऐसी व्यापक समान संख्या या मात्रा उपलब्ध हो जो विद्यमान शक्ति–दर्जो. को अक्षुण रख सके;
3. नि: शस्त्रीकरण विषयक कोई भी व्यवहार्य सहमति सभी प्रमुख शक्तियों की सहमति व समर्थन पर आधारित होनी चाहिए । इसके अभाव में उसके द्वारा निर्मित संतुलन वे पक्ष तोड़ देंगे जो इसकी सहमति–परिधि क बाहर होंगे;
4. विश्वास का संकट एक ऐसा महत्वपूर्ण कारण है जो इस अवरोध को लगातार गहराता चलता है । इसके कारण हथियारों के निर्माण व उनकी परीक्षण गतिविधियों पर कोई प्रभावी अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण नही लागू हो पाता; तथा
5. कोई भी संधि सैन्य प्राविधिकी की प्रगति को रोकने में असमर्थ हैं क्योंकि सैन्य प्राविधिकी तो सामान्य वैज्ञानिक प्रगति का एक सह–उत्पादक घटक है ।

इन्गा थॉरसन ने इस प्रगति–अवरोध की सूची में निम्नलिखित कारणों को जिम्मेदार माना है ।[14]

1. शस्त्र–व्यवस्था के क्षेत्र में तकनीकी विकास क्रमों की अपनी अलग जीवन–मियाद होती है और वे अपने अलग ही कानूनों से परिचालित होते है जैसे वे किसी 'अनाम शक्ति ' के आधीन हों । परिणामत: सतत नई सैनिक योजनाएं तथा रणनीतियां बनती–पनपती रहनी हैं । और वे सम्मिलित रुप से नि: शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण सम्बन्धी सभी प्रयासों को अबरुद्ध कर देती हैं;
2. सैनिक–औद्योगिक संकुल किसी भी देश के शासन कारी अभिजनों के नीति–विकल्पों को अत्यधिक प्रभावित करता दिखाई देता है । फलत : प्रकट नीति–विकल्पों, उनकी आयोजनाओं तथा क्रिया क्रियान्वितियों में घटाव + की कोई भी सम्भावना प्राय: विलुप्त सही हो जाती है;
3. समस्त सैनिक व्यवस्थाओं में अत्यधिक गोपनीयता का भाव पारस्परिक भय व अविश्वास पैदा करता है। इसकी वजह से ही शायद अवांछित प्रति–कार्यवाहियां प्रकट होती है । और अनियंत्रित हजारों की होड़ को तरजीह मिलती है,
4. नि: शस्त्रीकरण की वार्ताओं में नए हाथियारों/ अस्त्र व्यवसायों को "सौदेबाजी की गोटियों " Bargaining chips) के तौर पर इस्तेमाल करने की कोशिश होती है । यदि ये क्षणिकआंधार पर अनुपयोगी हो जाएं तो नई गोटियां ढूढ़ने और इस्तेमाल करने के तौर इन हथियारों आदि को हथियार की दौड़ तेज करने के लिए पुनर्विकसित या वस्तुत: नियोजित भी किया जाना है;
5. अभी भी ऐसा लगता है कि राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा को सैनिक सुरक्षा का तत्सम अथवा पर्याय माना जाता है – एक ऐसी अवधारणा जो विद्यमान क्षैतिज (Horizontal) व ऊर्ध्वाधर (Vertical) आणविक प्रसार की हर व्यवस्था में क्रमश: कमतर साख पाती दिखाई देती है । और इसलिए सदैव उसे पुनर्निर्धारित करना जरुरी लगता है; तथा
6. सैनिक बल तथा क्षमता विशेषत: आणविक क्षमता की प्राप्ति व वर्चस्व अभी भी राष्ट्रों को टुनियां में इज्जत बख्शता दिखाई देता है । दर्जे की यह स्थिति हथियारों के अचूक भण्डारों से ही परिपुष्ट हो सकती है।

7. वैकल्पिक कार्य–योजना

वैकल्पिक कार्य योजना का एक प्रभावी स्रोत **1977 की रोम क्लव रिपोर्ट है** जिसे **रिओ रिपोर्ट** भी कहा जाता है । इस रिपोर्ट का एक खण्ड तकनीकी रिपोर्ट है जिसे इन्द्रा थॉरसन ने तैयार किया है । इसमें नि : शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण के लिए मध्यम तथा दीर्घकालिक विकल्प प्रतिपादित किए गए हैं । ये प्रस्ताव इस प्रकार हैं [15]

(i) मध्यम दूरी के प्रस्ताव

(अ) सैनिक खर्च क्योंकि वित्तीय 'भौतिक एवं मानवीय संसाधनों का अपव्यय करता है; यह आवश्यक हे कि मानवता समग्र रूप से इस प्रवृत्ति को रोकने का संकल्प ले और इस

संकल्प को महाशक्तियों की शक्ति खोजों को लगाम देने के लिए नैतिक तथा राजनीतिक दबाव पैदा करना चाहिए ।

(आ) एक व्यापक आणविक परीक्षण निषेध संधि तैयार की जानी चाहिए तथा वास्तविक आणविक नि: शस्त्रीकरण की दिशा में गम्भीर पहल की जानी चाहिए;

(इ) रासायनिक हथियारों के प्रतिबन्ध के विषय में एक समग्र अभिकरण स्वीकार किया जाना चाहिए;

(ई) अविवेकी/निर्भेदी तथा अनावश्यक रूप से क्रूर पारम्परिक हथियारों पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए;

(उ) सैनिक उद्देश्यों को समर्पित समसामयिक वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी संसाधनों को क्रमश: विकासात्मक उदेश्यों से संयोजित किया जाना चाहिए ;

(ऊ) राष्ट्रीय व्यवस्थापन तथा अन्य प्रभावी उपायों द्वारा अस्त्र–शस्त्र व्यापार को नियमित करने के लिए ठोस कदम उठाए जाने चाहिए ;

(ऍ) संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के लोकतंत्रीकरण के व्यापक संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र शान्ति सेना पुन: नियोजित की जानी चाहिए;

(ऐ) संयुक्त राष्ट्र ढांचे के अन्तर्गत किसी कारगर विश्व नि : शस्त्रीकरण एजेन्सी की क्रियाशीलता की सम्भावनाओं की गहन समीक्षा की जानी चाहिए ।

(ii) दीर्घ कालिक प्रस्ताव

राष्ट्रों और क्षेत्रों के मध्य और उनके अन्तर्गत सामाजिक तनावों में कमी वह बुनियादी बल है जिससे हथियारों की होड़ को पर्याप्त रुप से कम किया जा सकता है । सांस्कृतिक विविधताओं के प्रति वास्तविक सम्मान तथा व्याप्त विविधताओं के प्रति सहिष्णुता व सह–अस्तित्व की क्षमता के विकास द्वारा यह सम्भव हो सकता है । इसी सहिष्णुता से नि: शस्त्रीकरण व शस्त्र–नियंत्रण के प्रति स्थाई योगदान भी सम्भव है । शुरुआत में देशों के मध्य और अन्तर्गत खुलेपन और पारदर्शिता के विकास से सैनिक खर्चो से सम्बन्धित मसलों को प्रभावशाली ढंग से सम्हाला जा सकता है ।

8. निष्कर्ष

नि:शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण की व्यंजनाओं उपागमों ,वास्तविक उपलब्धियों तथा अवरोधों तथा वैकल्पिक कार्य–योजना से सम्बन्धित इस चर्चा. को उस पशु नि: शस्त्रीकरण की कथा की पुनरोक्ति द्वारा समाप्त किया जा सकता है जो रिचर्ड स्टर्लिंग ने इस प्रकार दोहराई थी :–

"(पशुऔ क मध्य नि: शस्त्रीकरण वार्तालाप के दौरान)चील दांतों को कानून–विरूद्ध ठहराने को सहमत है । चीता चोंच और गजदन्तों पर प्रतिबन्ध का सुझाव देता है । हाथी चीते का विरोध करता है । लेकिन चील के दांत–विरोधी प्रस्तावों का समर्थन करता है बशर्ते उनसे पंजे तक कवर होते हों । इसकी अनुक्रियास्वरूप चील यह सवाल उठाती है कि क्या पंजों और चंगुल में कोई भेद किया जाएगा । इस बिन्दु पर भालू हस्तक्षेप करता है । और इस क्लासिक

जी. सी. डी. फॉमूर्ले का प्रतिपादन करता है । कि सभी प्रकार के अस्त्र कानून–विरुद्ध माने जाने चाहिएं और सभी को उग्र भ्रातृत्व भाव से एक दूसरे के गले लगाना चाहिए । "[16]

9. उद्धरण तथा संदर्भ ग्रन्थ

9.1 उद्धरण

1. अल्वा मिर्डल **दि गेम ऑफ डिसार्मामेन्ट : हाऊ दि यूनाईटेड स्टेट्स एण्ड एशिया रन दि आर्म्स रेस** एडाप्टेड वाई वॉली रिचर्डस (सं.) **डिसार्मामेन्ट एण्ड वर्ल्ड डेवलेपमेन्ट** (पर्गमोन प्रेस, आक्सफोर्ड 1978) पृ. 85
2. वही पृ. ii
3. वही पृ. 8
4. रजनी कोठारी फुटस्टेप्स इन टु दि फ्यूचर विशेषत : अध्याय IV "ऑन वॉयलेन्स", *पृ. सं.79– 117 * (नई दिल्ली, ओरिएन्ट, 1974)
5. हेन्स जे. मॉर्गेन्थो, **पॉलिटिक्स उमंग नेशन्स** (कलकता, सांइटिफिक बुक एजेन्सी, 1969) पृ.
6. इन्गा थॉरसन, "आंम्स रिडक्शन", जॉन टिम्बरजेन (सम्पादित) **रीशेपिंग दि इंटरनेशनल ऑर्डर** (लंदन, हचिन्सन, 1977) पृ. 302
7. महेन्द्र कुमार, **थ्योरिटिकल आस्पेक्ट्स ऑफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स** (आगरा, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं., 1981),पृ. सं. 446 – 47
8. रॉवर्ट नील्ड ' 'अप्रोचेज टु डिसार्मामेन्ट ", रिचर्ड जॉली (सं.), **उ. सं.** 1, पृ. 113 – 117
9. **वही.**
10. **वही.**
11. ख्रुश्चेव का कथन स्टर्लिग द्वारा उद्धत। देखें रिचर्ड स्टर्लिग, **मेक्रोपॉलिटिक्स इन्टरनेशनल रिलेशन्स इन ए ग्लोवल सोसायटी** (न्यूयॉर्क, एल्फ्रेड ए. नॉफ, 1974), पृ.138
12. वही.
13. डब्ल्यू. डब्ल्यू. कुल्स्की, **इंटरनेशनल रिलेशन्स इन ए रिवोल्यूशनरी एज** (न्यूयॉर्क, जे.ए. लिप्पिनकोल्ट कं., 1964), पृ.सं 482–85
14. रिओ रिपोर्ट, **पूर्वोक्त (उ.स. 6),** पृ.सं. 301 –302
15. **रिओ रिपोर्ट,** पूर्वोक्त (उस. सं 6), पृ.सं. 167–69
16. स्टलिंग, **पूर्वोक्त** (उ.स. 11), पृ. 143

9.2 संदर्भ ग्रन्थ

1. जान टिमबर जेन : **रिओ रिपोर्ट**

(समन्वित)

2. स्टलिंग : **मेक्रोपॉलिटिक्स**
3. अनाम जैतली : **इंटरनेशन पॉलिटिक्स** (विशेपत : अध्याय 14)

10. अभ्यास–प्रश्न

1. नि: शस्त्रीकरण तथा शस्त्र–नियंत्रण आज पहले की अपेक्षा और अधिक आवाश्यक हैं।" चर्चा कीजिए।
2. रॉवर्ट नील्ड द्वारा प्रतिपादित नि: शस्त्रीकरण के तीनों उपागमों की समीक्षा कीजिए
3. "नि: शस्त्रीकराग तथा शस्त्र–नियंत्रण–उपलब्धियां, अवरोध तथा सम्भावनाएं" विषय पर 750 शब्दों में एक लेख लिखिए।

इकाई - 11
शांति और सहयोग

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. आदर्शवादी तथा यथार्थवादी परम्पराएं
4. राष्ट्रीय हित की अवधारणा
5. राष्ट्रीय हित के साधन
5.1 शांति का साधन
5.2 शांति का आकलन
5.3 शक्ति की महत्ता–युद्ध का संदर्भ
5.4 अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का साधन
5.5 पु पारस्परिक अन्तर्निर्भरता
6. निष्कर्ष
7. संदर्भ ग्रंथ
8. अभ्यास प्रश्न.

1. उद्देश्य

इस इकाई की रचना का उद्देश्य है–

(1) राष्ट्रहित की अवधारणा व उसके साधनों से परिचय,

(2) साधनों के अन्तर्गत शांति व सहयोग के प्रसंगों की विस्तृत व्याख्या एवं परीक्षण, तथा

(3) पारस्परिक अन्तर्निर्भरता के प्रासंगिक मूल्यों पर यथेष्ट बल व उनकी सहज स्वीकृति की अनिवार्यता का प्रतिपादन ।

2. प्रस्तावना :

अन्तराष्ट्रीय संबंधों का सैद्धान्तिक विवेचन करने के लिये अकसर लेखकों ने या तो आदर्शवादि (Idealistic) या यथार्थवादी (Realist) दृष्टिकोण अपनाया है । आदर्शवादी लेखक मानते हैं कि विश्व में धीरे धीरे. राष्ट्रीय हितों की रूकावट समाप्त हो जायेगी और सामान्य हितों के आधार पर एक अंतर्राष्ट्रीय समुदाय (Community) बन सकेगा जिसमें राष्ट्र विलीन हो जाएंगे । अंतर्राष्ट्रीय संबंध संघर्ष पर आधारित न होकर सहयोग पर आधारित होंगे ।इस सहयोग की परिणिति शांति में होगी । इसके विपरीत यथार्थवादी मानते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की मूलभूत इकाई राष्ट्र है जिनके अपने अपने अलग हित हैं । इन हितों की प्राप्ति के लिये राष्ट्र बल अथवा शक्ति (Power) का उपयोग करते हैं जिससे संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है । इस विचार धारा के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तीन चीजें ही प्रमुख हैं : राष्ट्रीय हित (National interset) संघर्ष (Conflict) और शक्ति । पहला अंतर्राष्ट्रीय

राजनीति का उद्देश्य है, दूसरा उसकी अवस्था और तीसरा उसका साधन । परंन्तु इन तीनों में सबसे अधिक दूसरा ही महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि संघर्ष ही न हो, तो न तो उद्देश्य की आवश्यकता होगी और न ही साधन की ।

3. आदर्शवादी तथा यथार्थवादी परम्पराएं

यों तो आदर्शवाद और यथार्थवाद की विचारधारा काफी पुरानी हैं, परन्तु उन्नीसवीं सदी में नेपोलियन द्वारा लड़े गये युद्धो समाप्ति के पश्चात उतर प्रथम विश्व युद्ध के प्रारंभ होने तक की सौ वर्षो की शांति ने आदर्शवादी विचारधारा को बल दिया । अनेकों का विश्वास था कि अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं और विधियों की सहायता से एक अंतर्राष्ट्रीय आदर्श शांतिपूर्ण मानव समुदाय की स्थापना हो सकती थी, जबकि परंपरागत शक्ति संतुलन (balance of Power) के द्वारा यह संभव नहीं था । यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात भी यह विचारधारा प्रभावी रही, परंतु इसके में कमी आई । तीस वर्षो के भीतर हुये दो विश्वयुद्धों ने इसकी प्रामाणिकता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया । आदर्शवादी विचारधारा में हमें एक भावनात्मक सुधारवाद दिखाई देता है । द्वितीय महायुद्ध के वाद शांति स्थापित नही हुई । शांति और सहयोग का स्थान लिया शीत युद्ध Cold War) ने । संसार में शक्ति दो ध्रुवो के बीच बंट गई और राष्ट्रो के गुटों बीच, जो सैद्धान्तिक (Ideology) आधार पर बने थे, प्रतिस्पर्धा प्रारंभ हुई । यद्यपि इस प्रतिस्पर्धा की परिणति न्यूक्लियर युद्ध या रूढिवादी (conventional) युद्ध में नहीं हुई, परंतु तनाव और संघर्ष से यह स्थिति परिपूर्ण थी । द्वितीय महायुद्ध के पश्चात राज्य के संस्थागत महत्व में कमी आ गई थी; अंतराष्ट्रीय स्तर पर अनेक बहुराष्ट्रीय संगठन क्रियाशील हो गये, परंतु राष्ट्र अंतराष्ट्रीय संबंधों की मूलभूत इकाई फिर भी थे । वे स्वत: इस बात के अंतिम निर्णायक थे कि उनका हित किस में है और उनकी प्राप्ति के लिये उन्हें क्या करना चाहिये । इसलिये लेखकों का ध्यान राष्ट्रों की विदेश नीति पर गया और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि संघर्ष ही राष्ट्रों के संबंधों को परिभाषित करता है। इसलिये द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षो में अठारहवी और उन्नीसवी सदी में प्रचालित यथार्थवादी दृष्टिकोण पुन प्रतिष्ठित हुये क्योंकि वह वस्तुस्थिति के अधिक निकट प्रतीत हुये । अंतराष्ट्रीय व्यवस्था (system) में पिछले चार दशकों में बदलाव आते रहे और इसलिये जिन लेखकों और विचारकों ने परिवर्तित व्यवस्था को महत्वपूर्ण मान कर अंतराष्ट्रीय व्यवस्था का विश्लेषण किया, उन्हें आधुनिक (modernist) और जिन्होंने यथार्थवादी रूढि का अनुकरण किया उन्हें परंपरावादी (traditionalist) माना गया ।

4. राष्ट्रीय हित की अवधारणा

पंरपरावादी – यथार्थवादी और आधुनिक दोनो प्रकार के विचारों की एक मुख्य धारणा ' 'राष्ट्रीय हित " है । इस राष्ट्रीय हित की व्याख्या राष्ट्र के नेता के द्वारा की जाती है और ' 'शक्ति " द्वारा उसें प्राप्त किया जाता है परन्तु इसके आगे जाकर इसकी और अधिक स्पष्ट परिभाषा नहीं की जा सकी हैं । जब राजतंत्र का प्रचलन था उस समय राजा की इच्छा या किसी वंश के हित को ही राष्ट्रीय हित मान लिया जाता था । परंतु आधुनिक राज्य व्याख्या के विकास, प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था के प्रसार और आर्थिक सबंधों में विस्तार के कारण "राष्ट्रीय

हित " का नया अर्थ हो गया । आधुनिक संदर्भ में उसका अर्थ किसी शासक या शासक वर्ग के हित से नही अपितु संपूर्ण राष्ट्र के व्यापक हितों से है; जो राष्ट्र की सुरक्षा और समृद्धि के लिये आवश्यक है । हेन्स. जे. मारगेन्थो (Hans j. Morgenthau) के अनुसार राष्ट्रीय हित उन सभी राजनैतिक परंपराओं और सांस्कृतिक संदर्भो में निश्चित किया जाता है जिनके परिपेक्ष कोई भी राष्ट्र अपनी विदेश–नीति बनाता है । राबर्ट ओसगुड (Robert Osgood) मानते हैं कि राष्ट्रहित परिस्थितियों का ऐसा मूल्याकंन है जिससे राष्ट्र को लाभ हो । वान डाइक (Van Dyke) राष्ट्रीय हित को ऐसा हित मानते हैं । जिनकी रक्षा राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के साथ अपने सम्बंधों में करते हैं । जोसेफ फ्रेंकेल (Joseph Franke) राष्ट्रीय हित को दो अर्थो में प्रयुक्त करते हैं: व्यक्ति परक (Subjective) और वस्तुपरक (objective) वस्तु परक अर्थ में उसे स्थायी, अपरिवर्तनशील और शक्ति सें संबधित मानते हैं । व्यक्ति परक अर्थ में ' 'शक्ति " के सिवाय उसमें अन्य मूल्यों का भी समावेश होता हैं । सबसे अधिक महत्व राष्ट्र अपने अस्तित्व को देता है । वह अपनी भौगोलिक राजनैतिक और सांस्कृतिक पहचान बनाये रखना चाहता है और इसलिये अपनी सीमा को आक्रमण से सुरक्षित रखना, चाहता है । यह भी राष्ट्र के हित में है कि वह अपनी आवश्यकतायें पूरी करे । जितनी चीजों को राष्ट्र अपने हित के लिये आवश्यक मानता है वे सभी उसके राष्ट्रीय हित होगे ।

राष्ट्रीय हित की परिभाषा करते समय हम उसे नैतिक, धार्मिक और परोपराकार की धारणाओं सें अलग नहीं करना चाहिये, परंतु इन्हें राष्ट्रीय हित की परिभाषा में सम्मिलित मानना चाहिए । राष्ट्रीय हित का विचार किसी भी राष्ट्रीय समुदाय के मूल्यों पर आधारित होता है । हर राष्ट्र के हित अलग होते हैं और उनमें समयानुसार परिवर्तन भी होते रहते हैं । परंतु राज्य सदैव अपने हितों की पूर्ति में लगे रहते हैं । इसलिये यह भी कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय हित सनातन और चिरंतन हैं । उनमें कई कारणों से परिवर्तन हो सकते हैं जैसे जन साधारण के मूल्यों में परिर्वतन, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की भावना, आदि ।

5. राष्ट्रीय हित के साधन

राष्ट्रीय हित प्राप्त करने का सबसे प्रमुख साधन शक्ति है । शक्ति की परिभाषा दो प्रकार से की गई है । पहले प्रकार में वह किसी राष्ट्र की ऐसी क्षमता है जिसके द्वारा वह अन्य राष्ट्र से ऐसा काम करा लेता है जिसके लिये वह तैयार न हो । या उस कीमत पर तैयार न हो जो पहले राष्ट्र को मान्य हो । दूसरे अर्थ में शक्ति परिणाम पर नियंत्रण कर सकने की क्षमता है । शक्ति के अनेक प्रकार हैं जैसे सैनिक, आर्थिक या राजनैतिक । परंतु उसकी चरम सीमा सैनिक शक्ति ही है क्योंकि वह अंतिम निर्णायक है इसलिये जब सभी उपाय असफल हो जाते हैं तो राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित की पूर्ति के लिये अन्य राष्ट्र के विरूद्ध सैनिक शक्ति का उपयोग कर युद्ध की स्थिति निर्मित करते हैं । जहां युद्ध करना किन्हीं करणों से संभव न हो वहां युद्ध का भय दिखाकर काम निकाला जाता है । यदि युद्ध एक कठोर सत्य है तो यह भी उतना ही सत्य है कि शांति की कामना हर राष्ट्र करता है और राजनेता सदैव यह घोषित करते हैं कि उनकी विदेश नीति का लक्ष्य शांति है ।

5.1. शांति का साधन

अन्य कई विचारों (concepts) की तरह शांति भी एक ऐसा विचार है जिसका अर्थ सुस्पष्ट और निश्चित नहीं है । उसका उपयोग लोग भिन्न अर्थो में करते हैं । प्रो० डॉनेल्ड जेम्स पुचाला (Donald James Puchala) ने इन विभिन्न अर्थो को चार वर्गों में रखा है । कुछ लेखक मानते है कि यदि हिंसात्मक संघर्ष न हो अथवा संघर्ष प्रारंभ होने पर हिंसा वृहत रूप न ले तो उसे शांति कहा जायेगा । यह शांति की न्यूनतम परिभाषा है । इसमें शांति को सैन्य शक्ति में संतुलन का पर्यायवाची बना दिया गया है । इसे इसलिये भी नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि इस परिभाषा में केवल सैन्य शक्ति पर ही विचार किया गया है । परंतु शांति की सही परिभाषा में सैन्य शक्ति के साथ साथ राजनैतिक और सैद्धान्तिक पहलुओं का भी समावेश होना चाहियें । दूसरे वर्ग के लेखकों के लिये शांति के लिये केवल सैन्य संघर्ष का न होना ही आवश्यक नहीं है, पर उसके साथ साथ ऐसी तीव्र राजनैतिक और सैद्धान्तिक प्रतिद्वंदिता भी नहीं होनी चाहियें जिसके कारण अशान्ति हो सकती है । इस वर्ग के लेखक शांति को स्थिरता का पयार्यवाची मान बैठे हैं । तीसरी श्रेणी में ऐसे लेखक हैं जो शांति को एक सकारात्मक विचार मानते हैं । उनके अनुसार दूसरे वर्ग के लेखकों के अनुसार शांति का स्वरूप केवल नकारात्मक है – अशांति का न होना । तीसरे वर्ग में आने वाले लेखकों की मान्यता है कि यदि किसी समय वृहत सैनिक संघर्ष अथवा राजनैतिक संघर्ष न भी हो रहा हो तो उसे शान्ति की अवस्था नही माना जा सकता । और क्योंकि ऐसी व्यवस्था अधिक दिनों तक नही रह सकती इसलिये इसे युद्ध की भूमिका मानना अधिक उचित होगा । शान्ति तो ऐसी स्थिति है जिससे ऐसे सैनिक और राजनैतिक उद्वेलन उत्पन्न ही न हों जो शांति भंग कर सकें । इन लेखकों की मान्यता है कि शांति के लिये यह आवश्यक है कि अंतर्राष्ट्रीय संगठन शांति को सुरक्षित रखें । जब भी अशांति क कोई कारण पैदा हो तो इसके पहले कि राष्ट्र स्वत : कोई निर्णय लें संगठन को अंशान्ति के कारणों को दूर कर देना चाहिये अथवा संघर्ष प्रारंभ होने पर उसका नियमन करना चाहिये । इस अर्थ में अंतर्राष्ट्रीय संगठन शांति को लागू करने के लिये आवश्यक है । इस मायने में शांति का अर्थ एक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था ही है । इस परिभाषा को स्वीकार करने वाले लेखक अनिवार्यत : अहिंसा के समर्थक नहीं है । उनमें सें कुछ स्वीकार करते हैं कि व्यवस्था बनाये रखने के लिये शक्ति प्रयोग की आवश्यकता पड़ सकती है । शक्ति का इस प्रकार प्रयोग राष्ट्रों द्वारा नही परंतु अंतर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा किया जाना चाहिये । परंतु कुछ लेखक ऐसे भी हैं जिनके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय संगठन इस प्रकार शक्ति का प्रयोग सफलतापूर्वक नही कर सकते । इसलिये वे एक राष्ट्र द्वारा व्यवस्था बनाये रखने के लिये शक्ति प्रयोग के समर्थ हैं । पर यह कौन सा राष्ट्र हो जिसे यह अधिकार हो, इस पर कभी भी सभी राष्ट्र सहमत नही हो सकेंगे । चौथी श्रेणी में वे लेखक हैं जो यह मानते हैं कि शांति सच्चे अर्थ में उसी समय स्थापित हो सकती है जब वह एक विश्व मानव समुदाय की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हो । शांति, अंतर्राष्ट्रीय विश्वास, समझौता और सामान्य हित के आधार पर ही स्थापित हो सकती है । इसके लिये यह भी आवश्यक है कि राष्ट्रों के परस्पर विरोधी हित समाप्त हो जायें, और राष्ट्र एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनायें । ऐसे

समाज में युद्ध एक अपराध होगा । प्रो० पुचाला के अनुसार चौथे वर्ग के लेखकों को काल्पनिक आदर्शवादी माना जा सकता है ।

5.2. शांति का आकलन

यद्यपि शांति की परिभाषा भिन्न अर्थो में की गई है, फिर भी उसे एक लक्ष्य के रूप में देखा गया है, ऐसे साधन के रूप में नहीं जिसके द्वारा अन्य लक्ष्य की प्राप्ति की जाती है । इसके विपरीत युद्ध को एक लक्ष्य के रूप में स्वीकारा नहीं गया है । वह एक साधन है जिससे दूसरे लक्ष्यों की प्राप्ति होती है । क्लोसेविट्स (Clause witz) की प्रसिद्ध युद्ध परिभाषा कि ' 'युद्ध अन्य साधनों द्वारा राजनीति का पुनरारम्भ है " भी यही मत सामने रखती है । युद्ध का उद्देश्य दूसरे राष्ट्र से बलपूर्वक अपनी बात मनवाना है । इसके सिवाय उसका उद्देश्य प्रतिष्ठा या शक्ति में अभिवृद्धि भी हो सकता है । शांति अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एकमात्र लक्ष्य नहीं है इसलिये जब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्य लक्ष्यों को शांति से उपर प्राथमिकता दी जाती है तो राष्ट्र युद्ध का मार्ग अपनाते है । राज्यों के बीच युद्ध होते हैं यही इस बात का प्रमाण है कि शांति सर्वोच्च लक्ष्य नहीं है ।

5.3. शक्ति की महत्ता। – युद्ध का संदर्भ

शक्ति की भूमिका अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार में अभी भी महत्वपूर्ण हैं । पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण, पूर्व और पूर्व और दक्षिण और दक्षिण के देशों के संबंधों में युद्ध और युद्ध का भय दोनों का ही महत्व है । रीगन प्रशासन 'ने ग्रेनाड़ा और लीबिया के विरूद्ध खुल कर सैनिक शक्ति का उपयोग किया। 1988 में जब तेल ले जानें वाले जहाजों के लिये होरभुज जलडमरू मध्य में ईरानी आक्रमण का खतरा बढ़ा तो अमेरिकी नौसेना ने अपनी शक्ति का उपयोग कर तेल वाहक जहाजों के लिये समुद्र का मार्ग खुला रखा । मध्य अमेरिका के राज्यों के विरूद्ध सैन्य शक्ति का उपयोग करने में अमेरिका कभी पीछे नही रहा । पूर्वी युरोप के देशों में सोवियत संघ अपनी सैन्य शक्ति का उपयोग करता रहा है । 1956 में हंगरी में, 1968 में चेकोस्लाविया में) तीसरी दुनियां के बीच देशों के बीच सबसे लंबे और विध्वसकारी युद्ध हुये ।

अफगानिस्तान में रूसी सेनायें नौ वर्षों तक लड़ती रही और नौ वर्षों से चलने वाला ईरान – ईराक युद्ध 1988 में ही समाप्त हुआ 1950 में कोरिया में युद्ध, तीस वर्षों तक चलने वाला वियतनाम का युद्ध, चीन और ' वियतनाम युद्ध जो 1979 में लड़ा गया । भारत चीन युद्ध और भारत पाकिस्तान तीसरी दुनिया के बड़े युद्ध है । और तीसरी दुनिया के देखो के बीच ही सबसे ज्यादा युद्ध हुये । इन युद्धों में हम यदि गुरिल्ला युद्धों को भी शामिल कर ले तो युद्ध की भूमिका अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में और भी व्यापक दिखाई देने लगेगी । सैनिक शक्ति के उपयोग की चेतावनी बार – बार दी गई – कभी खुले तौर पर और कभी प्रच्छन्न तौर पर । जब पश्चिम एशिया के तेल निर्यात करने वाले देशों ने उसका उपयोग राजनैतिक दवाब डालने के लिये किया तो तत्कालीन सेक्रेटरी आफ स्टेट हेनरी किसिंजर ने इन देशों को 1963 में चेतावनी दी कि यदि वे अपने आर्थिक शक्ति का उपयोग पश्चिमी देशों की आद्योगिक अर्थ व्यवस्था का दम घोटनें के लिये करेंगे तो उनके तेल के, कुओं को अधिकार में लिया जा सकता है ।

5.4. अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का साधन

इन घटनाओं के बावजूद भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अंतराष्ट्रीय राजनीति में युद्ध ' की संभावनायें कुल मिलाकर घटी है बढ़ा नहीं । पश्चिमी युरोप के देशों के बीच युद्ध का खतरा हमें दिखाई नही देता, न ही ये देश एक दूसरे के विरूद्ध संभावित युद्ध की तैयारी में लगे हैं । इसी प्रकार अमेरिका और केनाडा के बीच सदियों से युद्ध का एक साधन के रूप में उपयोग असंभव सा लगता है । विश्व के इतने बड़े भूभाग के लिये शांति एक स्थायी अवस्था बन गई है । अन्य देशों में भी शांति और विकास के बीच गहरे संबंधों के बारे में चेतना बढ़ी है । चीन का नेतृत्व भी स्वीकार कर रहा है कि चीन ने अपनी विदेश नीति में युद्ध के खतरे को बढ़ा चढ़ा कर देखा । वास्तविक रूप में चीन पर आक्रमण की संभावनायें कम थी । इसलिये यदि चीन अपनी आर्थिक प्रगति को तीव्र करना चाहता है, उसे युद्ध की संभावनाओं पर पुन विचार करना पड़ेगा और अपनी विदेश नीति में परिर्वतन करना पड़ेगा । 1960 के दशक में सोवियत संघ ने अमेरिका के साथ न्यूकिल्यर प्रक्षेपास्त्रों के क्षेत्र में बरानरी (Parity) कर ली । इसे उस समय तो एक बहुत बड़ी उपलब्धि माना गया था; परन्तु अब उस मूल्य पर विचार किया जा रहा है जो सोवियत संघ को इसके लिये पटाना पड़ा । केवल नाटो (NATO) के युरोपीय सदस्य देशों की वार्षिक आय वारसा संधि के देशों की तुलना में प्राय चार गुना अधिक है 1 ऐसी स्थिति में न्यूक्लियर क्षेत्र में अमेरिका की बराबरी की बहुत अधिक कीमत सोवियत संघ को पटानी पड़ी । इसलिये सोवियत संघ शस्त्रों के हर क्षेत्र में आज अमेरिका के साथ समझौता करने के लिये तत्पर है । उसने इसीलिये अमेरिका के मध्य दूरी की मार करने वाले न्यूक्लियर प्रक्षेपास्त्रों को समाप्त करने का समझौता किया । अंतमहाद्वपीय न्यूक्लियर प्रक्षेपास्त्रों की संख्या आधी करने, पारम्परिक (conventional) शस्त्रों को घटाने और रासायनिक शस्त्रों को समाप्त करने के सबंध में संधिवार्ता चल ही रही है । विघटन के उपरान्त सोवियत–संघ अब यह स्वीकार कर रहा है कि अमेरिका के साथ चलने वाली प्रतिस्पर्धा ने उसकी आद्योगिक और तकनीकी प्रगति को, गंभीर रूप से प्रभावित किया है । अमेरिका में भी इस बात पर गंभीरता से विचार किया जा रहा है कि तीन सौ बिलयन डालर का प्रतिरक्षा (Defence) बजट बहुत अधिक है, और अमेरिका के लिये आर्थिक कठिनाईयों को बढ़ाता है । विश्व में चलने वाले अनेक संघर्ष अमेरिका और सोवियत संघ के सहयोग से समाप्त हो गये (जैसे अंगोला, कम्पूचिया और नमीबिया की समस्यायें)। तीसरी दुनिया के देशों के बीच पारस्परिक युद्ध वृहत नहीं होते । उनमें विस्तार भी उसी समय होता है जब बाहा शक्तियां उसमें एक पक्ष की सहायता करती है । इसलिये अगर महाशक्तियों के बीच तीसरी दुनिया के संघर्षों से अलग रहने पर सहमति हो जाये तो शांति की संभावनायें बढ़ जायेगी । विकासशील देशों को तो अपनें आर्थिक विकास के लिये शांति की नितांत आवश्यकता है । उनके लिये शांति एक लक्ष्य है और एक साधन भी । क्योंकि इन राष्ट्रों का लक्ष्य विकास से अपनी जनता की समृद्धि करना है । अगर महाशक्तियों के बीच तनाव और संघर्ष की स्थिति हो तो यह विश्व की प्रगति में बाधक है ।

जनवरी 1965 में लासएंजेल्स में दिये गये भाषण में हेनरी किसिजंर ने कहा कि ' 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का पांरपरिक एजेंडा : प्रमुख शकि्यों के बीच संतुलन, राष्ट्रों की सुरक्षा –

अब हमारे खतरों और संभावनाओं की परिभाषा नहीं करते । अब हम एक नये युग में, प्रवेश कर रहे हैं । पुराने नारे अपना अर्थ खो चुके है और पुराने हल उपलब्ध नहीं है । यह संसार आर्थिक विषयों में, संचार (Communications) माध्यमों में और मानवीय आकांक्षाओं में पारस्परिक रूप से निर्भर (interdependent) हो गया है । " परंपरावादी परिवर्तनों के इस आकलन से सहमत नहीं है । उसके अनुसार पारस्परिक निर्भरता कोई आधुनिक या नई प्रवृति नहीं है । अपने से अधिक शक्तिशाली विरोधी राष्ट्र की शक्ति का संतुलन करने के लिये कई राष्ट्र आपस में सहयोग प्राचीन समय से करते आये हैं। यही सहयोग कभी कमी सैन्य संधि (military alliance) का रूप भी ग्रहण करता रहा । यही बात अर्थिक पारस्परिकता के. संबध में कही जा सकती है । यदि यह मान लिया जाये कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ है तो पंरपरागत – यथार्थवादी विचारधारा में परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं होगी । पंरतु अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में टेक्नोलॉजी के तेज गति से विकसित होने के कारण मूलभूत परिवर्तन आये हैं जिनसे प्रभावित होकर राष्ट्रों को ' 'राष्ट्रीय हित " पर नये सिरे से विचार करने के लिये बाध्य होना पड़ा है । जिन साधनों से ' 'सुरक्षा " के समान पंरपरागत राष्ट्रीय हितों के पूर्ति होती थी, वे साधन नयी परिस्थतियों में सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकते । इसलिये ' 'साधनों " के प्रश्न पर एक नये संदर्भ में विचार होना चाहिये, ।

जब पहली बार अणु बमं का विस्फोट हुआ तो उसें अंतिम शस्त्र (ultimate weapon) की संज्ञा दी गई । उस विस्फोट से. एक नये युग का सूत्रपात हुआ । प्रारंभ में न्यूक्लीय शस्त्रों को एक अति विशिष्ट संहारक अस्त्र के रूप में देखा गया । पर धीरे–धीरे उसकी बृहत विध्वंसकारी शक्ति से लोग परिचित हुये । न्यूक्लीय शस्त्रों से, उत्पन्न विकीरण (radiation) का प्रभाव केवल उसी देश तक सीमित नहीं रह सकता जिसके विरूद्ध शस्त्र का उपयोग किया गया हो यह भी स्पष्ट हुआ कि जितने न्यूक्लीय बमं अब तक बन चुके हैं यदि उनके एक छोटे से हिस्से का भी उपयोग हुआ तो संसार के वातावरण' में इस प्रकार परिवर्तन आ जायेंगे कि संपूर्ण मानव समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा । इस संबंध में न्युक्लियर शीत (nuclear winter) पर काफी चर्चा हुई न्युक्लियर युद्ध होने के दशा में, चीजों के जलने से धुऐ के जो बादल बनेंगे वे इतने घने होगें की सूर्य की किरणें उन्हें भेद कर पृथ्वी तक पहुंच ही नहीं पायेगी । इसलिये यद्यपि कई बार न्युक्लियर शस्त्रों के उपयोग की चेतावनी दी गई, पर उसका प्रयोग नहीं किया गया । सोवियत संघ में चर्नोबिल में हुई दुर्घटना से यह स्पष्ट हो गया कि विकीरण संसार को किस प्रकार प्रभावित करेगा । चर्नोबिल में बिजली उत्पन्न करने वाले रिएक्टर के अधिक ताप के कारण पिघल जाने के कारण उत्पन्न विकीरण से न केवल सोवियत संघ के परन्तु युरोप के देशों के भी नागरिक प्रभावित हुये । यही बात ओद्योगीकरण से उत्पन्न प्रदूषण के संबंध में लागू होती है । अमेरिका और पश्चिमी युरोप, जापान और पूर्वी युरोप और सोवियत संघ की फैक्टरियों से निकली हुई जहरीली गेसों ने पृथ्वी के ऊपर ओजोन की पर्त को पतला कर दिया है । इसलिये पृथ्वी पर आने वाली सूर्य की किरणें छन कर नहीं आ रही हैं । परिणाम स्वरूप सूर्य रश्मियों के साथ आने वाले अल्ट्रा वायलेट, एक्स रे के समान हानिकारक किरणों के कारण मनुष्यों के स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा है । अमेरिका की फेक्टरियों

से निकला हुआ प्रदूषित धुआं केनाडा में ' 'एसिड रेन '' बनकर बरसता है । ब्राजील में और इसका प्रभाव हजारों मील दूर के राष्ट्र पर पड़ता है । संसार और आवागमन के साधनों में क्रांतिकारी परिवर्तनों के कारण ' 'सुरक्षा और राष्ट्रीय हित '' के संदर्भ में ये समस्या शक्ति के द्वारा नही सुलझाई जा सकती । केवल अंतर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा ही यह संभव है कि इन समस्याओं का समाधान किया जा सके ।

5.5 पारस्परिक अन्तर्निभरिता

आर्थिक क्षेत्र में राष्ट्रों की पारस्परिक निर्भरता में अत्यंत अधिक वृद्धि हुई है । आर्थिक संबंध तीन स्तरों पर है – द्विपाक्षिक (bilateral), क्षेत्रीय (regional) और अंतराष्ट्रीय । द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षों में मुद्रा (mony) वस्तुयें, (commoditics), लोग (people) और संदेश (messages) के प्रवाह में अत्यधिक विस्तार हुआ । इसका नियमन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ही किया जा सकता था । उदाहरण के लिये 1946 में **जनरल एग्रीमेंट आन ट्रेड और टेरीफ** नाम का संगठन बनाया गया जिसका उद्देश्य ऐसा शासन (regime) स्थापित करना था जिससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार मुक्त रूप से किया जा सके । राष्ट्र एक दूसरे के विरुद्ध आयोजित सामान पर भेदमूलक शुल्क न लगाये । इसी प्रकार अन्य संस्थायें बनी । और विश्व की आर्थिक प्रणाली का समाकलन (integration) हुआ । जब GATT प्रारंभ हुआ तो साम्यवादी देश उसमें सम्मिलित नही हुये, परंन्तु चीन भी आज GATT की सदस्यता चाहता है क्योंकि आर्थिक विकास की गति अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से ही तीव्र हो सकती है । यह तथ्य आज सभी राष्ट्रों ने अच्छी तरह समझ लिया है । पर इसका यह अर्थ नहीं कि अंतर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था का पूर्ण समाकलन हो चुका है या इसमें हितों की कोई टकराइट बाकी नहीं रही । टकराहट अब इसलिये हो रही है कि सहयोग का आधार क्या हो। विकसित राष्ट्रों के हित एक ओर हैं तो दूसरी ओर विकासशील देशों के हित । विकासशील देशों ने मिलकर 1964 में **युनाइटेड नेशनस् कांफ्रेंस आन ट्रेड एंड डेवलमेंट** (UNCTAD) नाम का संगठन बनाया । इससे एक ओर तो यह प्रमाणित हुआ कि दो गुट के बीच हितों की टकराइट है तो दूसरी ओर यह कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति समाकलन की दिशा में बढ़ रही है पर वह ऐसे स्तर पर नहीं पहुंच पाई है कि सम्पूर्ण विश्व एक इकाई बन जाये ।

1973 में इजराइल और इजिप्ट के बीच प्रारंभ हुये युद्ध को प्रभावित करने के लिये अरब देशों ने पश्चिमी देशों को तत्व के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाया । इस नीति की सफलता के अनुभव से प्रेरित होकर तेल निर्यात करने वाले देशों ने ऑरगनाइजेशन ऑफ पेट्रोलियम एक्सपोर्टिंग कन्ट्रीज (OPEC) नाम की संस्था बनाई । यह संगठन यह तय करने लगा कि अंतर्राष्ट्रीय बाजार में इन देशों का तेल किस मूल्य पर बिके । और उस मूल्य को स्थिर रखने के लिये कौन सा देश कितने तेल का उत्पादन करे । संगठन में अनेको बार टकराहट की स्थिति बनी पर वह तेल उपभोक्ताओं पर दबाव बनाने में सफल रहा । ह्रास मारगेन्थो को इन घटनाओं ने इतना प्रभावित किया कि उन्होंने यह कहा विकसित अर्थ व्यवस्थाओं के लिये जिस कच्चे माल पर एकाधिकार या अर्ध एकाधिकार नियंत्रण की आवश्यकता थी उसे सैनिक दृष्टि से कमजोर राष्ट्रों ने तोड़ दिया । यह राजनैतिक, सैनिक, और आर्थिक शक्तियों के बीच कार्यपरक

(functional) संबध विच्छेद की ऐसी घटना थी जो इतिहास में इसके पहले कभी नहीं हुई । यह भी कहा जा सकता है कि इस संगठन की सफलता तेल आयात करने वाले देशों पर दबाव डाल कर अपने हितों की पूर्ति की राजनीति थी । पर इसे इस रूप में देखना संगत न होगा । दबाव भी उसी समय प्रभावी हो सकता था जब OPEC देश आपस में सहयोग करते ।

राष्ट्रो ने आर्थिक सहयोग के लिये क्षेत्रीय संगठन बनाये । योरोपियन इकॉनोमिक काम्युनिटी (EEC) इसका एक उदाहरण है । इस संगठन ने पश्चिमी युरोप में देशों के आर्थिक हितों का समाकलन अच्छी तरह किया । ऐसोसियेशन आफ साउथ ईस्ट नेशनस् ASEAN ने राष्ट्रों के बीच आर्थिक हितों के समाकलन के साथ साथ, राजनैतिक और सामरिक नीतियों के बीच समन्वय स्थापित करने का भी कार्य किया । कम्पनियों में वियतनामी सैनिकों की उपस्थिति का सभी देशों ने सम्मिलित रूप से विरोध किया । दक्षिणी एशिया के देशों के बीच अनेक उलझनों और विवादों के बाद भी साउथ एशियन एसोसियेशन फार रीजनल कोआपरेशन (SAARC)1985 में बनाया गया और यद्यपि सहयोग का स्तर बहुत अधिक ऊंचा नही है, फिर भी क्षेत्रीय सहयोग की दिशा में इसे एक अच्छा प्रयास माना जायेगा ।

अंतराष्ट्रीय स्तर पर सयुक्त राष्ट्र संघ और उसके अन्य संगठन मानव समाज के बीच बढ़ते सहयोग के प्रतीक हैं । राष्ट्रीय हित का अर्थ राष्ट्र में रहने वाले सभी लोगों का हित है । इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहयोग महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है । परंतु ऐसा नहीं है कि सहयोग में कोई विसंगतियां नहीं हैं । विकसित और समृद्धिशील राष्ट्रों के बीच सहयोग की संभावनायें अधिक होती है; इसलिये जहां एक और विकसित राष्ट्रों के बीच सहयोग में निरन्तर वृद्धि होती जाती है, वहीं विकसित और विकासशील देशों के बीच आपसी सहयोग बढ़ता है । इसलिये दक्षिण के देशों के बीच पारस्परिक सहयोग की चर्चा होते हुये भी उनके बीच वांछित सहयोग नहीं हो पाता ।

6. निष्कर्ष

शीत युद्ध की प्रखरता ने "राष्ट्रीय सुरक्षा" के महत्व को अधिक उभारा, पर जैसे जैसे इस प्रखरता में कमी आई, वैसे ही राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रतीकात्मक महत्व घटा और उसकी जगह "पारस्परिकता" का नया प्रतीक उभरा । "राष्ट्रीय सुरक्षा" के नाम पर जैसे हर प्रकार की नीति का समर्थन किया गया, कभी कभी परस्पर विरोधी–नीतियों का भी, उसी प्रकार "पारस्परिकता" के नाम पर तीसरी दुनियां की उचित मांगो के भी गलत ठहराया गया ।

शांति और सहयोग "राष्ट्रीय हित" के साधन के लिये आवश्यक शर्ते है । आज की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति केवल दो महाशक्तियों में, केंद्रित नहीं है । यद्यपि अन्य राष्ट्रों की तुलना में वे अधिक शक्तिशाली है पर केवल शक्ति के उपयोग से राजनैतिक और आर्थिक उद्देश्य प्राप्त नहीं किये जा सकते हैं । कई परिस्थतियों में शक्ति का उपयोंग नही किया जा सकता । अमेरिका ने यह सबक उस समय सीखा जब वियतनाम युद्ध में असफलता उसके हाथ लगी और ईरान में जब अमेरिकी दूतावास के कर्मचारियों को बंधक बनाया गया । सोवियत संघ को यही सबक अफगानिस्तान में सीखना पड़ा । अनेक परिस्थतियों में राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिये सहयोग ही एक साधन है । परन्तु यह सोचना भी गलत होगा कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति

में राष्ट्र अपना महत्व खोते जा रहे हैं । परंपरावादी और आधुनिक दोनों ही अपनी अपनी जगह सही तर्क रख रहे हैं । पर उनके सत्य, एकांगी है । अंतराष्ट्रीय राजनीति में सबंधों के तीन स्वरूप है : सहयोग, प्रतिद्वंद्विता और संघर्ष, सहयोग में संघर्ष और सघर्ष में सहयोग के अस्तित्व से इंकार नही किया जा सकता ।

इसलिये युद्ध भी कुछ मान्य नियमों के अनुसार लड़े जाते है। उदाहरण के लिये Genva Convention on Prisioners of war; या युद्ध में रासायनिक अस्त्रों के उपयोग पर प्रतिबन्ध। जहां सहयोग हैं वहां भी टकराहट उत्पन्न हो सकती है। पर इतना अवश्य है कि हम ऐसे युग में प्रवेश कर रहे है जिसमें शांति और सहयोग की संभावनायें बढ़ रही हैं।

7. संदर्भ ग्रन्थ

1. क्योहेन, रॉबर्ट तथा जोसेफ एस. न्ये, **पॉवर एण्ड इंटरडिपेन्डेन्स : वर्ल्ड पॉलिटिक्स इन ट्रांजिशन** (बोस्टन, लिटिल ब्राउन, 1977)
2. कुमार, महेन्द्र, **थ्योरिटिकल आस्पेक्ट्रस ऑफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स** (आगरा, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं., 1984)
3. लार्च, चार्ल्स ओ., जूनियर तथा अब्दुल ए. सैद, कॉन्सेप्ट्स ऑफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स : इन ग्लोबल पर्सपेक्टिस (एंगेलबुड क्लिक्स एन. जे. प्रेंटिस हॉल, 1974)
4. लेवी, वर्नर, **इंटरनेशनल पॉलिटिक्स : फाउन्डेशन ऑफ दि सिस्टम** (मिनिपोलिस, मिनिसोटा यूनिवर्सिटी प्रेस, 1974)
5. मॉर्गेन्थो, **पॉलिटिक्स अमंगं नेशन्स : दि स्ट्रगल फॉर पॉवर एण्ड पीस** (न्यूयॉर्क, एल्फ्रेड ए. नॉफ, 1961)
6. नॉर्थेज एफ. एस., **दि इंटरनेशनल पोलिटिकल सिस्टम** (लंदन, फेबर एण्ड फेबर)
7. प्रिक्ला, जेम्स डोनाल्ड, **इंटरनेशनल पॉलिटिक्स टुडे** (न्यूयॉर्क, डॉड, मीड एंड क 1971)

8. अभ्यास प्रश्न

1. राष्ट्रीय हित की क्या अवधारणा है? राष्ट्रीय हित के प्रमुख साधनों का उल्लेख कीजिए।
2. राष्ट्रीय हित के साधनों में शांति व सहयोग का क्या स्थान है? स्पष्ट कीजिए।
3. "पारस्परिक अन्तर्निभरता, शांति व सहयोग" पर एक लेख लिखिए।

इकाई – 12

बहु राष्ट्रीय निगमों के विशिष्ट संदर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अधीनस्थता की प्रकृति : लोम शिखरवार्ता एवं उसकी क्रियान्विति

इकाई संरचना

1. प्रस्तावना
2. धीनस्थता का सिद्धान्त
3. पिछड़ापन और अधीनस्थता
4. स्थानीय अभिजन की भूमिका
5. बहु राष्ट्रीय निगमों की कार्यप्रणाली
6. बहु राष्ट्रीय निगमों की निर्भरता
7. लोम शिखर वार्ता
8. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अधीनस्थता द्वारा विकास
9. सारांश
10. संदर्भ ग्रन्थ
11. अभ्यास प्रश्न

1. प्रस्तावना

यह सिद्धान्त अविकसित देशों तथा उसके पिछड़ेपन के कारणों का विश्लेषण बाहय परिस्थितियों के संदर्भ में करता है । अविकसित देश वह राष्ट्र है जिनका विकास किसी दूसरे देश की अर्थव्यवस्था तथा विकास के विस्तार पर निश्चित किया जाता है ।

आज अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का एक प्रमुख कारण विभिन्न देशों के आर्थिक स्तर की भिन्नता है ध्यातव्य है कि आज जब कि कुछ देश अत्यधिक विकसित हैं वही विश्व का एक बड़ा हिस्सा बेरोजगारी, मंहगाई तथा ऋण की समस्या से ग्रसित हैं विकसित देशों पिछले देशों का शोषण करने का कोई न कोई रास्ता ढूढ़ते रहते है । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अधीनस्थता की प्रवृत्ति इस बात का उदाहरण है कि किसी भी देश का बाहरी दबावों से प्रभावित विकास कितना हानिकारक तथा उस देश की वास्तविक समस्याओं से दूर होता है ।

2. अधीनस्थता का सिद्धान्त

अधीनस्थता की प्रवृत्ति सें सम्बन्धित अध्ययनों की शुरूआत सर्वप्रथम संयुक्त राष्ट्र संघ की पहल पर 1949 में ' 'इकोनामिक कमीशन फार लेटिन अमेरिका द्वारा की गई । बाद में इस सम्प्रदाय पर परम्परागत दो अर्थशास्त्रीय विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा –

1. लैटिन अमेरिका संरचनावाद

2. मार्क्सवाद में अधीनस्थता प्रवृत्ति के सिद्धांत का सार (Corc) केन्द्र परिधि परिकल्पना (Centre - Perpherly Hypotheses) है जिसका विकास हॉबसन, लेनिन तथा पाल बेरन आदि ने अपनें अध्ययनों तथा कार्यों से किया । इन लोगों ने इस विचार को, बल दिया की 'थर्ड वर्ल्ड ' (अविकसित) के देश विकसित देशों के अर्थ–साम्राज्यवाद के नए उपनिवेश हैं । 'केन्द्र ' तथा 'परिधि ' पर आर्थिक विकास के चार्ट पर विकसित तथा अविकसित देशों की स्थिति को दर्शाया है । इस चार्ट में विकसित तथा सम्पन देश केन्द्र में है जबकि अविकसित देश इसकी परिधि तैयार करते हैं ।

अधीनस्थता का सिद्धान्त (चार्ट) बताता है कि केन्द्र में स्थित देश, परिधि पर स्थित देशों की सम्पति को अपनी ओर खीचते है, जिससे परिधि पर स्थिति देश और गरीब हो जाते हैं । इस विषय में एक प्रसिद्ध विद्वान एन्डे गुंडर फ्रेंक ने बल पूर्वक एक स्थान पर लिखा है कि परिधि पर स्थित देशों के आधिक्य (Extraction of Scerplus) का शोषण वर्ग पर आधारित नहीं होता है, अपितु यह केन्द्र तथा परिधि के देशों के सम्बन्ध पर निर्भर करता है । इस सिद्धान्त का एक अन्य महत्वपूर्ण कथन यह है कि यह सिद्धान्त उत्पादन के सम्बन्धों की शक्तियों के विश्लेषण (analysis of forces of Production) के बजाय विभिन्न देशों के, मध्य सम्बन्ध बढ़ाने पर अधिक जोर देता है ।

3. पिछड़ापन और अधीनस्थता

यह सिद्धान्त अविकसित देशों के पिछड़ेपन के कारणों का अध्ययन करते हुए इंगित करती है कि अधीनस्थ बाहरी शक्तियों द्वारा आर्थिक प्रभुत्व का प्रयास या उपनिवेशवाद का नया रूप है । अधीनस्थ देश उसे माना जाता है जिस देश का विकास दूसरे विकसित देशों की अर्थ व्यवस्था द्वारा तय किया जाता है । अधीनस्थता की शुरूआत अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अविकसित देशों के प्रवेश के साथ शुरू होती है जहां पर उसे कुछ प्राथमिक उत्पादनों के निर्यात में विशिष्टता हासिल करवाई जाती है । किसी भी निर्भर देश में प्राथमिक उत्पादनों से प्राप्त आ वहां की संचय प्रक्रिया के लिए अत्याधिक अनिवार्य है । लेकिन वहां के केन्द्र के लिए प्रत्येक उत्पाद कुल आयात के अत्यन्त लघु भाग का ही प्रतिनिधित्व करता है । ये उत्पाद अन्य देशों से भी उपलब्ध हो सकते हैं ।

अत : केन्द्रीय देशों की अर्थ व्यवस्था में होता परिर्वतन परिधि पर स्थित देशों की अर्थव्यवस्था पर बड़ा नकारात्मक प्रभाव डालता है ।

दूसरा अधीनस्थता का प्रमुख कारण अधीन देश द्वारा उत्पादित की जाने वाली सामग्री पर विदेशियों का मालिकाना हक है । ऐसी स्थिति में निर्भर देश का विकास या उसके संयम में वृद्धि केन्द्र में स्थित देश की सफलता पर निर्भर करती है । इसमें वस्तुओं का उत्पादन 'उत्पादन जीवन चक्र माडल ' (Product Life Cycle Model) के आधार पर होता है । इस माडल के अनुसार पहले तो उत्पादनों को विकसित देशों में उत्पादित तथा विक्रय किया जाता है, तंदुपरान्त इनका उत्पादन तो विकसित देशों में होता है पर उनकी बिक्री अधीनस्थ / पिछड़े देशों में की जाती है और अंत में इन वस्तुओं का उत्पादन भी उन्ही अधीनस्थ परिधि के देशों में ही किया

जाता है । उत्पादन परिधि पर स्थित गरीब देशों में तभी किया जाता है जब इसमें प्रयोग की जाने वाली तकनीकी नई नहीं रह जाती है, अपितु काफी प्रचलित हो चुकी होती है । ऐसी अवस्था में नुकसान का खतरा कम होता है और पिछड़े देशों में श्रम सस्ता होने के कारण लाभ भी होता है । ऐसी अवस्था में नए उत्पादनों का विकसित देशों को अप्रत्याशित लाभ मिलता है । निर्भर देशों में सामान का उत्पादन पारम्परिक बहुदेशीय प्रभाव नहीं डालता है । इसके अलावा मंहगी तकनीकी का प्रयोग भी इन उत्पादों को जन साधारण से दूर कर देता है । इन उत्पादों के व्यापार में आर्थिक तथा राजनैतिक कारक भी काफी प्रभाव डालते हैं । इसके कारण एक प्रकार की सामाजिक तथा सांस्कृतिक बहिष्करण की प्रक्रिया की शुरूआत होती है ।

4. स्थानीय अभिजन की भूमिका

चूंकि गरीब देशों की सामान्य जनता विकसित देशों द्वारा उत्पादित इन वस्तुओं का उपभोग नही कर पाती है, अत : इनमें इन उत्पादों के प्रति विरोध की तीव्र भावना होती है । इस समस्या से निजात पाने हेतु विकसित देशों के लोग परिधि पर स्थित गरीब देशों के अभिजात वर्ग से पहल कर अपनें सम्बन्ध बढ़ाते है, जिसका दोहरा उद्देश्य होता है, (i) केन्द्र पर स्थित विकसित देशों के उत्पाद को स्थानीय सहयोग (support) मिलता है तथा (ii) निर्भर देश भी इन विलासी उत्पादों के लिये सीमित मात्रा में ही सही परन्तु बाजार उपलब्ध करवाते हैं । यह दोहरापन (dualism) पिछड़े देशों की समस्याओं को और बढ़ाते है, क्योंकि इस समय तक अपनें ही देश में एक ऐसी शक्तिशाली लॉबी का उदय हो गया है जिसका न केवल उत्पाद, तकनीकी आर्थिक तथा राजनैतिक विचारों के सम्बन्ध में सामान्य जनमानस से अगल या विरोधी विचार होते है, बल्कि कुछ 'समय पश्चात सरकार ' के स्वरूप तथा विदेशनीति तक को भी यह लॉबी प्रभावित करती है । जैसे–जैसे पिछड़े देशों के अभिजात वर्ग तथा सामान्य वर्ग में विषमता बढ़ती जाती है, वैसे–वैसे अभिजात वर्ग का लगाव विदेशी पूंजी की ओर बढ़ता जाता है । पिछड़े देशों के अभिजात वर्ग के लोग काफी सुशिक्षित होते हैं, तथा विकसित देशों के सम्बन्ध में रहने के कारण वह उन्हीं देशों के जैसे मूल्यों को स्वीकार कर लेते हैं तथा वह. इतने सम्पन होते हैं कि उनका जीवन स्तर भी विकसित देश के लोगों जैसा होता है ।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अभिजात वर्ग के आपसी सम्बन्धों ने पिछड़े देशों की आंतरिक संरचना में बिखराव पैदा कर दिया है जैसा कि लैटिन अमेरिकी देश । न्यूयार्क तथा लंदन में रहकर विलासिता' पूर्ण जीवन जी रहे पढ़े लिखे अभिजात वर्ग के लोग इन देशों के लिए स्वतंत्र बाजार (Free Market) का नारा देते हैं, जबकि यह देश अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के लिए अभी बिल्कुल नवजात है । यद्यपि आरम्भ में कुछ समय के लिए ऐसा लगता है जैसे स्थानीय अभिजात वर्ग के, लोग केन्द्र स्थित विकसित देशों की तुलना में कुछ फायदे में हो रहे हैं या उनकी निर्भरता केन्द्र पर कम हो रही है, परंतु इस अभिजात वर्ग में विकसित देशों के लिए अपनी सामान्य जनता से ज्यादा सामीप्य भाव रहता है और फिर स्थानीय व राष्ट्रीय उद्योगपति इतने शक्तिशाली कभी नहीं हो पाते कि वह पिछड़े देशों में रहते हुए भी विकसित देशों को अपने अस्तित्व का मजबूती से अहसास करा सकें । यदि इस अभिजात वर्ग को थोड़ी बहुत शक्ति मिलती भी है तो इसका कारण इस वर्ग का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार पूंजी के साथ

सहयोग होना होता है । बहुधा यह देखा जाता है कि स्थानीय पूंजी या पूंजीपति विदेशी उद्योग पतियों की तुलना में अपने को काफी पंगु पाते है ।, क्योंकि विदेशी पूंजी लगाने वाले का संगठन बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा संचालित होता है तथा उनके संसाधन विशाल होते हैं ।

पिछड़े देशों में अभिजात वर्ग की उत्पति के वही कारण होते हैं, जो केन्द्र में विकसित देशों के स्थापित होने के होते है । जैसे नये उत्पादों का पहले इस अभिजात वर्ग द्वारा स्वयं उपभोग किया जाता है और फिर पूंजी व नई तकनीक द्वारा इन उत्पादों को उत्पाद कर सामान्य जनता में उन्हें बेचने का प्रयास करते हैं । इस अभिजात वर्ग का संगठन काफी मजबूत होता है तथा वह उनका जीवन स्तर, जो कि विकसित देशों के स्तर का होता है, सामान्य जनता के लिए उस स्तर तक पहुंचने के लिए प्रेरक का कार्य करते हैं ।

बहुराष्ट्रीय निगम अभिजात वर्ग के लोगों को प्रतिष्ठित पदों पर नौकरी देकर उन्हें बहुत लुभावने वेतन देते हैं, जो कि राष्ट्रीय स्तर से काफी अधिक होता है । जिसके कारण एक तो इन विदेशी उद्योगों में हड़ताल की संभावना नहीं रहती है तथा उत्पादन निर्बाध गति से होता है, दूसरे ऐसे वर्ग का निर्माण होता है जो इन विलासिता पूर्ण उत्पादों को खरीद सके, तीसरे एक ऐसी मजबूत लॉबी तैयार होती है जो विदेशी पूंजी के पक्ष में माहौल तैयार करती है । इसके साथ ही साथ यह प्रक्रिया पिछड़े देशों में तेजी से मंहगाई बढ़ाती है, तथा मंहगी एवं प्रभावी तकनीकी के प्रयोग से बेरोजगारी बढ़ती है । स्थानीय अभिजात वर्ग के लोग प्रमुखत : नगरों तथा महानगरों में रहतें है जो कि निर्णय लेने की प्रक्रिया के केन्द्र होते हैं । इस वर्ग के लोग व्यावसायिक निपुणता, बौद्धिकता तथा सरकार के क्षेत्र में काफी दखल रखते हैं, जिसके कारण समाज के सम्बंध में निर्णय लेने की शक्ति इनमें समाहित हो जाती है, जबकि सामान्य जनता इस राजनीतिक तथा आर्थिक प्रक्रिया के बारे में निर्णय लेने से काफी दूर होती है । इस महत्वपूर्ण अभिजात वर्ग की भूमिका, संगठन तथा व्यवहार के बारे में जानने के लिए बहु राष्ट्रीय निगमों को समझना आवश्यक होंगा जिनका केन्द्र में स्थित विकसित देश तथा परिधि पर स्थिति गरीब देशों से सीधा सम्बन्ध होता है ।

5. बहुराष्ट्रीय निगमों की कार्य प्रणाली

बहुराष्ट्रीय निगमों को उन फर्मों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो किसी वस्तु के उत्पादन तथा वितरण की प्रणाली को एक से, अधिक देशों में नियंत्रित करती है । यह बहुत ही विशाल और गतिशील उद्यम (Dynamic enter prises) है जो विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में सलंग्न होती हैं । इन बहुराष्ट्रीय निगमों को मुख्यालय से कुछ व्यक्तियों के समूह द्वारा दुनिया भर में संचालन किया जाता है तथा वह वही से अपने अधिकारियों (men) पूंजी तथा बाजार पर नियंत्रण रखते हैं । इन निगमों की सफलता में उनकी वृहत पूंजी, विकसित तकनीकों तथा उनके ब्रांड की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । यह निगम पूरी दुनिया को कई तरीको से प्रभावित करते हैं जैसे– बहुराष्ट्रीय निगम पूरी दुनिया के आर्थिक निर्णयों पर अपना प्रभाव रखते है, कि कब, कहां, क्या और कितना उत्पाद उत्पादित किया जाए ? अत : राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में निगमों का आकार और संलग्नता वहां के संसाधनों के उपयोग तथा नियंत्रण को सीधे प्रभावित करते हैं ।

बहुराष्ट्रीय निगमों के उदय से तीन प्रमुख बातें उभरी है– (1) अन्तर्राष्ट्रीय परिवहन में लागत की कमी (2) अन्तर्राष्ट्रीय संचार की लागत में कमी (3) प्रमुख औद्योगिक नवाचारों को आरम्भ करने की लागत में बढ़ोत्तरी ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सार्वभौमीकरण (Globaligation) की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ी है क्योंकि इस समय विभिन्न प्रकार के यातायातों से इस विश्व के विभिन्न देश आपस में जुड़े, जिसकी लागत भी अपेक्षाकृत कम थी । शीतयुद्ध के कारण यह विश्व दो खण्डों में विभाजित था परंतु इसमें से प्रत्येक खण्ड के देश आपस में बहुत मजबूरी से नहीं जुड़े थे । संचार साधनों में अप्रत्याशित वृद्धि के कारण विभिन्न देश आपस में बड़ी तेजी से करीब आए । दूरसंचार के विस्तृत जाल से ग्लोबलाजेशन के पक्ष में इन फर्मों का विकास हुआ । विस्तृत पूंजी संसाधनों के कारण इन निगमों का प्रसार ' एक देश से दूसरे देश में तेजी से हुआ तथा उपलब्ध वित्तीय व्यवस्था से इन निगमों ने लाभ भी उठाया । क्योंकि इन बहुराष्ट्रीय निगमों ने सस्ती कच्ची सामग्री कहीं एक देश से खरीदी, उत्पादन वहां किया जहां श्रम सस्ता था और निर्यात उन देशों को दिया, जहां उनकी मांग अधिक थी, इन निगमों के विस्मृत संसाधनों वृहद आकार तथा सरल पहुंच के कारण इनके शोध और विकास विभाग ने उन्नति के लिए बड़ी तत्परता से नये–नये क्षेत्र खोजे तथा नये–नये उद्योगों को लगाने में जो भारी खर्च आया उसे इन बहुराष्ट्रीय निगमों ने उठाया ।

उपर्युक्त कारकों ने इन बहुराष्ट्रीय निगमों को विश्व स्तर के ... अभिजात वर्गीय रूप में विकसित होने में सहायता की । उदाहरण के लिए कुछ समय पूर्व मध्यपूर्व के देशों में तेल क्षेत्र की सात बड़ी कम्पनियों ने प्रवेश किया तथा कुछ ऐसी व्यवस्था की, जिससे किसी और की इस क्षेत्र में प्रविष्टि न हो जाये । इन बहुराष्ट्रीय निगमों के आलोचक स्पष्ट करते हैं कि यह निगम अपने अभिजात वर्गीय नियंत्रण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भारी मुनाफा उठाते है । बहुराष्ट्रीय निगमों का दूसरा महत्वपूर्ण कारण उनकी सौदेबाजी करने की क्षमता है क्योंकि यह निगम उच्च तकनीकी पूंजी तथा बृहत संसाधनों के वाहक होते है। पिछड़ें दशा से यह निगम जितना लाभ जितनी देर तक उठा सकते है, उतने समय तक ही वह उस देश से सम्बन्ध रखते है । यह बहुराष्ट्रीय निगम गरीब देशों स व्यापार करने में अपनी शर्त मनवाने में सफलता होते हैं क्योंकि अब यह निगम पिछड़े मुलकों के लिए अपरिहार्य होते जा रहे हैं । वास्तव में कुछ बहुराष्ट्रीय कम्पनियां तो बहुत ही विशाल हैं उदाहरणार्थ जनरल मोटर का वार्षिक आ–व्यय पिछड़े राष्ट्रों के वार्षिक राष्ट्रीय उत्पाद (Annual National Product) से कहीं अधिक है ।

6. बहुराष्ट्रीय निगम और निर्भरता

नियमों की अपनी शक्तियों के नकारात्मक प्रयोग के कारण इन नियमों को विषम विकास का कारण माना जाता है । निर्भर देशों में इन बहुराष्ट्रीय निगमों को दम घोटूं (न (stifling) स्पर्धा का कारण भी माना जाता है । यह निगम दुनिया भर के बाजार के उत्पादक संघ है जो विषम आय तथा विकासशील देशों में रोजगारी के अवसरों को नष्टकर गरीबी बढ़ाते हैं–और इन सबका कारण इन बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा प्रयोग की जानेवाली अनुपयुक्त तकनीकी है ।

बहुराष्ट्रीय निगम उन क्षेत्रों में अधिक प्रभावी है, जिन क्षेत्रों में संसाधन कुछ ही लोगों के हाथों में सीमित है–जैसे कम्प्यूटर तथा तेल के क्षेत्र । 1980 में दुनिया भर के तेल व प्राकृतिक गैस के 273 भाग पर इन निगमों का नियंत्रण था । अपने उत्पादों के विभिन्न बाजार तैयार करने हेतु यह निगम दुनिया भर में विज्ञापनों के माध्यम से प्रचार करते हैं । अमेरिका की एक विज्ञापन एजेन्सी मैकन इरिवसैन के 1980 में 47 देशों में कार्यालय थे । यह विज्ञापन एजेन्सियां उन उत्पादो के लिए मार्केटिंग करती है, जिनकी उस समाज के लिए बहुत ज्यादा उपयोगिता नहीं होती है । यह बहुराष्ट्रीय निगम अपनें लाभ के लिए इस अन्तर्राष्ट्रीय समाज को अपने अनुरूप ढालना चाहते है । इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु वह फोर्ड फाउन्डेशन, रॉक फेलर फाउन्डेशन आदि के माध्यम से वित्तीय सहायता प्रदान कर अपने बाजार तथा उत्पादों के लिए शोध करवाते है तथा कभी–कभी तो वह इन शोधों को दिशा की भी अपने प्रभाव से प्रभावित करते हैं ।

यह बहुराष्ट्रीय निगम स्थानीय वित्तीय समूहों तथा स्थानीय सरकार के बीच अपनी स्पर्धा द्वारा संघर्ष बढ़ाते हैं क्योंकि यह सभी घरेलू वित्त व्यवस्था पर अपना अधिक नियंत्रण चाहते हैं । कुछ जापानी निगमों को छोड़कर विकसित देशों के यह सभी कम्पनियां wholly owned छोटी कम्पनियों को पूर्णत अथवा अधिकांश को नियंत्रित करती है । बहुमत controlled subsidiaries का है । इसलिए इन निगमों का झुकाव गरीब देशों के बजाय केन्द्र में स्थित अपने हेड आफिस की ओर होता है । ऐसी स्थिति में सामान्यत : महत्वपूर्ण आर्थिक निर्णय मेजबान देश की आर्थिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखे बिना किये जाते है । यह बहुराष्ट्रीय निगम एडवान्स तकनीकी के वाहक होने के बजाय प्रचलित तकनीकी को दूसरे देशों को स्थानान्तरित भी करते हैं तथा मेजबान देश से उसकी कीमत भी लेते हैं । इसके अलावा Tax incentive देकर Tarrifs करो को कम करने और subsidised credit बढ़ा कर बहुराष्ट्रीय निगम स्थानीय अभिजात वर्ग के साथ अपनी नीतियों का तारतम्य बिठाकर विकास के दोहरे मानदण्ड का निर्माण करते है । इसके अलावा अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यह बहुराष्ट्रीय निगम अपनी अकूत धनशक्ति के कारण मेजबान देश की प्रतिभा को शहर की ओर कार्यक्षेत्र के लिए खींचते है जिससे कि उस देश का सामाजिक तथा आर्थिक ढांचा विकृत होता है । वह एक ऐसा प्रदर्शनात्मक खपत प्रतिरूप विकसित करते हैं जो उस समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं होते । वह मूल्य हस्तान्तरण की नीति के द्वारा टैक्स नहीं देते है जिससे मेजबान देश के रेवेन्यू (revenue) को नुकसान होता है । इसके इलावा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस लाभ को किसी निर्माणकारी विकास में नहीं लगाया जाता है अपितु इसे केन्द्र में स्थित हेड आफिस को भेज दिया जाता है ।

इस प्रकार बहुराष्ट्रीय निगमो द्वारा मेजबान देशों की निर्भरता को बढ़ाया जाता है । अब निर्भरता का एक अंन्य उदाहरण अन्तर्राज्यीय समझौते द्वारा उभर रहा है जिसे लोम कन्वेंशन के रूप. में देखा जाता है।

7. लोम शिखरवार्ता (Lome convention)

1950 वर्ष के अंतिम समय उपनिवेशवाद तेजी से समाप्त होने लगा जिससे यूरोपीय देशों के मन में यह भय बैठ गया कि वह अपनें उपनिवेशों से हाथ धोने के बाद, संसार में अपना महत्व भी खो देंगे। नवस्वतंत्र देश भी शाप से अपने पुराने सम्बन्धों क आधार पर लाभ उठाने के लिए चिंतित थे। यूरोप के आर्थिक समुदाय (EEC) से उनका जुड़ने का प्रमुख कारण कि उनके प्राथमिक उत्पादों की नियति को इस संघ की सुरक्षात्मक नीति के कारण नुकसान न हो पाए। इसलिए 1963 में अफ्रीका के 18 देशों ने (जोकि पूर्व में उपनिवेश थे) यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) के साथ Yasunda समझौता किया। इस समझौते की जो प्रमुख बाते थी उन्हें ही बाद में लोम कन्वेंशन कहा गया। 1975 में इस समझौते का विस्तार किया गया तथा उसमें कैरिबियिन तथा प्रशांत क्षेत्र के उन देशों को भी शामिल किया गया जो पूर्व में ब्रिटेन के उपनिवेश थे। इन अफ्रीकी कैरिबियिन प्रशांत क्षेत्र के देशों ने EEC के साथ लोम में समझौता किया जो कि व्यापार और सहायता के सिद्धांत पर आधरित था। यह एक वरीयता प्रधान व्यापारिक समझौता था, जो कि; प्राथमिक उत्पादों के निर्यात से सम्बन्धित था। इस समझौते के द्वारा अफ्रीका प्रशांत तथा कैरिबियिन देश अपने प्राथमिक उत्पादों को एक क्षतिपूर्ति योजना के तहत यूरोप के निर्यात को बरकरार रख सके। इस लोम कन्वेशन के साथ मुख्यत: तीन योजनाएं जुड़ी थी। (1) Stabex (2) Sugar Protocol (संलेख) तथा (iii) Sysmin stabex का कार्य बीमा के रूप में ACP देशों को उन वर्षो की क्षतिपूर्ति करना था जिन वर्षो में EEC बाजार को निर्यात की जाने वाले उत्पादों का व्यापार होता है जबकि उत्पादक जो कि In Question है वह पहले वाले साल की कुल आय का कम से कम 6% है और दूसरे, निर्यात से होने वाली आय पिछले चार वर्षो की औसत आय से 6% कम है। सुगर प्रोटोकाल के तहत यूरोपीय संघ (EEC) के देश ACP के देशों से प्रतिवर्ष एक निश्चित मूल्य पर, शक्कर की एक निश्चित मांग को खरीदेंगे, परंतु ACP के देश यह शक्कर इसी निश्चित मूल्य या इससें अधिक मूल्य पर किसी को बेच नहीं सकते हैं। आज इस प्रोटोकाल के तहत ACP' देशों में 66% शक्कर का व्यापार होता है। क्योंकि विश्व बाजार में न तो इसके लिए अधिक मांग है और न ही कोई क्षतिपूर्ति मूल्य की व्यवस्था है। Sysmin व्यवस्था 1970 में किए गये दूसरे लोम समझौते का परिणाम है जिसकें द्वारा उन ACP देशों को सहायता दी जाती है जो अपने खनिजों को यूरोपीय संघ के देशों को निर्यात करने पर काफी कुछ निर्भर है। यदि ACP में खनन व्यवसाय में कोई गंभीर अल्पकालीन व्यवधान हो जाता है तो उन्हें Sysmin के तहत सहायता दी जाती है। इन प्रावधानों के अलावा लोम समझौते द्वारा ACP देशों के विकास हेतु फंड की व्यवस्था –भी की गई है जौ इन देशों को ग्रामीण विकास की विभिन्न योजनाओं के लिए ऋण के रूप में दी जाती है।

लोम समझौते के इन प्रावधानों की काफी कटु आलोचना हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन प्रावधानों से सहायता का मुखौटा तो दिखाया गया है परंतु इनका असली उद्देश्य यूरोपीय देशों द्वारा अपने पूर्व उपनिवेशों की वित्तीय व्यवस्था को नियंत्रित करना है। इस सम्बन्ध में

अभी एक बड़ी गम्भीर समस्या सुगर प्रोटोकाल के सम्बन्ध में उठी। EEC के देश अपनें देश में बढ़ते हुए शकर के उत्पादन से चिंतित है। उन्होंने उसके उत्पादन को नियंत्रित किया तथा इस सम्बन्ध में घरेलू मूल्य को भी बढ़ने नही दिया जिसमें ACP देशों का निर्यात प्रभावित हुआ। इसके अलावा उन्नत तकनीकी के कारण भी यूरोप में उत्पादित की जाने वाली शक्कार की कीमत ACP देशों से कम आती है । अत: यह देख जाता है कि Stabex युरोपीय बाजार पर ACP की निर्भरता और बढ़ा रही है और नकदी फसलों के कारण फलों की फसलों को भी नुकसान हो रहा है । लोम समझौते के सम्बन्ध में एक अन्य शिकायत यह है कि इस के तहत विकास पर खर्च की जाने वाली धनराशि का सही ढंग से उपयोग नही होता है । अत : विकास से संबन्धित बड़ी योजनाएं बड़ी धीमी गति से आगे बढ़ती हैं।

लोम समझौते को लागू करने के जो सरकारी कारण बताए गये हैं उसके अनुसार तो युरोपीय संघ के देशों ने अपने पूर्व के औवनिवेशिक देशों के साथ सहयोग करने की भावना से वरीयता पर आधारित व्यापार को इस समझौते के द्वारा शुरू किया । परन्तु ध्यातव्य बिन्दु यह है कि राह योजनाएं तब शुरू की गई जब युरोप विश्व के मामलों में अपनी श्रेष्ठता (प्रमुखता) खा रहा था तथा उपनिवेश उसके हाथ से निकलते जा रहे थे जिसके कारण वह संसार में दूसरें दर्ज की शक्ति रह गया था । इस समझौते के कारण युरोपीय संघ, ACP देशों पर एक तरफ से अपना प्रभाव बढ़ाने से सफल रहा । इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता है कि लोम समझौता इसकी शुरूआत करने वाले देशों के लिए लाभप्रद रहा है क्योंकि इसके द्वारा प्राथमिक उत्पादों व्यापार को भी प्राथमिकता दी गई है तथा ऐसा कोई प्रयास नहीं किया गया है, जिससे परिधि के देश स्वयं की किसी समुचित औद्योगिक संरचना का विकास कर सकें । अत : कहां जा सकता है कि लोम समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले ACP के देश अपने विकास के लिए युरोपीय संघ के ऊपर निर्भर रहते हैं ।

8. राष्ट्रीय राजनीति में अधीनस्थता द्वारा विकास

अधीनस्थता द्वारा होने वाला विकास एक प्रकार से विरोधी का आपस में संयोजन है । यह देश को अमीर तथा गरीब दो हिस्सों में बांटता है । यह प्रकृति समाज को हिस्सों में बांट. कर, समाज के एक छोटे अभिजात वर्ग को अन्तर्राष्ट्रीय समूह से जोड़कर, उन्हें सामान्य जनसमूह की ओर से निर्णय लेने को अधिकृत करती है, जिनकी आवश्यकताएं इस अभिजातवर्ग से काफी भिन्न हैं । इस प्रवृत्ति को बढ़ाने के संक्षेप में निम्न कारण हो सकते हैं ।

1. तर्क के अलावा विकसित देशों के पास सुरक्षित अन्तर्राष्ट्रीय 'बाजार चाहिए 2. संसार का विभिन्न खण्डों में विभाजन विकसित शक्तियों को इस बात के लिए अनिवार्यत : उत्साहित करता है कि वह संसाधनों पर रणनीति की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों पर नियंत्रण रख सके और अन्य देशों को उनके साथ सहयोग करने के लिए प्रभावित कर सके ।यह स्थापित सत्य है कि इन बहुराष्ट्रीय निगमों के विकसित तथा अविकसित देशों के साथ व्यापार करने के अलग–अलग नियम होते हैं, जिससे विकसित देश अविकसित देशों की तुलना में काफी अधिक लाभ में रहते हैं।

9. सारांश

यद्यपि निर्भरता की प्रवृत्ति का सिद्धान्त मार्क्सवाद से प्रभावित व संचालित है, परंतु इस सिद्धान्त की इस बात के लिए आलोचना की जाती है कि इसमें वर्ग की भूमिका को ध्यान में रखने के बाजाय देश के, महत्व को विश्लेशित किया गया है । इस सिद्धांत के कारण एक ऐसे वातावरण का निर्माण हुआ, जिसमें स्थानीय अभिजात वर्ग इस निर्भरता के विकास को समर्थन देता है, जिसे पश्चिमी देशों से सहयोग मिला है, परन्तु इसके विरोधी पक्ष को सोवियत ग्रुप से सहयोग मिलता था, जिससें विश्व में शीतयुद्ध की संभावना बढ़ी थी । इस सिद्धांत के परिणाम स्वरूप एक और अन्तर्विरोध का जन्म हुआ जिसके कारण देश की जनसंख्या का एक छोटा विस्तार (अभिजात वर्ग) तो अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के साथ घुल मिल गया, परन्तु जनता के एक बहुत बड़ा भाग की अपने देश की प्रतिदिन की घटनाओं में भागीदारी समाप्ति हो गई1 यह बहुराष्ट्रीय निगम निर्भरता बढ़ाने के एक वाहक के रूप में उभर कर आए हैं यद्यपि इसके समर्थक इन निगमों की सफलता के संदर्भ में कुछ उदाहरण भी देखते हैं । यद्यपि बहुराष्ट्रीय निगम दरों के मामलों अथवा महत्वपूर्ण उत्पादों के अतिरिक्त अपने को किसी भी प्रकार के अन्य नियमन के अधीन रखने के बहुतकम अवसर प्रदान करते है । अतं में हम कह सकते है कि निर्भरता की यह वृत्ति कभी–कभी सामाजिक समस्याएं भी पैदा करती है जैसे, दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद । इस रंगभेद के कारणों को यदि सूक्ष्मता से विवेचना करे तो पता चलता है कि इस रंगभेद के लिए निर्भरता का सिद्धांत काफी जिम्मेदार था क्योंकि इसके कारण सामान्य जनता की कीमत पर द. अफ्रीका में एक छोटें सें अभिजात । वर्ग ने बड़ी विषम उन्नति की । इस अधीनस्थता की प्रवृत्ति से औद्योगिकरण या शहरीकरण तो बढ़ सकता है, परन्तु इसमें परिधि पर स्थित देशों के स्वतंत्र विकास के लिए बहुत कब मौके, उपलब्ध होते हैं । इस सिद्धांत से जो थोड़ा बहुत परिर्वतन होता है उसके लिए बाह्य शक्तियां जिम्मेदार होती हैं, जो पिछड़े देशों के विकास में वास्तव में रूचि नहीं रखती हैं ।

10. संदर्भ ग्रन्थ

इवांस, पीटर : **डिपेन्डेंट डेवलपमेंट**

किर्कपेट्रीक, सी एच. एण्ड एफ. आई. निक्सन. (सं.) **इंडस्ट्रियलाईज़ेशन आव् लेस डवलप्ड कन्ट्रीज**

स्वामी, दिलीप एस. : **मल्टीनेशनल कॉरपोरेशनस एण्ड दि वर्ल्ड इकोनोमी**

11. अभ्यास प्रश्न

1. अधीनस्थता के सिद्धांत का विकास कैसे हुआ है । इस विचारधारा की प्रमुख बातो को स्पष्ट कीजिए ।
2. अधीनस्थता का सिद्धांत पिछड़ेपन (under development) के बिन्दु पर मार्क्स के सिद्धान्त से किस प्रकार भिन्न हैं?
3. स्पष्ट कीजिए कि बहुराष्ट्रीय निगमों को निर्भर विकास बढ़ाने वाला क्यों माना जाता है ?

इकाई – 13

क्षेत्रीय व्यवस्थाएं तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति: ई. ई. सी, ऐशियान, सार्क तथा केमीकोन के अनुभवों पर आधारित सामान्य सिद्धान्त

इकाई संरचना

0 प्रस्तावना

1 क्षेत्रीय सहयोग की मान्यता

2 क्षेत्रीय सहयोग के उपागम

2.1 संघवाद

2.2 बहुलवाद

3 क्षेत्रीय सहयोग के आर्थिक एवं तकनीकी कारकों पर आधारित प्रवृत्तियां

3.1 संरचनावादी

3.2 नव संरचना वादी

4 अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का बदलता परिदृश्य

5 संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर के तहत क्षेत्रवाद

6 यूरोपीय आर्थिक समुदाय (ई. ई. सी.)

6.1 (ई. ई. सी.) एवं बाह्य सम्बन्ध

6.2 (ई. ई. सी.) अमेरिकी सम्बन्ध

6.3 (ई. ई सी.) समाजवादी देशों तथा सी. एम. ई. ऐ. के साथ सम्बन्ध

7 पारस्परिक आर्थिक सहयोग परिषद (सी. एम. ई. ऐ/केमीकोन)

7.1 योजना समन्वय

7.2 उत्पादन विशेषता

7.3 क्षेत्रीय व्यापार

7.4 (सी. एम. ई. ऐ.एवं विदेशी सम्बन्ध

8 दक्षिणी–पूर्वी ऐशियाई देशों का समुदाय (ऐशियान)

9 क्षेत्रीय सहयोग का दक्षिण ऐशियाई समूह (सार्क)

10 क्षेत्रीय सहयोग संगठनों का मूल्यांकन

11 संदर्भ ग्रन्थ

12 अभ्यास प्रश्न

0 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के पहलू के रुप में क्षेत्रीय सहयोग की धारणा का आवश्यक रुप से द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विकास हुआ है । इससे पहले क्षेत्रीय समूह उपनिवेशक दौर में अधिकांश रुप से निर्मित किये गए थे जो कि यूरोप के देशों के बीच विश्व शक्ति' संघर्ष के

सन्दर्भ में अंतर्राष्ट्रीय शक्ति समीकरण के अंग के रुप में थे । द्वितीय विश्व युद्ध के बाद क्षेत्रीय समूह भिन्न तरीको से बनाये गए । क्षेत्रीय स्तर पर वे राष्ट्रों के बीच सुरक्षा, आर्थिक विकास तथा सामाजिक भलाई के सम्बंध में सामूहिक आवश्यकताओं की विशेषतौर पर पूर्ति करते हैं । इसमें यह भी ध्यान दिया जाता है कि प्रत्येक राष्ट्र की अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान पर इसका कोई दुष्प्रभाव न हो ।

1 क्षेत्रीय सहयोग की मान्यता

क्षेत्रीय सहयोग की ओर स्पष्ट प्रवृतियों का इस तथ्य से मूल्यांकन किया जा सकता है कि "राष्ट्र व्यवस्था परिवर्तन की स्थिति में है तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के नये प्रतिरुप उत्पन्न हो रहे हैं ।" अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रवाद तथा क्षेत्रीय व्यवस्था क्रमों के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं । उदाहरण स्वरुप; अमरीकी देशों का संगठन (ओ. ए. एस.), अटलांटिक संधि संगठन (नाटो), यूरोपीय आर्थिक समुदाय (ई. ई सी.), पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद (सी. एम. ई ए.), दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (सार्क), दक्षिण पूर्वी एशियाई राष्ट्र समुदाय (एशियन) तथा अन्य । इस तरह के संगठनों को स्वयं संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर से मान्यता मिली है । अब जबकि क्षेत्रीयवाद की प्रवृत्तियां पाश्चात्ये देशों में सुदृढ़ हो चुकी हैं, यह समाजवादी तथा तृतीय विश्व के देशों में भी फैलती जा रही है ।

द्वितीय विश्व युद्ध के तुरन्त बाद विश्व व्यवस्था में तनाव व्याप्त था । शक्ति संघर्ष का स्वरूप भी भिन्न था । साथ ही साथ युद्ध अभिशप्त विश्व में चौमुखे विकास भी आवश्यकता थी । इन्हीं प्रासंगिक जरुरतों ने क्षेत्रीय सहयोग को आधार प्रदान किया । विभाजित व विरोधी विश्व में प्राकृतिक संसाधनों को एक करने की आवश्यकता थी । इतने समय के बाद ऐसा प्रतीत होता था कि सदियों पुरानी राष्ट्र व्यवस्था क्षेत्रीय समूहों की ओर विकसित हो रही है जिससे एक अधिक व्यवहार्य विकल्प की सम्भानाएं भी प्रतीत होती थीं ।

इस (इकाई) यूनिट में अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रीयवाद के स्वरुप व तात्पर्य का परीक्षण किया गया है जो कि कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रीय व्यवस्था क्रमों की कार्य प्रणाली की व्याख्या भी करती है । इससे पहले हम क्षेत्रीय समाकलन के बारे में अधिकांश सैद्धान्तिक उपागमों की व्याख्या करेगे जो कि विभिन्न दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किये गए हैं ।

2 क्षेत्रीय सहयोग के उपागम

सिद्धान्तकारों के दो प्रमुख समूह हैं । पहले समूह के सिद्धान्तकारों द्वारा शक्ति, प्रतिक्रियाशीलता तथा राजनीति के, विशिष्ट वर्ग के नियंत्रण इत्यादि राजनीतिक चरों पर ध्यान दिया जाता है । यह समूह बहुलवाद तथा संघवाद जैसे दो प्रवाहों से निरुपित किये जा सकते हैं । दूसरा समूह सहयोग के आधार के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा तकनीकी कारकों पर केन्द्रित है । उसका मानना है कि ये कारक अप्रत्यक्ष रुप से राजनीतिक परिवर्तन में सहायक होते है । फन्क्शनलिस्ट तथा नव फन्क्शनलिस्ट भी इसी छवि के साथ पहचाने जाते है । अब हम अन्तर्राष्ट्रीय एकीकरण की वैचारिक परम्पराओं की विवेचना करेगें जिन्होंने शिक्षाविदों तथा राज नेताओं को एक समान प्रभावित किया है ।

जैसा कि उपयुक्त उल्लेख किया गया है, पहला समूह संघवाद तथा बहुलवाद की परम्पराओं द्वारा प्रभावित है ।

2.1 संघवाद

प्राचीनतम तथा सर्वोत्तम समझें जाने वाली परम्परा संघवाद एक विधिवादी उपागम है जो कि आवश्यक रुप से राज्य के 'प्रतिमान ' पर आधारित है । इसका उद्देश्य एक अधिराष्ट्रीय राज्य की स्थापना करना है जिसके पास सदस्य राष्ट्रों की सामूहिक सुरक्षा, आन्तरिक सुरक्षा तथा 'आर्थिक विकास जैसी जरुरतों की सन्तुष्टि के लिए पर्याप्त राजनीतिक सत्ता तथा बल प्रयोग की शक्ति हो तथा जो साथ ही साथ सहयोगी देशों को व्यक्तिगत पहचान तथा क्षेत्रीय स्वायत्तता बनाने के योग्य बनाये रहे । एकीकरण, की प्रक्रिया के परीक्षण के लिए संघवादी मुख्यरुप से शक्ति व समझौते जैसे राजनीतिक तत्वों पर विश्वास करते हैं । स्थिति के अप्रतिरोध्य स्वरुप की विवेचना के बजाय इसको स्वीकार किया जाता है तथा इसकी हिमायत भी की जाती है । लेकिन एकीकरण होगा या नहीं तथा कैसे होगा, यह संघवादियों के अनुसार विशिष्ट वर्ग की शक्तियों, योग्यताओं तथा इच्छाओं पर निर्भर करता है । संघवादी एकीकरण को एक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था से अधिराष्ट्रीय व्यवस्था की तरफ परिवर्तन की एक तीव्र प्रक्रिया के रुप में देखते है यह संविधान निर्माण या शक्ति के अनेक बिन्दुओ की उत्पति के जरिये एकीकरण एक उपागम है । संघवादियों का मानना है कि इस व्याख्या की विलक्षणता उस 'ढांचे' में होती है जहां कि सुरक्षा; सत्ता व एकता इत्यादि केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त क्षेत्रीय स्वायत्तता, प्रतिनिधित्व विभिन्नताएं इत्यादि विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तों के अनुरुप होते हैं ।

2.2 बहुलवाद

पहले समूह का दूसरा उपागम 'संघवाद ' से कुछ पहलुओं में भिन्न है । एकीकृत राजनीतिक समुदाय स्वतंत्र राज्यों की वह व्यवस्था है जो कि बहुवादियों के मत में किसी अधिराष्ट्रीय सत्ता द्वारा शासित नहीं होती । इस स्कूल के मुख्य प्रतिपादन कार्ल डायजच के अनुसार यह मित्रता, संचार व परस्पर संबंधों से इस हद तक बंधी होती है कि यह संघर्ष समाधान प्रक्रिया के रुप में इसके द्वारा गृह युद्ध या पृथकवाद को रोकने की क्षमता पर निर्भर करती है । यह राजनीतिक समुदाय की सफलता, व्यापार के प्रतिरुप, जन गतिशीलता, संचार तथा औपचारिक व अनौपचारिक विशिष्ट वर्ग के परस्पर संबंधों जैसे कारकों वाले माध्यम पर टिकी होती है । काफी हद तक इस तरह का आदान–प्रदान तीव्र स्थायित्व तथा परस्पर रुप से लाभप्रद हो तो ये एकीकृत व्यवस्था के संरचनात्मक बंधनों को मजबूत करते हैं तथा इसे स्थायी तथा प्रभावी बनाते हैं सामान्यतया एकीकरण की बहुलवादी अवधारणा के "अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा व शान्ति की प्राथमिकता तथा राजनीति का कूटनीतिक नीतिवाद सम्बंधों के साथ सहयर्च" जैसे दो अत्यधिक महत्वपूर्ण आधार हैं ।

नीति निर्धारकों में बहुलवादी विचारधारा को अधिक स्वीकार किया जाता है क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था व स्थायित्व को राष्ट्रीय स्वतंत्रता के साथ संयुक्त करती है । वास्तव में इस व्यवस्था को यूरोपीय आर्थिक समुदाय (ई. ई. सी.) में काफी सफलता मिली है । इस प्रकार

यह स्पष्ट है कि संघवादी तथा बहुलवादी एकीकरण राजनीतिक उपागम के रुप में एकमत हैं परन्तु पूर्व रुप से सत्ता के संदर्भ में भेद रखते हैं ।

3 क्षेत्रीय सहयोग के आर्थिक एवं तकनीकी कारकों पर आधारित प्रवृत्तियां

आर्थिक एवं तकनीकी. कारकों पर जोर डालने वाले दूसरे समूह के सिद्धान्तकार भी दो प्रवृत्तियों द्वारा निरुपित किये जा सकतें है :– संरचनावादी तथा नव संरचनावादी

3.1 संरचनावादी

फंक्शनलिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की गैर राजनीतिक कार्यवाहियों पर अधिक जोर डालते हैं । आरम्भ में, प्राचीन फंकश्नलिस्टों को क्षेत्रीय सहयोग की प्रक्रिया पर सन्देह था क्योंकि यह उनके उद्देश्यों के विपरीत थी । फंक्शनलिस्टों का मुख्य उद्देश्य युद्ध की समाप्ति है । यदि व्यक्ति समूह या राज्य किसी उद्देश्य या लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते है तथा वह पर्याप्त रुप से महत्वपूर्ण हैं तो उन्हें उद्देश्य या लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सहयोग करने की जरुरत होती है जिसके फलस्वरुप ही यह प्राप्त हो सकता है । यदि लक्ष्य पर्याप्त रुप से महत्वपूर्ण है तो वे एक –दूसरे के साथ कार्य करेंगे तथा इस प्रक्रिया में द्वंद्वों का समाधान करेंगे । इस व्यवस्था क्रम के तहत एकीकरण की प्रक्रिया सरकारों के बीच या अधिराष्ट्रीय स्तर पर ही आरम्भ की जा सकती है जो सीमाओं के ऊपर हितों के प्राकृतिक समूह तथा क्रियात्मक संगठनों का निर्माण कर सकते हैं । ये संगठन "क्रियाशील शान्ति व्यवस्था" या एक–दूसरे पर आलंम्बित होते हैं तथा सभी आर्थिक व सामाजिक समस्याओं का दक्षता पूर्वक इस तरह समाधान करते हैं कि संघर्ष के लिए कदापि स्थान न रहे । फंक्शनलिस्ट आत्मनिर्धारण के माध्यम के रुप में कार्यसम्पादान में भलाई पर अधिक बल देते हैं तथा इसमें आकार के बजाय कार्यो को वरीयता देते है । फंक्शनलिस्ट के मत में निश्चित संविधान की कोई आवश्कता नही है । जैसे सम्पादन करने वाले कार्यो का स्वरुप बदलता है वैसे ही ढांचे का विकास तथा रूपान्तरण किया जा सकता है । इस तरह के संगठन की सीमाएं राज्य द्वारा नही वरन कार्यात्मकता के आधार पर निर्धारित की जाती हैं । यह उल्लेख किया जा सकता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से सभी अन्तर्राष्ट्री संगठनों के नमूने फंक्शनलिस्ट उपागम के आधार पर बनाये गए थे जिसमें युद्ध के दौरान सम्बधीत (एलाइड) शक्तियों के बीच सहयोग के अनुभवों को भी स्वीकार किया गया था ।

3.1 नव–संरचनावादी

नव संरचनावादी अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक एकीकरण में प्रभावशील यह अपेक्षाकृत एक नया उपागम है इसे यूरोपीय आर्थिक समुदाय से अधिक गति व समर्थन मिला है पिछले दो दशकों के दौरान अमरीका में राजनीतिशास्त्र विषय के विकास से इसके सैद्धान्तिक व व्याख्यात्मक ढांचे पर अधिक प्रभाव पड़ा है । सन् 1950 में यूरोप के कोयला तथा स्टील समुदाय का गठन इस उपागम को नजीर प्रदान करता है । युद्ध की प्रवृत्तियों को खत्म करने के लिए भलाई पर अधिक जोर दिया जाता है । अरनेस्ट ह्रास ने इस सिद्धान्त के विकास में अपना उल्लेखनीय योगदान दिया है । उनके अनुसार अंतराष्ट्रीय एकीकरण के प्रयासों ने बल व

अवपीड़न की राजनीति को अनावश्यक किया है । उनका मानना है । कि हित समूहों, नौकरशाहों, तकनीकी नौकरशाहों तथा अन्य इकाइयों के प्रयास एकीकरण के माध्यमों का निर्माण करते है । वे अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के कुछ भागों को एकीकृत करते हैं जो कि ह्रास के अनुसार तब तक आर्थिक प्रलोभन, मनोवैज्ञानिक इच्छा तथा राजनीतिक दबाबों तथा क्षमता को पैदा करते हैं जब तक कि एक सत्ता द्वारा शासित अर्थव्यवस्था नहीं उभरती है । परस्पर रुप से आर्थिक व सामाजिक आवश्यकताओं की निर्भरता की स्थिति में ही यह प्रक्रिया सम्भव होती है ।

इस प्रकार एकीकरण के सिद्धान्त की व्याख्या से यह पता चलता है कि यद्यपि चारों उपागमा विश्लेषण के सम्बंध में भिन्नताएं रखते हैं परन्तु ये कुछ हद तक ही अनुपूरक होते हैं । वे यर्थाथ में विभिन्न पक्षों से संबंधों में राज्यों की वरीयता के बारे में समान धारणाओं के फलस्वरुप 'संघवादी' तथा 'बहुलवादी ' विचारकों से एकदम भिन्न निष्कर्षो पर पहुंचते हैं । दूसरी और 'फंक्शनलिस्ट ' तथा 'नवफंक्शनलिस्ट ' क्रमबद्ध कारकों में अधिक रुचि दिखाते हैं तथा अंतर्राष्ट्रीय एकीकरण पर राज्य की नीतियो के नकारात्मक प्रभावों के बारे में अधिक सर्तक रहते हैं ।

4 अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का बदलता परिदृश्य

विश्व युद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की संख्या तेजी से बढ़ी है तथा उनकी क्रियाशीलता का दायरा भी तेजी से बदला है । इस विकास के मुख्य कारणों में अंतर्राष्ट्रीय कार्यवाहियों का केन्द्रबिन्दु इस प्रक्रिया में यूरोप से हटकर दो महाशक्तियों की तरफ तथा आंशिक रुप से अफ्रीका, एशिया तथा लेटिन अमरीका (तृतीय विश्व) की तरफ हुआ है । अंतराष्ट्रीय गतिविधियों के केन्द्र का परिपेक्षण तथा राष्ट्रों की बढ़ती संख्या ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की यौक्तिकीरण की आवश्यकता को और अधिक आवश्यक किया है । इन बढ़ती जटिलताओं ने अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के माध्यम सें नियंत्रण केन्द्रों को सहज करने वाली बराबरी की प्रेरणा को पैदा किया है ।

विध्वंसक द्वितीय विश्व युद्ध ने अधिक सुचारू व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में अनुशासन की आवश्यकता को पैदा किया । सन् 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य युद्ध की रोकथाम तथा सदस्य राष्ट्रों में याचिक समाधान व विचार विर्मश के लिए व्यवहार्य मंच प्रदान करना था ।

5 संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर के तहत क्षेत्रीय वाद

युद्ध के अन्त में यूनाईटेड किंगडम के प्रधान मंत्री विन्सटन चर्चिल ने सर्वप्रथम विश्व व्यवस्था के सर्वमुक्तिवादी उपागम की बजाय क्षेत्रीयवादियों को समर्थन दिया । लेटिन अमरीकी देशों के खेमें ने सुदृढ़ दबाव समूह बनाकर यह मांग की कि अंतर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा व भलाई के लक्ष्य की पूर्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की क्षेत्रीय एजेन्सियों की भूमिका को वैधता प्रदान की जाय । ये एजेन्सियां आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों के लिए विस्तृत रुप से प्रयोग में लायी जाती हैं तथा सामान्य सभा व आर्थिक व सामाजिक परिषद के आधीन कार्य करती हैं । क्षेत्रीय

व्यवस्था क्रमों के सम्बन्ध में चार्टर की प्राथमिक धाराओं में क्षेत्रीय एजेन्सियों के कार्यो का विशेष रुप से उल्लेख किया गया है जो कि निम्नलिखित हैं :

1. क्षेत्रीय कार्यवाही के उपयुक्त अंतर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा के मामलों को ले सकती हैं ।
2. सुरक्षा परिषद में भेजे जाने से पूर्व क्षेत्रीय एजेन्सियां क्षेत्रीय झगड़ो को निपटाने, के लिए एक वैध माध्यम बन सकती हैं ।
3. क्षेत्रों में शान्ति व सुरक्षा बनाने के लिए उठाये गए कदमों की सूचना सुरक्षा परिषद को दे सकती हैं ।

यद्यपि यह स्पष्ट किया गया है कि क्षेत्रीय संगठनों व संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकार क्षेत्रों के बीच झगड़ों में क्षेत्रीय वाद के स्थान पर सर्वमुक्तिवाद के सिद्धान्त के प्रभुत्व को अधिक महत्व दिया जायेगा, चार्टर सुरक्षा परिषद को शान्ति व सुरक्षा बनाने की अन्तिम व सर्वक्षेष्ठ जिम्मेदारी सौपता है । इसमें समझौते के लिए पर्याप्त माध्यमों को नहीं प्रदान किया गया है ।

इसी बीच कई क्षेत्रीय संगठन उभर कर सामने आये हैं । ये उनके स्वरुप कार्यवाहियों तथा सदस्यता के आधार पर या अन्तत : एकीकरण की मात्रा के आधार पर कई तरह से वर्गीकृत किये जा सकते हैं । लायन एच. मिलर ने वर्गीकरण का एक लाभदायक उपाय विकसित किया है तथा क्षेत्रीय संगठनों को तीन प्रकारों में विभाजित किया है ।

1. सहयोगी (बहु उद्देश्यी)
2. संसगी (एलाइन्स) तथा
3. क्रियात्मक

एक चौथे प्रकार का भी क्षेत्रीय संगठन है जो कि इस वर्गीकरण में उचित नहीं बैठता है उसमें संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रवर्तित क्षेत्रीय अयोग आते हैं । इनका मुख्य कार्य क्षेत्र आर्थिक स्थिति को ऊपरी स्तर पर उठाना तथा क्षेत्र के राष्ट्रों के बीच आर्थिक सम्बन्धों को मजबूत करना होता है । इन आयोगों की सन् 1960 में संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक व्यवस्था की मजबूती व विकेन्द्रकरण के लिए पदोन्नति की गई थी । यूरोप के लिए आर्थिक आयोग (ई. सी. ई.), एशिया तथा दूर पूर्वी देशों का आर्थिक आयोग (ई. सी. ए. एफ. ई.) तथा अफ्रीका के लिए आर्थिक आयोग (ई सी. ए.) इत्यादि इसके कुछ उदाहरण हैं । अब हम उपर्युक्त उल्लिखित तीन तरह के वर्गीकरणों की व्याख्या करेंगे ।

1. सहयोगी या बहु उद्देश्यी संगठन साधारणतया राजनीतिक व सैनिक मामलों के साथ अपने विस्तृत लक्ष्यों में आर्थिक व सामाजिक मामलों से भी संबंध रखते हैं; अफ्रीकी एकता संगठन (ओ. ए. यू .), अरब लीग, अमरीकी राज्यों का संगठन (ओ. ए. एस.) इत्यादि इन संगठनों के उदाहरण हैं ।
2. संसर्गी प्रकार के संगठन विदेशी कार्यक्रत्ताओं के खिलाफ सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास करते हैं तथा राजनीतिक व सैनिक स्वरुप वाले होते है । इस तरह के संगठन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद होने वाले शीत युद्ध की प्रतिक्रिया के उद्देश्य से स्थापित किये थे, दो तरह के प्रमुख समूह इस दौरान उभरे : पहला सोवियत संघ

के, नेतृत्व में वार्सा पेक्ट समूह तथा दूसरा अमरीकी नेतृत्व वाला नाटो (नार्थ अटलांटिक ट्रीटी आर्गनाईजेशन) । इस श्रेणी के अन्य तरह के संगठन (सेन्टो), आस्ट्रेलिया–न्यूज़ीलैंड–अमरीकी सुरक्षा संगठन (एनजुस) इत्यादि हैं ।

3. क्रियात्मक संगठन कुछ या बिना सुरक्षा संबंधों वाले सदस्य राष्ट्रों के बीच आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक एकीकरण को प्रोत्साहन देते हैं ।

ये संगठन मुख्यत : सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए निर्मित किये जाते हैं । यूरोप का सीमाशुल्क संघ, बेनेलक्स देशों का आर्थिक संघ तथा यूरोपीय कोयला तथा स्टील समुदाय इत्यादि इसकी यर्थाथ अभिव्यक्ति हैं । समाजवादी देशों ने अपने आर्थिक व सामाजिक विकास की गति बढ़ाने के लिये सोवियत संघ के नेतृत्व में 'कैमिकोन' का निर्माण किया ।

विकासशील देशों में आर्थिक व सामाजिक विकास पर मुख्य ध्यान दिया जाता है । उनके क्षेत्रीय संगठनों का मुख्य उद्देश्य उनकी सौदाकारी शक्ति को बढ़ाना तथा अपने सदस्य राष्ट्रों की बाह्य भेद्यता को घटाना है । सार्क (दक्षिण एशियाई देशों का समुदाय), एस. ए. डी. सी. सी. (दक्षिण अफ्रीका देशों का विकास समन्वयन सम्मेलन), ई. मी. ओ. डब्ल्यू. ए. एस.) (पश्चिमी अफ्रीका देशों का आर्थिक सहयोग) इत्यादि इस तरह के संगठनों के उदाहरण हैं ।

यद्यपि क्रियात्मक प्रकार के कई क्षेत्रीय संगठन है, इस इकाई में ई. सी. ई केमिकोन, सी. एम. ई ए., सार्क तथा एशियान पर ही विश्लेषण केन्द्रित होगा।

6 यूरोपीय आर्थिक समुदाय (ई. सी. ई.)

यूरोप आर्थिक समुदाय अधिक अधिराष्ट्रीयता की तरफ विकास को दर्शाता है । सन् 1957 में फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, लक्जमबर्ग, हालैंड तथा बेल्जियम की सदस्यता के साथ इसकी स्थापना हुई थी । यह रोम की संधि पर आधारित था तथा इसमें एक कार्य प्रणाली काढढांचा भी तैयार किया गया था । सन् 1957 में समुदाय के अन्य अलग अंग जैसे मंत्री परिषद (सरकारी प्रतिनिधित्व) तथा कई राष्ट्रीय सभाओं से संसद सदस्यों की एक सभा को मिला कर एक आयोग का रुप दिया गया । सन् 1968 में कोयला तथा स्टील समुदाय तथा एटमिक एनर्जी आयोग को इसमें मिलाया गया जिसने इसे स्वनिर्मित विकास को प्रोत्साहन देने वाले अधिराष्ट्रीय संगठन का स्वरुप दिया । सन् 1973 में ब्रिटेन, आयरलैंड तथा डेनर्माक ने यूरोपीय आर्थिक समुदाय की सदस्यता ग्रहण की तथा सन् 1980 के दौरान इसमें ग्रीस, स्पेन व पुर्तगाल को सम्मलित करने के लिये इसका विस्तार किया गया । इस प्रकार आज इसमें पश्चिमी व दक्षिणी यूरोपी राष्ट्रों के करीब 12 सदस्य हैं ।

रोम की संधि ने घोषणा की कि ई. ई. सी. के सदस्य राष्ट्र आर्थिक व सामाजिक विकास के लिए कार्य करेंगें तथा यूरोप को विभाजित करने वाली बाधाओं को दूर करने का प्रयास करेंगे । ई. सी. ई. के अमीर व पिछड़े इलाकों के बीच की दूरी को कम करने का भी वे प्रयास करेंगे । संधि के दो मुख्य पहलू है : अलग आर्थिक एकांशों के अवशेषों को दूर करना

तथा समान नीतियां स्थापित करने के उद्देश्य से सीमाकर संघ व आर्थिक संघ का निर्माण करना।

सभी क्षेत्रीय संगठनों में ई. ई. सी. ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा राजनीतिक विकास के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण स्थिति हासिल की है । यद्यपि एक समन्यवन संस्था होने पर भी इसने अन्य क्षेत्रीय संगठनों से संबंधों में एकात्मक स्वरुप अपना लिया है । यद्यपि विभिन्न समय व क्षेत्रों पर इसकी शक्तियां भिन्न रही हैं जो कि इसके सदस्य राष्ट्रों को राष्ट्रीय रवैये की संशक्तिशीलता पर ही निर्भर करती है । इसके क्रियाकलापों से आर्थिक व राजनीतिक लाभों की सबको समान रुप से प्राप्ति नहीं होती है लेकिन यह समुदाय सहमति के योगदान तथा उत्साह के अनुपात में होता है । उदाहरण स्वरुप फ्रांस द्वारा अपनें अफ्रीकी उपनिवेशों से वापसी के फलस्वरुप भी इसके हितों पर कोई असर नहीं हुआ क्योंकि इसी बीच ई. ई. सी. ने सन् 1974 तथा 1969 के योन्दे सम्मेलन के माध्यम से इन उपनिवेशों से संस्थागत सम्बन्ध स्थापित कर लिए थे जिसके द्वारा भूतपूर्व फ्रांसीसी अफ्रीकी उपनिवेशों को एसोसिएट राष्ट्रों ' का दर्जा दिया गया था । फ्रांस ने इन सम्बन्धों के फलस्वरुप ही समुदाय में अपने प्रभाव व हितों को बरकरार रखा था ।

6.1 ई.ई.सी. एवं बाह्य सम्बन्ध

बाह्य सम्बन्ध

सदस्य राष्ट्र के विदेशी सम्बन्धों में ई. ई. सी. की यह नीति है कि सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण राष्ट्रों व क्षेत्रों से आर्थिक संबंध यह रखती है । ई. ई. सी. के एशियान देशों, चीन तथा यूगोस्लाविया के साथ समझौतों से यह स्पष्ट होता है कि इसकी नीति में आर्थिक हित, राजनीतिक हितों के बाद में आते हैं ।

तृतीय विश्व के साथ संबंधों में यह आवश्यक महत्वपूर्ण कच्चेमाल वाले क्षेत्रों व देशों पर ध्यान केन्द्रित करता हैं । उदाहरण स्वरुप तेल व पैट्रोलियम की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ई. ई सी. ने मिडिल ईस्ट के देशों से सम्बन्ध स्थापित किये हैं; इसके संबंध अफ्रीका, कैरीवियन तथा पैसीफिक समूह के, देशों में साथ हैं जिसमें इन देशों के कृषि के अतिरिक्त अन्य उत्पादों के लिए यूरोप के बाजारों में पारस्परिक मेल जोल के आधार पर पहुंच नहीं पाए है। ई. ई. सी. अब तक उद्देश्यों की संयुक्त घोषणाओं से ही सन्तुष्ट रहा है ।

6.2 ई. ई.सी. अमरीका संबंध

यद्यपि विकासशील देशों के साथ ई. ई. सी. के, सम्बन्ध अपेक्षाकृत नियंत्रणों से मुक्त रहे हैं जबकि अमरीका के साथ इसमें सम्बन्धों के मसले पर ऐसा नही हैं । अमरीका इस समुदाय का घनिष्ठ मित्र रहा है लेकिन कुछ समय पूर्व इनके बीच सम्बन्धों को संरक्षण के रुप में न देखकर एक वास्तविक साझेदारी की विकसित प्रक्रिया के रुप में मानना चाहता था । उदाहरण स्वरुप अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक वार्ताओं के मामले पर समुदाय जब कभी भी अपनी दिशा निर्धारित करता है तो अमरीका इन वार्ताओं को मात्र आर्थिक मामले के बजाय विदेश नीति के मामलों के रुप में लेता है। इस तरह की प्रणाली या रूख की सीमायें हैं जो कि विश्व वार्ताओं

को कार्यप्रणाली के प्रश्न तथा यूरोप–अरब वार्ता तथा फिलिस्तनी मामले पर ई. ई. सी. नीति के विकास के धीमी गति इत्यादि के मामलों को लेकर ग्यारहवीं विशेष बैठक में स्पष्ट रुप से प्रदर्शित हुई थी ।

6.3 ई. ई. सी. समाजवादी देशों तथा सी. एम. ई. के साथ सम्बन्ध

ई. ई. सी. के समाजवादी देशों के साथ संबंधों में कई अड़चने रही हैं । ई. ई. सी. इन देशों के साथ 'पारस्परिक आर्थिक सहयोग परिषद ' (सी. एम. ई. ए.) के माध्यम की बजाय द्विपक्षीय आधारों पर व्यक्तिगत रुप से संबंध करने की इच्छा रखता है । सहयोग के लिए संभावित क्षेत्रों के निर्धारण के प्रयासों में सी. एम. ई. ए. के साथ वार्तालापों में इसमें दृढ़ता का परिचय दिया है । दूसरी तरफ चीन द्वारा दिखाई गई उत्सुकता के फलस्वरुप ई. ई. सी. के सम्बन्ध अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति में हैं । यद्यपि ई. ई. सी. ने इस तरह के, प्रयासों का नपेतुले जबाव के साथ ही स्वागत किया है ।

औद्योगिक रुप से विकसित देशों से जुड़े हुए कई इस तरह के 'संगठनों में ई. ई. सी. अत्यधिक विकसित क्षेत्रीय संगठन के रुप में आंका जाता है । अधिराष्ट्रीयता तथा आर्थिक आयामों के संदर्भ में ई. ई. सी. के समतुल्य अन्य, संगठनों में 'सी. एम. ई. ए. ही आता है । यद्यपि कई मायनों में यह ई. ई. सी. से भिन्न तरह का है । आधारभूत फर्क यह है कि क्षेत्रीय एकीकरण की प्रक्रियाएं पूंजीवादी तथा समाजवादी देशों में एक दूसरे के विपरीत होती हैं क्योंकि दोनों की सामाजिक व राजनीतिक संरचनाएं भी कई पहलुओं में एक दूसरे के विपरीत होती हैं । अब हम संक्षेप में सी. एम. ई. ए. की कार्य प्रणाली की व्याख्या करेंगे ।

7 पारस्परिक आर्थिक सहयोग परिषद (सी. एम. ई. ए.) कोमीकोन

द्वितीय विश्व के बाद पूर्वी यूरोप के देशों में मार्क्स–लेनिनवादी सरकारों की स्थापना के फलस्वरुप आर्थिक व सामाजिक सुधार हुए । उनके बीच तथा सोवियत संघ के साथ उनकी सहयोग व पारस्परिक सहयोग की द्विपक्षीय संधिया हुई । सन् 1948 के बाद अर्थव्यवस्था परिवर्तन सुस्पष्ट रुप से सामने आए जिसमें उद्योगों का राष्ट्रीय करण, कृषि का सामूहीकण तथा दीर्घ कालीन योजनाओं की शुरुआत इत्यादि, इसके मुख्य लक्षण थे । इन परिस्थितियों के तहत सन् 1949 में सी. ई. ए. की स्थापना हुई ।

सी एम. ई ए. सोवियत संघ, पोलैंड, चकोस्लोवाकिया, हंगरी, रोमानिया तथा बुल्गारिया की सदस्यता के साथ स्थापित किया गया । बाद में जी. डी. आर. तथा अल्बानिया भी इसमें सम्मलित हुए । चार्टर के हस्ताक्षर कर्ताओं ने समता, पारस्परिक लाभ व एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्तों के पालन करने की घोषण की आर्थिक एकीकरण व सहयोग के लिए लेनिन के श्रम के अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन के सिद्धान्त के आधार पर सी. एम. ई. ए. निम्नलिखित कदम उठाने के लिए सहमत हुई –

1. योजना समन्वयन
2. उत्पादन विशेषज्ञता तथा
3. प्रमुख नीति प्रस्तावों में क्षेत्रों के अन्तर्गत व्यापार

7.1 योजना समन्वयन

सी. एम. ई. ए. ने योजना समन्वयन के लिए विस्तृत कार्यक्रम को अपनाया । कार्यक्रम का उद्देश्य समाजवादी देशों की विकास योजना प्रयासों का समन्वयन करना था । सी. एम. ई ए. के योजना अधिकारी द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय आधारों पर सदस्य राष्ट्रों की राष्ट्रीय विकास योजनाओं के समन्वयन में अग्रणी भूमिका निभाते हैं । सी. एम. ई. ए. के देशा व्यक्तिगत उद्योगों को नियंत्रित करने वाले सरकारी निकायों तथा आर्थिक संगठनों के प्रत्यक्ष संबंधों पर निर्भर रहते है ।

7.2 उत्पादन विशेषज्ञता

उत्पादन विशेषज्ञता उद्योगों की सभी शाखाओं तक विस्तृत होती है । इसका मुख्य उद्देश्य है उत्पादन क्षमताओं की आवृत्ति को नियंत्रित कर संसाधनों का बेहतर आवंटन करना, अर्थव्यवस्था के आन्तरिक तथा बाह्य परिमापों के लाभों को अधिक बढ़ाना, उत्पादन की मात्रा बढ़ाना तथा सी. एम. ई. ए. तथा कोमीकोन के अन्तर्गत व्यापार का विशेष प्रबंध करना । उदाहरण स्वरुप पोलैंड को खाद्यानों रसायन, जहाज निर्माण तथा परिवहन इंजीनियरिग उद्योग में विशेषज्ञता प्राप्त है । दूसरी तरह चैकोस्लोवाकिया को पावर इंजीनियरिग तथा रसायनिक व बिजली के औजारों में विशेषज्ञता प्राप्त है । जी. डी. आर. को इन्सट्रूमेटेंशन इंजीनियरिग बाल बिचरिग तथा सोवियत संघ व रोमानिया को तेल संसाधन की रिफाइनिंग औजारों इत्यादि में विशेषज्ञता प्राप्त है । सन् 1980 के आरम्भ में 'तकनीकी व वैज्ञानिक विकास के व्यापक कार्यक्रम (कोम्सटेप) की स्थापना सन् 2000 तक लक्ष्यों को प्राप्ति में सहयोग के लिए एक महत्वपूर्ण कदम रहा है । यह कार्यक्रम सामाजिक उत्पादन की बढ़त, दक्षता में सुधार तथा विज्ञान तथा तकनीकी के क्षेत्र में अग्रणी भूमिका अदा करना जैसे समस्याओं के समाधान की दिशा में एक महत्वपूर्ण साधन है ।

7.3 क्षेत्रीय व्यापार

क्षेत्रों के अन्तर्गत व्यापार, वर्तमान क्षमताओं पर दबाव को घटाने तथा अन्य वरीयता वाले क्षेत्रों के लिए जुटाने के लिए उपलब्ध बचत को सदस्यों में आदान कराने की ओर एक महत्वपूर्ण कदम है । वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के सिद्धान्त के लिए यह सत्य साबित होता है ।

यह उल्लेख किया जा सकता है सी. एम. ई ए. के देशों में आर्थिक समता लाने के लिए सन् 1964 में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग बैंक (आई. बी. ई. सी.) की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य वर्तमान व्यापार स्तरों को फैलाना था । बैंक का मुख्य कार्य, बचे ऋण के बहुपक्षीय समाधान का मुख्य आधार प्रदान करना होना था ।

सोवियत संघ कोमीकोन देशों को मुख्य ऋण देता है । दीर्घ कालीन ऋणों में वे आते है जो पाश्चात्य देशों में खरीददारी करने के लिए सोने तथा विनिमय मुद्रा के क्षेत्र में दिये जाते हैं

जबकि रूबल में दिए जाने ऋण सोवियत संघ से औद्योगिक उपकरणों की खरीद के लिए प्रयोग किये जाते हैं ।

सन् 1975 में सी एम. ई. ए. के देश खेमे के अन्दर व्यापार के दामों के लिए समझौते पर पहुंचे । मूल्यों का निर्धारण, पिछले पांच वर्षो के विश्व वाजार के मूल्यों पर किया जाना स्वीकार किया गया । यह निर्धारण सिर्फ तेल तथा कच्चे माल के व्यापार के लिए किया गया । इस प्रक्रिया ने संकट के दौरान अकस्मिक घटना से निपटने में सहयता की, जैसा कि सन् 1970 के उर्जा संकट के दौरान पाश्चात्य देशों को भुगतना पड़ा था ।

7.4 सी. एम. ई. ए. एवं विदेशी सम्बन्ध

विदेश सम्बन्ध:–

सी. एम ई. ए. के देशों में महत्वपूर्ण विकास हुए तथा इसके एंकटाड, एफ. ए. ओ. यूनाडो जैसी संयुक्त राष्ट्र संघ की एजेन्सियों के साथ सम्बन्ध है यद्यपि पाश्चात्य देशों खासकर ई. ई. सी. के साथ सी. एम. ई. ए. के देशों को सम्बन्ध स्थापित करने में परेशानियां हुई हैं । इनका मुख्य कारण है कि इसने ई. ई. सी. को संवादात्मक या वार्तालाप के स्तर तक ही सीमित समझा है । दो व्यवस्थाओं में निहित भिन्नताओं के संदर्भ में इस तथ्य को समझा जा सकता है ।

दूसरी ओर सी. एम. ई. ए. तथा तृतीय विश्व के देशों के बीच संबंध मुख्य रुप से विदेशी व्यापार द्वारा ही निर्धारित होते हैं जो कि दीर्घकालीनता के आधार पर नियंत्रित होते हैं तथा समझौते तथा अनुबंधों द्वारा संचिलित होते हैं । यह प्रक्रिया उन संबंधों के स्वरुप से भिन्न है जिससे पाश्चात्य के संगठन जैसे ई. ई. सी. ने एशिया अफ्रीका तथा लेटिन अमरीका के देशों से संबंध स्थापित किये हैं । सी. एम. ई ए. देशों के तृतीय विश्व के देशों के साथ आर्थिक सम्बन्धों का स्वरुप "एसोसियेटेड (सम्बन्धित) राज्यो" के सिद्धान्त पर आधारित नहीं है जैसा कि ई. ई. सी. की कार्य प्रणाली की व्याख्या करते समय विवेचना की जा चुकी है ।

विश्व व्याख्या में पूंजीवादी व समाजवादी व्यवस्था सिद्धान्तों के परिचायक दो मुख्य क्षेत्रीय संगठनों की विवेचना के बाद हम कुछ क्षेत्रीय समूहों का वर्णन करेंगे जों कि तृतीय विश्व के वातावरण में क्रियारत हैं ।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया तथा अफ्रीका के कई स्वतंत्र राष्ट्रों ने राष्ट्रीय विकास की सुयोग्य नीति के रुप में सहयोग व एकता के क्षेत्रीय ढांचे को अपनाया है । वास्तव में आज पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व वाली विश्व व्यवस्था से सम्बन्धित बाधाओं को दूर करने तथा इन देशों की आन्तिरक कमियों का समाधान करने के लिए यह नीति एक महत्वपूर्ण माध्यम के रुप में विस्तृत रुप से स्वीकार की जाती है विकसशील देशों के सार्क, एशियान, इकोवास तथा एस. ए. डी सी. इत्यादि कुछ क्षेत्रीय संगठन हैं जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि इस भाग में हम केवल एशियान तथा सार्क का वर्णन करेंगे ।

8 दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों का समुदाय (एशियान)

एशियान सन् 1967 में स्थापित किया गया था । थाईलैंड, मलेशिया, फिलीपीन तथा सिंगापुर इसके सदस्य राष्ट्र हैं सन् 1984 में स्वतंत्रता के तुरंत बाद ब्रुनेई ने इसकी सदस्यता हासिल की । एशिय में क्षेत्रीय सहयोग की ओर एशियान पहला साकारात्मक कदम है । इसका एक मुख्य उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा तकनीकि सहयोग को प्रोत्साहन देना तथा सक्रिय सहयोग व पारस्परिक सहायता के माध्यम से क्षेत्र में शान्ति तथा स्थायित्व की सुरक्षा करना राष्ट्र खाद्य उत्पाद, कृषि औद्योगिक विकास तथा व्यापार व पर्यटन के क्षेत्रों में अधिक कारगर रुप से सहयोंग करने का प्रयास करते हैं । सदस्य राष्ट्रों के बीच परिवहन व संचार सुविधाओं को भी सुधारने का प्रयास किया जाता है ।

सन् 1967 में बाली में हुई इसकी प्रथम बैठक के सदस्य 'एशियान' को आर्थिक भूमिका करने के लिए सहमत हुए । 'एशियान' के सेक्रिट्रियेट की स्थापना के माध्यम से इसके आर्थिक मामलों के मंत्रियों की बैठकों को संस्थागत रुप दिया गया जो कि इसके आर्थिक व अन्य विकास के कार्यक्रमों को कारगर रुप देने के उद्देश्य से किया गया था । यह क्षेत्र विश्व में आवश्यक वस्तुओं के निर्यात का प्रमुख व विशाल क्षेत्र है, इसलिए यह प्रस्ताव पारित किया गया कि क्षेत्र के देशों के बीच बहुपक्षीय आर्थिक सहयोग पूरे क्षेत्र लिए लाभदायक होगा । अधिमान्य व्यापार समझौतों के तहत चावल तथा कच्चा तेल इत्यादि आवश्यक वस्तुओं के व्यापार में भी ये देश सहयोग करते हैं । संकट के दौरान तथा अन्य स्थितियों में द्विपक्षीय विचार विमर्श क लिए भी ये देश सहमत हुए ।

जापान के सिंथेटिक रबर उद्योग तथा ई. ई. सी. के बाजारो तक पहुंचने के मामलों के सम्मुख 'एशियान' देशों ने समान एकीकृत आधार को अपनाने की महता अनुभव की सन् 1972 तथा 1977 के दौरान ई. ई. सी. ने आस्ट्रेलिया, जापान ,कनाडा, न्यूजीलैंड व अमरीका तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की कई एजन्सियों के साथ संस्थागत संवाद या विचार विमर्श की संस्थापना की तथा साथ ही साथ विकाशील देशों के साऊथ पैसिफिक फोरम, इकोवास, एन्डीयन पेक्ट के देशों वाले कई क्षेत्रीय समूहों के साथ औपचारिक संबंध स्थापित किये । दूसरी तरफ समाजवादी देश 'एशियान' को पाश्चात्य देशों वाले क्षेत्रीय समूहों के समर्थक के रुप में सन्देह की दृष्टि से देखते थे । इंडोनेशिया के अलावा सभी सदस्यों की पाश्चात्य देशों के साथ सैनिक संधिया भी हैं।

यह उल्लेख किया जा सकता है कि एशियान ने आवश्यक वस्तुओं से सम्बधित समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया हुआ है । उदाहरण स्वरुप, आवश्यक वस्तुओं की समस्याओं से निपटने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों में संयुक्त राष्ट्र के वस्तुओं के लिये एकीकृत कार्यक्रम (आई. सी. सी.) को आधारभूत मानकर पूरे मन से इसने उसे अपना–समर्थन दिया है । एशियान का सार्क देशों में खासकर भारत की तरफ अनुकूल झुकाव है । उत्तरी गोलार्द्ध के, औद्योगिक देशों में 'संरक्षणवाद' की बढ़ती प्रवृत्तियों तथा विकास के लिए उत्तर–दक्षिण संवाद की विफलता के साथ क्षेत्रीय तथा क्षेत्र के अन्तर्गत दक्षिण–दक्षिण सहयोंग कें आधारों ने

मजबूती प्राप्त की है । सन् 1970 के आरम्भ से इन प्रयासों ने आर्थिक, राजनीतिक तथा परस्परमेल जोल के सामरिक क्षेत्रों में सफलता प्राप्त की है ।

9 क्षेत्रीय सहयोग का दक्षिण एशियाई समूह (सार्क)

दक्षिण एशिया का वर्तमान राजनीति नक्शा या स्वरुप द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही बन पाया था । तब से दक्षिण एशिया की एकता स्थापित करने के प्रयास होते रहें है जो कि सदस्य राष्ट्रों में समान हितों की पूर्ति के उद्देश्य से किये गए थे । फिर भी हाल तक इन प्रयास का कोई ठोस नतीजा नहीं निकला था । जिसके शीत युद्ध राजनीति, राष्ट्रीयताओं का टकराव तथा अन्य कमियां इत्यादि कारंण गिनवाये जा सकते हैं । ये कमियां मुख्य रुप से उपनिवेशी अनुभव तथा उससे उत्पन्न कटुता व भय के फलस्वरुप ही पैदा हुई थी ।

केवल सन् 1983 में ही दक्षिण एशियाई देश 'सार्क ' जैसी प्रथम क्षेत्रीय संस्था की स्थापना कर पाये थे । बंगला देश के भूतपूर्व राष्ट्रपति जियाउर रहमान ने 'सार्क ' को पृष्ठ भूमि प्रदान की जबकि भारत तथा पाकिस्तान क्षेत्रीय समूह के संबंध में मौन साधे हुए थे । यद्यपि दोनों ही को अपने रूख को बदलना पड़ा था । सार्क का प्रस्ताव एक बार जब स्वीकृत हुआ तो बंगला देश सरकार ने पारस्परिक लाभदायक क्षेत्रों में सहयोग की सम्भावनाओं को ढूंढने के उद्देश्य से कार्य संचालन के दस्तावेज प्रस्तुत कियें । कई आरम्भिक बैठकों के पश्चात् अगस्त में 'सार्क ' की स्थापना हुई तथा भारत, पाकिस्तान, श्री लंका, नेपाल, बंगला देश, भुटान तथा मालद्वीप को मिलाकर कुल इसके सात सदस्य बने ।

दिसम्बर सन् 1985 की ढाका घोषण के तहत सार्क में सदस्य देशों में क्षेत्रीय सहयोग संस्थागत रुप से स्थापित किया गया । राष्ट्राध्यक्ष इस बात पर सहमत हुए कि सार्क आर्थिक व सामाजिक विकास की गति बढ़ाने, राष्ट्रीय तथा सामूहिक स्वायत्तता को प्रोत्साहन देने तथा दक्षिण एशिया व विश्व में शांति, विकास व स्थायित्व के लक्ष्य को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगा ।

सार्क के उद्देश्य निम्नलिखित निर्दिष्ट थे: – ।

1. क्षेत्र के कल्याण को वरीयता व क्षेत्र की जनता की जीवन परिस्थितियों को सुधारना ।
2. आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास को बढ़ाना ।
3. सामूहिक स्वावलम्बन को प्रोत्साहन देना ।
4. पारस्परिक विश्वास तथा एक दूसरे की समस्याओं को समझाने तथा समाधान करने में योगदान देना ।
5. विज्ञान व तकनीकी के क्षेत्र में सक्रिय सहयोग देना ।
6. अन्य विकाशील देशों के साथ सहयोग को दृढ़ करना ।
7. समान हितों के मामलों पर अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर आपसी सहयोग को सुदृढ़ करना, तथा
8. समान उद्देश्य व लक्ष्यों वाले अन्तर्राष्ट्रीय व क्षेत्रीय संगठनों के साथ सहयोग करना

स्थायी सेक्रेट्रेरएट के साथ–साथ शिखर सम्मेलन तथा उच्चस्तरीय बैठकों को संस्थागत रुप दिया गया । इन संस्थाओं का उद्देश्य 'सार्क ' को गम्भीरतापूर्वक व प्रभावी ढंग से कार्य करने योग्य बनाना व लाभों को जन स्तर तक पहुंचाना, आर्थिक सहयोग बढ़ाना तथा अर्थपूर्ण आर्थिक मेल जोल के लाभों को बढ़ाना था । सहयोग के प्रमुख क्षेत्र कृषि ग्रामीण विकास, मौसम विज्ञान, संचार विज्ञान व तकनीकी सहयोग, स्वास्थ्य व जन, कार्यवाहियां, परिवहन, डाक सेवाएं तथा खेल कला संस्कृति इत्यादि है । राष्ट्रीय योजना संगठनों तथा बुद्धिजीवी वर्ग में सहयोग इसके अन्य कार्यक्रम हैं ।

व्यापार, सहयोग का सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र है । बंगलादेश ने जूट, चाय तथा कपास के निर्यात प्रोत्साहन के लिए प्रस्ताव दिया था, वर्तमान समय में दक्षिण एशिया के देश एक दूसरे को प्रतिस्पर्धी अर्थव्यवस्थाएं समझते है । उदाहरण स्वरुप भारत के चाय उद्योग हमेशा बंगाल देश व श्री लंका के चाय उद्योग के साथ सतत प्रतिस्पर्धा में रहते हैं जिसके फलस्वरुप अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इसके मूल्य घटे रहते हैं । जूट उद्योग भी भारत व बंगला देश के बीच प्रतिस्पर्धा में रहता है । प्रश्न यह उठता है कि इन प्रतिस्पर्धा वाली अर्थव्यवस्थाओं को अनुपूरक बनाया जा । सकता है या नहीं । उदाहरण स्वरुप क्षेत्र के जूट उत्पादक देशों को मिलाकर एक उत्पादक संघ बनाया जा सकता है । इसी तरह भारत गेहूं का आयातकर्ता है जवकि पाकिस्तान इसका निर्यातकर्ता है । भाड़ों के यथेष्ट मूल्यों को दो देशों के बीच गेहूं से सम्बधित व्यापार समझौते के द्वारा टाला या कम किया जा सकता है । मोटर पार्ट्स तथा पर्यटन सहयोग के अन्य उदीयमान क्षेत्र है । सदस्य राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं को नदी का जल तथा हाइड्रोइलैक्ट्रिसिटी तथा तेल ऊर्जा जैसे प्राकृतिक संसाधनों का इस्तेमाल मजबूती प्रदान करेगा ।

सामाजिक व सांस्कृतिक क्रियाकलापों के क्षेत्रों में भी सहयोग की अच्छी सम्भावनाएं हैं । इस क्षेत्र के देशों ने अपनी सांस्कृतिक व सामाजिक पहलुओं में कई समानताएं उत्तराधिकार में प्राप्त की हैं । इस क्षेत्र में काफी सफलता मिल सकती है । सबके ऊपर राजनीतिक भावना के साथ सार्क पूरे महाद्वीप का प्रभावी तथा पारस्परिक रुप से लाभदायक क्षेत्रीय समूह हो सकता है।

10 क्षेत्रीय सहयोग संगठनो का मूल्यांकन

यद्यपि क्षेत्रीय संगठनों की कई उपलब्धियां है फिर भी नई राजनीतिक व आर्थिक विश्व व्यवस्था की स्थापना में क्षेत्रीयवाद के गुणात्मक महत्व को निर्धारित करना कठिन है । निस्सन्देह ई. ई. सी. तथा कोमीकोन जैसे क्षेत्रीय संगठनों की उल्लेखनीय उपलब्धियां है । फिर भी वे परम्परागत व्यवस्था का ही हिस्सा है । इसलिए वे स्वयं में एक खास श्रेणी हैं । तृतीय विश्व के क्षेत्रीय संगठनों के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता । तृतीय विश्व के देशों में आर्थिक व सैनिक शक्ति की कमी के कारण वे परम्परागत विश्व व्यवस्था के तहत असंख्य असुविधाओं को झेलते हैं इसीलिए उनके क्षेत्रीय संगठनों के सामने समस्याएं उन मुद्दों से भिन्न होती है जो कि औद्योगिक रुप से विकसित देशों के क्षेत्रीय संगठनों के सामने होती हैं कई लेखकों ने तृतीय विश्व के देशों की क्षेत्रीय एकता कार्यक्रम के लिए निम्नलिखित 6 मुख्य चुनौतियां प्रस्तुत की हैं: –

1. सदस्यों के बीच लाभों का असमान बंटवारा ।

2. सदस्यों के बीच वैचारिक मतभेद ।
3. कमजोर संस्थागत संरचानाए ।
4. अत्यधिक शक्ति ग्रस्तता ।
5. एकता के मसलों का राजनीतिकरण, तथा ।
6. राष्ट्रवाद ।

यद्यपि तृतीय विश्व के देशों में कई क्षेत्रीय संगठन बने हैं तथा उन्होंने अपनी उपयोगिता भी सिद्ध की है यह आवश्यक है कि इन क्षेत्रीय व उप क्षेत्रीय संगठनों को क्रियात्मक बनाया जाये । उदाहरण स्वरुप भौगोलिक समीपता पर आधारित क्षेत्रीय संगठन आवश्यक रुप से अधिक आर्थिक सहयोग को प्रोत्साहन नहीं देतें हैं । सदस्य राष्ट्रों में भिन्न स्तर का आर्थिक व सामाजिक विकास भी महत्वपूर्ण तथ्य है । कभी–कभी पड़ोसी राष्ट्र व्यापार के प्रतिरूप व उत्पादन संरचनाओं में अर्थपूण रुप से सम्मानर्थ नहीं होते हैं ।

राष्ट्रों की, साथ ही अन्य क्षेत्रीय संगठनों की सदस्यता, सहायक राष्ट्रों से विदेशी संबंधों को प्रभावित करती है । उदाहरणस्वरुप कुछ वर्तमान क्षेत्रीय संगठनों में ऐसे सदस्य हैं जिनकी – ब्रिटिश, फ्रैंच जर्मन, पुनर्गीज तथा अन्य तरह के उपनिदेशक पृष्ठभूमि रही है तथा उनकी भाषाएं व प्रशासनिक नियम भी भिन्न हैं ।

तृतीय विश्व के देशों के क्षेत्रीय सहयोग के प्रयासों की असफलता का मुख्य कारण यह है कि बाहरी शक्तियों का हाथ इन देशों में अधिक है चाहे वह व्यापार के रुप में हो या उनकी पुरानी उपनिवेशक शक्तियों पर सहायता के लिए निर्भरता या बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की संलग्नता के कारण हो । इस तरह के क्षेत्रीय संगठनों में ऐसी स्थिति है कि सदस्य राष्ट्रों की अपनी अर्थव्यवस्था का नियंत्रण बाहर से ही हो पाता है क्योंकि वे विकास के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए विदेशी सहायता पर निर्भर होने के कारण अति संवेदनशील होते हैं जिससे कि उन्हें सहायता करने वाले देशों के दबाव में रहना पड़ता है । इसीलिए व्यापार का रुख व आर्थिक सहायता दो महत्वपूर्ण तथ्य हैं जो कि किसी एक राष्ट्र को नही वरन् पूरे क्षेत्रीय संगठन को एक दिशा वाली निर्भरता के जाल में फंसाये रहते हैं । यह एक तरह का नया उपनिवेशवाद है जिसे कि नव उपनिवेशवाद के ढांचे के रुप में जाना जाता है । यदि विकासशील देश अपने को इस तरह की संरचनात्मक कमियों सें अलग करना चाहें तो इसके लिए उन्हें अपनी अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण आत्मनिर्भर विकास की नीति की प्रक्रिया को चरितार्थ करना होगा ।

इस प्रकार संक्षेप में क्षेत्रीय एकीकरण एक सरल व सीधी प्रक्रिया नही है । यह काफी जटिल प्रक्रिया है । इसका उद्देश्य एक समान नई राजनीतिक व आर्थिक विश्व व्यवस्था की स्थापना करना होता है । इस सन्दर्भ में इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई निश्चित समय सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती । अभी तक विकसित देशों के क्षेत्रीय संगठन दो अभिजात वर्गो के सहयोग की ही उपज रहें हैं । शायद इस तरह के प्रयास अगर जन सम्पर्को के स्तर तक किये जाते है तब ही क्षेत्रीय सहयोग एक अर्थ पूर्ण व दीर्घ कालीन प्रक्रिया हो सकती है । सहयोगी तृतीय विश्व के देशों में सद्इच्छा व समझदारी का विस्तृत आधार ही इन क्षेत्रीय संगठनों की प्रभावी क्रियात्मक उपयोगिता को सुनिश्चित कर सकता है ।

11 संदर्भ ग्रन्थ

थ्योरी (सिद्धान्त)

1. बलासा बेला, : "थ्योरी आफ इकनोमिक इंटीग्रेशन" लन्दन जार्ज एलन एण्ड एनविन लि. 1961
2. बेनेथ ए. लिरोय, : "अंतर्राष्ट्रीय संगठन सिद्धान्त तथा मुद्दे " न्यूजर्सी, प्रेन्टीस हाल, 1977
3. ग्रूम ए. जी आर. तथा टेलर (एडी) : "फंक्सनलिज्म : थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस इन इंटरनेशल रिलेशन्स" लंदन, 1975
4. हास अर्नेन्सट बी. : वियांड द नेशन स्टेट्: फंक्शनिलिज्म एण्ड इन्टरनेशनल आर्गनाइजेशन" स्टेवार्फोड मैलिफ, 1964
5. मिलर, लिन. एच., : "रीजनल आर्गनाईजेशन एण्ड सर्वोडिनेट सिस्टम" इन लुईस जे. कनटोरी एण्ड स्टीवेनी स्पीडिगल (एडी) दि इन्टर नेशल पोलिटिक्स आफ रीजिन्स : ए कम्पेरेटिव एप्रोच, प्रिटिस हाल, 1970
6. पेन्टलैंड चालर्स, : "इंटरनेशनल थ्योरी एण्ड यूरोपीयन इन्टीग्रेशन" लंदन फेबर एण्ड फेबर लि. 1973

रीजनल ग्रुपिंग

7. रहमान अतियूर : "पालिटिकल इकनोमीआफ सार्क " न्यू " देहली 1986
8. ब्रोइनोवस्की एलीसन (एंडी) : "अन्डरस्टेंडिग एशियान", " लंदन, मैकेमिलन प्रेस लि. 1982
9. लाल. के. बी. एण्ड चोपडा एच. एस. : "ई. ई. सी. एण्ड दि ग्लोबल सिस्टम", न्यू देहली, एलाईड पब्लिशर्स, 1984
10. यग्यूसीपी सियावोन, : "द इन्सटीट्यूशंस आफ कोमीकोन ", लंदन मैकमिलन प्रैस, 1974
11. सिसकोव यूरी, : "टू सिस्टम आफ इकनोमिक इंटीग्रेशन " मास्को, नोवाती प्रैस, 1974
12. बौटीना निनल, : " सी.एम. ई. ए. टूडे : फ्राम इकनोमिक कोपरेशन टू इकनामिक इन्टीग्रेशन ", मास्को प्रोग्रेस पब्लिशर 1975

लेख (आर्टीकिल्स)

13. चंग मैंग कैंग, : " दि पोलिसी फ्रेमवर्क फार एशियान कोऑपरेशन "पेपर प्रेजेन्टेड एटद सेकेन्ड कांफ्रेंस आफ आर. आई. एस. सिस्टम हेल्ड एट न्यू देहली, फ्रांस नवम्बर 20 – 22, 1985

14. कार्बेनाकी एन्ड्रोजाज : "थ्योरी एण्ड प्रेटिक्स आफ रीजनल इंटीग्रेशन" द केस आफ कोमीकोन " इंटरनेशनल आर्गनाइजेशन" 1980. वा. 14 न. 1, 1970

15. कोठारी, रजनी तथा : " सार्क " सेमिनार 324, अगस्त 1986श्री वास्तव आर. के.,

16. राना. ए. पी. : "रोजनलीज्म एज एन एप्रोच टू इन्टरनेशनल आर्डर ए कन्सेपयुअल ओवरव्यू " इन्टरनेशनल स्टडीज, वा. 13, व 14, अक्तुबर–दिसम्बर 1979

17. रामचंदानी आर.आर. : "द रोल आफ रीजनल आर्गनाईजेशन इन प्रमोटिंग 'ए इकनामिक कोऑफपरेशन : द केस आफ सब सहार अफ्रीका क्वाटरली, वा, 15, न. 3 – न

18. ल्यान मतेलका, : "रीजनल इंटीग्रेशन इन द थर्ड वर्ल्ड: सम "इंटरनल फैक्टर्स",इंटरनेशनल डाइमेनशंस आफ रोजनल इंटीग्रेशन इन थर्ड वर्ल्ड में यूनिवर्सिटी आफ ओटावा प्रैस, 1975

12 अभ्यास प्रश्न

1. क्षेत्रीय सहयोग के विभिन्न उपागमों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।
2. क्षेत्रीय सहयोग संगठन के रुप में ई.ई. सी. के भविष्य पर प्रकाश डालिये।
3. क्षेत्रीय व्यापार एवं विदेशी सम्बन्धों के संदर्भ में सी.एम. ई. ए. (कोमीकौन) की भूमिका का उल्लेख कीजिये।
4. ऐशियान अथवा सार्क की भूमिका का क्षेत्रीय सहयोग के संदर्भ में मूल्यांकन कीजिये।

इकाई – 14
नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था तथा उत्तर– दक्षिण संवाद

इकाई संरचना

0 नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था तथा उत्तर–दक्षिण संवाद

1 नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अवधारणा

2 नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मान्यताएं

3 उत्तर – दक्षिण संवाद

4 उत्तर– दक्षिण संवाद के मार्ग में व्यवधान

5 संदर्भ ग्रन्थ

6 अभ्यास प्रश्न

0 नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था तथा उत्तर–दक्षिण संवाद

60 वें दशक के बीतने के पहले ही उपनिवेश बनाने/बनाए रखने की किलेबदियां ढहने लगी थीं । नतीजतन एशिया, अफ्रीका तथा अन्य जगहों पर पाए जानें वाले अनेक उपनिवेशों तथा उन पर निर्भर देशों को (कुछेक अपवादों को छोड़कर) एक–एक कर राजनीतिक मुक्ति (यानी आजादी) मिलने लगी थी । फलस्वरुप इन देशों में निर्गुटता का आन्दोंलन उभरने, लगा जिससें मूक तथा बेजुबान लोगो, को एक नई आवाज मिली, और वे नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था (न्यू इन्टनेशनल ईकॉनमिक ऑर्डर) की मांग तरह–तरह से उठाने लगे । मतलब है कि नवीन व्यवस्था का निर्गुट देशों के आन्दोलन से चोलीदामन का नाता है तदापि, इससे जुड़े हुए मुद्दों का सही दृष्टिकोण जानने के लिए यह निहायत ही जरूरी है कि हम उस घटनाक्रम, को जानें तथा पहचानें– जिनकी वजह से मौजूदा वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बदलने की मांग पुरजोर शब्दों में उठी ताकि विश्वस्तरीय अथवा बहुपक्षीय उतर–दक्षिण संवाद के जरिए उसकी जगह नवीन व्यवस्था ले सके ।

1 नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अवधारणा

ध्यान रहे कि द्वितीय विश्वयुद्ध (महासमर) से पहले अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था कोई प्राणाली पाई ही नहीं जाती थी । नतीजतन हर सम्प्रभुता सम्पन्न देश अपने खुद के राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा योग्यता के मुताविक अपने, आर्थिक सम्बन्धों तथा हितों का संचालन किया करता था। ऐसे हालात में अक्सर यह होता था कि ये देश एक दूसरे से टकराहट पैदा करने वाली नीतियों का प्रतिपादन करते थे जिस वजह से आर्थिक जगत में अराजकता यानी मत्स्य न्याय (जिसमें बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती थी ।) की अवस्था पैदा हो जाती थी । पर हालात तब और भी बद से बटतर हो जाते थे जबकि संकटकालीन स्थितियां पैदा हो जाती ' थीं । उदाहरण के लिए 1930 वर्ष में विश्वव्यापी मंदी के दौर में इस अव्यवस्था की कमियां

और ज्यादा उजागर हो गईं । ऐसी सूरते–हाल में विश्व के प्रमुख देशों में यह भावना घर करने लगी कि किसी न किसी किस्म की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के विचार को और अधिक बल मिलना चाहिए । इसी जमाने में संयुक्त राष्ट्र संघ (यू. एन. ओ.) की नींव भी रखी जा रही थी । ध्यान रखने की बात यह है कि इस व्यवस्था का श्री गणेश एक जर्मन अर्थ शास्त्री डॉ. फ्यूक के दिमाग में हुआ, पर इसे परवान चढ़ाया सुप्रसिद्ध ब्रितानी अर्थशास्त्री लॉर्ड जे. एम: कीन्स ने । जिन्होंने न केवल इस रुपरेखा को सतरंगी बनाया अपितु इसे विचार–विमर्श हेतु मित्र राष्ट्रों के राजनेताओं को भी भिजवाया । बाद में इन मित्र राष्ट्रों के प्रतिवक्ताओं की सहायता से ब्रेटनवुड्स (स. रा. अमेरिका) नामक स्थान पर जुलाई 1944 में लॉर्ड कीन्स की इस योजना का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया । नतीजतन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (इन्टरनेशनल मॉनीटरी फंड) नथा अन्तर्राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण एवं विकास बैंक की (स्थापना हुई– जोकि आज दिन तक भी शिखर संस्थाओं के रुप में कार्यरत हैं और जो अभी भी संयुक्त राष्ट्र संघ (यू. एन. ओ.) के तहत कार्य करते, हुए भी अपनी विशिष्टीकृत एवं स्वायत्त संस्थाओं के रुप में अपनी भूमिकाएं निभा रही हैं । गौरतलब है कि ये संस्थाएं एक ऐसी ऐतिहासिक घड़ी में उभरकर सामने आईं–जबकि एशिया, अफ्रीका, कैरीबीय व द्वीप समूहों तथा ओसनिया क्षेत्रों के एक बड़े भू–भाग में उपनिवेशवादी ताकतें अपनी चादर फैलाए हुए थीं । फलस्वरुप वही हुआ जिसकी उम्मीद थी–परिणामस्वरुप ब्रेटनवूड्स बैठक में जिस अन्दाज में इन संस्थाओं की नींव डाली गई –उसकी रूझान औपगिवेशिक या पश्चिमी जगत की महाशक्तियों की तरफ था । सारत: वे शोषकों की हितसाधना में ही अपनी इज्जत समझती थी । गर्ज यह है कि धनिक देशों का ही इन दोनों संस्थाओं (आई. एम. एफ. तथा आई. बी. आर. डी.) में बोलबाला बना रहा–क्योंकि उनके हाथों में 65 सैकड़ा वोट (मत) जो इकट्ठा हो गए थे जिसके कि वे मनमाना प्रयोग करते रहे हैं । हम एक विख्यात एशिया अर्थशास्त्री रहमान शोभन के शब्दों में हम यूं भी कह सकते हैं ।

"व्यवहार में देखा जाए तो ये संस्थाएं पर्दे के पीछे से पश्चिमी देशों के राजनीतिक हितों तथा प्राथमिकताओं का खेल प्रभावी ढंग से खेलती रही हैं । एक लिहाज से ये धनिक संस्थाएं धनिकों की क्रीड़ास्थली बनकर ही रह गई है । तथा इनका मकसद (उद्देश्य) केवल यही है कि येन केन प्रकारेण (जैसे तैसे करके) धनिक देशों के दरम्यान शरणागत और शरणार्थी सम्बन्धों (डॉमिनेन्स–डिपेन्डेन्सी रिलेशनशिप) को स्थायी रुप से बनाए रखा जाए । इसलिए यह जाहिर (स्पष्ट) है कि वेटनवूड्स योजना उस सारे माहौल की मूल भावना के ही खिलाफ थी जो कि उत्तर विश्वयुद्धकाल में पैदा हुई थी।

2 नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मान्यताएं

इसके जब विकल्प तलाशे जाने लगे तब 1948 में जो हवाना घोषणा–पत्र तैयार हुआ–उसमें विकासमान देशों (नवोदित राष्ट्रों) ने विश्व व्यापार के सन्तुलन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (आई. टी. ओ.) बनाने का प्रस्ताव रखा जो कि जिन्सो/विस्तुओं (कॉमॉडिटीज़) अथवा कच्चे माल की समस्याओं से निपटने का काम अंजाम दे सके । विकासशील देशों को

आज भी इस मामले, में शोषण का एक बड़ा सिरदर्द रहा है । पर न तो इस संगठन को जन्म लेना था, न ही इसने जन्म लिया । कारण यह रहा कि लम्बी–लम्बी समझौता वार्ताओं, भारी गज़मारी के बावजूद इस प्रस्ताव की भ्रूण हत्या कर दी गई । क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके पिछलग्गू धनिक देशों ने कदम–कदम पर इसके रास्ते में कांटे ही कांटे बिखेर दिए । और इस तरह गरीब देशों की आस निरास भई यानी आशा निराशा में बदल गई ।

तदापि, इस दरम्यान इन उपनिवेशों में आजादी (मुक्ति) का दौर चला, खासतौर पर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद में ऐसा हुआ । और बड़े देशों में (उपनिवेशों के प्रसंग में) भारत की आजादी (जो 15 अगस्त 1947 को मिली) एक खास अहमियत रखती है जिसकी लड़ाई राष्ट्रपिता महात्मा मोहन दास कर्मचन्द गांधी के नेतृत्व में लड़ी गई । गौरतलब वान है कि भारत की आजादी से जो हवा चली, उसने जल्दी ही एक आंधी का रुप धारण कर लिया और 15 साल के छोटे से अरसे में ही उसने एक–एक कर तकरीबन सभी देशों में अपने लपेटे में ले लिया । यानी सभी आजादी की खुली हुवा में सांस लेने लगे । और इसे सितम्बर 1947 में बहैसियत पाए निर्गुट देशों के आन्दोलने आजादी के इस दौर को और ज्यादा शह दी–जो कि खुद एक मायने में विश्वस्तरीय (दुनियाइ) अनौपनिवेशीकरण प्रक्रिया का एक नतीज था । नतीजतन 1960 के दशक के खत्म होते होते एक ओर तो इन देशों में चलने वाली आजादी की गरमाती मुहिमें थी तो दूसरी तरफ निर्गुट देशों के आन्दोलन द्वारा लगातार की जाने वाली अपीलें थी–जिनसें एक विश्वव्यापी जनमत का निर्माण हुआ । पर कहते है न कि "कानी के ब्याह में सौ–सौ झगड़े । " कारण यह है कि यद्यपि इन देशों को राजनीतिक आजादी तो मिल गई पर अभी तक वे आर्थिक रुप से इतने पिछड़े हुए थे कि वे औद्योगिक रुप से विकसित तथा खाए–कमाए मालिक देशें के रहमों. करम पर ही जिन्दा थे । सार की बात यह है कि भले ही इन देशों को कहने को बराए नाम राजनीतिक आजादी हासिल हो गई यानी नई राजनीतिक व्यवस्था कायम हो गई और औपनिवेशिक तथा साम्राज्यशाही की इमारतें भरभरा कर ढह गईं, पर ब्रेटनवुड्स योजना के तहत जिस शरणागत–शरणार्थी अवधारणा (डॉमिनेन्स डिपेन्डेन्सी सिनड्राम) की आधारशिला रखी गई–वह इस नये माहौल में भी ढीठतापूर्वक अपनी जड़े जमाई रही । यही कारण है कि निर्गुट देशों के आन्दोलन ने अब अपना सारा ध्यान इस आर्थिक माहौल) यानी मंजर की तरफ लगाया–जिसे कि हम उत्तर–दक्षिण संवाद के नाम से पुकारते हैं– इसके तहत उन्होंने पुरजोर शब्दों में यह मांग रखी कि एक ऐसी नई आर्थिक व्यवस्था की नींव डाली जाये जो कि इन्साफपसन्द हो और उचित हो ।

वैसे निर्गुट देशों की आर्थिक विकास के मुद्दे पर पहली बैठक जुलाई 1962 में काहिरा (मिस्त्र/संयुक्त अरब गणराज्य) में हुई–जिसमें इस समस्या के विविध पहलुओं पर खुली बातचीत हुई । इसे बकौल विली ब्रान्डत् आयोग के शब्दों में हम "अनोपनिवेशीकरण मुहिम या आन्दोलन के दूसरे चरण" (सेकण्ड फेज ऑव् डिकॉलोनाईजेशन) की संज्ञा दे सकते हैं । तथा यह इस बात का भी सबूत है कि इन नवोदित देशों में यह अहसास 'भी धीरे, घर करने लगा चूंकि वे आर्थिक मामलों में अभी पुराने मालिकों के रहमोकरम पर जिन्दा हैं इसलिए उनकी जिन्दगी तंगहाली और फटेहाली की दर्दनाक कहानी है । यानी वे यह जानने लगे कि उनके आर्थिक पिछड़ेपन का

सबसे वड़ा कारण उनकी निर्भरता है जिसकी वजह से वे शरणार्थी हो गए हैं–इसी वजह से उन्हें उनके पुराने मालिक यानी औद्योगिक रुप से विकसित तथा खुशहाल देशो से कभी खुले में और कभी पर्दे के पीछे से उनका विकासमान देशों को व्यापार आर्थिक मदद इमदाद, वित्त, रोजगार पैदा करने वाले कामों, औद्योगीकरण तथा टैक्नॉलजी हासिल करने के मामलों में अहम् परेशानियों यानी समस्याओं उगेर जिल्लतों का सामना करना पड़ता है । इसलिए काहिरा सम्मेलन में खासतौर पर आर्थिक मदद हासिल विकसित करने पर जोर दिया गया ।

निर्गुट देशों के लुसाका शिखर सम्मेलन (1970) में यह शपथ/सौगन्ध ली गई कि विकसित तथा औद्योगीकृत धनिक देशों के बमुकाविले आर्थिक तथा विकास से जुड़े मुद्दों पर "एक सांझी पगडन्डी" का इस्तेमाल करेंगे । इसी दिशा में और कदम तब उठाए गए, जबकि अगस्त 1972 में इन देशों के विदेश मंत्रियों की एक बैठक हुई–जिसमें एक "कर्म–कार्यक्रम" (यानि उसे व्यावहारिक बनाने के. लिए तय कार्यक्रम) की रुपरेखा तैयार की गई । उन्होने इस समस्या के बारे में अपने नजरिये (दृष्टिकोण) का खुलासा इन शब्दों में किया है, वे कहते हैं:

"निर्गुट देशो के वैदेशिक मामलों के मंत्रियों ने विश्व को आर्थिक स्थिति की एक समीक्षा की –खासतौर पर तीसरी दुनियां के तुरंत–फुरत विकास करने के नजरिये से ऐसा किया गया.... तथा हम यह घोषणा करते हैं कि साम्राज्यवाद अभी तक भी इन देशों के विकास में सबसे बड़ा रोड़ा बना हुआ है । यही वजह है कि साम्राज्यवाद न केवल इनके प्रस्तावों का जबरदस्त विरोध करता है अपितु वह उनके प्रति दुश्मनी का भी भाव रखता है और वह जानबूझ कर ऐसी कोशिशों को अंजाम देता है जिनके, फलस्वरुप उनके सामाजिक ,राजनीतिक तथा आर्थिक ढांचे चरमरा जाएं, ताकि वह इन देशों पर अपना. आर्थिक उपनिवेशवाद लाद सके, और उन्हें हमेशा के लिए परजीवी बना सके । आजकल इस तौर तरीके को नव–उपनिवेशवाद (नियो कॉलोनियलिज्म) के नाम से भी पुकारा जाता है ।"

इसके अगले साल यानी सितम्बर 1973 जब अल्जीयर्स में निर्गुट देशों का चौथा शिखर सम्मेलन हुआ तब उसमें धनिक, औद्योगीकृत–विकसित देशों की घोर भतर्सना की गई, तथा उनके मौजूदा अर्थव्यवस्था में पाई जाने वाली ज़ाहिरा गैर–बराबरी (विषमता) के लिए सीधे–सीधे ही जिम्मेदार ठहराया गया । इस बारे में यह घोषणा भी की गई–"गौरतलब बात है कि जहां दुनियां की 75 सैंकड़ा आवादी इन तीसरी दुनिया के देशों में निवास करती है । उसे जोड़ तोड़ बैठाकर केवल 30 सैंकड़ा आमदनी से गुजारा करना पड़ता है । मसलन एक तरफ तो धनिक/विकसित देशों के लोग 3600 डॉलर की आमदनी में मौज मजे उड़ाते हैं वही दूसरी तरफ विकसित देशों के लोगों को गुजर–बसर के लिए 265 डॉलर ही नसीब होते है । और ज्यादा गहराई में जाएं तो हालात रोंगटे खड़े करने वाले हैं । उदाहरण के लिए तीसरी दुनियां के इन देशों में जो 2 अरब 60 लोग निवास करते हैं उनमें से 80 करोड़ लोग बेपढ़े लिखे यानी निरक्षर हैं, लगभग 1 अरब लोग भुखमरी (अथवा बेमानी खाने) के शिकार है, और 90 करोड़ लोग ऐसे भी हैं जो कि 30 अमेरिकी सैन्ट (यानी तब के 2.50 रुपये) रोजाना हर दिन कमाते हैं और खाते हैं । मतलब कि उन्हें रोज कुंआ खोदना पड़ता है और तब अपना पेट भरना होता है । "

वास्तव में यह आंख खोलने वाली कहानी है–जिसके बारे में इन देशों के शासकों की यह राय थी कि इससे जितनी जल्दी छुटकारा मिल सके उतना ही अच्छा है यानी कुछ न कुछ बदलाव लाने वाले कदम उठाने ही होंगे । इस बारे में निर्गुट देशों के अल्जीयर्स सम्मेलन में यह प्रस्ताव भी पारित किया गया है:

"संयुक्त राष्ट्रसंघ (यू. एन. ओ.) के महासचिव से यह कहा जाए कि वे महासभा की एक विशेष बैठक बुलायें जिसमें खास तौर पर विकास की समस्या से जुड़े बड़े राजनीतिक पहलुओं पर विचार किया जाए ।"

ध्यान रहे कि अल्जीयर्स सम्मेलन की यह पुकार अनसुनी नहीं की गई । यही वजह है कि निर्गुट देशों की पहल पर या मांग पर संयुक्त राष्ट्र–संघ महासभा की विशेष बैठक (छठी) बुलाई गई–जिसमें ऐतिहासिक महत्व की "नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था कायम करने की घोषणा" की गई, तथा "व्यावहारिक कदम उठाने यानी क्रियाकलाप करने की एक रूपरेखा" भी तैयार करने का निर्णय लिया गया । इन दोनों दस्तावेजों में जो सिफारिशें शामिल की गई हैं वे ज्यादातर विकसमान देशों को मिलने वाली सहायता या वित्तीय सहयोग तथा व्यापारिक क्षेत्रों के बारे में थीं । ध्यान रहे कि उन्हें यह सहायता या तो विकसित औद्योगीकृत देशों से मिलती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं क्या अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक भी ऐसा करती हैं । ये सिफारिशें कच्चा माल या अन्य जिन्सों/वस्तुओं पर मिलने वाली कीमतों को तर्कसंगत बनाने और समझौता वार्ताओं का रास्ता बनाने, व उनके स्थिर बनाए रखने तथा बहुराष्ट्रीय निगमों (मल्टी नेशनल कॉरपोरेशन्स) की गतिविधियों के नियमन के विषय में थीं । जहां तक व्यापार के मामले में सिफारिशों का सवाल है उनका ज्यादा जोर इस बात को लेकर था कि वे सारी भारी भरकम आर्थिक–तटकर संबंधी पाबन्दियां हटाई जाएं– जो विकासशील देशों के निर्यातों को लेकर लगाई गई है । तथा इसके "कोटा" तय कर दिए गए हैं) तथा दूसरी तरफ वे गैर–तटकर सुविधाएं भी सीमित की जाएं जो कि वे अपने देश के उत्पादकों को प्रदान करते हैं और जिसकी वजह से तीसरी दुनियां कें देश घाटे में रहते हैं । उनकी तरफ सें यह मांग उठाई गई कि औद्योगिक रुप से विकसित देशों को अपनी आमदनी या कुल जमा राष्ट्रीय उत्पादन (जी. एन. पी.) का 0.5 सैंकड़ा मदद/इमदाद देनी चाहिए–जिसे अधिकारिक विकास सहायता (ओ. डी. ए.) का नाम दिया जाए । यह भी अपील की गई कि इस सहायता पर जा–बेजा शर्तों या पाबन्दियों से छूट दी जानी चाहिए, तथा उनसे यह भी कहा गया कि वे मन चाहें राजनीतिक सुधारों को लादने की कोशिश नहीं करें । साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय व मौट्रिक संस्थाओं क ढांचों में फेरबदल करने की भी सिफारिश की गई । साफ तौर पर कहा जाए तो इन विकासशील देशों की मांगों का सार यही है कि "चाहे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष हो या विश्व बैंक, संभी वित्तीय संस्थाओं के नीति–निमार्ण करने के सभी चरणों में विकासमान देश प्रभावशाली तथा पूरी सहभागिता करने की चाह रखते हैं । " तथा वे उनमें मत देने (वोट) की ऐसा व्यवस्था विकसित करना चाहते हैं जो बराबरी तथा लोकशाही की धारणा पर आधारित हो । (याद रहे कि अभी तक जो प्रणाली कायम है उसमें औद्योगीकृत तथा विकसित देशों के हाथों में ही ज्यादातर 'वोट ' (मत) होते हैं जिससे उनके हाथ में नकेल होती है । इसी भांति चूंकि इनमें से ज्यादातर देश जिन्सों

या कच्चे माल की बिक्री यानी निर्यात पर जिन्दा हैं, इसलिए इन देशों की मंशा होती है कि माल के दामों में ज्यादा उतार–चढ़ाव नहीं आये ताकि उन्हें बाजार की मनमानियों से घाटा नहीं हो । इसके लिए वे लम्बी अवधि के व्यापारिक समझौते भी करना चाहते हैं । तथा वित्तीय मदद चाहते हैं उनकी यह भी ख्वाहिश है कि कर्जदार देशों को कुछ राहतें भी दी जाएं खास तौर पर जो समुद्री, टापुई या प्रायद्वीपीय देश हैं–"उनके साथ में विकसित देश मुद्देवार या केस के हिसाब से लम्बी दूरी के ऐसे समझौते करें जिससे कर्जो के रद्द करने, पाबन्दी लगाने, दुबारा चुकाने की व्यवस्था करने अथवा ब्याज घटाने का कोई बंदोबस्त हो । " इसी भांति जहां तक टैक्नॉलोजी की अदलाबदली (ट्रान्सफर ऑव् टैक्नॉलजी) का सवाल है उसमें भी ज्यादा जोर इस बात पर दिया गया है कि अवसरोचित (अप्रोप्रिअट) टैक्नॉलजी की अदलाबदली की एक ऐसी आचार–संहिता तैयार की जानी चाहिए–जो कि विकासमान देशों की जरुरतों के मुताबिक हो तथा जो देशी टैक्नॉलजी के विकास करने के लिए शोध अथवा खोज को बढ़ावा देने वाली भी हो । एक कोशिश यह भी की गई कि टैक्नॉलजी की अदला–बदली में अहम् भूमिका निभाने वाले बहु राष्ट्रीय निगमों या कम्पनी समूहों को भी एक ऐसे नियमन के तहत लाया जाए ताकि वे हासिल करने वाले देश के भी मकसद को पूरा कर सकें और जहां तक संभव हो वे अपने कमाए हुए धन/पूंजी का निवेश भी उसी जगह करें–जहां से उन्होंने यह लाभ/मुनाफा कमाया है ।

अगर हम इन सारी मांगों के पीछे छुपे हुए तर्क या औचित्य या मकसद रुपी आधार का पता लगाए तो हम इस नतीजे पर पहुंचेंगे कि नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था दरअसल में "अन्तर–निर्भरता" (इन्टर डिपेन्डेन्स) की धुरी पर टिकी हुई है जिसके एक छोर पर विकसित देश है और दूसरे छोर पर विकासमान देश है और वे पर–निर्भर हैं। उदाहरण के, लिए खनिज तेल, कच्चा लौहा, तांबा तथा यूरेनियम जैसे अनेक महत्वपूर्ण प्राकृतिक खनिज साधन इन विकासमान देशों में बहुतायत से पाए जाते हैं–जिन पर विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाएं टिकी हुई है । और वे उनके अभाव में बेमानी हो जाती हैं । हाल फिलहाल में इसकी मिसाल हमें खनिज तेल के संकट के दौरान देखने को मिली है जिसकी वजह सें संयुक्त राज्य अमेरिका को खाड़ी संकट में कूदना पड़ा है । जब औद्योगीकृत विकसित देशों को अपने तैयार शुदा माल को बेचने की जरुरत पड़ती है तब वे ललचाई नजरों से इन विकासमान देशों के "बाजार" की तरफ देखते हैं जिनमें भारी खरीद की ताकत पाई जाती है । इसलिए औद्योगीकृत देशों के अपने खुद के हित में नहीं है कि वे तीसरी दुनियां के देशों की विकास से जुड़ी समस्याओं की तरफ पीठ फेरकर या आंख मूंदकर खड़े हों जाएं जिनकी विस्तार से चर्चा उन्होंने नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था एन. आई. ई. ओं. के प्रस्तावों में की है । गर्ज है कि यदि विकासमान देशों की लगातार आर्थिक गिरावट होती रही तो वह दिन ज्यादा दूर नही, जबकि विकसित देशों का भी देर सबेर पतन होगा ही । इसलिए यह निहायत जरुरी है कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों का विकास इस तरह हो, ताकि दोनों दुनियाओं (विकसित तथा विकासमान देशों की) में तालमेल या मेलजोल कायम रहे । नतीजतन आखिरकार शांतिपूर्ण विश्व व्यवस्था का विकास हो सके । और नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (एन. आई. ई. ओं.) बनाते समय जिन मुद्दों का सामना करना पड़ेगा उनका निपटारा करने के लिए विकासमान तथा विकसित देशों के बीच

(विश्वव्यापी) बातचीत की जाएगी और समझौते के पुत्र बनाए जाएंगे अथवा उत्तर–दक्षिण संवाद की सलाह व सहायता संस्थाओं यथा संयुक्त राष्ट्र संघ का व्यापार तथा विकास सम्मेलन (अंकटाड यानी यूनाइटेड नेशन्स क्रॉन्फ्रेन्स ऑन ट्रेड ऐन्ड डिवेलपमेन्ट), निर्गुट देशों के होने वाले अनेक शिखर सम्मेलनों विली ब्रान्डत् आयोग (ध्यान रहे कि पश्चिमी जर्मनी के भूतपूर्व चैन्सलर की अध्यक्षता में उत्तर–दक्षिण सम्बन्धों के अध्ययन हेतु इसका गठन किया गया था, तथा तीसरी दुनियां के विशेषज्ञों तथा राज नेताओं यथा एडवड हीथ, (स्वर्गीय) ओलो (फ) पाम, सिद्धार्थ एस. रामफल एवं (स्वर्गीय) लक्ष्मीकांत झा इत्यादि को सदस्य के रास्ते चुनने पर बल दिया है, ताकि प्रस्ताविक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की धारणा को अमली जामा पहनाया जा सके यानी उसे व्यावहारिक धरातल पर उतारा जा सके ।

ध्यान रहे कि नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (एन. आई. ई. ओ.) की ऐतिहासिक घोषणा (मई 1974) के एक वर्ष के भीतर ही संयुक्त राज्य अमेरिका ने जानबूझकर तथा अपनी अर्थव्यवस्था को तथाकथित "खनिज तेल संकट" अथवा विश्व मण्डी में तेल के बढ़ते हुए दामों से बचाव के लिए एक राजनयिक यानी कूटनीतिक अभियान छेड़ा जिसके तहत उसने न केवल उत्तर–दक्षिण संवाद की जरुरत बताई, अपितु दिसम्बर 1975 में पेरिस यानी पारी (फ्रांस) में "अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग का एक सम्मेलन" (सी. आई. ई. ई. सी.) भी बुलाया । मुख्य सभा (बैठक) 08 में विकसित तथा 19 विकासमान देशों ने सहभागिता की तथा उनका वार्तालाप रुक–रुक कर ही सही लगभग 18 महिनों तक चला । तथा जब यह सम्मेलन 18 महीने पश्चात् 1977 यानी जून में खत्म हुआ तब उत्तरी गोलार्द्ध (विकसित) के देश छुटपुट रियासतों की घोषणाओं कें साथ सामने आए, और उन्होंने दक्षिणी गोलार्द्ध (विकासमान) के देशों की बराए नाम सहायता का भी विश्वास दिलाया । उदाहरण के लिए वे एक ऐसे, विशेष कोष की स्थापना करेंगे, जिसकी सहायता से बढ़ती हुई तेल कीमतों से पीड़ित देश अपनी अदायगी कर पाएंगे, तथा वे एक ऐसा "सांझा कोष" भी बनाएंगे, ताकि विकासमान देश विश्व मंडियों में होने वाले भावों के उतार–चढ़ाव का सामना धीरज पूर्वक कर पाएंगे । और इस पर भी मजा यह है कि इन छुटपुट सुविधाओं के बदले में औद्योगीकृत/विकसित देश दामों (कच्ची वस्तुओं तथा तेल इत्यादि) के ठहराव की मांग करने लगे, तथा एशियाई एवं अफ्रीकी देशों से, इस प्रकार की प्रत्याभूति (गारन्टी देने) की भी शर्त लगाने लगे कि वे बधें–बंधाए दामों में खनिज तेल मुहैयया करेंगे । साफ–साफ तरीके से कहा जाए तो औद्योगीकृत देश सौदेबाजी करने लगे, ताकि वे हमेशा मुनाफे की स्थिति में रहें–जो कि उनके नव–उपनिवेशवादी तेवर की दुहाई देते हैं । नतीजतन "खनिज" तेल बेचने वाले देशों ने इन प्रस्तावों का मानने से तुरत–फुरत इन्कार कर दिया यानी उन्होंने इन प्रस्तावों पर एक कान न दिया । सार रुप में कहें तो पेरिस या पारी सम्मेलन टांय–टायं फिस्स होकर रह गया ।

3 उत्तर–दक्षिण संवाद

चूंकि पेरिस या पारी सम्मेलन को भारी असफलता का मुंह देखना पड़ा, इसलिए विश्व बैंक के तत्कालीन अध्यक्ष रॉबर्ट मैक्नमारा ने यह प्रस्तावित किया कि एक गैर–सरकारी

"अन्तर्राष्ट्रीय विकासपरक प्रसंगों का स्वतंत्र आयोग" (अथवा उत्तरी–दक्षिण गोलार्द्धों सो जुडे मुद्दों से निपटने के लिए) स्थापित किया जाए । नतीजतन जो गैर–सरकारी आयोग बना उसे "ब्रान्डत् आयोग" का नाम दिया गया, तथा दिसम्बर 1977 में इसकी पहली बैठक पश्चिमी जर्मनी के चैन्सलर रहे विली ब्रान्डत् ने की । गौरतलब बात यह भी है कि इस आयोग ने अपने दो प्रतिवेदनों (पहले का नाम (उत्तर–दक्षिण : अस्तित्व) यानी (बजूद) बनाए रखने का कार्यक्रम" है, तथा दूसरे का नाम " सांझा संकट" रखा गया) में जिन मुद्दों को उठाया है वे लम्बे चौड़े हैं कि उनमें मौजूदा प्रसंग तखमीने के अलावा ब्रान्डत् आयोग अपने "अन्तर निर्भरता" (इन्टर डिपेन्टेन्स) की धारणा पेश करने के लिए जाना जाता है जिसका मतलब है कि आजकल के जमाने में विकसित तथा विकासमान दोनों ही एक दूसरे के सहारे पर जिन्दा है यानी दोनों टुनियाओं के देश पर–निर्भर हैं तथा उसने यह सुझाव भी दिया है कि उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्धों से जुड़े हुए मुद्दों पर विचार करने के लिए "विश्व के सभी नेताओं की एक दोस्ताना यानी अनौपचारिक बैठक बुलाई जाए–जिसमें वे लोग दूरगामी नजरिए से ऐसी पहल–कदमी करें, ताकि उनमें ऐसी ताकत, कुव्वत और समझदारी आए कि वे एक दूसरे को जरुरी सुविधाएं या रियायतें दे सकें । " इस सुझाव पर अमल करने के लिए मैक्सिको के राष्ट्रपति आगे आए, ओर उनकी पहल पर ही मेक्सिको के केनकुन सम्मेलन (अक्टूबर 1981) में भाग लेने के लिए 21 देशों के राजनेता शामिल हुए । ध्यान रहे कि इसमें भारतवर्ष की तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती–इन्दिरा (नेहरू) गांधी के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मण्डल भाग लेने गया–जिसमें उनके आर्थिक सलाहकार लक्ष्मीकान्त झा भी शामिल थे । इसका मकसद यानी उद्देश्य यह बताया गया कि "ऐसा माहौल बनाए जाए, जिसमें उत्तरी–दक्षिणी गोलार्द्धों से जुड़े अहम मुद्दों पर दोतरफा बातचीत (डाइलॉग) हो सके" । अथवा "वह उस गांठ को काट सके–जो कि इस उम्मीद को परवाने नहीं दे रही है । " पर यह आस भी निराश भई, जबकि पश्चिमी देशों की खुदगर्जी की वजह से केनकुन सम्मेलन भी असफल होकर रह गया । जैसा कि लक्ष्मीकान्त झा) जो खुद भी इस मांग के सिरे से यानी एक लम्बे अरसे से समर्थक रहे हैं–ने कहा भी है– "इस सम्मेलन की सबसे बड़ी अहमियत यही है कि देर से ही सही" आखिरकार यह सम्मेलन ही । ना उम्मीदी मिलने के बावजूद भी इस दिशा में और भी कोशिशें हुई मसलन जब भारत की तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा (नेहरू) गांधी सितम्बर 1983 में न्यूयॉर्क गई, तब उन्होंने भी विश्व के राजनेताओं से मुलाकातें की, पर उनके हाथ भी निराशा ही लगी ।

सार की बात यह है कि उत्तर–दक्षिण संवाद का सही मायने में अभी तक श्री गणेश ही नहीं हुआ है । और उस पर तौबा यह है कि पिछले कुछ सालों में हालात बद से बदतर हुए हैं यानी नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के ज्यादातर लक्ष्य यानी मसकद आज तक कागजों में ही बने लिखे हुए हैं । नतीनजतन 90 के दशक के खत्म होते–होते तीसरी दुनियां क ज्यादातर देश आकण्ठ यानी गले तक कर्जे में डूब गए हैं। उदाहरण के लिए उनकी कुल जमा आर्थिक पैदावर का 45 सैंकड़ा तो कर्ज चुकाने में जाय/बेकार हो रहा है खास तौर पर अफ्रीका तथा लातिनी अमेरिका के ज्यादातर देश इन दिनों में दिवालिया हो गए हैं और वे कर्ज से कर्ज

चुकाने की हैसियत में भी नहीं रह गए है । दूसरी तरफ ज्यादातर विकसित/औद्योगीकृत देश अपने इस आमराय पर आधारित वायदे को नही निभा पाए है यानी ज्यादातर देश इससे जी चुरा रहे हैं कि अपनी कुल जमा आर्थिक पैदावार का एक 01 सैंकड़ा इन गरीब देशों की सहायता की मदद में खर्च करेंगे । नतीजतन ज्यादातर विकासमान देश (जिनमें भारतवर्ष भी शामिल है) एक ऐसे भंवरजाल में फंस कर रह गए हैं कि उनका सारा भुगतान संतुलन डगमगा गया है और इस तरह वे गम्भीर आर्थिक संकट के दौर में से गुजर रहें हैं । इसके पीछे दो कारण रहे हैं–एक तरफ विकसित/औद्योगीकृत देशों ने अपने यहां आयात के व्यापारिक समझौतों पर इतनी सारी कठोर पाबन्दियां लगा दी हैं कि वे बिलबिलाने लग गए हैं और दूसरी तरफ उनकी सैनिक जरुरतें आसमान को छूने लगी हैं । फिर इन दिनों पश्चिमी एशिया में जो खाड़ी संकट गहराया है उसने भी आर्थिक मुद्दों को उठाकर पिछवाड़े में डाल दिया है । और फिलहाल उत्तर–दक्षिण दोतरफा बातचीत यानी संवाद होने की उम्मीदें दूर–दूर तक दिखाई नहीं देती है । गर्ज यह है कि इन तीसरी दुनियां के देशों का नसीब उतना ही फूटा दीखता है जितना कि नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था बनाने के एलान यानी घोषण के समय था । हालत यह है कि "न तो, खुदा ही मिला, न विसाले सनम । न इधर के रहे, न उधर के रहे । "

4 उत्तर–दक्षिण संवाद के मार्ग में व्यवधान

कुल मिलाकर उत्तर–दक्षिण संवाद के रास्ते में दो बड़ी रुकावटें खड़ी हुई है; एक तरफ समस्या यह है कि चाहे विकसित/औद्योगीकृत दुनियां के शासक/राजनेता जनता को बहकाने के लिए कुछ भी क्यों न कहें पर वे अभी तक अपने दिलोदिमाग से इस हकीकत को मानने के लिए तैयार नहीं है, और जिसकी तरफ वान्डत् आयोग ने इशारा भी किया है कि अंत पंत हमें "अन्तर निर्भरता/पर निर्भरता" (इन्टर डिपेन्डेन्स) की धारणा को मानना या अपनाना होगा । अथवा इसे दूसरे शब्दों में यूं कहा जा सकता है कि "आज औद्योगीकृत/विकसित देश जिस बहबूद्री यानी बेशुमार धन–दौलत की जिंन्दगी का मौज–मजा ले रहे हैं वह आखिरकार इन गरीब देशों की अर्थव्यस्थाओं के शोषण अथवा दमन का नतीजा है और इस पर भी तौबा यह है कि ये (धनिक देश) आज भी ऐसा सोचते हैं कि वे दो तरफा आर्थिक कूटनीति की जोड़तोड़ की सहायता से अपने इस शोषण व जोरो–जुल्म को जारी रख सकते हैं । और इसके लिए वे चोरी छुपे तथा खुल्लम–खुल्ला तरीके से बहु राष्ट्रीय निगमों, (यानी मल्टी नेशनल कॉरपोरेशन्स) तथा अन्य आर्थिक साधनों का मनवाहा इस्तेमाल करते रहते हैं । यद्यपि, उन देशों की एक बड़ी आबादी (जो कि मत देकर अपने राजनेताओं को चुनती है) भी यह मानती है कि यदि नवीन अन्तर्राष्ट्रीय य आर्थिक व्यवस्था के घोषणा पत्र की मांगों को कभी अमल में (यानी व्यवहार में) लाया गया तो उससे न केवल उनके हाथों में आए दुनियां के आर्थिक साधन छिन जाएंगे, अपितु उससे उनकी अपनी सुविधाएं भी सिमट जाएंगी, सिकुड़कर रह जाएंगी । सारत : सारे साधन वापिस गरीब देशों के लोगों के हाथों में लौट जाएंगें, और वे उनका अपने खुद के लाभ के लिए इस्तेमाल करेगें । और वे अपनी मौजूदा ऐशो आराम की जिन्दगी में इतने मगन हैं कि उन्हें यह गंवारा नही है कि दुनियां के सारे साधनों का फिर से बंटवारा हो– जिससे उन्हें परेशानियां

उठानी पड़े । ऐसी सूरत में वक्त का तकाजा यही है कि चाहे शुरुआती दौर में विकासमान यानी गरीब देशों को कुछ परेशानियां/असफलताएं भी झेलनी पड़े, पर उन्हें हिम्मत करके और जी कड़ा करके विकसित/औद्यौगीकृत देशों की ज्यातियों के खिलाफ एकजुट होकर कंधें सें कंधा मिलाकर उठ खड़ा होना होगा, तभी वे मिलजुलकर इन शोषणकारी देशों पर यह दबाव डाल सकेंगे कि वे अपने तौर तरीकों में फेरबदल करने को मजबूर हो जाएं । और वे नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था बनाने के लिए उत्तर–दक्षिण संवाद के लिए तैयार हों ।

पर रोना तो इस बात का है कि आज तक ये तथाकथित सताए हुए देश आपस में इतने झगड़ों तथा धड़े बन्दियों में बटे हुए हैं कि वे एक दूसरे के खून के प्यासे हो गए हैं जिसकी मिसाल हमें अभी हाल ही में पश्चिमी एशिया में हुए तेल संकट के दौरान देखने को मिली है । और हमें यह कहने को मजबूर होना पड़ा है कि हाल–फिलहाल यानी हमारी अपनी जिन्दगीयों में तो इस बात की उम्मीद कम ही है कि कभी तीसरी दुनियां के ये देश आपसी रंजिशें भुलाकर एक जुट होकर खड़े हो सकेंगे यानी एक आवाज में बोल भी सकेंगे । कुल मिलाकर यही कहा जा सकता कि न तो इन दिनों में उत्तर–दक्षिण संवाद होने की कोई संभावना है तथापि, अगर मौजूदा दुनियां को शान्ति और बहबूदी की जिन्दगी जीनी है तो वह ज्यादा अरसे तक इस समस्या को उठाकर बलाए ताक नही रख सकती है यानी टाल नहीं सकती है । ऐसा नहीं हो कि हम कहते ही रह जाएं कि "कारवां गुजर गया, गुबार देखते रहे, और हम खड़े–खड़े इन्तजार करते रहे । " इसलिए युगधर्म का यह तकाजा है कि दुनियां भर के देश मिलजुलकर इस धारणा का अमली जामा पहनाएं, और गैर–बराबरी और जोरो–जुलूम की व्यवस्था हटाएं । अहम् जिम्मेदारी विकसित /औद्योगीकृत देशों की है– जिसमें न कोई भूख सें मरेगा, न कोई नाउम्मीदी से मरेगा । यदि उन्होंने अपनी इस जिम्मेदारी को नही निभाया तो देरसबेर उन्हें इतिहास के उसी कटघरे में खड़ा होना होगा– जिसमें वे अभी तक विकासमान देशों को खड़ा करके दण्डित करते रहें हैं । वैसे कहा जाता है कि उम्मीद पर ही दुनियां जिन्दा है इसलिए हम भी अपनी बात निराशा पर नहीं खत्म करेगें । आमीन! आमीन! आमीन!

5 संदर्भ ग्रन्थ

कृपया विशेष जानकारी हासिल करने के लिए आगे बताई गई किताबों की मदद लीजिए–जो कि इस तरह है:

1. बान्हत् विली : **नॉर्थ–साऊथ डाइलॉग–ए प्रॉग्रेम फॉर सरवाईवल,** लन्दन, 1981
2. गाल्टुंग, जोहन. : **पूअर कॉन्ट्रीज़ वर्सेज रिच–व्हैन विल एन. आई. ई. ओ. बेनिफिट** 9 ऑस्लो 1977
3. के गंगल, अनुराग : **न्यू इन्टरनेशनल ईकॉममिक ऑडर, दिल्ली,** 1985
4. झा, लक्ष्मीकान्त : **नार्थ– साऊथ डिबेट,** दिल्ली (देल्ही), 1982
5. हेयटर, टेरेसा : **एड एज् इम्पीरिलिज्य,** पेनुगई बुक्स,1971
6. टिमबर्जन, जेन : **रिशेपिंग दि इन्टरनेशनल ऑर्डर,** लन्डन, 1977

6 अभ्यास प्रश्न

1. नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था का अर्थ बताईये ।
2. उत्तर–दक्षिण संवाद की प्रकृति पर प्रकाश डालिये ।
3. उत्तर– दक्षिण संवाद के भविष्य पर अपनी शब्दों में एक लेख लिखिये ।
4. नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था की मान्यताओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये ।

इकाई – 15
उत्तर–दक्षिण और दक्षिण–दक्षिण सहयोग

इकाई संरचना

1. उत्तर एवं दक्षिण का अर्थ
2. उत्तर–दक्षिण सहयोग, पृष्ठभूमि एवं विकास
3. उत्तर–दक्षिण सहयोग और नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था
4. उत्तर–दक्षिण सहयोग
   - 4.1 खाद्यान्न
   - 4.2 ऊर्जा
   - 4.3 व्यापार
   - 4.4 बित्त
5. दक्षिण–दक्षिण सहयोग और गुट निरपेक्ष आन्दोलन
6. दक्षिण एशियाई सहयोग और दक्षिण–दक्षिण राष्ट्रों का सहयोग–एक क्षेत्रीय प्रयोग
7. उत्तर–दक्षिण और दक्षिण–दक्षिण सहयोग पर प्रमुख अध्ययनों का विश्लेषण
8. संदर्भ ग्रन्थ
9. अभ्यास प्रश्न

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर राष्ट्रीय सम्बन्धों के विश्लेषण का आधार पूर्व और पश्चिम के तनाव पूर्ण सम्बन्ध थे जिन्हें शीत युद्ध के अन्तर्गत विश्लेषित किया जाता था । "पश्चिम" और पूर्व का विभाजन मूलत : राजनैतिक और वैचारिक धरातल पर किया जाता है । पश्चिमी देशों में अमेरिका और उसके मित्र राष्ट्र तथा पूर्वी देशों में रूस तथा रूस के सहयोगी देशों के मध्य आपसी तनाव, प्रतिस्पर्धा आदि की व्याख्या की जाती थी, जिसमें आगे चलकर बदलाव आता रहा, इस अध्याय में यह विश्लेषण हमारा उद्देश्य नहीं हैं ।

1 उत्तर एवं दक्षिण का अर्थ

प्रस्तुत अध्याय में हमारा विश्लेषण उत्तर–दक्षिण और दक्षिण–दक्षिण के सहयोग से जुड़े प्रश्न पर केन्द्रित है, परन्तु इस विश्लेषण को हम आगे बढ़ायें, इससे पूर्व हम उत्तर और दक्षिण इन शब्दों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे ।

उत्तर (North) : यह उन देशों का समूह है जो कर्क रेखा से उत्तर में है तथा इनमें मूलत: यूरोप, अमेरिका और अन्य देश है जिनकी अर्थव्यस्थाएं विकसित हैं और जहां औद्योगिकरण तथा प्राविधिक (Technology) का प्रयोग अत्यधिक है । मूलत : विकसित राष्ट्रों के समूह को उत्तर के राष्ट्रों में सम्मिलित किया जाता है और इस विभाजन का प्रमुख विचार आर्थिक आधार । है यों ये देश अन्य राष्ट्रों के समूह में अलग मत में है किन्तु आर्थिक सैनिक और प्राविधिक की दृष्टि से सम्पन्न हैं और विश्व के अन्य राष्ट्रों के निर्णयों को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं ।

दक्षिण (South) : कर्क रेखा के दक्षिण के देशों को अल्प विकसित या विकासशील राष्ट्रों के समूह में रखा जाता है । ये देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हैं इनकी प्राविधिक क्षमतांए अल्प है । किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में इन देशों का बहुमत है और लेटिन अमेरिका, अफ्रीका और एशिया के अधिकांश राष्ट्र दक्षिण के राज्यों में सम्मिलित हैं । इन देशों के बीच जो मूल एकता का आधार है वह उनके आर्थिक पिछड़े पन में निहित है ।

उत्तर–दक्षिण के प्रश्न को और आगे बढ़ाये, इससे पहले आर्थिक आधार पर एक और विश्लेषण का परिचय हम लोगों को होना चाहिए अन्यथा हमारी आर्थिक आधारों पर दुनिया के विभाजन की समझ ठीक नहीं रह पायेगी । इसमें मौटेतोर पर विश्व को तीन भागों में बांटा जाता है, यह विभाजन है :

1 पहली दुनियां :

इसमें वे राष्ट्र है जिनकी अर्थव्यवस्था पूंजीवाद और स्वतंत्रता के सिद्धांत पर आधारित है । अमेरिका, इंग्लैंण्ड, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी और जापान इनमें सम्मिलित है ।

2 दूसरी दुनियां :

इसमें वे राष्ट्र है जिनकी अर्थव्यवस्था साम्यवादी है और उत्पादन और वितरण राज्य द्वारा नियंत्रित है । इनमें साम्यवादी रूस, पालैण्ड, हंगरी, चीन, क्यूबा आदि सम्मिलित है । यद्यपि सोवियत संघ के विघरन के उपरान्त दूसरी दुनियां अब वास्तविकता का आभास नही दिला पाती ।

3 तीसरी दुनियां :

इसमें वे राष्ट्र है जिनकी आर्थव्यवस्थाएं पिछड़ी हैं, प्राविधिक क्षमताएं कम हैं, जो मूलत: कच्चे माल के उत्पादक है तथा इनकी राजनैतिक व्यवस्थाएं औपनिवेशिक शोषण की शिकार रही है। हम दक्षिण के राष्ट्रों को इस विश्लेषण में सम्मिलित करते हैं । इनकी विशेषताओं का सटीक वर्णन स्टीबन जे, रोसेन और वाल्टर्स जोना ने किया है । उनके अनुसार तीसरी दुनियां का विचार तो वास्तव में मानसिक व्यवस्था का तरीका है जिससे अन्तर्राष्ट्राय राजनीति की असंख्य जटिलताओं को एक उचित और स्पष्ट अर्थो में व्याख्यायित किया जा सके। इन सबकी दृष्टि वो भी विकसित देशों के बराबर उतने पर केन्द्रित है । यह एक सामान्य तार्किक स्वीकृति है । जिस पर कोई–असहमति नही हो सकती है ।[1]

विकसित देशों के साथ आने की तीसरी दुनियां के देशों की आकांक्षा को रेखांकित करना गलत नहीं है । किन्तु इन देशों की आर्थिक स्थिति का एक मूल्यांकन फ्रैड केरियर ने किया है । उनके अनुसार "ये समाज अधिकांशत : कृषि प्रधान हैं जहां 50 प्रतिशत से अधिक लोग कृषि पर निर्भर करते है और खेती के परम्परागत तरीके ही प्रयोग में आते है केवल कुछ स्थानों पर ही इसका व्यवसायीकरण हुआ है जहां ये औद्योगिक राष्ट्रों की व्यवस्था जुड़ी है । इनकी मूल समस्याएं तो कच्चे माल के कम दामों, ऊर्जा के साधनों के अभाव, विकसित राष्ट्रों के साथ असमान व्यापार सम्बन्धों, प्राविधिक के कम उपयोग, ऋण ग्रस्तता और भुगतान की समस्याओं से जुड़ी है"[2]

तीसरी दुनियां के देशों का विश्लेषण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विभिन्न क्षेत्रों में किया जा रहा है जिनमें आर्थिक, राजनैतिक सुरक्षा सम्बन्धी क्षेत्रों के विश्लेषण मुख्य रुप से हैं । हम लोगों के लिये ये अध्ययन और विश्लेषण बहुत ही उपयोगी है क्योंकि हम तीसरी दुनियां का दक्षिण के राष्ट्रों में से एक हैं और वे सब अध्ययन ही हमारी इस समझ को विकसित करते है। अत : ये हमारे लिये महत्वपूर्ण और उपयोगी है ।

2 उत्तर–दक्षिण सहयोग : पृष्ठिभूमि और विकास

उत्तर–दक्षिण के देशों के बीच सहयोग और संवाद के प्रमुख प्रश्नों पर विचार किया जाय इससे पहले यह बात अच्छी तरह से समझ ली जानी चाहिये कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक व्यवस्थाओं की बात मूलत : द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् ही उठी है अन्यथा राज्य अपनी स्वयं की आवश्यकताओं और अन्य देशों की स्थिति के बीच संतुलन बनाये रखते थे, जिसका कोई स्थायी आधार नहीं था, द्विपक्षीय, अवश्यकताएं आर्थिक सम्बन्धों को निदेर्शित करती थी । द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् जिसे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठनों का विकास हुआ उनमें सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इंटरनेशनल मोनेटरी फंड– (आई. एम. एफ.) है । दूसरी संस्था जिसने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया वह थी इंटरनेशनल बैंक आफ रिकन्सट्रैक्शन एंड डवलपमेंट, किन्तु इन दोनों संगठनों की गम्भीर कमी इस रुप में थी कि इन्होंने । विभिन्न पहुलओं के लगातार चढ़ते और उतरते मूल्यों की चिन्ता नहीं की जिनके प्रति विकासशील राज्यों में सबसे अधिक चिन्ता थी। साथ ही साथ यह भी माना गया विकास सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार–विमर्श और चर्चा के लिये अन्य उपयुक्त संगठन होना चाहिये । स्पष्ट रुप से उपर्युक्त दोनों संस्थाएँ आरम्भिक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास की संस्थाएं थीं ।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित प्रश्नों को लेकर क्यूबा की राजधानी हवाना में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन "इंटरनेशनल ट्रेड आर्गनाइजेशन" बनाने के प्रश्न पर बातचीत की गई, किन्तु यह विचार था कि इसके निमार्ण में समय लग सकता है इसलिये क्यों नही व्यापार और टैरिफ को लेकर सामान्य समझौता किया जाय और इसके लिये जिनेवा में गैट (जनरल एग्रीमेन्ट आन ट्रेड एंड टैरिफ) स्थापित किया जाय । गेट की स्थापना का उद्देश्य यह था कि व्यापार में उन प्रवृतियों के विकास को रोके जिनसे की 1930 में विश्व व्यापार सिकुड़ गया था और उसमें बाधाएं उत्पन्न हो गई थी । गैट के अन्तर्गत जो व्यवस्थाएं की गई उनकी मुख्य विशेषताएं थी । :–

1. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के व्यापार सम्बन्धी प्रमुख प्रश्नों पर सामूहिक दृष्टिकोण रखा जाएगा ।
2. अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर टैरिफ समान होगा और किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायेगा किन्तु जब तक वार्ताओं द्वारा इसे समान नही बनाया जाता है तब तक प्राथमिकता के आधार पर राष्ट्रों को लाभ प्रदान किया जाएगा ।

3. इसमें आयात पर गुणात्मक प्रतिबन्धों को समाप्त किया गया, किन्तु अपवाद स्वरुप उन स्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रमाण पत्र पर प्रतिबन्ध जारी रखे जा सकते है ।
4. निर्यात और आयात में संतुलन बनाये रखने के लिये विशेष सुविधाओं की व्यवस्था की गई, जो देश आपसी बातचीत के द्वारा लागू कर सकते हैं ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् इन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं का एक सटीक मूल्यांकन एल. के झा ने अपनी पुस्तक नार्थ साऊथ डिबेट में किया है जहां उन्होंने रेखांकित किया कि सभी संस्थानों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आये 1930 के संकुचन को दुहराया न जाय, इसकी व्यवस्था करने की पूरी कोशिश की ।[3]

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उत्तर और दक्षिण सहयोग और संवाद के विकास के क्रम में 77 देशों के समूह और संयुक्त राष्ट्र संघ के विकास व्यापार सम्मेलनों का उल्लेख करना आवश्क है, जहां विकासशील राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अपने सामूहिक प्रयासों और सामूहिक चिन्तन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियों को अपने पक्ष में मोड़ने की चेष्टा की । इन सम्मेलनों को सामूहिक दृष्टिकोण के विकास की दृष्टि से देखा जा सकता है जहां पश्चिम के विकसित राष्ट्र अपने हितों को सुरक्षित करने में प्रयत्नशील थे, साम्यवादी व्यापार सम्बन्धों से जुड़े पूर्वी राष्ट्र यह मानते थे कि वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय असंतुलन और शोषण से उनका कोई सीधा सम्बन्ध नही है । इसी दौरान पहले व्यापार विकास सम्मेलन में 1964 में उभरता हुआ विकासशील 77 राष्ट्रों का समूह प्रकट हुआ जो आगे चलकर संख्या में बहुत वृद्धि कर गया किन्तु वह 77 राष्ट्रों के समूह के नाम से ही सम्बोधित होता रहा तथा इन राष्ट्रों के समूहों की तीसरी टुनियां के राष्ट्र कह कर भी सम्बोधित किया जाने लगा । ये ही राष्ट्र दक्षिण के राष्ट्र भी थे और यहीं शुरु हुई उत्तर–दक्षिण की बातचीत या संवाद ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में विकास सम्मलनों का आयोजन नियमित रुप से किया जाने लगा । इसका प्रथम सम्मेलन जिनेवा (1964) में हुआ । फिर क्रमश : ये सम्मेलन दिल्ली (1968), सेन्तागिया (1972), नैरोबी (1976), 1979 और बेलग्रेड; (1983) में आयोजित किये गये । प्रत्येक सम्मेलन में यह स्पष्ट होता गया कि उत्तर और दक्षिण के राज्यों के बीच कई महत्वपूर्ण प्रश्नों पर जो ऋण, कच्चे माल की कीमत, ऋणों के भुगतान, व्यापार आदि की शर्ते है उन पर गंभीर मतभेद है और उत्तर–दक्षिण के विवादों को सुलझाने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने जो व्यापक प्रयास किये जिनमें 1980 का संयुक्त राष्ट्र महासभा का अधिवेशन 1981 में सात विकसित राष्ट्रों का सम्मेलन और सबसे पिछड़े हुए राष्ट्रों का पेरिस सम्मेलन प्रमुख विवादों को सुलझाने में तो सक्षम नही हुए, किन्तु जिन प्रश्नों पर विवाद था वे और अधिक उभर कर सामने आये । इन्हें मुख्य रुप से उत्तर–दक्षिण संवाद का आधार माना जा सकता है । ये प्रश्न थे :

1. कच्चे माल सम्बन्धी प्रश्न
2. ऊर्जा सम्बन्धी प्रश्न
3. व्यापारिक सम्बन्धों से जुड़े प्रश्न

4. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के व्यापार सम्बन्ध
5. मुद्रा सम्बन्धी प्रश्न, जिनमें ऋणों का भुगतान भी सम्मिलित है ।[4]

उत्तर–दक्षिण विवाद के समय एक और तथ्य नही भुलाया जाना चाहिये वह है दक्षिण के राज्यों द्वारा अपने आपकों गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के रुप में संगठित करने का प्रयास । दक्षिण के राज्यों द्वारा अपने प्रत्येक सम्मेलन में आर्थिक विकास की गति पर और अपने पिछड़ेपन पर निरन्तर चिन्ता व्यक्त की गई और उससे उबरने के प्रयास भी । उत्तर–दक्षिण के विवाद के प्रश्नों और उस पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियाओं को रेखांकित करने में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के अल्जीयर्स सम्मेलन 1973, का विशेष महत्व है । आर्थिक प्रश्नों पर इस सम्मेलन में विशेष कर उत्तर–दक्षिण संवाद में ये बाते रेखांकित की गईं :

1. विकसित देशों की यह इच्छा रही है कि वर्तमान व्यवस्था को अपने ही लाभ के लिये बनाये रखा जाये और विकासशील देशों की आवश्यकताओं को केवल दिखावे के तौर पर लिया जाए जिससे प्रगति के सारे विफल हो गये हैं । –
2. विकास की रणनीति की असफलता स्पष्ट हो चली है क्योंकि सम्पन देशों में राजनैतिक इच्छा शक्ति नहीं है कि जिनसे वे अपने निर्णयों को क्रियान्वित कर सके और विकास लक्ष्य विकासशील राष्ट्रों की सही आवश्यकताओं को प्रतिबिम्बित कर सकें ।
3. विकासशील राष्ट्रों की विश्व अर्थव्यवस्था, में साझेदारी घटती जा रही है और व्यापार के लिये स्थितियाँ और भी कठिन होती जा रही हैं ।
4. प्राथमिकता की प्रणाली में कृषि उत्पादनों को सम्मिलित नहीं किया गया है और आयात पर नियंत्रणों को बढ़ा दिया गया है यह विकासशील राष्ट्रों के हित में नहीं है ।
5. कच्चे माल की कीमतों की वृद्धि का विकासशील देशों को कुल मिला कर लाभ नहीं मिला क्योंकि आयात की दरों में उससे भी अधिक वृद्धि हो गई और कच्चे माल की कीमत पर वृद्धि का प्रभावशून्य हो गया ।
6. विकसित राष्ट्रों की ओर मुद्रा का रूझान कम हुआ है और विकासशील राष्ट्रों की. ऋणग्रस्तता बढ़ती जा रही है ।

इन आर्थिक अभावों को दूर करने के लिये अल्जीयर्स सम्मेलन में जिन तरीकों की सिफारिश की गई वे थे :

1. विकासशील राष्ट्र उन आपत्तियों को दूर करने का प्रयास करें जिनसे कि विकसित राष्ट्र अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने से कतरा रहे है ।
2. विकासशील देशों की आवश्कताओं को ध्यान में रखते हुए नये क्षेत्रों को खोजने की कोशिश की जानी चाहिये ।
3. विकसित राष्ट्रों को सामान्य प्राथमिकता प्रणाली लागू करनी चाहिये जो उन्होंने अभी तक नहीं की है ।

विकासशील राष्ट्रों और विकसित राष्ट्रों के अलावा इस सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं और मुद्रा प्रणाली पर विचार किया गया और विकासशील देशों के प्रति अधिक सहयोग पूर्ण दृष्टि कोण की मांग की गई ।

इस प्रकार यदि उत्तर –दक्षिण सहयोग के विभिन्न प्रयासों को पृष्ठभूमि के रुप में देखा जाये तो यह उभर कर सामने आता है कि उत्तर के विकसित राष्ट्र अपने विकास क्रम को जारी रखते हुए अपनी स्थिति को यथावत बनाये रखना चाहते थे, जबकि विकासशील राष्ट्र या दक्षिण के राष्ट्र अपने विकास की गति तथा अन्तर्राष्ट्रीय साधनों के अधिक समता वादी वितरण के लिये प्रयत्नशील थे ।

3 उत्तर–दक्षिण सहयोग और नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था

उत्तर–दक्षिण के परस्पर सम्बन्धों में 1974 का विशेष महत्व है जबकि तेल उत्पादक राष्ट्रों ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया और तेल की कीमत अपनीं शर्त पर ही तय नही करवायी वरन् अरब इजारइल संघर्ष में भी पश्चिमी राष्ट्रों के दृष्टिकोण को बदलने की कोशिश की । इसी पृष्ठभूमि में 1974 के अधिवेशन में महासभा ने नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की घोषणा की । इसमें जिन तथ्यों को रेखांकित किया गया वे निम्नलिखित थे :

1. नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का आधार समानता, सार्वभौमिक समानता परस्पर, निर्भरता, समानहित और सभी राज्यों के बीच सहयोग होगा ।
2. विकासशील और विकसित राज्यों के बीच जो अन्तराल है उसे समाप्त करना तथा विकास की गति को तेज करना जिससे कि आर्थिक, सामाजिक न्याय प्राप्त हो सके ।
3. पिछले कुछ दशकों की महत्वपूर्ण उपलब्धि उपनिवेशवाद से और विदेशी शासन से मुक्ति रही है जिससे बहुत से लोग स्वतंत्र समाज के सदस्य हो सके । आर्थिक गतिविधियों के विभिन क्षेत्रों में तकनीकि प्रगति भी की गई जिससे सभी के लाभ की योजनाओं का आरम्भ करने की आधारशिला रखी जा सके । इतना होने पर भी विकासशील देशों की समस्याएं पूरी तरह समाप्त नही हुई हैं । तकनीकी विकास के लाभ सभी लोगों द्वारा समान रुप से प्राप्त नही किये जा रहे हैं, विश्व की कुल जनसंख्या के 70% लोग है, जो विश्व की केवल 30% आय के ही हिस्सेदार है । ऐसी स्थिति में विकसित और विकासशील राष्ट्रों के बीच अन्तराल तो बढ़ेगा ही जो उस समय स्थापित की गई थी जबकि विकासशील राष्ट्र स्वतंत्र भी नहीं थे ।
4. वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय ठार्थव्यवस्था तो आज के राजनैतिक और आर्थिक घटना क्रम के सीधे विरोध में है । 1970 के पश्चात विश्व अर्थव्यवस्था गंभीर संकटों के दौर से गुजरी है, विशेष कर विकासशील राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था, जो विदेशी आर्थिक दबावों के लिये अधिक खुली है । किन्तु विकासशील राष्ट्र आज अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधि के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कारक है और उनकी उपस्थिति हर जगह महसूस की जा सकती है । इसलिये उनके द्वारा लिये गये निर्णय हर जगह प्रभावित करते हैं ।

5. इन स्थितियों में परस्पर निर्भरता विश्व समुदाय के लिये एक प्रमुख वास्तविकता है । विकसित और विकासशील राष्ट्रों के हित अब अलग–अलग करके नहीं देखे जा सकते है । ऐसी स्थिति में विकसित राष्ट्रों की सम्पन्नता में और विकासशील देशों के विकास में अन्तर्निहितता विद्यमान है अत: विकास के लिये सहयोग एक अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है ।

उपरिवर्णित अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों को रेखांकित करते हुए एक नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को निर्मित करने के सिद्धान्तों की बात की गई, जिसमें निम्न सिद्धान्त प्रमुख थे :

1. राज्यों के बीच व्यापक आधार पर सहयोग जो समानता के सिद्धान्त पर आधारित होगा तथा जिससे विश्व के सभी भेदभाव समाप्त किये जा सकेंगे ।
2. विश्व की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिए समानता के आधार पर सभी राज्यों की साझेदारी जिसमें तेजी से विकास की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए कम विकसित राष्ट्रों को प्राथमिकता प्रदान की जाए ।
3. प्रत्येक राज्य को अपनी इच्छा से आर्थिक और सामाजिक प्रणाली अपनाने का अधिकार मिले जो उसके के लिये उपयुक्त हो ।
4. राज्यों का अपने प्राकृतिक साधनों पर पूरा व स्थायी अधिकार हो तथा इन संसाधनों को सुरक्षित रखने के लिये प्रभावी नियंत्रण का अधिकार भी उनके लिए सुरक्षित हो ।
5. बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की गतिविधियों पर नियंत्रण का अधिकार जिससे वे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं को नुकसान न पहुंचा सके ।
6. विकासशील राष्ट्रों को आर्थिक सहायता प्रदान करना जिससे वे अपने साधनों का संरक्षण कर सकें और उनका पूरा उपयोग कर सके ।
7. कच्चे माल की कीमत का न्यायपूर्ण और समतावादी आधार ।
8. सक्रिय आर्थिक सहायता, जो विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा दी जाय उस पर किसी भी प्रकार की राजनैतिक और सैनिक शर्ते न लगायी जायें ।
9. मुद्रा प्रणाली में आवश्यक सुधार जिससे कि विकास की गति में निरंतरता बनी रह सके ।
10. विकासशील राष्ट्रों को प्राथमिकता प्रदान करना और विशेष आधारों पर प्रोत्साहन देना जो पारस्परिकता पर आधारित न हो ।
11. विकासशील राष्ट्रों को प्राविधिक की सुविधाएं देना और प्राविधिक के हस्तांतरण को प्रोत्साहन देना तथा स्वयं की प्राविधिक के विकास हेतु विशेष सहायता, जिससे की अर्थव्यवस्था उन्हें सरलता से अपना सके ।
12. सभी राज्य प्राकृतिक साधनों के अपव्यय को रोकें, जिसमें खाद्य सामग्री भी सम्मिलित है ।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि नई अर्थव्यवस्था में उत्तर–दक्षिण के पारस्परिक सहयोग को विभिन्न क्षेत्रों में रेखांकित किया गया और यह उम्मीद की गई की इस व्यवस्था की स्थापना से आर्थिक सम्बन्धों में विशेष कर उत्तर और दक्षिण के राज्यों के बीच जो तनाव

है वह कम हो पायेगा । किन्तु यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि विकासशील और विकसित देशों के बीच दृष्टिकोण में अधिक समरसता नही आ पायी है । विकासशील देशों द्वारा निरन्तर अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बढ़ता हुआ बहुमत और अपनी समस्याओं के प्रति सामूहिक दृष्टिकोण ने उत्तर–दक्षिण सहयोग प्रक्रिया को जटिल ही बनाया है ।

इस सारे क्रम को मुनि और लाल ने अपने निबन्ध में स्पष्ट करने का प्रयास उन्होंने नयी अन्तर्राष्ट्रीय उार्थव्यवस्था की स्थापना को तीन चरणों में स्पष्ट किया है :

1. समस्या के प्रति चेतना
2. उनकी पहचान और उन्हें राष्ट्रों के बीच लोकप्रिय बनाना; तथा
3. निश्चित कार्यवाही और अधिक उग्रता ।[5]

विकासशील देशों को जिन्हें हमने दक्षिण के राज्य कहा है पिछले वर्षो में उत्तर के साथ अपने विवाद में अधिक स्पष्ट हुए है और अन्तर्राष्ट्रीय मंचों से दक्षिण के राज्यों का दबाव बढ़ा हैं जिसने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को अधिक न्यायपूर्ण और समतावादी बनाये जाने की मांग को आगे बढ़ाया है ।

4 दक्षिण–दक्षिण सहयोग

अन्तर्राष्ट्रीय समबन्धों में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि राष्ट्रों के बीच में जहां एक ओर उत्तर–दक्षिण के बीच समस्याओं पर बातचीत करने की बात कही जा रही थी, परस्पर सहयोग और प्रतिस्पर्धा के क्षेत्रों को रेखांकित किया जा रहा था वही दूसरी और यह बात भी स्पष्ट हो चली थी कि दक्षिण और दक्षिण के राष्ट्रों के बीच आपसी सहयोग, व्यापार, खाद्य सामग्री के अधिक उत्पादन, संरक्षण और प्राथमिकताओं का निर्धारण भी आवश्यक है ।

यहां यह बात समझ लेने की आवश्यकता है कि 1974 की नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के घोषणा पत्र में दक्षिण –दक्षिण के सहयोग को पूर्ण रुप से स्वीकार किया गया है । उस घोषणा में यह उंल्लेख था कि विकासशील राष्ट्रों के बीच पारस्परिक सहयोग को सामूहिक या व्यक्तिगत प्रयासों के माध्यम से आर्थिक सहयोग, व्यापार, वितीय तथा तकनीकी क्षेत्र में विकसित करना आवश्यक है । यह तथ्य इसलिये अधिक उभर कर सामने आया कि विकासशील देशों के अधिक सहयोग की बात को रेखांकित किया जा सके ।

दक्षिण–दक्षिण के राज्यों के बीच सहयोग को विकसित करने के दो मुख्य तर्क दिये जाते हैं । पहला तर्क तो यह कि इस सहयोग के विकसित होने से उत्तर के राज्यों पर विकासशील देशों की निर्भरता कम होगी । क्योंकि इन देशों के आपसी सहयोग से विकास के मार्ग अवरुद्ध नही होते वरन् उनमें नयी क्षमताओं का विकास होता है । दूसरा तर्क यह है कि दक्षिण–दक्षिण के देशों के सहयोग से इन देशों की सामूहिक शक्ति का विकास होगा जिससे उत्तर–दक्षिण विवाद में अपनी मांगे मनवाने के लिये दक्षिण के राज्यों की क्षमता का विकास होगा ।

दक्षिण और दक्षिण के राज्यों के सहयोग और संवाद को जिन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने प्रभावित किया उनमें तेल उत्पादक देशों के सामूहिक निर्णय और उसके दबाव, विकसित राष्ट्रों की सहायता राशि में कमी, अफ्रीका में खाद्य पदार्थो की कमी तथा तीसरी दुनियां के

देशों में ऋणग्रस्तता प्रमुख थी । इन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के परिणाम स्वरुप दक्षिण–दक्षिण के राज्यों के बीच आवश्यक सहयोग के क्षेत्रों की खोज आरम्भ हुई ।

हम यहां दक्षिण –दक्षिण के राष्ट्रों के बीच सहयोग के कुछ अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों का उल्लेख कर सकते हैं, जिनसे इन राष्ट्रों के बीच सहयोग के क्षेत्रों को रेखांकित किया जा सके । सर्व प्रथम 1964 में संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यापार और विकास सम्मेलन में विकासशील राष्ट्रों के बीच आर्थिक सहयोग के आधार को विकसित करने के लिये 77 राष्ट्रों के समूह ने प्रयास किया । 1970 में व्यापक ऊर्जा संकट के कारण विकासशील राष्ट्रों के बीच आपसी सहयोग का महत्व बढ़ गया । 1976 के मंत्री स्तरीय सम्मेलन में आर्थिक सहयोग के मेक्सिको सम्मेलन में सामूहिक अर्थव्यवस्था का अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रम पहली बार स्वीकार किया गया । 1979 में अर्शा में मंत्री स्तरीय सम्मेलन में एक कार्यक्रम स्वीकार किया गया, इस कार्यक्रम की निम्नलिखित प्राथमिकताएं थी :

1. व्यापार प्राथमिकताओं की विश्व. प्रणाली,।
2. राज्य व्यापार निगमों के बीच सहयोग ।
3. बहुराष्ट्रीय बाजार संगठनों की स्थापना ।

इसके अलावा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सहयोग के कार्यक्रम को. भी स्वीकृति दी गई जिसमें औद्योगीकरण, खाद्यपदार्थ, कृषि, वित्त और मुद्रा, कच्चा माल और यातायात आदि प्रश्नों पर सहयोग प्रश्नों पर सहयोग की बात कही गयी ।

दक्षिण–दक्षिण के राष्ट्रों के बीच सहयोग की दिशाओं में एक और महत्वपूर्ण सम्मेलन कराकस में 1981 में आयोजित हुआ जिसे "कराकस कार्य योजना" कहा जाता है । इस सम्मेलन में विकासशील देशों के बीच आर्थिक सहयोग पर विस्तार से विचार किया गया। इस योजना में सिफारिशें 170 की गई और 40 बैठकें विभिन्न समस्याओं पर विचार करने के लिये आयोजित की गई । जिन विषयों पर विचार किया गया वे थे व्यापार, प्राविधिक, खाद्य सामग्री, कृषि, ऊर्जा, कच्चा माल, वित्त, औद्योगीकरण और विकासशील राष्ट्रों के बीच तकनीकी सहयोग के क्षेत्र । यह निश्चित किया गया कि विकास का यह कार्यक्रम समयबद्ध, सम्पूर्ण और एकीकृत होगा तथा इसको क्रियान्वित करने के लिये ऐसी व्यवस्थाएं बनायी जायेंगी जो इन कार्यक्रमों का सही मूल्यांकन कर सकेंगी । राज्यों के स्तर पर सामूहिक प्रयास का यह एक अच्छा उदाहरण था । इस सम्मेलन में विकासशील राष्ट्रों का दृष्टिकोण सकारात्मक था और दक्षिण–दक्षिण के राज्यों के बीच सहयोग को विकसित करने की दिशा में महत्वपूर्ण पहल थी ।

दक्षिण–दक्षिण के राज्यों के बीच सहयोग के आरम्भिक प्रयासों को यदि देखा जाय तो यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि वे अपने विकास की प्राथमिकताओं को भलीभांति रेखांकित कर रहे थे, साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के दबावों और उनकी आवश्यकताओं का सही आभास इन देशों को था और सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर सामूहिक दृष्टिकोण और कार्य योजनाओं को बनाने तथा लागू करने के ये लिये देश तत्पर थे ।

दक्षिण और दक्षिण के राज्यों के बीच सहयोग को आगे बढ़ाने की दिशा में दिल्ली विचार विमर्श 1982 का अपना महत्व है । इस पर विस्तार से बातचीत करना यहां अनुचित

नहीं है क्योंकि इस विचार विमर्श में दक्षिण –दक्षिण के राज्यों के बीच सहयोग को सुनिश्चित दिशा प्राप्त हुई । इस पर आगे बातचीत करें उसके पहले यह जान ले कि दिल्ली विचार विमर्श एक अनौपचारिक सम्मेलन था, जिसमें 27 राष्ट्रों के नीति निर्माता आमन्त्रित थे, किन्तु कई और राष्ट्रों ने भाग लेने की इच्छा व्यक्त कर, अन्त में इन वार्ताओं 43 राष्ट्र के प्रतिनिधियों ने भाग लिया । दिल्ली वार्ता में भारत की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रभावी बनाने के लिये निम्नलिखित क्षेत्रों को रेखांकित किया गया :

1. तुरन्त विश्व वार्ताएं शुरु करने के लिये सहमति
2. विकासशील राष्ट्रों में खाद्यानों का अधिक उत्पादन
3. सहायता की दिशा में जो अल्प सहायता की प्रवृत्ति चली है उसे बदलना ।
4. बहुराष्ट्रीय सहयोग को विकसित करना
5. उर्जा विकास के लिये वित्तीय साधनों को बढ़ाना
6. योजनाओं को तेजी से स्वीकार करना और लागू करना, जिनमें क्षेत्रीय व्यवस्थाएं भी सम्मिलित हैं । तेल की बढ़ी हुई कीमतों के प्रभावों को कम करना और तेल की निरन्तर आपूर्ति को बनाये रखना ।
7. वित्तीय सहयता की व्यवस्था करना जिससे कि नियमित भुगतान की स्थिति बनी रहे और तेल निर्यात करने वाले देश परेशानी में न आयें ।
8. देशों के बीच और सामूहिक आत्मनिर्भरता विकसित की जाय जिससे की कमजोर अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़ पाये । इन बिन्दुओं को यदि ध्यान से देखा जाये तो यह स्पष्ट होगा कि विकासशील अर्थव्यवस्थाओं को अन्तर्राष्ट्रीय दबावों से विशेषकर विकसित राष्ट्रों के दबावों से मुक्त करने के लिये सामूहिक आत्मनिर्भरता की बात कही गयी है ।

दिल्ली वार्ता के कुछ अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का, जिनमें दक्षिण–दक्षिण के राज्यों के बीच सहयोग की बात प्रमुख थी, विश्लेषण आवश्यक है । इनमें ये प्रमुख हैं :

4.1 खाद्यान्न

विकासशील राष्ट्रों की एक प्रमुख समस्या खाद्यानों की है । इनका लगातार गिरता उत्पादन चिन्ता का विषय रहा है विशेषकर विकासशील राष्ट्रों में जो कम विकसित है, यह एक गम्भीर समस्या बनी हुई है । ऐसी स्थिति में इसे दूर करने के लिये अल्प अवधि, मध्य अवधि और लम्बी अवधि की योजनाएं बनायी गई जिनमें सुरक्षित भण्डार को विकसित करने के प्रयास किये गये । यह पाया गया की खाद्यान्नों के सुरक्षित भण्डार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से विकसित किये जायें जिससे स्थिरता आ सके । खाद्यान्न आयात करने वाले राष्ट्रों की आर्थिक व्यवस्थाओं का मूल्यांकन करके यह पाया गया कि इन व्यवस्थाओं को सुदृढ़ करने की आवश्कता है । विकासशील राष्ट्रों की कृषि नीति की यह स्पष्ट आवश्यकता थी कि वे दीर्घ और सुनिश्चित प्रयासों द्वारा ही आत्म निर्भरता प्राण कर सकते हैं ।

4.2 ऊर्जा

ऊर्जा कई विकासशील राष्ट्रों में प्रमुख समस्या है । ऊर्जा और आर्थिक विकास के बीच सीधा सम्बन्ध है । अत : विकासशील देशों के ऊर्जा विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहायता की आवश्यकता है जो बहु राष्ट्रीय स्रोतों से उतर प्राविधिक के हस्तांतरण से ही संभव है । विश्व बैंक के वर्तमान साधन पर्याप्त नहीं हैं और उनमें वृद्धि करना अत्यावश्यक है । विकासशील राष्ट्रों के लिये यह अनिवार्य है कि वे शीघ्र ही ऐसे उपाय करें जिससे कि ऊर्जा का उत्पादन बढ़े।

4.3 व्यापार

दो प्रमुख समस्याएं है पहली वस्तुओं पर समग्रता से विचार एवं सामान्य मुद्रा कोष और दूसरी है व्यापार बाधाएं और बढ़ता हुआ संरक्षण । विकासशील राष्ट्रों द्वारा इस क्षेत्र में सामूहिक और शीघ्र कार्यवाही आवश्यक है । विकासशील राष्ट्रों द्वारा सामान्य मुद्रा कोष के निर्माण की आवश्यकता पर अधिक बल दिया गया और उसके लिये संधि व्यवस्थाओं को निर्धारित करने का प्रयास करने की बात भी कही गई ।

विश्व व्यापार में बढ़ते हुए संरक्षण वाद पर चिन्ता व्यक्त गई तथा संरक्षणवाद और पारस्परिकता को उचित नही माना गया क्योंकि विकासशील राष्ट्रों के व्यापार को इससे हानि होती है । विकासशील राष्ट्र सामूहिक प्रयासों द्वारा अपने व्यापार की स्थिति को सुधारने की कोशिश कर सकते हैं ।

4.4 वित्त

दक्षिण–दक्षिण के देशों के बीच किसी भी प्रभावी कार्यक्रम की पहली आवश्यकता वित्त की है । बहुराष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना जिसमें राष्ट्र वित्तीय स्वेच्छा से राशि की घोषणा कर सकते हैं, आवश्यक माना गया । इससे वित्तीय साधनों की उपलब्धता बढ़ेगी और दक्षिण–दक्षिण के सहयोग को बल मिलेगा ।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि दक्षिण–दक्षिण के सहयोग को अधिक निश्चित रुप देने में दिल्ली विचार विमर्श ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और विभिन्न समस्याओं को रेखांकित किया जिनमें पारस्परिक सहयोग आवश्य था ।

दिल्ली विचार विमर्श के बाद भी इन राष्ट्रों के बीच निरन्तर बातचीत चल रही है जिनमें समन्वय समिति की 1985 की जकार्ता बैठक, तथा 1986 की दिल्ली बैठक का उल्लेख किया जा सकता है जहां दक्षिण–दक्षिण के देशों के बीच परस्पर सहयोग की सम्भावनाओं और समस्याओं, पर चिन्ता व्यक्त की गई । किन्तु दक्षिण के देशों की अपनी वित्तीय, औद्योगिक, ऊर्जा प्राविधिक हस्तांतरण की समस्याएं अभी भी बनी हुई हैं इन देशों के मुद्रा कोष की स्थापना संभव नही हो पायी जिससे की दक्षिण–दक्षिण के देशों की वित्तीय समस्याएं दूर हो पाती ।[5]

5 दक्षिण–दक्षिण सहयोग और गुटनिरपेक्ष आन्दोलन

दक्षिण–दक्षिण के देशों के पारस्परिक सहयोग को आगे बढ़ाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय मंचों को यदि देखा जाये तो यह उभर कर सामने आयेगा कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन दक्षिण–दक्षिण सहयोग के प्रमुख मंचों में से एक है ।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के देशों में अधिकांशत: देश विकासशील राष्ट्र है जिनकी अर्थव्यवस्था हर प्रकार के पिछड़ेपन से ग्रस्त है । इस आन्दोलन की स्थापना के दूसरे चरण में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का सारा ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर केन्द्रित रहा जिसमें एक ओर विकासशील (दक्षिण) और विकसित (उत्तर) के बीच संवाद की बात कही गई वहीं नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापित करने के प्रश्न पर भी गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की चिन्ता नजर आती है । इसी क्रम में विकासशील राष्ट्रों के बीच आर्थिक सहयोग और सामूहिक आत्म निर्भरता की बात को बार–बार दुहराया गया है । गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के देशों का यह मानना रहा कि सामूहिक प्रयास द्वारा वे अपनी समस्याओं के प्रति चेतना को व्यापक स्तर पर फैलाने में सहायता कर सकते हैं । गुटनिरपेक्ष आन्दोलन द्वारा यह कार्य प्रभावी तरीके से किया भी गया ।

1970 के दशक में जबकि विकासशील राष्ट्रों की उार्थव्यवस्थाएं एक ओर विकास की धीमी गति से प्रभावित थीं, दूसरी ओर विकसित राष्ट्रों द्वारा भेदभाव पूर्ण आचरण और व्यापार मुद्रा सुविधाए और प्राविधिक के हस्तान्तरण की समस्याएं लगातार बनी थीं, ऐसी स्थिति में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन द्वारा अल्जीयर्स सम्मेलन और बाद में हवाना सम्मेलन में दक्षिण–उत्तर के आर्थिक सम्बन्धों के विवाद में तेजी आयी और दक्षिण के राष्ट्रों द्वारा अधिक सुविधाओं की मांग की गई । इसी बीच दक्षिण–दक्षिण के देशों के बीच आर्थिक सम्बन्धों और सहयोग की बात को रेखांकित किया गया । "सामूहिक आत्मनिर्भरता" को विकासशील देशों के आर्थिक विकास के लिये आवश्यक माना गया । 1983 के दिल्ली सम्मेलन और फिर हरारे (1986) में यह बात स्पष्ट रुप से रेखांकित की गई कि आर्थिक साधनों के अभाव में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अपने मौलिक उद्देश्यों को प्राप्त नही कर पायेगा । हरारे सम्मेलन में रंगभेद की नीति के साथ आर्थिक आत्म निर्भरता को अफ्रीकी संदर्भ में आवश्यक माना गया । अफ्रीका कोष की स्थापना सामूहिक आर्थिक आत्म निर्भरता की दृष्टि से महत्वपूर्ण था ।

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन दक्षिण–दक्षिण के सहयोग और गतिविधियों का प्रभावशाली केन्द्र हो सकता है क्योंकि आज की स्थिति में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन तीसरी दुनियां के देशों का सबसे बड़ा मंच है । इस मंच से विकासशील राष्ट्र अपनी आर्थिक गतिविधियों को और सहयोग को आगे बढ़ा सकते हैं ।

6 दक्षिण एशियाई सहयोग संगठन और दक्षिण–दक्षिण राष्ट्रों का सहयोग : एक क्षेत्रीय प्रयोग

दक्षिण और दक्षिण के राष्ट्रों के बीच आर्थिक सहयोग की दिशा में प्रगति की बात बार–बार कही गई किन्तु आर्थिक, तकनीकि और वैज्ञानिक क्षेत्र में सामूहिक प्रयासों का अभाव लम्बे अर्से तक रहा । दक्षिण एशियाई क्षेत्र के देशों में एक और द्वि–पक्षीय संबन्धों के तनाव उपस्थित है तो दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और दबावों से यह क्षेत्र मुक्त नही है ।

दक्षिण एशियाई क्षेत्र के बारे में संक्षिप्त परिचय यहां अनावश्यक नहीं होगा । दक्षिण एशिया के राष्ट्रों में भारत, पाकिस्तान; नेपाल, भूटान, बांग्ला देश, श्रीलंका और मालद्वीप सम्मिलित है । इन देशों में भारत अपने आकार, जनसंख्या, तकनीकी क्षमताओं के कारण अन्य

देशों की तुलना में बहुत बड़ा है उत्तर दक्षिण एशिया की राजनीति पर उसका सबसे गहरा प्रभाव है । इन देशों ने 1980 के आसपास यह प्रयास किया कि इन देशों के बीच सारे राजनैतिक तनावों के होते हुए भी आर्थिक, तकनीकी, सांस्कृतिक और औद्योगिक सहयोग को विकसित किया जा सकता है । लम्बी तैयारी के पश्चात् 1985 में ढाका सम्मेलन आयोजित किया गया जहां क्षेत्रीय संगठन की नीव रखी गयी और गरीबी, प्राकृतिक विपदाओं और पिछड़ेपन से लड़ने का संकल्प किया गया । दक्षिण एशिया राष्ट्रों के बीच दीप, उद्योग, सूचना और संस्कृति के क्षेत्र में विभिन्न विषयों को रेखांकित किया गया । विशेषज्ञो के अध्ययन दल स्थापित किये गये, योजनाएं तैयार की गई । आरम्भिक कठिनाई के बावजूद दक्षिण–एशियाई सहयोग विशेषकर क्षेत्रीय आधार पर दक्षिण और दक्षिण के बीच सहयोग का प्रमुख आधार है । यों आर्थिक कठिनाइयों, साधनों, प्राविधिक और राजनैतिक इच्छा शक्ति के अभावों का परिणाम दक्षेस पर पड़ा है, किन्तु यह बात स्पष्ट है कि दक्षिण और दक्षिण के राज्यों को अपने आर्थिक विकास के लिये विशेष प्रयास करना होगा क्योंकि इन सभी देशों के राजनैतिक नेतृत्व का रूझान विकसित राष्ट्रों के बाजारों, उनकी प्राविधिक और साधनों की ओर अधिक है । इसलिये दक्षिण–दक्षिण के राष्ट्रों के बीच सहयोग के लिये अधिक सक्रिय और जागरुक प्रयास की आवश्यकता है । इस दृष्टि से दक्षेस अभी तक एक आरम्भिक प्रयास के रुप में ही देखा जा सकता है जिसमें सम्भावनाएं तो पर्याप्त है, किन्तु योजनाओं का क्रियान्वयन अभी पर्याप्त रूप से नही हो पा रहा है ।

दक्षिण–दक्षिण के राष्ट्रों के बीच सहयोग और सामूहिक आत्मनिर्भरता की आवश्यकता वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धी में बार–बार रेखांकित की जा रही है, किन्तु अपने राजनैतिक दबावों और आर्थिक अभावों के परिणाम स्वरुप दक्षिण–दक्षिण सहयोग अधिक प्रभावी नही हो पाया है । यह सब होते हुए भी दक्षिण–दक्षिण के राष्ट्रों की आर्थिक आवश्यकताएं, उत्तर–दक्षिण के सहयोग और नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की अनिवार्यताएं तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी दक्षिण के राष्ट्रों के सामूहिक प्रयासों से अछूते नही रह पाये हैं और उनका अनुभव कई अन्तर्राष्ट्रीय मंचों से किया जा सकता है ।

7 उत्तर–दक्षिण और दक्षिण–दक्षिण सहयोग पर प्रमुख अध्ययनों का विश्लेषण

पिछले वर्षो में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस विषय पर अनेक अध्ययन प्रकाशित हुए हैं । इन अध्ययनों का मुख्य रूझान अपने–अपने पक्षों को प्रस्तुत करने का रहा है । चाहे वह उत्तर के राष्ट्र हों या तीसरी दुनिया के । जिन अध्ययनों ने इस प्रश्न पर सैद्धान्तिक बहस को उभारा है उनमें फ्रेड केरियर की दी **थर्ड वर्ल्ड रेवोल्यूशन,** 1976 लेविस हारोविच की **थ्री वर्ल्डर्स ऑफ डवलपमेन्ट,** 1966 प्रमुख है । तीसरी दुनिया की आवश्यकताओं से सम्बन्धित उतर उनके चिन्तन का सबसे सशक्त प्रतिनिधित्व मोहम्मद वदजॉनी के लेखन में हुआ है उनकी पुस्तक **ए न्यू इंटर नेशनल इकानामिक आर्डर,** 1982 महत्वपूर्ण है, जिसमें उन्होंने तीसरी दुनियां की आवश्यकताओं को, तीसरी दुनिया के दृष्टिकोण से देखा है ।

पिछले वर्षो में हमारे यहां भी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रश्नों पर लेखन का विकास हुआ है । इन सभी पुस्तको में हमारी आवश्यकताओं, मूल्यांकन और तीसरी दुनियां के विकास की चिन्ताएं बार–बार उभर कर सामने आती हैं । इन अध्ययनों में एल. के झा का **नार्थ साऊथ डिबेट,** 1982 प्रमुख है । झा भारत के उन प्रमुख अर्थ शास्त्रियों में है जो अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियमन से लम्बे समय तक जुड़े रहे । यह अध्ययन अपने दृष्टिकोण और ताजगी के लिये याद किया जाएगा और बहुचर्चित रहेगा । इस पुस्तक में उत्तर–दक्षिण संवाद पर सभी महत्वपूर्ण दस्तावेज उपलब्ध है । इस प्रश्न पर जे. वंद्योपाध्याय की पुस्तक **नार्थ ओवर साऊथ** महत्वपूर्ण है । अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर हमारे यहां जो चिन्तन हुआ है उसमें जे. वंद्योपाध्याय का विशेष महत्व है जहां वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रणालियां और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्थाओं के दबावों को रेखांकित करते है । इसी क्रम में सुशीला अग्रवाल के **थर्ड वर्ल्ड एंड न्यू इंटरनेशनल आर्डर,** 1985 का उल्लेख किया जा सकता है । इस अध्ययन में तीसरी दुनियां के विचार, उसकी आवश्यकताओं और विभिन्न स्थितियों को समझने की महत्वपूर्ण कोशिश की गई है । दक्षिण–दक्षिण सहयोग को स्पष्ट करने के लिये रोमेश भण्डारी के निबन्ध "नैम एंड साऊथ–साऊथ कॉपरेशन" का उल्लेख करना आवश्यक है । रोमेश भण्डारी, उन भारतीय राजनयिकों में से हैं जिन्होंने दक्षिण–दक्षिण सहयोग के प्रयासों को वास्तविक मूर्त स्वरुप देने का प्रयास किया है और दक्षिण के राष्ट्रों की समस्याओं को समझने की अपनी उनकी दृष्टि है । यही रचनात्मक रूझान रोमेश भण्डारी के निम्बन्ध में प्राप्त होता है । इसके अलावा यह कहा जा सकता है कि उत्तर–दक्षिण सहयोग और दक्षिण–दक्षिण सहयोग विषय पर साहित्य में निरन्तर वृद्धि हो रही है ।

8 संदर्भ

1. देखिये स्टीवेन जे रोसेन तथा वालर्टर एस जोन्स, **दि लाजिक ऑफ इंटरनेशनल रिलेशन्स,** 1974 पृष्ठ 81 –92
2. देखिये फ्रेड केरियर, **दी थर्ड वर्ल्ड रिवोल्यूशन,** 1976, पृष्ठ 18
3. एल के. झा नार्थ – **साउथ डिबेट,** 1982 पृष्ठ 14 – 15
4. सुशीला अग्रवाल, **थर्ड वर्ल्ड एण्ड न्यू इंटरनेशनल आर्डर,** 1985 पृष्ठ 75
5. के बी. लाल और एस. डी. मुनि, ' 'नानएलांइमेन्ट एण्ड दी न्यू इंटरनेशनल इकानामिक आर्डर " (निबन्ध) के पी. मिश्रा और के आर. नारायण की पुस्तक **नान एलाइनमेन्ट इन कन्टम्परैरी इंटरनेशनल रिलेशन्स,** 1981 पृष्ठ 138
6. रोमेश भण्डारी, नैम एंड साऊथ–साऊथ कोऑपरेशन (निबन्ध) वी. डी. चोपड़ा द्वारा सम्पादित पुस्तक **नैम समिट : न्यू देहली टू हरारे,** 1986, पृष्ठ 255 –58

9 अभ्यास प्रश्न

1. उत्तर–दक्षिण के प्रमुख राष्ट्रों के बारे में आर्थिक, राजनैतिक जानकारी एकत्रित कीजिए ।
2. विश्व के नक्शे में प्रमुख उत्तर और दक्षिण के देशों को रेखांकित कीजिए ।

3. उत्तर–दक्षिण के सहयोग को रेखांकित करने वाली प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय वार्ताओं के विभिन्न निष्कर्षो पर टिप्पणी कीजिये ।
4. उत्तर–दक्षिण सहयोग पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिये ।
5. ' 'दक्षिण–दक्षिण सहयोग और समस्याएं " विषय पर अपने विचार स्पष्ट कीजिये ।
6. उत्तर–दक्षिण सहयोग के विभिन्न प्रश्नों जैसे कच्चा माल, प्राविधिक, मुद्रा व्यवस्था, व्यापार, संरक्षण पर उत्तर और दक्षिण के दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिये।

इकाई 16
अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद

इकाई संरचना

1 अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद का अर्थ

2 अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के प्रकार

2.1 व्यक्तिगत आतंकवाद

2.2 अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद

2.3 राज्य का आतंकवाद

3 अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से जुड़े कतिपय प्रमुख प्रश्न

4 अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद विरोधी विकास एवं उनका मूल्यांकन

4.1 टोक्यो अभि समय–1963

4.2 हेग अभि समय–1970

4.3 मांट्रीयल अभि समय–1971

4.4 अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के संवरक्षण से सम्बन्धित अभिसमय–1973

4.5 आतंकवाद के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा का प्रस्ताव–1973

4.6 दक्षेस द्वारा आतंकवाद के खिलाफ अमिसमय–1976

5 अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद पर प्रमुख अध्ययनों का विश्लेषण

6 संदर्भ ग्रन्थ

7 अभ्यास प्रश्न

पिछले दो दशकों से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में आतंकवाद की घटनाएं लगातार होती रही है जिसके परिणाम स्वरुप अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से जुड़े विश्लेषक, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को संचालित करने वाले नीति निर्माता और राजनयिक लगातार चिन्तित रहे है कि कैसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिंसा के प्रयोग को रोका जाय और किन तरीकों से हिंसा के प्रयोगकर्ताओं को सजा दिलायी जा सके, या वे कौन से मंच होंगे– जहां : से इन हिंसा के कार्यो के प्रति जन चेतना को बढ़ाया जा सकेगा? प्रस्तुत विश्लेषण में निम्नलिखित बातों को रेखांकित करने, का प्रयास करेंगे जो हमारी अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के प्रति समझ को सही दिशा में विकसित कर पायेगी ।

1 अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद का अर्थ

अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के अर्थ को स्पष्ट करने से पूर्व उससे पहले हमें उन अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भो को समझना होगा जिन्होंने तत्सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय आचरण को प्रभावित किया है ।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् भी परिवर्तनों का क्रम जारी रहा क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जो राज्यों की नई सीमाएं बनीं और उनमें जो परिवर्तन घटित हुए उनके प्रति व्यापक नाराजगी थी । इनमें से कुछ परिवर्तन एशिया, अफ्रीका और

लेटिन अमेरिका के देशों के अनुरुप नही थे । इसी के साथ–साथ रंगभेद, साम्राज्यवाद और देशों के बीच विभिन्न प्रकार की असमानताओं की स्थितियां अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में निरन्तर बनी हुई थीं । इन स्थितियों के प्रति विरोध की मुखरता 1970 के लगभग अधिक प्रखर हुई और अन्तर्राष्ट्रीय हिंसा का प्रदर्शन सहसा उग्र हो गया ।

अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को परिभाषित करने का विभिन्न विद्वानों ने प्रयास किया है, यथा :

ब्रेन एम. जेनकिन्स ने आतंकवाद को परिभाषित करते हुए स्पष्ट किया है कि :

"यह हिंसा के प्रयोग की धमकी है, व्यक्ति को हिंसात्मक कार्य है अथवा यह हिंसा का प्रचार है जिसका उद्देश्य भय के प्रयोग से आतंकित करना है, आतंकवाद को सही संदर्भो में समझने के लिये यह देखना होगा कि इस शब्द का प्रयोग कौन कर रहा है । इसके बढ़ते हुए प्रयोग से यह स्पष्ट है कि यह शब्द मात्र विरोधी द्वारा हिंसा के प्रयोग को ही स्पष्ट करता है । "

बेन एम. जेनकिन्स ने आतंकवाद की परिभाषा में मुख्य रुप से निम्न बातों को उठाया है :

I. आतंकवाद में हिंसा के संदर्भ व्यापाक रुप से विद्यमान रहते हैं ।
II. आतंकवाद को फैलाने, उसके प्रयोग और प्रचार को मुख्य उद्देश्य माना गया है ।
III. आतंकवाद शब्द का प्रयोग कौन कर रहा है, इस पर विशेष आग्रह किया गया है क्योंकि सामान्य रुप सें विरोधी द्वारा हिंसा के प्रयोग को आतंकवाद के रुप में लिया जाता है ।

जी. श्वार्जनबगैर ने आतंकवाद को इस प्रकार परिभाषित किया है :

"एक आतंकवादी की परिभाषा उसके तत्कालीन उद्देश्य से की जा सकती है । वह शक्ति का प्रयोग भय को उत्पन्न करने के लिए करता है । और इसके द्वारा वह उस उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है जो उसके मस्तिष्क में है " ।[2]

जी. श्वार्जनबगैर ने अपनी परिभाषा में आतंकवाद के मुख्य उद्देश्य के रुप में भय को उत्पन्न करना स्वीकार किया है ।

आतंकवाद की एक और परिभाषा बसौनी ने की है । उनके अनुसार "आतंकवादी परिभाषा से ही एक सिद्धान्त के साथ जुड़ा हुआ अपराधी होता है जो अपने हर कार्य के कानूनी स्वरुप को अस्वीकार करता है तथा अपनी जेल की सजा या मृत्यु दण्ड को अपनें उद्देश्यों के लिए छोटा सा त्याग मानता है ।"[3] बसौनी ने अपनी परिभाषा में आतंकवाद को एक विशिष्ट आचरण के रुप में देखने की कोशिश की है जिसमें उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये त्याग की भावना जुड़ी हुई है ।

आतंकवाद को परिभाषित करने का प्रयास एक और स्तर पर भी किया गया । यह स्तर था अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के स्तर पर । इस दृष्टि से 1937 में राष्ट्र संघ ने आतंकवाद को स्पष्ट करने का कार्य किया, इसके अनुसार आतंकवाद वे कार्य हैं जो राज्य के विरुद्ध किए जाते हैं और जिनका उद्देश्य या प्रभाव भय की स्थिति उत्पन्न करना होता है । यह कार्य कुछ व्यक्तियों. या समूहों द्वारा किया जाता है । राष्ट्र संघ के द्वारा स्वीकृत अर्थ में राज्य के विरुद्ध किये गये कार्यो को आतंकवाद की श्रेणी में रखा गया है । और भय को उत्पन्न करना इसका प्रमुख उद्देश्य माना गया है । संयुक्त राष्ट्र संघ ने आतंकवाद को स्पष्ट करने का प्रयास किया और 35 सदस्यों की एक तदर्थ समिति बनायी गयी, जिसमें लेटिन अमेरिका, एशिया और

अफ्रीका के देश सम्मिलित थे जिन्होंने नये संदर्भो में आतंकवाद को देखने का प्रयास किया किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की सर्वसम्मत परिभाषा करना दुष्कर पाया गया । हां यह अवश्य रेखांकित किया गया कि हिंसा का तत्व और भय की स्थिति को उत्पन्न करना आतंकवाद के दो प्रमुख पहलू हैं ।

2 अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के प्रकार

आतंकवाद के अर्थ को स्पष्ट करने के वाद जिस प्रश्न पर चर्चा की जा सकती है वह है आतंकवाद के प्रकारों की । आतंकवाद को मुख्यत : तीन वर्गो में बांटा जा सकता है, ये, हैं :

1. व्यक्तिगत–आतंकवाद
2. अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद
3. राज्य का आतंकवाद

2.1 व्यक्तिगत आतंकवाद

सबसे पहले यहां व्यक्तिगत आतंकवाद की चर्चा की जायेगी । इसमें आतंकवादी व्यक्तिगत रुप से या सामूहिक रुप से किसी वर्ग पर या किसी व्यक्ति विशेष पर आक्रमण करते हैं, जिसका उद्देश्य स्थापित शासन पर आक्रमण करना, किसी राज्य विशेष के विरुद्ध कार्यवाही करना या किसी राज्य के विचार पर ही आक्रामक रुख होता है । व्यक्तिगत आतंकवाद के शिकार मुख्यत : व्यक्ति ही होते हैं । किन्तु कई अवसरों पर प्रतीकात्मक संस्थान जैसे दूतावास, अणुसंस्थान, वायुयान आदि, आक्रमण के केन्द्र रहते हैं, किन्तु अन्तिम उद्देश्य तो राज्य ही होता है इसलिये इसे व्यक्तिगत आतंकवाद कहा जाता है ।

2.2 अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद

अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद व्यापक विचार विमर्श और चिन्ता का विषय रहा है क्योंकि इसके परिणाम सबसे अधिक गम्भीर रहे हैं, अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद हिंसा या भय का वह कार्य है जिसका क्षेत्राधिकार अन्तर्राष्ट्रीय होता है यथा जिसे करने वाला एक राज्य का हो और जिसके विरुद्ध किया गया हो वह दूसरे राज्य का, या ऐसी हिंसा की कोई घटना हो के जो दोनों ही में क्षेत्राधिकार से बाहर की हो ।

रेखांकित भाग अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को स्पष्ट करने में विशेष सहायक है तथा इसके निम्न बिन्दुओं को ध्यान में रखना आवश्क है :

(I) अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद हिंसा या भय का कार्य है ।

(II) अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद का क्षेत्राधिकार अन्तर्राष्ट्रीय होता है ।

(III) अपराध करने वाला या जिसके विरुद्ध अपराध किया वे अलग–अलग राज्यों के होते हैं।

(IV) हिंसा या अपराध जहां हुआ हो वह क्षेत्र दोनों राज्यों का हो ही नही ।

ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद वह आतंकवाद है जिसका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होता है । अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के प्रमुख शकार प्रथम वे अन्तर्राष्ट्रीय उडाने रही हैं जिनमें

विमानों का अपहरण कर लिया जाता है । दूसरा वर्ग राजननयिकों का है जिनके विरुद्ध नियमित रुप से हिंसा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होती रही है ।

2.3 राज्य का आतंकवाद

राज्य के आतंकवाद की चर्चा आतंकवाद विश्लेषण में आवश्यक है । यह हिंसा राज्य के द्वारा की जाने वाली हिंसा हैं । राज्यों के द्वारा यह हिंसा अपने यहां अल्पमत, किसी राज्य के नागरिकों या राज्य द्वारा अधिकृत प्रदेश की नागरिक जनसंख्या पर की जाती है । राज्य की हिंसा के उद्देश्यों में अपने नागरिकों द्वारा अपने ही नियमों की अनुपालना करवाना मुख्य उद्देश्य होता है । राज्य की हिंसा और उसके आतंक के प्रश्न उन स्थितियों में और भी गंभीर हो जाते हैं जबकि आन्तरिक सत्ता संघर्ष में लगे स्थानीय समूहों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समर्थन मिलने लगता है । ऐसे राज्यों में जहां राजनीतिक सत्ता का स्वरुप अनिश्चित और अस्थिर है, वहां राज्य की हिंसा का अधिक क्रूर रुप दिखाई देता है जो अधिक चिन्ता का कारण है और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राज्य की हिंसा का अधिक विरोध होने लगता है ।

आतंकवाद के तीन प्रकारों यथा व्यक्तिगत, अन्तर्राष्ट्रीय और राज्य के आतंकवाद में हिंसा का प्रयोग निश्चित रुप से उपस्थित रहता है और आतंकवाद का उद्देश्य भय उत्पन्न करना है ।

3 अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से जुड़े कतिपय प्रमुख प्रश्न

अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की परिभाषा और उसके प्रकारों की चर्चा करने के बाद आतंकवाद से जुड़े कुछ प्रमुख प्रश्नों पर चर्चा की जा सकती है । इनमें पहला प्रश्न है कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को सामान्य अपराध माना जाय अथवा नही?

अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की परिभाषा, उसके क्षेत्र और प्रभावों, को रेखांकित करना एक जटिल राजनैतिक कार्य है । अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद का मूल्यांकन तब और भी अधिक कठिन हो जाता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय अन्यायों के खिलाफ किसी भी प्रकार के संघर्ष को इस वर्गीकरण में लाकर यह मांग की जाय कि अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से जुड़े लोगों के साथ विशेष प्रकार का आचरण किया जाना चाहिए । यों पिछलें दिनों यह मांग भी जोर पकड़ती जा रही है कि हिंसा का प्रयोग करने वाले व्यक्ति के साथ, चाहें वह अन्तर्राष्ट्रीय अन्यायों के खिलाफ ही क्यों न लड़ रहा हो; सामान्य अपराधी के रुप में ही आचरण होना चाहिये । ऐसे विचार का सबसे प्रतिकूल प्रभाव पश्चिमी एशिया, लेटिन अमेरिका और अफ्रीका के देशों पर होना था क्योंकि इन क्षेत्रों की राजनीतिक स्थितियां सामान्य नहीं. हैं । अत : इन देशों में यह विचार निरन्तर बल प्राप्त करता रहा कि अन्तर्राष्ट्रीय अन्यायों के खिलाफ संघर्षरत लोगों के अपराधों को सामान्य अपराध की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है । दूसरी और यह दबाव बराबर बना हुआ है कि अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से, जुड़े सभी लोगों को सामान्य अपराधी की तरह ही माना जाना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से जुड़ा दूसरा मुद्दा यह है कि इसमें जो हिंसात्मक गतिविधियाँ है वे एक तरह से मानव अधिकार का उल्लंघन हैं अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से जुड़े विभिन्न समूहों का यह मानना है कि दें अपन हिंसा द्वारा विभिन्न राज्य सरकारों से न्याय प्राप्त करने

का प्रयास करते है उद्देश्य के बारे में विवाद न करते हुए भी यह कहा जाता है । कि हिंसा के शिकार लोगों का राज्य के विभिन्न निर्णयों, अन्यायों और समस्याओं से कोई लेना देना नही है । अत : जब वे अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के शिकार होते हैं तब उन नागरिकों के सामान्य मानवीय अधिकारों की अवमानना होती है । यदि आतंकवाद द्वारा किसी की हत्या की गई है तो वह उसके जीने के अधिकार पर अतिक्रमण है । यदि नागरिकों को बन्धक बनाया गया है तो यह उनकी स्वतंत्रता के अधिकारों का हनन है । ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह प्रश्न चिन्तन का विषय रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद जहां एक ओर विभिन्न अन्यायों को समाप्त करने के लिये महत्वपूर्ण है तो दूसरी ओर स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के द्वारा नागरिकों के मानवीय अधिकारों की अवहेलना भी की जा रही है ।

तीसरा प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की श्रेणी में आने वाली गतिविधियों से जुड़ा हुआ है । जब अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवादी गतिविधियों का सिलसिला जारी ही हुआ था तब यह विचारणीय प्रश्न था कि वे कौन–कौन से कार्य हैं जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की कोटि में रखा जाय । अब राज्यों के बीच इस प्रश्न पर विवाद नहीं है और निम्नलिखित गतिविधियों को इस वर्ग में सम्मिलित किया जाता है :

1. उन व्यक्तियों पर आक्रमण जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय संवरक्षण मिला हुआ है जैसे राज्याध्यक्ष, राजनयिक आदि ।
2. विमानों पर अनधिकृत कब्जा और नागरिक उड्डयन में बाधा ।
3. समुद्री मार्गो पर डकैती ।
4. समद्री प्रदूषण जिनमें कुछ हानिकारक पदार्थ सम्मिलित हो ।
5. आणविक शक्ति का गैर कानूनी उपयोग ।
6. नशीले पदार्थो का गैर कानूनी यातायात ।
7. मुद्रा का गैर कानूनी हस्तातंरण ।
8. दासों का व्यापार ।
9. अश्लील साहित्य का वितरण ।

इन सभी गतिविधियों को राज्यों ने विभिन्न संधियों के माध्यम से अपराध की श्रेणी में रखा है और बहुराष्ट्रीय संधियों के माध्यम से अधिकांशत : राज्य इस बात पर सहमत हैं कि इन्हें प्रभावी तरीके से नियंत्रित किया जाना चाहिये ।

चौथा प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय अपराधों पर न्याय क्षेत्र का विवाद सबसे महत्वपूर्ण है । क्योंकि जिस राज्य में अपराध हुआ है यदि उसकी अपराधी को दंड देने की इच्छा शक्ति कम है तो अपराधी के साफ बच निकलने की संभावना है । अपराधी को दण्ड देने में जहां तक सामान्य रुचि का प्रश्न है वहां यह स्पष्ट है कि जिस राज्य के नागरिकों या जिसके खिलाफ अपराध होता है वही दण्ड व्यवस्था को लागू करने में रुचि लेता है । इसके फलस्वरुप वर्तमान में अधिकांशत संधिया इस बात का समर्थन करती है कि जहां अपराध हुआ है उस राज्य को उचित समय दिया जाय कि वह अपराधी को अपने यहां दण्ड देने की व्यवस्था जुटाये, यदि वह उस निश्चित अवधि में अपना उत्तरदायित्व पूरा नही कर पाता है तो जिस राज्य के विरुद्ध अपराध हुआ है, अपराधी उसके न्याय क्षेत्र में सौंप दिया जाता है । अपराधी को दण्ड देने की व्यवस्था

के लिये सामान्य अवधि 6 माह मानी गयी है । इन स्थितियों में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि अपराधी को दण्ड देने के लिये न्यायाधिकार क्षेत्र में वृद्धि की गई है, जिसके फलस्वरुप अपराधी के बच निकलने की संभावनाएं समाप्त हो गई हैं । इस सारी व्यवस्था में एक बात और भी महत्वपूर्ण है कि अपराधी को कानूनी सुविधाएं पूर्ण रुप से उपलब्ध कराने की व्यवस्था की जाय क्योंकि उनकें अभाव में अपराधी के साथ अन्याय न हो जाय । इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कानूनी सहायता' की व्यापक व्यवस्थाएं की गई है, जिसमें अपराध की सूचना, दण्ड की व्यवस्था का व्यापक विवरण आदि आवश्यक है । इन व्यवस्थाओं को उद्देश्य जहां एक ओर अपराधी को दण्ड देने का तो है ही किन्तु साथ ही साथ यह व्यवस्था भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ही की गई है कि किसी निरपराध व्यक्ति को सजा न मिले ।

पांचवा और अन्तिम महत्वपूर्ण प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के संदर्भ में यह रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय अपराधों में संलग्न व्यक्ति का प्रत्यार्पण हो या न हो । यह विषय विवादास्पद रहा है । दूसरे राज्य में अपराध होने के कारण यह बाधा हमेशा रही कि अपराधी को मूल राज्य को सौंपा जाय या नहीं । यह उल्लेख भी किया गया कि उपयुक्त प्रत्यार्पण व्यवस्थाओं के अभाव में यह सम्भव नहीं है । इस समस्या को दूर करने के लिये सभी अन्तर्राष्ट्रीय संधियों में इस बात को रेखांकित किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से सम्बन्धित सभी अपराधों में प्रत्यार्पण स्वत : ही कर दिया जाए । इसका तात्पर्य यह है कि राष्ट्रों के बीच संधि है या नहीं, ऐसे अपराधों के हस्तातंरण में सुविधा हुई है और अपराधी को दण्ड देना अधिक सरल हो गया है ।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से, जों प्रश्न मुख्य रुप से जुड़े है उनमें अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को सामान्य अपराध की श्रेणी में माना जाय अथवा नहीं, साथ ही साथ मानव अधिकार से जुड़े प्रश्न, अपराधों को सूचीबद्ध करना, अपराधों का न्याय क्षेत्र और प्रत्यार्पण की व्यवस्थाएं मुख्य है जिन्हे व्यापक स्तर पर सुलझाने का प्रयास अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्तर पर किया गया है ।

4 अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद विरोधी नियमों का विकास और उनका मूल्यांकन

अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के शिकार कौन रहे हैं? यह बहुत स्पष्ट होना चाहिये, ये शिकार थे विमान और राजनयिक । दोनों पर आक्रमण करते, समय यह स्पष्ट था कि इनके माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर समस्याओं के रेखांकित करने का अवसर प्राप्त होगा । किन्तु इन पर लगातार आक्रमण ने यह आवश्यकता स्पष्ट कर दी कि इनकी सुरक्षा के प्रश्न को प्राथमिकता के आधार पर लिया जाना चाहिये ।

अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से जुड़े नियमों के विकास में एक बात बहुत साफ होनी चाहिये कि यह समस्या बिल्कुल नयी थी । अत : कोई परम्परा या लम्बा राज्याचरण इस प्रश्न पर उपलब्ध नहीं था । अत : सर्वथा नये नियमों के निर्माण में विलम्ब नही हो सकता था । इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्माण मंचों पर तेजी से और सुनिश्चित दिशा में कार्य आरम्भ हुआ है ।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि में जिन बहुराष्ट्रीय नियमों के विकास का उल्लेख किया, जा सकता है वे निम्न हैं :

4.1 टोक्यों अभि समय 1963

अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को रोकने के क्रम में विशेषकर विमान अपहरण सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने के लिये टोक्यों में सम्मेलन आयोजित किया । 1962 तक विमान अपहरण पर अलग से कोई चर्चा नही की गई थी, लेकिन इस समय तक यह स्पष्ट हो चला था कि विमान अपहरण एक आपराधिक घटना है और इसे सीमित करने का प्रयास किया जाना चाहिये । टोक्यों अभिसमय विमान अपहरण से आंतकित समूह द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के तेजी से बढ़ते हुए संक्रामक भय को रोकने का प्रथम बार एक व्यापक और गम्भीर प्रयास था । लेकिन इस अभिसमय में जो निर्णय लिये गये उनमें वांछित स्पष्टता का अभाव रहा, क्योंकि टोक्यो में एकत्रित अधिकांशत : सदस्य देशों की धारण थी कि नियमों को अस्पष्ट ही रहने दिया जाय और विमान सुरक्षा से जुड़े प्रश्नों को पारस्परिक सम्बन्धों की समस्या स्वीकार करते हुए उसे पारस्परिक स्तर पर ही निपटाने दिया जाए ।

4.2 हेग अभिसमय, 1970

ऐसा निरन्तर महसूस किया जाने लगा कि टोक्यो अभिसमय की व्यवस्थाएं पर्याप्त नहीं है और वे विमान अपहरण को रोकने के लिए कारगर नहीं हो पा रही हैं । अत: अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन ने 16 वें अधिवेशन में एक उपसमिति का गठन किया जिससे नयी संधि का मसविदा बनाने का आग्रह किया गया । 1970 के हेग अधिवेशन में विमानों के अवैध अभिग्रहण की निरोधक संधि स्वीकार की गई जिसे 14अक्टूबर में लागू किया गया । इसमें टोक्यों अभिसमय की कमियों को दूर करते हुए विमान अपहरण को एक दण्डनीय अपराध बना दिया गया और साथ ही इसमें प्रभावी क्रियान्वयन के लिये इस पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों से कठोर दण्डों की व्यवस्था करने के लिए कहा गया । हेग अभिसमय ने विमान अपहरण के अपराध के विषय में भी प्रावधान रखा गया है । यह स्वीकार किया जा सकता है कि हेग अभिसमय में भी नियम अधिक कठोर तो नहीं बन पाये । फिर भी यह पूर्ण रुप से स्पष्ट है कि नागरिक उड़ानों को लेकर राज्यों की जो चिन्ताएं है वे भी उभर कर सामने आने लगीं कि विमान यात्राएं अधिक से अधिक सुरक्षित होनी चाहिये अन्यथा नागरिक जीवन सुरक्षित नही है।

4.3 मांट्रियल अभिसमय, 1971

नागरिक उड्डयन संगठन ने 1971 के मांट्रियल सम्मेलन में विमान अपहरण और उसमे जुड़े हुए प्रश्नों पर अधिक विस्तार से चर्चा की और हेग अभिसमय के नियमों को और अधिक व्यापक और प्रभावी बनाने का प्रयास किया गया । 23 सितम्बर, 1971 में इस पर हस्ताक्षर किये गये । इस अभिसमय में विमान अपहरण को मानवता के विरुद्ध अपराध घोषित करके इसके लिये वड़े, दण्डों की व्यवस्था की गई, इस आशा के साथ कि इससे विमान यात्राए अधिक सुरक्षित हो सकेंगी । अन्य व्यवस्थाएं हेग अमिसमय के अनुसार ही थीं ।

4.4 अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों के संवरक्षण से सम्बन्धित अभिसमय 1973

1971 के लगभग अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिंसा भी शामिल थी, उसके परिणाम स्वरुप यह निश्चित किया गया कि अन्तर्राष्ट्राय व्यक्तियों के, संवरक्षण के नियम बनाये जायें । संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने अपने 2780 वें प्रस्ताव में यह आग्रह किया कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यस्त विभिन्न श्रेणी के लोगों के संवरक्षण के लिये नियमों का निर्माण किया जाय। 1972 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने 12 अनुच्छेदों का एक प्रारुप और टिप्पणी प्रस्तुत की, जिसे 1973 में महासभा ने एक प्रस्ताव द्वारा अभिसमय का स्वरुप प्रदान कर दिया । इसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों को सुरक्षा प्रदान की गई । इस अभिसमय में सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों को परिभाषित किया गया जिसमें राज्याध्यक्ष राजनयिक और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में लगे व्यक्ति प्रमुख थे । अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों की सूची को यदि देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि उसे अनावश्यक रुप से विस्तृत नहीं किया गया है । क्योंकि यह माना गया कि यदि सूची को ज्यादा व्यापक कर दिया गया तो अधिक लोगों को सुरक्षा नहीं प्रदान की जा सकेगी । इन व्यक्तियों से सम्बन्धित अपराधों के न्याय क्षेत्र पर यह टिप्पणी की जा सकती है कि उसे व्यापक कर दिया गया क्योंकि यह आवश्यक था कि अपराध तभी रुक पायेंगे जबकि दण्ड देने की व्यवस्था को व्यापक किया जाय और न्याय क्षेत्र के अभाव में कोई अपराधी बच न जाये । अपराध को रोकने के लिए जन प्रभावी कदमों को अभिसमय में रेखांकित किया गया वे थे :

01. राज्य आपस में अपराधों को रोकने में सहयोग करेंगे ।
02. अपराधों सें सम्बन्धित जो सूचनाएं हैं उन्हें वे आपस में एक दूसरे के साथ विचार विमर्श कर अपराधों को रोकने की दिशा में सहयोग करेंगे । इसके फलस्वरुप अपराधों में कमी आने की संभावना बलवती होती है ।

अपराधी के विरुद्ध कार्यवाही करने की बात को इस अभिसमय में विशेष रुप से स्वीकार किया गया और यह माना गया कि प्रत्यार्पण की व्यवस्था को सरल बनाया जाय, जिससे की प्रत्यापर्ण के अभाव में कोई अपराधी बच कर न निकल जाय । इस प्रकार 1973 का अभिसमय अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों के विरुद्ध अपराध को रोकने का एक सामूहिक प्रयास था ।

4.5 आतंकवाद के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा का प्रस्ताव 1985

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में आतंकवाद के कुप्रभावों को रेखांकित करते हुए प्रभावी तरीकों से निपटने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने, अपनें 40/61 वे प्रस्ताव द्वारा विभिन्न उपायों की घोषणा की । इस प्रस्ताव की विशेषताएं इस प्रकार है :

01. अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के परिणामस्वरुप राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव बढ़ा है और उसके फलस्वरुप परस्पर सुरक्षा की भावना में कमी आयी है ।
02. राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरुद्ध द्विपक्षीय स्तर पर और बहुपक्षीय स्तर पर कार्यवाही करना आरम्भ किया है जिससे कि आतंकवाद को सीमित करने के प्रयासों को तेजी से आगे बढ़ाया जा सके । सभी राज्यों ने अपने इस निर्णय को

दोहराया कि वे आतंकवाद की गतिविधियों को रोकने के लिये प्रभावी कदम उठायेंगे जिससे कि कोई भी आक्रमणकारी नहीं बच पाये ।

03. अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को रोकने के लिये यह आग्रह किया गया कि राज्य उन सभी अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों ओर व्यवस्थाओं को लागू करेंगे जिनसे कि अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को रोकने में सहयोग मिले ।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को रोकने का, विशेष कर उसके विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय चेतना को विकसित करने का प्रयास, किया गया ।

4.6 दक्षेस द्वारा आतंकवाद के खिलाफ अभिसमय, 1987

क्षेत्रीय संगठनों ने अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरुद्ध अभिसमय बनानें का कार्य किया है। इनमें दक्षिण एशियाई सहयोग संगठन द्वारा 1987 में स्वीकृत अभिसमय । महत्वपूर्ण दक्षिण एशियाई देशों में 7 राष्ट्र हैं जिसमें भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश, श्री लंका, नेपाल, भूटान और मालद्वीप इसके, सदस्य राष्ट्र हैं । इन देशों में भारत, पाकिस्तान और श्री लंका आतंकवाद की समस्या से लगातार जूझ रहे हैं और इन देशों के बीच इन प्रश्नों को लेकर पारस्परिक तनाव भी रहा है । विशेषत : पंजाब में आतंकवाद की समस्या को लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच नाराजगी को देखा जा सकता है । इस पृष्ठभूमि में दक्षिण एशियाई राष्ट्रों ने अपने संगठन में 1985 से ही समस्या पर विचार आरम्भ किया और जिन प्रश्नों पर इस अभिसमय में नियमों को बनाया गया वे निम्न है :

01. पूर्व निर्मित सभी अभिसमय जिसमें हेग, 1970 मांट्रियल 1971 न्यूयार्क 1973 और अन्य कोई अभिसमय, जिससे दक्षिण एशिया के राष्ट्र जुड़े है, स्वत : ही सब सदस्य देशों के लिये नियमों का आधार बन जाते हैं ।
02. व्यक्ति की हत्या, मानव समूहों की हत्या, अपहरण, शस्त्रों को रखने से सम्बन्धित अपराध और सम्पत्ति को नुकसान पहुंचना, प्रमुख अपराधों में से हैं ।
03. दक्षिण एशियाई सहयोग संगठन के देश प्रत्यापर्ण के लिये किन्हीं भी अपराधों को सूची में सम्मिलित कर सकते हैं। वे जब चाहे तब प्रत्यापर्ण के नियमों को बदल कर अपराध को रोकने के लिये प्रभावी उपयोग कर सकते हैं ।
04. यदि अपराधी ने किसी राज्य में अपराध किया है और किन्ही कारणों से उसका प्रत्यापर्ण सम्भव नही है तो वह राज्य बिना विलम्ब के ही अपराधी पर अपने यहां कानूनी कार्यवाही शुरू करेगा ।
05. अपराधों को रोकने के लिये अभिसमय से जुड़े सभी राज्य एक दूसरें के साथ सहयोग करेंगे तथा इस उद्देश्य से अपने राष्ट्रीय नियमों में उसके अनुरुप परिवर्तन करेंगे ।

अभिसमय की व्यवस्थाओं को यदि गहराई से देखा जाय तो यह स्पष्ट होगा कि क्षेत्रीय आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को रोकने का विशेष प्रयास किया गया है ।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरुद्ध अपनी गतिविधियों को बढ़ाया है और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्तर पर उसे रोकने की प्रभावी चेष्टा की

है, किन्तु यहां यह जान लेना आवश्यक है कि देशों के बीच पारस्परिक तनाव, आपसी नाराजगी और उससे जुड़े अन्य कई ऐसे प्रश्न हैं जो आतंकवाद की गतिविधियों को प्रोत्साहन देते हुए नजर आते हैं । व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय चेतना तो अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरुद्ध है, जिसमें सभी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर और राष्ट्रीय नियमों में परिवर्तन कर आतंकवाद को रोकने के लिये प्रयत्नशील हैं और उनमें से प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों को यहां रेखांकित किया गया है ।

5 अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद पर प्रमुख अध्ययनों का विश्लेषण

अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद विषय पर पिछले तीस वर्षो से लगातार लिखा जा रहा है । सारे लेखन की सूचना यहां प्रासंगिक भी नहीं है, किन्तु इस सारे साहित्य की प्रमुख धाराओं को रेखांकित किया जा सकता है । अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद विषय की सैद्धान्तिक व्याख्या यो नह अलैक्जैन्डर की पुस्तक **इंटरनेशनल टैरेरिज्म: नेशन, रीजनल एण्ड ग्लोबल परसपैक्टिव, 1976** जे. बी. बैल की पुस्तक **ट्रान्सनेशनल टैरर,** 1975 प्रमुख है ।

विमान अपहरण और उससे जुड़े प्रमुख प्रश्नों पर एस. के. अग्रवाल की पुस्तक **एयरक्राफ्ट हाईजैकिंग एण्ड इंटरनेशनल लॉ, एस के घोष की पुस्तक एयरक्राफ्ट हाईजैकिंग एंड दि डवलविंग लॉ,** एडवर्ड मैकवली की पुस्तक **एरियल पायरेसी एंड इंटरनेशनल लॉ** प्रमुख हैं । राजनयिकों से जुड़े प्रश्नों पर मार्टिन हर्ज की पुस्तक **डिप्लोमेट्स एंड टैरेरिस्ट : हवाट वर्क्स, हवाट डज नॉट वर्क,** 1982 महत्वपूर्ण है । इस पुस्तक में अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास को प्रस्तुत किया है । भारत के संदर्भ में यह एक उपयोगी अध्ययन है । यहां एक और शोध पत्रिका का उल्लेख किया जाना आवश्यक है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद सम्बन्धी महत्वपूर्ण जानकारियां उपलब्ध है । वह शोध पत्रिका है **इंडियन जर्नल ऑफ इंटरनेशनल लॉ,** जिल्द 27 अंक 2व 3, 1987 । उपरोक्त वर्णित अध्ययन सामग्री अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद और उससे जुड़ें विभिन्न प्रश्नों को समझने में सहायक होगी ।

6 संदर्भ ग्रन्थ

01. बी. एन. जेनकिन्स ' 'इन्टरनेशनल टैरेरिज्म : एन मोंड ऑफ कॉनफ्लिक्ट " (निबन्ध) डेविड कारलटन तथा कारलोशेराफ द्वारा सम्पादित पुस्तक **इन्टरनेशनल टैरेरिज्म एण्ड वर्ल्ड सिक्योरिटी,** 1975 पृष्ठ 14
02. श्वाजनबर्गेर "दि टैरेरिस्ट, गुरिलाज, मैसनरीज (निबन्ध) पुस्तक **इन्टरनेशनल लॉ एण्ड आर्डर में प्रकाशित,** 1971 पृष्ठ 219 - 220
03. जे. एन. सक्सैना के रिलेशनशिप विटविन इन्टर नेशनल टैरेरिज्म स्टेंट अैरर एंड हयूमन राइटस इन वर्ल्ड आर्डर (निबन्ध) में बसौनी की परिभाषा, इंडियन **जर्नल ऑफ इंटरनेशनल लॉ,** जिल्द 27 अंक 2 – 3 अप्रैल 1987 पृ. 195
04. देखिये नाइमी गेलजोर, **इन्टरनेशनल कॉपरेशन टू सप्रैस टैरेरिज्म,** 1985 पृष्ठ ।

7 अभ्यास प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से जुड़ी 1980 के पश्चात् प्रमुख घटनाओं को क्रमबद्ध करें।

2. अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद की परिभाषा करते हुए उसे रोकने के प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों का उल्लेख कीजिये ।
3. भारत – पाकिस्तान के सम्बन्धों को अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के संदर्भ में विवेचित कीजिये ।
4. अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरोध में जो नियम बने हैं, उनकी प्रमुख समस्याओं को रेखांकित कीजिये ।
5. अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद विषय पर एक निबन्ध लिखिये ।

इकाई – 17

राष्ट्रीय हितों की अभिबृद्धि के उपकरण : प्रोपेगेण्डा एवं राजनीतिक युद्ध

इकाई की संरचना

17.1 उद्देश्य
17.2 प्रस्तावना
17.3 प्रोपेगेण्डा का अर्थ एवं प्रकृति
17.4 प्रोपेगेण्डा के उद्देश्य
17.5 प्रोपेगेण्डा, विदेशनीति एवं हित अभिवृद्धि
17.6 प्रोपेगेण्डा की प्रभावकारी एवं उपयुक्त युक्तियाँ व तकनीकें
17.7 प्रोपेगेण्डा : प्रस्तुति की विधियाँ
17.8 प्रोपेगेण्डा का विभिन्न व्यवस्थाओं द्वारा प्रयोग
17.9 राजनीतिक युद्ध : अर्थ एवं प्रकृति
17.10 राजनीतिक युद्ध का विभिन्न कालावधियों में प्रयोग
17.11 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य
17.12 अभ्यास कार्य
17.13 संदर्भ ग्रन्थ

17.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है :

1. प्रोपेगेण्डा की आवश्यकता व महत्व से परिचित करवाना।
2. प्रोपेगेण्डा की विभिन्न विधियों एवं तकनीकों का ज्ञान करवाना ।
3. राजनीतिक युद्ध की प्रकृति को स्पष्ट करना।
4. प्रोपेगेण्डा व राजनीतिक युद्ध का विभिन व्यवस्थाओं द्वारा विभिन युगों में किये गये उपयोग को समझाना ।

17.2 प्रस्तावना

राज्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रोपेगेण्डा का प्रयोग ऐतिहासिक समय से करते आ रहे हैं तथापि यह विचार कि उत्प्रेरित करने की कला में भी विज्ञान हो सकता है नया है । व्यक्तियों के मनोविज्ञान को प्रभावित कर विदेशनीति के उद्देश्यों की सिद्धि के लिये एक साधन के रूप में प्रोपेगेण्डा का उपयोग इसी शताब्दी में प्रारंभ हुआ । संचार एवं परिवहन के साधनों के क्रांतिकारी परिवर्तनों ने जहां प्रोपेगेण्डा की क्षमताओं में अत्यधिक वृद्धि की, वहीं विभिन्न देशों में मताधिकार के प्रसार से शासकीय नीति के निर्धारण में जनता की सहभागिता भी बढ़ी । जनता राजनीतिक, आर्थिक व वर्गीय आधारों पर समूहों में बंटी रहती है और प्रभावी राष्ट्रीय नीति अपनाने के लिये इन सभी हितों में सामंजस्य बैठाकर समर्थन प्राप्त करना आवश्यक होता है ।

प्रोपेगेण्डा मनोवैज्ञानिक रूप से जनता में सहमति या एकमतता बनाने के लिये अधिक उपयोगी होता है । इससे दो तरह से उद्देश्य पूरे हो सकते हैं । घरेलू स्तर पर जनमत को सुसंगठित कर नीतियों के लिये जन समर्थन प्राप्त किया जा सकता है और विदेशों में भी राष्ट्रीय नीति का प्रभाव स्थापित हो सकता है । बीसवीं शताब्दी में प्रोपेगेण्डा ने विदेश नीति के मुख्य उपकरण के रूप में स्थान प्राप्त किया। सर्वाधिकारवादी अथवा अधिनायकवादी राष्ट्रों में जिस रूप में इसे प्रयोग किया गया, उसे 'विकृत विज्ञान ' का नाम दिया गया । इटली में फासिस्टों, जर्मनी में नाजियों द्वारा, चीन व रूस में साम्यवादियों द्वारा समूह को मनोवैज्ञानिक तौर पर प्रभावित करने के लिये शांति के प्रचार से लेकर घृणा के बीज बोने तक में प्रोपेगेण्डा के अधिकाधिक उपयोग ने प्रोपेगेण्डा का महत्व विदेशनीति के उपकरण के रूप में स्थापित किया । आज अधिकाधिक राज्यों द्वारा इसका प्रयोग किया जाने लगा है ।

17.3 प्रोपेगेण्डा : अर्थ एवं प्रकृति

हितों की अभिवृद्धि के उपकरण अथवा यंत्र के रूप में प्रोपेगेण्डा का उपयोग छोटे स्तर पर प्राचीन समय से ही होता आया है यूनानी और इतावली नगर राज्यों ने अपनी राजनीतिक लड़ाई को जीतने के उद्देश्यों से विदेशों में स्वयं के राजनीतिक दर्शन एवं विदेशनीति के लिये समर्थन प्राप्त करने और अनुयायी बनाने में इसका उपयोग किया । सोलहवीं व सत्रहवीं शताब्दी के धार्मिक युद्धों एवं फ्रांस की क्रांति में भी इसका उपयोग हुआ जहां धार्मिक व दार्शनिक समर्थकों को नियुक्त करके इसे राजनीतिक व सैनिक युद्ध के प्रभावी अस्त्र के रूप में विकसित किया गया । एक प्रोटेस्टेंट राजा यदि अपने कैथोलिक शत्रुओं का धर्म परिवर्तन करवा सके तो वह एक भी गोली चलाये बिना लड़ाई जीत सकता है । इसी प्रकार के विचार प्रोपेगेण्डाकर्ताओं द्वारा फ्रांसीसी क्रांति में भी प्रचारित किये गये कि फ्रांसीसी क्रांति के विचारों के समर्थक क्रांतिकारी विदेशनीति का समर्थन सक्रियता से कर सकते हैं ।

प्रोपेगेण्डा शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम रोम कैथोलिक चर्च द्वारा अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिये किया गया, किन्तु 20वीं शताब्दी में साम्यवादियों द्वारा जिस रूप में इसका उपयोग एवं दुरूपयोग किया गया, उससे इसके अर्थ में भ्रांति उत्पन्न हुई । यह अफवाह, पक्षपात, झूठ आदि से संबंधित किया जाने लगा और इसीलिए इसका विश्लेषण कठिन हो गया । कुछ समय पश्चात् प्रोपेगेण्डा के राष्ट्रीय राजनीति व अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रभाव की भूमिका के वस्तुनिष्ठ अध्ययन से प्रोपेगेण्डा के नकारात्मक अर्थ व प्रकृति में परिवर्तन आया । अब इसे शैतानी या विकृत विज्ञान नहीं माना जाता और इसकी सकारात्मक भूमिका को महत्वपूर्ण माना जाता है । अत : प्रोपेगेण्डा का उपयोग करने वाले या इस तकनीक का प्रयोग करने वाले इसे समाचार, विचार, प्रोत्साहन, प्रभाव और इसी तरह के अन्य प्रसार कार्यों को, जो मित्रों का साथ प्राप्त करने व जनता को प्रभावित करने के काम में लाये जा सकें, प्रोपेगेण्डा के अंतर्गत रखते हैं । दूसरों के व्यवहार व मत को प्रभावित करने वाली तकनीकों का उपयोग प्रोपेगेण्डा के प्रयोग को दर्शाता है । प्रारंभ में इसे मात्र "सिद्धान्तों के प्रचार प्रसार हेतु प्रयुक्त क्रमबद्ध तकनीक" माना गया किन्तु दूसरों के दृष्टिकोणों को बदलने हेतु "जानबूझ कर किये गये प्रयास" पर अधिक जोर रहा । अत : यह कहा जा सकता है कि प्रोपेगेण्डा वास्तव में प्रोपेगेण्डा तभी होगा जब प्रचार में इसे जानबूझकर शामिल किया जायेगा ।

इस प्रकार प्रोपेगेण्डा को परिभाषित किया जा सकता है । कि यह व्यक्तियों के विचारों, दृष्टिकोणों एवं व्यवहार को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करने के उद्देश्य से तथ्यों एवं प्रतीकों में जानबूझकर की गई हैराफेरी है । प्रतिकों में भावभंगिमा, भौतिक कल्पना, ध्वज, संगीत, स्मारक इत्यादि सम्मिलित हैं । प्रोपेगेण्डा उद्देश्यों की प्रकृति एवं जानेबूझे विन्यास के कारण मुक्त सूचना एवं शिक्षा से भिन्न होता है । सूचना के मुक्त प्रसार में प्रतीकों के चयन एवं सार में कोई पक्षपात जानबूझकर नहीं किया जबकि प्रोपेगेण्डा में जानबूझकर विशेष प्रकार के प्रतीकों व संदेशों को ही चुना जाता है । शिक्षा सूचना का उद्देश्य है ज्ञान प्राप्ति जिसके लिये विशेष विषय से संबंधित सभी प्रासंगिक दृष्टिकोणों को बिना भेदभाव के प्रस्तुत किया जाता है जबकि प्रोपेगेण्डा में उस विशेष दृष्टिकोण को ही प्रस्तुत किया जाता है, जो प्रोपेगेण्डाकर्ता के उद्देश्यपूर्ति में सहायक होता है ।

17.4 प्रोपेगेण्डा के उद्देश्य

एक राज्य के प्रोपेगेण्डा का सामान्य उद्देश्य गृह एवं विदेशों में स्वयं की प्रभावकारी एवं स्वीकार्य छवि को प्रोत्साहन देना है अथवा बढ़ाना है ।

वैदेशिक उद्देश्य :

राज्यों का सदैव यह प्रयत्न होता है कि वे अन्य राज्यों को यह विश्वास दिला सकें कि वे सिद्धान्तों से बंधे हैं, नैतिकता के पथ पर चलते हैं और मित्रतापूर्ण संबंध बनाना चाहते हैं । प्रतिष्ठा एवं सम्मान अन्य लक्ष्य है जिन्हें प्रोपेगेण्डाकर्ता प्राप्त करना चाहते हैं । राज्य सदैव यह स्थापित करना चाहते हैं कि उनकी राजनीतिक व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ और दूसरों के लिये एक प्रतिदर्श है । कभी–कभी प्रोपेगेण्डाकर्ता राज्य के उद्देश्य दूसरे राज्यों में भय, असुरक्षा, असहायता की भावना पैदा करना होता है, विशेष कर युद्ध के पहले एवं युद्ध के दौरान इस प्रकार के प्रोपेगेण्डा को सामने रखा जाता है ।

घरेलू उद्देश्य :

राज्य विशेष नीतियों के लिये घरेलू समर्थन प्राप्त करना चाहते हैं जिससे उनकी नीतियों को जनस्वीकृत मूल्यों एवं उद्देश्यों को संतोषजनक स्तर पर संबंधित किया जा सके । प्रजातांत्रिक सरकारों की संचार माध्यमों को नियंत्रित करने की चाह को विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ संबद्ध करना होता है । यदि कोई सरकार राजनीतिक सत्ता के प्रतिद्वन्द्वियों । को प्राप्त संचार सुविधाओं को दबाना चाहती है और स्वयं संचार सुविधा को पूर्ण उपयोग करना चाहती है तो अधिनायकत्व का खतरा उत्पन्न हो जाता है । इसी प्रकार यदि प्रतिपक्ष को विस्तृत प्राथमिकता की स्थिति प्राप्त है और सरकार पक्ष में जनमत नहीं जुटा पाती तो अस्थिरता एवं अराजकता की स्थिति निर्मित हो सकती है ।

विदेशों में एक सरकार द्वारा प्रस्तुत छवि की स्वीकार्यता, राजनीतिक दृष्टि से प्रासंगिक जनसमूहों में छवि को समर्थन प्राप्त होने के अनुपात में होती है । घरेलू प्रोपेगेण्डा इस प्रकार अंतराष्ट्रीय संचार में एक महत्वपूर्ण कार्य करता है । जनवादी चीन में सोवियत संशोधनवादिता व अमेरिकी 'सामाज्यवादिता ' दोनों के ही विरुद्ध सघन प्रचार–प्रसार या प्रोपेगेण्डा, दलीय नीति को अधिक स्वीकार्य बनाये जाने के उद्देश्य से प्रेरित रहा ।

17.5 प्रोपेगेण्डा, विदेश नीति एवं हित अभिवृद्धि

विदेश नीति निर्माताओं का उद्देश्य राष्ट्रीय हितों की रक्षा व अभिवृद्धि होता है । इस दृष्टि से तीन प्रकार के कार्य कर सकते हैं :–

1. अन्य राज्यों से मित्रतापूर्ण संबंधों को प्रगाढ़ करना, बिना किसी विशिष्ट नीति समस्या संदर्भ के ।
2. अन्य राज्य पर एक विशेष प्रकार की कार्यरीति का अनुसरण करने के लिये प्रभाव डालना, उसके आधारभूत मूल्यों व मूल संस्थाओं को चुनौती दिये बिना ।
3. अन्य राज्य में आधारभूत परिवर्तन करना जिसका वह राज्य विरोध करेगा और जो सरकार को पदच्युत करने से लेकर पूर्ण आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को परिवर्तित करने तक विस्तृत हो सकता है ।

विदेशनीति निर्माताओं को यह ध्यान रखना होता है कि इन कार्यों को पूर्ण करने के लिये उन्हें जिस वर्ग को प्रोपेगेण्डा द्वारा प्रभावित करना होगा वे चार प्रकार के हो सकते हैं: –

1. उनके स्वयं के राज्य में रहने वाले लोग जिन्हें पूर्ण सूचना प्राप्त करने, प्रेरित होने व सिद्धान्त में विश्वास बनाये रखने की आवश्यकता होती है ।
2. मित्र – अथवा सहयोगी देशों के लोग जिन्हें नीतिगत तथ्यों से इस प्रकार परिचित करवाना होता है कि वे उससे प्रभावित रह समर्थन व सहयोग देते रहें ।
3. तटस्थ राज्यों के लोग जिन्हें प्रोपेगेण्डा के माध्यम से इस प्रकार प्रभावित करना कि वे प्रोपेगेण्डा करने वाले राज्य को यदि समर्थन न दें तो विरोध में भी न जायें ।
4. विरोधी अथवा शत्रु राज्यों के लोग–प्रोपेगेण्डा के माध्यम से इन लोगों का स्वयं के राज्य की नीतियों में विश्वास कमजोर करने हेतु प्रभाव डालना और राज्य के प्रति उनकी श्रद्धा को कम करना।

इस प्रकार प्रोपेगेण्डा का कार्य इन वर्गों की कडिंशनिंग करना और सहानुभूति निर्माण करना है क्योंकि किसी भी राज्य द्वारा किये गये प्रत्यक्ष या सीधे अनुरोध पर ध्यान नहीं दिया जाता है । संभावना रहती है कि संबंधित राज्य के घरेलू प्रोपेगेण्डा द्वारा यह अनुरोध प्रभावहीन कर दिया जाय । इस हेतु दो महत्वपूर्ण तथ्य ध्यान में रखे जाते हैं कि विदेशनीति की रचना व संचालन प्राथमिकताओं की व्यवस्था के अनुरूप ही हो और प्रोपेगेण्डा भी इसी के सदृश हो अन्यथा यह प्रत्युत्पादक अथवा प्रतिकूल प्रभाव पैदा कर सकता है । यदि प्राथमिकताओं के अनुरूप प्रोपेगेण्डा किया जाता है तो घरेलू प्रतिप्रोपेगेण्डा का प्रभाव अधिक नहीं होगा । अवास्तविक व अप्राप्य विदेशनीति लक्ष्यों की उद्घोषणा एक राज्य को भ्रमित व परेशानी में डालने वाली तो हो ही सकती है साथ ही प्रतिद्वन्द्विता या विरोधी को भी प्रोपेगेण्डा प्रारम्भ करने का अवसर प्रदान कर सकती है । अत : मात्र प्रोपेगेण्डा के उद्देश्य से किये गये प्रोपेगेण्डा और उच्चस्वरित, अर्थहीन कार्यक्रमों के स्थान पर शनैःशनै : तथ्यों की सराहना व अंतर्राष्ट्रीय जीवन की वास्तविकताओं में परिचित व शिक्षित करते हुए ही जनसमर्थन प्राप्त करना चाहिए । द्वितीय, प्रोपेगेण्डा का प्रयोग राजनयिक उपकरणों के सहायक के रूप में ही किया जाना चाहिए । प्रोपेगेण्डा स्वयं में उद्देश्यपूर्ति नहीं कर सकता । विदेशनीति का उद्देश्य राष्ट्रीय हितों की

अनुरक्षा व संवर्द्धन है । राजनय वह विधि है जिससे यह कार्यान्वित होती है अत : प्रोपेगेण्डा विदेशनीति का एक उपकरण है तो इसे एक राजनयिक उपकरण के रूप में ही उपयोग में लाया जाना चाहिए ।

17.6 प्रोपेगेण्डा की प्रभावकारी एवं उपयुक्त युक्तियाँ एवं तकनीकें

प्रोपेगेण्डा का विज्ञान या कला विज्ञापन एवं विक्रय कला के समान ही है जिससे प्रोपेगेण्डा करने वाले को बाजार का अध्ययन करना होता है और माँग के अनुरूप ही अपने उत्पाद को तैयार करना होता है । उसे लक्षित समूह की पूर्वधारणा, भयों, आकांक्षाओं एवं कमजोरियों का विश्लेषण कर रणनीति अथवा युक्तियां तैयार करनी होती है साथ ही सटीक तकनीक का सहारा लेना होता है ताकि उद्देश्यपूर्ति संभव हो सके ।

प्रसिद्ध विद्वान होल्स्टी ने महत्वपूर्ण युक्तियों का उल्लेख करते हुए लिखा है की -

(1) संपूर्ण राष्ट्र की जनता का दृष्टिकोण बदलने के बजाय एक छोटे सामुदायिक समूह या वर्ग का दृष्टिकोण परिवर्तन सरल होता है क्योंकि यह छोटा समूह अपेक्षाकृत समान दृष्टिकोण रखता है । संपूर्ण राष्ट्रीय समाज तभी परिवर्तनों का लक्ष्य बन सकता है जब इसके सभी सदस्य राष्ट्रीय सम्मान के अनुरक्षण या स्वतंत्रता जैसे मूल्यों के लिये पूरी तरह एक होते हैं । प्रोपेगेण्डाकर्ता का यह दायित्व होता है कि वह समाज में से उन समूहों को खोजे और यह ज्ञान करे कि चुने हुए लक्ष्य (समूह) पर किस प्रकार की अपील प्रभावकारी होगी और इच्छित परिणाम प्राप्त कर सकेगी।

(2) उस समुदाय या जनता पर प्रोपेगेण्डा का प्रभाव अधिक होगा जो संप्रेषणकर्ता के दृष्टिकोण से, कम से कम आंशिक रूप से ही, सहमति रखता हो । इस प्रकार के दृष्टिकोण को ही सशक्त करना आसान होता है वनिस्पत् विरोधी या शत्रुतापूर्ण दृष्टिकोण को मैत्रीपूर्ण बनाने के । शीतयुद्ध के दौरान विदेशों में सोवियत प्रोपेगेण्डा नये **मार्क्सवादी–लेनिनवादियों** को तैयार करने के लिये लक्षित न हो सोवियत संघ व इसकी नीतियों के प्रति सहमति वाले दृष्टिकोण तैयार करने और शांति, पूर्ण–निशस्त्रीकरण जैसे अस्पष्ट व भ्रमपूर्ण प्रतीकों के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण तैयार करने के लिये प्रेरित था ।

(3) प्रोपेगेण्डा युवा वर्ग व उदासीन व्यक्तियों पर अधिक असरकारक होता है । युवाओं पर अनुनय सलाह आदि का अधिक प्रभाव होता है क्योंकि वे दृढ़ या कठोर दृष्टिकोण नहीं रखते ।

(4) उन समूहों में प्रोपेगेण्डा सर्वाधिक प्रभावकारी होता है जिनके अंतर्गत व समीप के सामाजिक दायरें में समान दृष्टिकोण वाले सदस्य होते हैं । एक व्यक्ति प्रोपेगेण्डा से प्रभावित नहीं हो सकता यदि प्रोपेगेण्डा की विषयवस्तु उसके समीपी सामाजिक संबंधों द्वारा अपनाये हुये मूल्यों एवं मतों के विरोध में है ।

17.7 प्रोपेगेण्डा : प्रस्तुति की विधियाँ

प्रोपेगेण्डा कभी–कभी ही अपनी सामग्री या विषयवस्तु को इस रूप में प्रस्तुत करता है कि उसके अच्छे व बुरे पक्ष दोनों ही सामने रखे जायें । इसकी प्रस्तुति एक अधिवक्ता की तरह

होती है जो अपने केस से संबंधित एक ही पक्ष के तर्कों को बड़े ध्यान से रखता है । वह सत्य को रखेगा पर पूर्ण सत्य को नहीं और उन साक्ष्यों को अनदेखा करेगा, जो उसके बिंदु के विरोधी हैं । जिस प्रकार नाजियों ने दावा किया कि चेकोस्लोवाकिया में उनका हित जर्मनों की वापसी है लेकिन उन्होंने यह नहीं कहा कि जर्मन जिस क्षेत्र में, रह रहे थे वह महत्वपूर्ण पहाड़ी सुरक्षा एवं उद्योगों का क्षेत्र था और वे मात्र चेकोस्लाविया का एक भाग नहीं बल्कि संपूर्ण क्षेत्र चाहते थे। कभी–कभी फर्जी दस्तावेजों का भी प्रोपेगेण्डाकारी उपयोग करता है ।

ध्यानाकर्षण की विधियाँ :

एक बार उद्देश्य रेखांकित हो जाये तो प्रोपेगेण्डाकारी को उद्देश्य की ओर ध्यान आकर्षित करवाना होता है । टिप्पणीयाँ, विरोध, सरकारी भाषणों, राजनेताओं की घोषणाएं विदेशी सरकारों के पास तो पहुंच जाती है किन्तु जनता के पास पहुंचने के लिये इन्हें अन्य उपागमों की आवश्यकता होती है । 'शक्ति प्रदर्शन ' एक लोकप्रिय विधि है ध्यान आकर्षित करने की । सशस्त्र परेड की रोमन विधि आज भी लोकप्रिय है । **नाजी, रूसी व चीनी** साम्यवादियों ने इसका प्रयोग किया। आणविक विस्फोट भी शक्ति प्रदर्शन की आधुनिक विधि में सम्मिलित हैं ।

दूतावास के माध्यम से भी राष्ट्र अपने तौर तरीकों के प्रति ध्यान आकर्षित करवाते हैं । दूतावास में कुछ सदस्य सांस्कृतिक दूत होते हैं जो व्याख्यान, फोल्डर्स, पर्यटन मार्गदर्शन पोस्टर्स और फिल्मों के माध्यम से अपने देश का महिमागान करते हैं । विदेशों में भारत–महोत्सव, संयुक्त राज्य सूचना एजेंसी, ब्रिटिश काउन्सिल आदि अपने देशों की कथा विदेशों में कहते हैं । राष्ट्राध्यक्षों, नेताओं व शासनाध्यक्षों की यात्रायें भी हितों के समन्वय या मित्रता के प्रचार के लिये आयोजित की जाती हैं । विदेश मंत्रियों व शासनाध्यक्षों की विदेश यात्राओं की संख्या में वर्तमान में भारी वृद्धि हुई है ।

अनुकूल प्रभाव शब्दों के साथ ही कार्यों के द्वारा भी उत्पन्न किया जा सकता है । वास्तव में कार्यो द्वारा किये गये प्रोपेगेण्डा के मुकाबले कोई शब्द प्रभावकारी नहीं हो सकता । सृजनात्मक नीतियाँ अनुकूल प्रभाव पैदा करती है । हालांकि मुख्य प्रयास देश की नीतियों व उद्देश्यों की बिक्री या सेल के लिये होते हैं तथापि गाँधीवादी कथन में सच्चाई है कि "अच्छे विचार स्वत : ही ग्राहय किये जाते हैं" । निश्चित ही प्रोपेगेण्डा की सफलता एवं नीतियों व आकांक्षाओं के मध्य निकट का व महत्वपूर्ण संबंध होता है ।

प्रत्युत्तर प्राप्त करने की विधि :

सामाजिक अननुमोदन भावनाओं, प्रतिष्ठा की आकांक्षा, अधिपत्य में गर्व, वस्तुत : सेवाओं का क्रय आदि पर विज्ञापक निर्भर रहता है । इसी प्रकार प्रोपेगेण्डाकर्ता विशेष प्रतिक्रिया के लिये कुछ मूल भावनाओं को उभारने का प्रयास करता है जैसे देशभक्ति, न्यायप्रेम, स्वरक्षा का अधिकार, इत्यादि । एक सामान्य विधि है आकर्षक नारों का प्रयोग । "प्रतिनिधित्व नहीं तो कर नहीं", स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व", श्रमिकों को रोटी किसानों को भूमि, सभी को शांति" जैसे नारे क्रांति के उद्घोष रहे । नारों से मिलती–जुलती अन्य विधि है चित्रांकन । **रोमवासी** मुखौटे पहनते थे, **ईसाई** क्रास को और **फ्रांस** में तिरंगे झण्डे को प्रतीक के रूप में उपयोग किया गया। आज प्रत्येक देश एक झण्डे एक जानवर, एक पक्षी को प्रतीक रूप में उपयोग में लाता है।

जर्मनवासियो द्वारा स्वास्तिक का प्रयोग वर्तमान इतिहास में प्रतीक का सर्वाधिक सशक्त प्रयोग माना जाता है । कभी–कभी कोई व्यक्ति जैसे जर्मनी में **हिटलर** एक विचार का प्रतीक है । **लिंकन,** वाशिंगटन व **जेफरसन** अमरीकी प्रजातंत्र के प्रतीक हैं तो भारत में **गाँधी** व **नेहरू, ब्रिटेन में चर्चिल, सोवियत संघ में स्टालिन** उस देश के प्रतीक स्वरूप बने ।

संकट या तनाव का समय प्रोपेगेण्डा के लिये सर्वाधिक उपयुक्त अवसर होता है क्योंकि उस समय सामान्य दृष्टिकोण व व्यवहार प्रतिमान अनिश्चित होते हैं । बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक की आर्थिक मंदी जैसे आर्थिक विस्थापन व असुरक्षा के समय में व्यक्ति किसी भी ऐसी व्यवस्था को चुन सकता है जो व्यवस्था व सुरक्षा की गारंटी दे। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात्, शांति के सोवियत प्रोपेगेण्डा के प्रभावी होने के पीछे यूरोपवासियों का युद्ध से उकता जाना था। दूसरी ओर अमेरिकी प्रोपेगेण्डा की प्रभावशीलता का कारण सोवियत अधिपत्य का भय था । शीतयुद्ध की समाप्ति व सोवियत संघ के विघटन में आर्थिक निर्बलता की भूमिका ने विश्वीकरण व उदारवाद के अमेरिकी लक्ष्यों को सफल किया है ।

स्वीकृति प्राप्त करने की विधियाँ :

प्रोपेगेण्डा व लक्षित समूह के मध्य तारतम्य स्थापित करना किसी भी कार्यक्रम के लिये स्वीकृति प्राप्त करने का सफल माध्यम होता है । लक्षित समूह के कल्याण में दिलचस्पी दिखा प्रोपेगेण्डाकर्ता उससे अपनी समानता प्रदर्शित कर सकता है । कई अमेरिकी नेताओं की चुनाव में सफलता के पीछे उनके प्रचार या अपील का केन्द्र "जनता का व्यक्ति" था । सामान्यत एक ही जन्मस्थान की ओर संकेत भी इस प्रचार के लिये सहयोगी होता है । अंतराष्ट्रीय राजनीति में प्रजाति, नस्ल एवं धर्म के तत्वों का उपयोग प्रोपेगेण्डा के लिये किया जाता है । हिटलर द्वारा आर्य जाति व जर्मनवाद का प्रयोग किया गया तो जापान द्वारा **"एशिया, एशियावासियों के लिये"** का प्रयोग किया गया। एक अन्य उपागम के अंतर्गत **ईश्वर, न्याय, इतिहास के अनुमोदन** का उपयोग किया जाता है । अमेरिका में पृथकतावाद के समर्थकों ने जार्ज वाशिंगटन के विदाई भाषण में व्यक्त गठबंधनों पर उनके विचारों को गलत ढ़ग से उल्लेखित कर – विदेशनीति को प्रभावित किया।

प्रोपेगेण्डा के प्रभावी होने की सबसे बड़ी सीमा ध्यानाकर्षण प्रतिक्रिया और स्वीकृति के बीच होने वाली तीव्र प्रतिद्वन्द्विता है । प्रोपेगेण्डा के प्रयास कभी–कभी ही प्रति–प्रोपेगेण्डा से स्वतंत्र रह पाते है । उन देशों में भी जहां सूचना माध्यम सरकारी नियंत्रण में हैं या जहां कठोर सेंसर की व्यवस्था है, इस प्रौद्योगिकीय युग में यह असंभव है कि बाह्य विश्व के प्रभाव से किसी देश को सील बंद किया– जा सके । सेंसर का प्रयोग अधिकांश देशों में किया जाता है, कम या अधिक मात्रा में, अधिनायकवादी देशों में ये अत्यधिक होता है और प्रजातांत्रिक देशों में भी राष्ट्रीय आपात काल में इसका व्यापक उपयोग होता है । सामान्य काल में प्रोपेगेण्डाकारी को अन्य प्रोपेगेण्डाकारियों की लाइन का मुकाबला करना पड़ता है । सामान्यत : वह विरोधी को बुरे रूप में चित्रण करने की कोशिश करता है ।

17.8 प्रोपेगेण्डा का विभिन्न व्यवस्थाओं द्वारा प्रयोग

आज प्रोपेगेण्डा प्रयोग का महत्व प्रत्येक राष्ट्र की विदेशनीति में हित संवर्द्धन के रूप–में स्थापित हो चुका है तथापि विभिन्न विचारधाराओं पर आधारित राजनीतिक व्यवस्थाओं में इसके प्रयोग का अध्ययन सम्यक है ।

अधिनायकवादी या सर्वाधिकारवादी व्यवस्था :

फासीवाद के अनुसार प्रोपेगेण्डा सरकारी विचारधारा का आवश्यक अंग है । सरकारी सूचना–तंत्र प्रोपेगेण्डा के माध्यम से जनता में हिस्टीरिया उत्पन्न करते हैं जिससे सर्वोच्च नेता की सत्ता को महिमामंडित किया जा सके । राष्ट्र की भूतकालीन महान विरासत, प्रजाति व नस्ल की शुद्धता, व्यक्तियों की अदृश्य शक्ति है । मुसोलिनी के मुखौटे और हिटलर के स्वास्तिक जैसे प्रतीकों व नारों की सहायता से जनता में जोश भरकर उद्देश्य के लिये मर मिटने की भावना पैदा की जाती है । सिपाहियों को बैज और गणवेश वितरित किये जाते हैं । ताकि उनमें महत्व व स्तर की भावना पैदा हो । प्रोत्साहन, पुरस्कार, दण्ड द्वारा समर्थकों को पक्का करने व विरोधियों को कमजोर करने का कार्य किया जाता है । सूचना माध्यम पूर्णत : सरकारी नियंत्रण में व सरकारी दृष्टिकोण को ही रखने वाले होते हैं । प्रोपेगेण्डा 'एक जनमत' बनाने की ओर प्रेरित होता है ।

इस प्रकार के प्रोपेगेण्डा का प्रयोग इटली में 1922 में फासीवादी दल के तानाशाह बेनितो मुसोलिनी द्वारा किया गया । मुसोलिनी के नेतृत्व व व्यक्तित्व को इतना बढ़ा–चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया कि जनता को विश्वास हो जाय कि यह महानायक ही उनके राज्य को शक्ति प्रदान कर सकता है । मुसोलिनी से भी अधिक क्रमबद्धता एडोल्फ हिटलर ने अपनाई थी जिसने 1933 में जन–ज्ञान व प्रोपेगेण्डा का राष्ट्रीय मंत्रालय स्थापित किया । इस मंत्रालय का प्रधान जोसेफ बयोबेल्स था जिसका दर्शन था कि यदि एक झूठ को बहुसंख्यक जनता बोले तो वह झूठ सच बन जाता है । इन्हीं प्रयासों के कारण हिटलर महानायक के रूप में स्थापित हो गया और सभी जर्मनवासियों के लिये यह आवश्यक हो गया कि वे एक दूसरे को हिटलर का नाम लेते हुये (हिमेल हिटलर) सेल्युट करें जिससे सोलिडेरिटी का भान हो सके । उसने एक राष्ट्र, एक राज्य, एक फ्यूहरर के नारे भी इसी के लिये दिये । जर्मनवाद के नाम पर आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया एवं पोलेण्ड जैसे कमजोर राज्यों पर अधिकार करना प्रारंभ किया । सारी प्रोपेगेण्डा मशीनरी जर्मनवासियों में राष्ट्र उच्चता, शक्ति व अकाट्यता के भाव को भरने में काम आती रही । साथ ही यहूदियों के खिलाफ घृणा का प्रचार, फ्रांस को सबसे बड़ा शत्रु निरूपित करना भी प्रोपेगेण्डा में सम्मिलित रहा । साम्राज्यवाद की नीति का औचित्य ठहराने के लिए Main Kampt के सिद्धान्त प्रचारित किये गये, Herren vilk (मूल प्रजाति) को स्थान की आवश्यकता (Lebensaum) के सिद्धान्तों का उपयोग किया गया । इन विचारों का उपयोग कर हिटलर व उसके समर्थकों ने श्रमिकों व पूंजीपतियों दोनों से अपील की और बेरोजगार युवाओं को तूफानी सेवाओं में पंजीकृत किया और स्वयं को सत्तासीन किया । यह सफलता वास्तव में प्रोपेगेण्डा की सफलता थी । 1930 के दशक में जापान में भी यह प्रवृत्ति उत्पन्न हुई जहां सम्राट ने स्वयं को 'सूर्य देवी का पुत्र ' घोषित किया । जापानी सरकार ने **'स्वतंत्र व**

आत्म–निर्भर एशिया' का नारा दिया । जिसमें एशियाई देश **'वृहत पूर्वी एशिया सह–समृद्धि परिधि'** में एक–दूसरे से संबंधित होंगे । इंडोनेशिया में उनकी प्राचीन कथा का प्रचार किया गया कि एक दिन उत्तर से तीन व्यक्ति आयेंगे व उन्हें विदेशी दासता से मुक्ति दिलायेंगे । अन्य एशियाई देशों में प्रचार किया गया कि जापान के अधीन व पश्चिमी साम्राज्यवाद के अधीन प्राप्त स्वायत्तता से कई गुनी अधिक सवायत्तता का उपयोग कर सकेंगे । इसके लिये जापानियों ने भी 'राष्ट्रीय शक्ति ' की प्रोपेगेण्डा युक्ति का प्रयोग किया ।

उपरोक्त तीन फासिस्ट या तानाशाह शक्तियों ने द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जिस प्रकार का व्यवहार किया उससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजनीतिक आक्रमण व युद्ध की रणनीति में प्रोपेगेण्डा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । स्ट्राउस–हूयूप एवं पोजिनी ने
भी कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं –

1. आक्रमणकारी अपने उद्देश्यों के प्रचार के लिये प्रोपेगेण्डा का उपयोग करता है । अपने शांतिपूर्ण इरादों या प्रयोजनों और युद्ध की अनिच्छा का उद्घोष करता है । उसी के साथ कुछ माँगे रखता है जो विश्व को स्वीकार्य ही और मित्र बना सकें;
2. एक बार युद्ध प्रारंभ होने पर प्रोपेगेण्डा का उद्देश्य होता है कि वह स्वयं के देश को इसकी जिम्मेदारी से मुक्त रखे, विरोधी को युद्ध के लिये उत्तरदायी ठहराये, तटस्थ देशों में से मित्र तैयार करे, अन्य तटस्थ देशों में समर्थक व सहानुभूति रखने वाली मानसिकता पैदा करे, पराजय को कम से कम व जीत को अधिकतम करने का प्रयास करे । कुछ समय पश्चात् युद्ध की समयावधि कम करने के लिये प्रचार करे कि पराजित शत्रु का प्रतिरोध परिणाम को नहीं बदल सकता बल्कि जान व माल के लिये अत्यधिक हानिकारक होगा;
3. प्रोपेगेण्डा विजयी देश को शांति की शर्तों के लिये विश्व का अनुमोदन पाने व पराजित देश का समर्थन प्राप्त करने में सहायक होता है, जबकि पराजित देश प्रोपेगेण्डा का हथियार शांति की शर्तों को सुविधाजनक बनाने व विश्व समुदाय में एकता के आधार पर पुन: प्रवेश के लिये उपयोग में लाता है ।

साम्यवादी व्यवस्थाओं में प्रोपेगेण्डा :

साम्यवादी देशों द्वारा अपनाई गई प्रोपेगेण्डा तकनीकें फासीवादी, देशों के समान ही है तथापित उनमें एक विशेष अंतर है कि जहां फासीवादी धर्म, विचारधारा इत्यादि किसी भी तत्व का उपयोग अवसर के अनुसार करते हैं, साम्यवादी विचारधारा–वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धान्तों से बंधे रहते हैं उनकी वैचारिक सीमाएँ सुस्पष्ट रहें, इस दृष्टि से फासीवादी अवसरवादी होने के साथ ही दक्षिणपंथी कहे जा सकते हैं, तो साम्यवादी वामपंथी । साम्यवादी प्रोपेगेण्डा तकनीक की महत्वपूर्ण विशेषता है कि इसका साहित्य अत्यंत समृद्ध है जहां 'संर्कहारा ' वर्ग शोषण ' वर्गहीन समाज ', सर्वहारा की तानाशाही, प्रतिक्रियावादी प्रति–क्रांतिकारी, समाजवाद, समाजवाद के शत्रु आदि प्रत्ययों का प्रयोग मार्क्सवादी सिद्धान्तों को आगे बढ़ाने व पूंजीवादियों को नीचा दिखाने के लिये किया जाता रहा । कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो के अंतिम शब्द - **'दुनिया भर के मजदूर एक हो जाओ'** के संदेश का उपयोग प्रोपेगेण्डाकारी साम्यवादियों द्वारा बहुधा किया जाता है । संपूर्ण विश्व में साम्यवादियों के मित्र समर्थकों का एक जाल फैलाया गया था। द्वितीय

इंटरनेशनल की 1892 में एंजेल्स द्वारा स्थापना – 1919 में लेनिन द्वारा तृतीय कॉमिन्टर्न की स्थापना का उद्देश्य विभिन्न देशों में क्रांति था । कॉमिन्टर्न के अस्तित्वहीन होने पर विभिन्न साम्यवादी दलों को संबद्ध 'मित्रतापूर्ण समाजों ' पूर्ववर्ती संगठनों, सांस्कृतिक संस्थाओं का उद्देश्य भी यही रहा । यह सभी इस आधार पर केन्द्रित है जैसा कि लेनिन ने कहा "दलों की विजय के लिये प्रोपेगेण्डा अत्यधिक महत्व का है, और क्रांति सफल हो सकती है, यदि यह जान लें कि शक्ति को कनन के साथ कैसे संबद्ध किया जाय" ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् साम्यवादी प्रोपेगेण्डा पश्चिम विरोधी अधिक रहा पश्चिमी प्रजातांत्रिक व्यवस्था के स्थान पर जनवादी प्रजातंत्र की स्थापना; संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन व फ्रांस के बाह्य क्षेत्राधिकार की निंदा. पश्चिम की अंधाधुंध शख स्पर्धा की निंदा, जिसे समाजवादी व्यवस्था को समाप्त करने के उद्देश्य से जारी रखा । गरीबों एवं तृतीय विश्व के विकासशील देशों की दासता; राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप, जासूसी संगठनों के माध्यम से; नाटो, आंजुस, रियो संधि संगठन के अमेरिकी मित्र देशों की युद्धोमुखी विदेश नीतियाँ इत्यादि सोवियत प्रोपेगेण्डा के मुख्य प्रहार क्षेत्र थे । दूसरी ओर एशिया–अफ्रीका के देशों की नीतियों व विकास की आवश्यकताओं के साधन वे साधन थे जिसके द्वारा पश्चिम के प्रभाव को समाप्त करने व स्वयं के लिये सद्भावना पैदा करने का प्रयास सोवियत संघ ने किया । इसके अतिरिक्त राष्ट्रवाद की विचारधारा, धर्म की शक्ति, एशियाई क्षेत्रवाद की भावनाओं को विशेष रूप दे, अफ्रीका व एशिया के देशों में समर्थन जुटाने के प्रयास किये गये । मार्क्स व लेनिन ने राष्ट्रवाद को बुर्जुआ प्रत्यय माना लेकिन सोवियत संघ ने स्वयं के देश में देशभक्ति का गुणगान किया । विदेशों में भी जनता को राष्ट्रभक्ति की भावनाओं का समर्थन दिया । भारत में गोवा और इंडोनेशिया में पश्चिमी इरिअन के मुद्दों पर समर्थन उदाहरण है । इसी प्रकार मार्क्स ने धर्म को 'अफीम ' की भांति माना था। किन्तु सोवियत संघ ने मध्यपूर्व में मुस्लिम देशों की प्रशंसा पाने के लिये इसका उपयोग किया । सांस्कृतिक प्रचार के माध्यम से भी सोवियत प्रोपेगेण्डा प्रबल हुआ। पुस्तकों, साप्ताहिकों, प्रदर्शनियों, फिल्मों आदि का वितरण व प्रदर्शन गरीब देशों में किया जाता था ताकि वे एक समाजवादी देश द्वारा की गई प्रगति से प्रभावित हो सकें व उसके प्रतिमान को चुनने का प्रयास करें । सोवियत प्रोपेगेण्डा की सफलता इसके गत्यात्मक उपागम के कारण ही मिली । वे अपने लक्षित समूह की भावनाओं, आकांक्षाओं व आवश्यकताओं से पूर्ण परिचित थे । अत : उन्होंने साम्राज्यवाद, जाति, भेद, युद्ध के विषय चुनकर लोगों की भावनाओं को उभारा कि वे अपने देश में सामाजिक, आर्थिक क्रांति के आदर्शों के क्रियान्वयन के लिये संघर्ष करें ।

उदारवादी व्यवस्थाएँ :

उदारवादी व्यक्तियों के दिमाग को जीतने के लिये अजीबो–गरीब साधनों के उपाय की बात नहीं करता । वास्तव में उदारवादी व्यवस्थाओं में प्रोपेगण्डा को प्रारम्भ में सम्मान का दर्जा प्राप्त नहीं था क्योंकि व्यक्ति को विचार व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता थी और किसी प्रकार का नियंत्रण जीवन पर नहीं था। अत : प्रोपेगेण्डा के लिये बहुत कम अवसर रहे तथापि उदारवादी व्यवस्थाओं में पूरी तरह से प्रोपेगेण्डा को अनदेखा नहीं किया जाता । प्रेस पार्टी प्रसारण,

साहित्यक व सांस्कृतिक कार्यक्रम सभी प्रोपेगेण्डा निर्माण में भूमिकायें निभाते हैं किन्तु इस प्रकार के प्रोपेगेण्डा को राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रति प्रोपेगेण्डा का सामना करना होता है । फासीवादी व साम्यवादी व्यवस्थाओं से भिन्न उदारवादी प्रोपेगेण्डा में गैर सरकारी एजेन्सियों जैसे व्यावसायिक समूह, श्रम संगठन, किसान संगठन और अन्य दबाव समूह प्रोपेगेण्डा निर्माण में महत्वपूर्ण होते हैं । इस प्रकार की प्रक्रिया फासीवादी या साम्यवादी व्यवस्था में नहीं दिखाई देती है । यही कारण है कि उदारवादी व्यवस्थाओं में प्रोपेगेण्डा एक आरोपित आवश्यकता के रूप में अधिक प्रयुक्त होता है और प्रोपेगेण्डा के प्रभाव को कम करने के लिये किया जाता है । इन व्यवस्थाओं में राज्य के विचार देश के अंतर्गत व विदेशों में थोपने के लिये प्रोपेगेण्डा की क्रमबद्ध विधिवत् व्यवस्था नहीं होती और परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर ही प्रोपेगेण्डा किया जाता है । अत : शीत युद्ध के दौरान उदारवादी राज्यों, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा किया गया प्रोपेगेण्डा इसी दृष्टि से देखा जा सकता है । 1948 में अमेरिका में मुण्डट एक्ट आया । यह सोवियत प्रोपेगेण्डा से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण लाया गया । जिसका उद्देश्य "संयुक्त राज्य अमेरिका के बारे में बेहतर समझ पैदा करना एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के लोगों एवं अन्य देशों के लोगों के मध्य परस्पर सौहार्द विकसित करना था । इस हेतु अमेरिकी सरकार ने सार्वजनिक मामलों का विभाग स्थापित किया जिसके पास समाचार, सार्वजनिक अध्ययन, अंतर्राष्ट्रीय शैक्षणिक आदान–प्रदान सेवा आदि का भार था । 1951 में अंतर्राष्ट्रीय सूचना सेवा विभाग स्थापित किया गया । ये साल बाद इसका स्थान संयुक्त राज्य सूचना एजेंसी (यू. एस. आई. एस.) ने ले लिया । इस प्रकार यह सरकारी प्रोपेगेण्डा का प्रमुख साधन है । पुस्तकालयों, अध्ययन कक्षों, फिल्मों, समूह संवाद, साहित्य प्रदर्शनी द्वारा यह 'प्रजातंत्र को सुरक्षित' बनाने का प्रयास करता है । अमेरीकी प्रोपेगेण्डा साम्यवादी व तानाशाही पूर्ण शक्तियों के विरुद्ध प्रेरित रहा । स्वतंत्र उद्यम, विधि का शासन, आर्थिक विकास, स्वतंत्र व निष्पक्ष निर्वाचनों की महत्ता, न्यायपालिका की स्वतंत्रता, प्रेस की स्वतंत्रता आदि के महत्व की स्थापक पर प्रोपेगेण्डा आधारित रहा । **'वायस ऑफ अमेरिका'** का उपयोग भी अमेरीकी प्रोपेगेण्डा के लिये हुआ । सी. आई .ए. का प्रयोग व भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही जिसने अन्य देशों में अमेरिका विरोधी सरकारों का तख्ता पलटने का कार्य भी किया ।

शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् आर्थिक क्षेत्र में हितों की पूर्ति के लिये भी प्रोपेगेण्डा का प्रयोग किया जा रहा है । सी आई .ए. जैसी एजेन्सियों अन्य देशों में आर्थिक नीतियों, कदमों व रणनीतियों को भेदने के उद्देश्य से गुप्तचरी का कार्य कर रही हैं । इसी के अंतर्गत उदारवाद की विचारधारा की विजय '**इतिहास के अंत का विचार**' उदारवाद अंतिम सत्य 'इस्लामिक. कट्टरतावाद' 'संस्कृतियों के संघर्ष' आदि प्रत्ययों का उपयोग हित सिद्धि व हित अभिवर्द्धन के लिये किया जा रहा है । विकासशील देश भी इसका उपयोग करते हैं । जैसे भारत के विरुद्ध प्रोपेगेण्डा, पाकिस्तान के लिये हित संवर्द्धन का विशेष उपकरण है । इस प्रकार सभी व्यवस्थाओं में आवश्यकतानुसार प्रोपेगेण्डा का उपयोग होता रहा है ।

17.9 राजनीतिक युद्ध : अर्थ एवं प्रकृति

उद्देश्यानुसार प्रत्येक राज्य नित नये प्रकार की प्रोपेगेण्डा तकनीकों व राजनीतिक युद्ध की खोज में लगे रहते हैं । शांति हो या खुला युद्ध प्रोपेगेण्डा का यंत्र ही सदैव उपयोग में लाया जाता है । प्रोपेगेण्डा राजनीतिक युद्ध का यंत्र भी हो सकता है और आर्थिक युद्ध का भी । किन्तु प्रोपेगेण्डा के उपयोग का अर्थ राजनीतिक युद्ध की स्थिति नहीं होता । राजनीतिक युद्ध भी आवश्यक नहीं कि प्रोपेगेण्डा का स्वरूप ले ले । एक राज्य अन्य राज्यों को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है चाहे वे मित्र राष्ट्र हो अथवा शत्रु राष्ट्र और वह प्रोपेगेण्डा के माध्यम से करता है । कभी–कभी ये राज्य अधिक दबाव डालना चाहते हैं और इसके लिये राजनीतिक युद्ध का उपयोग करते हैं ।

राजनीतिक युद्ध को परिभाषित करना कठिन है । तथापि इसे सामान्यत: उन साधनों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो वास्तविक युद्ध से कम होते हैं और जो एक राज्य द्वारा अपने विशिष्ट शत्रु या शत्रुओं को कमजोर करने हेतु उठाये जाते हैं । अनुनय या मैत्रीपूर्ण राजनय राजनीतिक युद्ध नहीं है, क्योंकि यह विरोध राज्य की कार्य स्वतंत्रता को न समाप्त करता है और न ही सीमित करता है, वहीं दूसरी ओर यदि राजनय व प्रोपेगेण्डा का विरोधी राज्य को बाध्य करने के उद्देश्य से प्रयोग में लाया जाता है तो वह राजनीतिक युद्ध है । आर्थिक उपायों से ही अन्य कदम यदि किसी विशेष राज्य की और उन्मुख हैं राजनीतिक युद्ध में सम्मिलित होंगे । अत : एक कार्य राजनीतिक युद्ध है अथवा नहीं इसका निर्धारण उस कार्य के उद्देश्य या प्रयोजन पर निर्भर होता है । उदाहरणार्थ एक वस्तु या घरेलू संसाधनों को संरक्षित करने के लिये लगाया गया एम्बार्गो या व्यापार प्रतिबंध एक शत्रु राज्य को आवश्यक वस्तुओं के आयात से वंचित रखने के लिये लगाये गये व्यापार प्रतिबंध से बिल्कुल भिन्न होता है हालाँकि दोनों का प्रभाव सभी राज्यों पर होता है । सैन्य युद्ध प्रारंभ हो जाने के पश्चात् भी राजनीतिक युद्ध समाप्त नहीं होता वरन् उग्र हो जाता है । जिसमें सभी प्रकार के राजनीतिक प्रोपेगेण्डा एवं आर्थिक साधनों का उपयोग शत्रु को कमजोर करने के लिए किया जा सकता है । यह राजनीतिक युद्ध उस विशेष राज्य के मामलों में हस्तक्षेप है अथवा नहीं यह हस्तक्षेप की परिभाषा पर निर्भर होता है ।

17.10 राजनीतिक युद्ध का विभिन्न कालावधियों में प्रयोग

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के संचालन में राजनीतिक युद्ध नई घटना नहीं है । वर्तमान में राजनीतिक युद्ध में भ्रम फैलाने एवं फूट डालने के लिये प्रोपेगेण्डा अल्पसंख्यक समुदाय को समर्थन; पाँचवें स्तंभ के रूप में एजेंटों को समर्थन देकर शत्रु राज्य की सामान्य प्रक्रिया में व्यवधान उत्पन्न करना; सरकार को अस्थिर करने अथवा उखाड़ फेंकने के लिये प्रोत्साहन; उद्योग व यातायात तोड़–फोड़ के लिये 'सेबोटाज '; एवं जनता का मनोबल गिराने के लिये एवं महत्वपूर्ण नेताओं को हटाने के लिये व्यक्तियों की हत्या का भी प्रयोग किया जाता है ।

शत्रु का मनोबल गिराने के लिये उसकी युद्ध सामग्री व हथियारों में खराबी को दर्शाने व इसके लिए तोड़–फोड़ या सेबोटाज सर्वाधिक लोकप्रिय प्रत्यक्ष विधि रही है । प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी ने अमेरिका में गुप्तचरों का जाल सा बिछा रखा था । जिनका प्रयोजन ही मित्र राष्ट्रों

को दिये जानें वाले हथियारों में सेबोटाज करना था। मित्र राष्ट्रों को प्राप्त विजय अंशत : उनके द्वारा प्रयुक्त प्रभावी राजनीतिक युद्ध के कारण थी । केवल लाईनों पर ब्रिटिश नियंत्रण तथा अत्याचारों की कहानियों के प्रचार–प्रसार से मित्र राष्ट्रों ने युद्ध में राजनीतिक विजय प्राप्त की, हालाँकि विजय में अन्य कारक भी सम्मिलित थे । युद्ध के अंतिम वर्ष में मित्र राष्ट्रों ने विल्सन के चौदह सूत्रों के प्रोपेगेण्डा मूल्य को पहचाना व उपयोग किया, विशेषकर **'आत्म–निर्णय'** के सूत्र का । आस्ट्रिया–हंगरी साम्राज्य के स्लाव मूल के लोगों के साथ बहुसंख्य समझौते किये गये जिससे मित्र राष्ट्रों से कई भगौड़े आ मिले और निर्वासित सरकारें स्थापित हुई । और अंतत : ऑस्ट्रो–हंगरी साम्राज्य विघटित हो गया । राजनीतिक युद्ध मित्र राष्ट्रों की एक अन्य उल्लेखनीय सफलता **'गुप्त संधियाँ'** थीं । जिनसे 'केन्द्रीय शक्तियों' के विरुद्ध जीत प्राप्त करने वाला गठबंधन कायम हो सका । इसी के माध्यम से इटली को **'ट्रिपल अलाइंस'** या **त्रिपक्षीय गठबंधन'** से अलग किया जा सका व युद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों के साथ लाया जा सका ।

दो विश्व युद्धों के बीच के वर्षो में भी राजनीतिक युद्ध के उदाहरणों का उल्लेख किया जा सकता है । रूस में प्रति क्रांतिकारी शक्तियों को मित्र राष्ट्रों द्वारा प्रोत्साहन; कामिन्टर्न का विश्वव्यापी आंदोलन; और बावेजिया, सेकसनी हंगरी व चीन में विद्रोह; 1934 में फ्रांसीसी प्रधानमंत्री बार्थो की व 1940 में ट्राउट्स्की की हत्या; स्पेन में फासिस्ट व साम्यवादी शक्तियों द्वारा हस्तक्षेप; लेटिन अमेरिका में ताजी घुसपैठ; आस्ट्रिया पर नाजी प्रहार आदि का विशेष राजनीतिक महत्व रहा।

द्वितीय विश्व युद्ध के लिये सैनिक तैयारी करने के साथ–साथ जर्मनी ने राजनीतिक युद्ध के लिये भी व्यापक योजना तैयार की । प्रथम विश्व युद्ध की तरह ही द्वितीय विश्व युद्ध में इसका प्रयास रहा कि संयुक्त अमेरिका युद्ध में भाग न ले । इसके लिये जर्मनी ने अफवाहों, झूठी खबरों, कृत्रिम आंदोलनों का सहारा लिया। रिश्वत, ब्लेकमेल एवं धमकियों का भी उपयोग किया । इन सभी कार्यों का उद्देश्य वर्ग, प्रजाति एवं धर्म की भावनाएँ भड़काकर अमेरीकी जनता में फूट पैदा करना एवं रूजवेल्ट प्रशासन में विश्वास कम करना; युद्ध की तैयारियों में व्यवधान पैदा करना; और शक्तिशाली फासिस्ट समूह तैयार करना था ताकि यह पाँचवें स्तंभ के रूप में कार्य कर सके । परंतु पर्लहार्बर पर जापान द्वारा आक्रमण किये जाने के पश्चात् अमेरिका में अभूतपूर्व एकता कायम हुई और जर्मनी प्रथम विश्व युद्ध में अमेरिका की तरह द्वितीय विश्वयुद्ध में राजनीतिक युद्ध में सफलता प्राप्त नहीं कर सका।

1940 में फ्रांस की पराजय के कारणों में देश की आंतरिक निर्बलता, जर्मनी की सैनिक शक्ति तो थी ही परन्तु राजनीतिक युद्ध का योगदान भी कम नहीं था। फ्रांस में प्रोपेगेण्डा विशेष रूप से सफल रहा क्योंकि दलीय मतभेद तीव्र थे व शांति के कठोर समर्थक तत्व अस्तित्व में थे । 1939–40 के शीतकालीन कृत्रिम युद्ध या 'स्टिझक्रीम ' ने भ्रम, मनोबल को कमजोर करने का कार्य किया तो पियरे लाबाल की शांति की अपील ने इस प्रक्रिया को तीव्र कर दिया। जून 1940 तक साम्यवादी श्रमिकों ने औद्योगिक गत्यात्मकता व युद्ध उत्पादन अत्यधिक कम कर दिये थे । जैसे ही फ्रांस पर जर्मनी का हमला प्रारंभ हुआ, नाजी–पाँचवें स्तंभ ने फ्रांसीसी संचार को छिन्न–भिन्न करते हुए सेना की टुकड़ियों पर गोलीबारी को निर्देशित किया । अत : जितनी

इस तथ्य में सच्चाई है कि फ्रांसीसी सेना की पराजय सैनिक पराजय थी, उतनी ही इसमें भी सच्चाई है कि यह पराजय राजनीतिक व मनोवैज्ञानिक युद्ध के कारण शीघ्र हो गई ।

मित्र राष्ट्रों ने द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान धीरे–धीरे ऐसी युद्ध यांत्रिकी तैयार कर ली है जो धुरी राष्ट्रों का मुकाबला कर सके । साथ ही राजनीतिक युद्ध का उपयोग भी सफलता के साथ किया गया । जिस प्रकार 1941 में यूगोस्लाविया में मित्र राष्ट्रों ने एक आंदोलन का समर्थन किया जिसने जर्मन समर्थक सरकार को उखाड़ फेंका और हिटलर को यूगोस्लाविया पर आक्रमण करने के लिये बाध्य होना पड़ा । इसी प्रकार उत्तरी अफ्रीका में अमेरिकी प्रतिनिधि रॉबर्ट मर्फी ने अल्वीयर्स में तख्ता पलटने का कार्य करवाया। विदेशी सरकार के अधिकारी इसमें ऐसे उलझे कि वे मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को वहां उतरने से नहीं रोक सके । इटली पर आक्रमण सुनियोजित किया गया, मार्शल बदोग्लियों की युद्ध विराम की घोषणा द्वारा ताकि प्रतिरोध का सामना न करना पड़े । निर्वासित सरकारों व प्रतिरोधी आंदोलनों को समर्थन देने से मित्र राष्ट्रों को बहुत लाभ हुआ । स्त्रातजिक सेवाओं के अमेरिकी कार्यालय व मित्र राष्ट्रों के एजेंटों ने, जो स्विटजरलैण्ड से ही कार्य कर रहे थे, नाजी जर्मनी के विद्रोही तत्वों से निरंतर संपर्क रखा। इन्हाने उस आंदोलन को भरपूर सहयोग किया जिसके कारण 1944 में हिटलर की हत्या का प्रयास हुआ । इससे मित्र राष्ट्रों को जर्मन मनोबल को कमजोर करने में सफलता प्राप्त हुई विशेषकर युद्ध के अंतिम महीनों में जब जर्मनी की सैनिक शक्ति भी कमजोर हो रही थी।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् पूर्वी गुट का निर्माण अथवा पूर्वी यूरोप के अधिकांश देशों के सोवियत प्रभाव में आने की महत्वपूर्ण घटना कोई अचानक नहीं हुई । बल्कि यह सोवियत संघ द्वारा राजनीतिक युद्ध के नियोजित कार्यान्वयन का परिणाम थी । प्रत्येक देश में राजनीतिक विजय का सामान्य प्रतिमान समान था । सर्वप्रथम देश के साम्यवादी दल द्वारा देश के अन्य दलों को विश्वास दिलाया गया कि गठबंधन सरकार का निर्माण किया जाना चाहिये और एक बार गठबंधन सरकार बन जाने के पश्चात् साम्यवादियों का प्रयास रहा कि गृह मंत्रालय के मुख्य पद व स्थान उन्हीं के पास रहें ताकि पुलिस पर नियंत्रण किया जा सके एवं सोवियत सेना की समीप ही में उपस्थिति के कारण तख्ता पलटने का अधिक प्रतिरोध नहीं हो सके । जून 1953 में पूर्वी बर्लिन में एवं अक्तूबर–नवम्बर 1950 में हंगरी में विद्रोह की घटनाएँ हुई हालांकि इन्हें कुचल दिया गया तथापि सोवियत संघ के निर्देशन में साम्यवादी गुट की दृढ़ केन्द्रीकृत व्यवस्था का भ्रम टूट गया उसके पश्चात् चीन–सोवियत संघ के मध्य कटुता व पूर्वी यूरोपीय देशों में अपेक्षाकृत अधिक आत्म निर्भरता के प्रयासों ने सोवियत संघ के राजनीतिक युद्ध की कमजोरियों को तथा क्षमता को उजागर कर दिया । इसी के आधार पर संयुक्त राज्य अमेरिका व उसके मित्र देशों द्वारा किये जाने वाले मनोवैज्ञानिक व राजनीति युद्ध की प्रवृत्ति व विस्तार पर चिंतन निर्भर हुआ । साम्यवादी गुट के अंतर्गत विशेषकर चीन के साथ मतभेदों व समस्याओं और चीन–अमेरिकी मित्रता से, सोवियत संघ के विकासशील देशें में समर्थन प्राप्त करने के राजनयिक, प्रोपेगेण्डा, मनोवैज्ञानिक व राजनीतिक युद्ध के प्रयास कम धारदार तो हुये पर विकर्षित नहीं हुये । तृतीय विश्व के देशों की साम्राज्यवाद– विरोधी एवं राष्ट्रवाद की भावनाओं ने पश्चिमी गुट की अपेक्षा सोवियत संघ को अधिक प्रभावी बनाया । राष्ट्रीय आंदोलन की लड़ाईयों व साम्यवादी दलों को समर्थन के साथ ही आर्थिक सहायता के

माध्यम से तैयार सोवियत शीत युद्धकालीन रणनीति विकासशील देशों में प्रभावशाली रही । तनाव शैथिल्य के बावजूद सोवियत प्रवक्ता ने कभी भी पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध शीतयुद्ध का जिक्र करना नहीं छोड़ा और विकासशील देशों में अमेरिकी या पश्चिमी प्रभाव को कम करने के लिये अमेरिका व पश्चिमी यूरोप के मध्य के मतभेदों का उपयोग करने का प्रयास किया। यूरोप के देशों के मध्य राजनीतिक व आर्थिक सहयोग की संभावनाओं पर बल व सोवियत संघ से पश्चिम यूरोपीय देशों को सैनिक खतरा 'मात्र भ्रांति' बताते हुये प्रयास किया ताकि यूरोपीय देशों की अमेरिका से मित्रता को कम या समाप्त किया जा सके ।

जनवादी चीन ने भी राजनीतिक व मनोवैज्ञानिक युद्ध का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया । चीन की विशेषता रही कि उसने बदला लेने की भावना से सोवियत संघ व अमेरिका दोनों को ही राजनीतिक युद्ध का निशाना बनाया । विकासशील देशों में विशेषकर दक्षिण–पूर्व एशिया में प्रभाव–स्थापना के लिये इसका उपयोग किया। चीन ने सोवियत संघ को संशोधनवादी करार दिया और प्रचार किया कि इससे साम्यवादी क्रांति के उद्देश्य को धोखा दिया गया है । खुश्चेव की शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की नीति का कड़ा विरोध करते हुये इसे सबसे बड़े शत्रु अमेरिका के साथ सांठ–गांठ निरूपित किया । सोवियत संघ की तुलना में चीन ने स्वतंत्रता आंदोलनों को अधिक प्रोत्साहन दिया और जोर दिया कि माब्रअेत्से तुंछा की क्रांतिकारी युद्ध की तकनीक सभी प्रकार की क्रांति की स्थितियों में कारगर हो सकती है । 1962 में चीन द्वारा मैत्रीपूर्ण संबंध रखने वाले पडौसी व गुट निरपेक्ष देश भारत पर भी आक्रमण किया गया । यह आक्रमण तृतीय विश्व के देशों में चीनी प्रभाव को चुनौती देने वाले प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी को नीचा दिखाने के उद्देश्य से प्रेरित था । साथ ही चीनी शक्ति का प्रदर्शन उन देशों के लिये था जो चीन को वांछित सहयोग न दें । सोवियत संघ के कम आक्रामक हो जाने के बावजूद चीनी आक्रामकता राजनीति युद्ध के माध्यम से प्रकट होती रही। संयुक्त राज्य अमेरिका को मित्र बनाने और अपने हितों का संवर्द्धन करने में चीनी विदेश नीति के यंत्र के रूप में राजनीतिक व मनोवैज्ञानिक युद्ध को सफलता प्राप्त हुई । शीतयुद्ध के तनावों के अपने हित साधन के लिये भुनाने में चीन ने सफलता पाई ।

शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् राजनीतिक युद्ध की प्रखरता में तो कमी आई है किन्तु महत्व में नहीं । संयुक्त राज्य अमेरिका, यूरोप, चीन व छोटे पैमाने पर विकासशील देश इसका उपयोग कर रहे हैं । राजनीतिक युद्ध का क्षेत्र व प्रकृति दोनों में ही परिवर्तन हुआ है परंतु उसका आधार विदेश नीति द्वारा सिद्ध किये जाने वाले हित ही हैं । शीत युद्ध के दौरान जहां सैनिक व राजनीति लाभ उद्देश्य थे । अब आर्थिक व राजनीतिक लाभ विभिन्न देशों की विदेशनीतियों के ध्येय हैं । ऐसे में विश्व स्तर पर राजनीतिक युद्ध के लक्ष्य बोध भी आर्थिक क्षेत्र में ही ज्यादा है । विश्वीकरण व्यापार, मुनाफा, इत्यादि की ओर देशों का ध्यान अधिक है और आर्थिक युद्ध व राजनीतिक युद्ध मिले–जुले नजर आते हैं । शीतयुद्ध ने प्रतिद्वन्द्वियों को रेखांकित कर दिया था, किन्तु आज के दौर में संभावित शत्रुओं की निशानदेही का कार्य भी चालू है । जिस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका इस्लामिक कट्टरतावाद को प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी मान अपने राजनीतिक युद्ध का मुख उस ओर किये हुए हैं । 1991 के खाड़ी युद्ध के पश्चात् भी इराक पर अमेरिकी दबाव एवं प्रतिबंध राजनीतिक युद्ध का ही उदाहरण हैं ।

17.11 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य

विगत शताब्दी में विश्व में युद्ध व युद्ध की तैयारियाँ किसी न किसी रूप में चलती रही हैं । शांति युद्ध विराम का पर्याय बनकर रह गई है । ऐसी स्थितियों में परंपरागत राजनय अप्रभावकारी व अपर्याप्त दिखाई देता है । अन्य उपकरण जो राजनय एवं युद्ध के बीच की स्थिति में ज्यादा उपयुक्त व उपयोगी हो रहे हों वे हैं – मनोवैज्ञानिक व राजनीतिक युद्ध । प्रोपेगेण्डा मनोवैज्ञानिक युद्ध का ही भाग है । प्रोपेगेण्डा हित संवर्द्धन के लिये दूसरों के मतों व व्यवहारों में अनुकूल परिवर्तन हेतु जानबूझकर किया गया प्रचार है, तो राजनीतिक युद्ध शत्रु को कमजोर करने के उद्देश्य से उठाये गये बाध्यकारी कदम हैं । प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध में इन दोनों उपकरणों का प्रयोग सैनिक प्रयासों के सहायक के रूप में किया गया जबकि द्वितीय विश्व युद्ध. के पश्चात् ये दोनों शीत युद्ध के अन्य विवादों के मुख्य शस्त्र रहें । अधिनायकवादी व साम्यवादी व्यवस्थाओं के अस्तित्व के लिये अपनाई गई युक्ति के दोनों अंतरंग आवश्यक भाग रहे जबकि उदारवादी व अन्य व्यवस्थाओं के आवश्यकतानुसार ही हित संवर्द्धन के लिये इनका प्रयोग हुआ। अधिनायकवादी व साम्यवादी व्यवस्थाओं में प्रोपेगेण्डा व राजनीतिक युद्ध अधिक संगठित एवं प्रखर रहा । शीत युद्धोस्तर विश्व में भी इनका प्रयोग जारी है । प्रतिद्वन्द्वी को बिना सैनिक युद्ध लड़े कमजोर बनाने के लिये व अन्य हितों को पूरा करने के लिये राजनीतिक व मनोवैज्ञानिक युद्ध कारगर उपाय है ।

17.12 अभ्यास कार्य :

1. प्रोपेगेण्डा को परिभाषित कीजिये।
2. प्रोपेगेण्डा का प्रयोग किन परिस्थितियों में व किन साधनों के जरिये किया जा सकता है ।
3. राजनीतिक युद्ध की प्रकृति व महत्व पर प्रकाश डालिये।

17.13 संदर्भ ग्रन्थ

1. डी. लिंकन हार्टर एवं जॉन सुलीवान : प्रोपेगेण्डा हैडबुक
2. ई. एच. कार : प्रोपेगेण्डा इन इंटरनेशनल पोलिटिक्स
3. डेनियल लर्नर : प्रोपेगेण्डा इन वार एण्ड क्रायसिस
4. स्काट जॉन : पोलिटिकल वार फेयर : ए गाईड टू कम्पीटीटिव को–एगझिस्टेंस
5. पामर एण्ड पार्किंस : इंटरनेशनल रिलेशन्स

इकाई – 18

राष्ट्रीय हित अभिवृद्धि का साधन : विचारधारा

इकाई की संरचना

18.1 उद्देश्य
18.2 प्रस्तावना
18.3 विचारधारा : अर्थ एवं प्रकृति
18.4 विचारधारा एवं राष्ट्रीय हित
18.5 विचारधारा : राष्ट्रीय हित अभिवृद्धि का साधन
18.6 विचारधारा : समर्थन प्राप्ति का आधार
18.7 विचारधारा : वास्तविक उद्देश्यों को छुपाने का आवरण
18.8 विचारधारा : सहयोग का आधार
18.9 विचारधारागत संघर्ष व हित अभिवृद्धि
18.10 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य
18.11 संदर्भ ग्रन्थ

18.1 उद्देश्य

इस इकाई के उद्देश्य हैं :

1. विचारधारा के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अर्थ व महत्व को स्पष्ट करना।
2. विचारधारा व राष्ट्रीय हित में संबंधों की विवेचना करना।
3. राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन के रूप में विचारधारा के उपयोग पर प्रकाश डालना ।

18.2 प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी विचारधारा की शताब्दी रही । अठारहवीं सदी का व्यक्ति **'विवेकवान'** प्राणी था, उन्नीसवीं शताब्दी का व्यक्ति आशावादी प्राणी था, तो बीसवीं शताब्दी का व्यक्ति **'अनुयायी'** । ऐसे विश्व में जो प्रतिदिन अधिक भयावह होता जा रहा हो, व्यक्ति विचारों की क्रमबद्ध व व्यापक व्यवस्था में ही संतोष प्राप्त करता है । सामाजिक जीवन की यही प्रवृत्ति अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भी साकार हुई । कई शक्तिशाली राज्यों ने ऐसी विचारधाराओं एवं संस्थाओं को अपनाया जो स्थापित उदारवादी प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं से भिन्न थीं । 1917 में रूसी क्रांति, इटली में फासीवाद, जर्मनी में राष्ट्रीय समाजवाद (नाजीवाद) विश्व इतिहास की महान घटनायें थीं । इन राज्यों विशेष के व्यवहार पर इन विचारधाराओं का प्रभाव और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उनकी भूमिका का विश्लेषण चिंतन के विषय रहे । इन्हें आक्रामक स्वतंत्रता विरोधी, शांतिविरोधी, आदि विशेषणों से विभूषित किया गया । द्वितीय विश्व युद्ध को प्रजातांत्रिक देशों द्वारा जापान, जर्मनी व इटली जैसे साम्राज्यवादी देशों के विरुद्ध संघर्ष माना गया तो दूसरी ओर द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् स्वतंत्र होने वाले उपनिवेशों के लिये ये पश्चिमी प्रजातांत्रिक देश ही साम्राज्यवादी और नव–साम्राज्यवादी थे । 1959 के पश्चात्

साम्यवादी विचारधारा अपनाने वाले दो देशों में मतभेद पैदा हुए, तो 1971 में साम्यवादी चीन व पूंजीवादी संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य मित्रता पूर्ण संबंध स्थापित हुए । चीन ने छठे दशक के अंत में न सिर्फ अमेरिका बल्कि सोवियत संघ को भी साम्राज्यवादी घोषित कर उनके विरुद्ध संघर्ष का आव्हान किया । इन सभी प्रसंगों ने विचारधारा के आशय व उद्देश्यों को आघात तो पहुंचाया ही इस प्रश्न को भी महत्वपूर्ण बना दिया कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा का क्या औचित्य व स्थान है । अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति संघर्ष है, अथवा विचारधाराओं का संघर्ष? विचारधारा नियंत्रक है? नीति निर्देशक है अथवा राष्ट्रीय हित, व राजनीति के अन्य विचारों व संप्रत्ययों को सिद्ध करने का उपकरण?

18.3 विचारधारा : अर्थ एवं प्रकृति

व्यापक रूप में विचारधारा का परीक्षण करें तो कई तरह के विचार इस में सम्मिलित किये जा सकते हैं । उदारवाद, परंपरावाद, प्रजातंत्र, संवैधानिक प्रजातंत्र सर्वाधिकारवाद, नाजीवाद, फासीवाद, नवफासीवाद, साम्यवाद, राष्ट्रवाद, अंतर्राष्ट्रीयवाद, मार्क्सवाद, गांधीवाद, समाजवाद, पूँजीवाद, उदारवाद, समष्टिवाद, इस्लाम, ईसाइयत, हिन्दूवाद इत्यादि । इस प्रकार विचारधाराओं की एक लंबी सूची बनाई जा सकती है । सिद्धान्तकार विचारधारा की उस परिभाषा से शायद ही सहमत हों जिनमें इन सभी को सम्मिलित किया जा सके, तथापि इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि ये सभी एक समानता रखते हैं, – "ये सभी विचारों के समूह हैं जो वास्तविकता या सच्चाई के सभी अथवा आंशिक पक्षों की व्याख्या करते हैं, साधन अथवा साध्य के संबंध में मूल्यात्मक वरीयता में प्रस्तुत करते हैं, और साधन या उद्देश्य की प्राप्ति हेतु की जा सकने वाली कुछ कार्यवाहियों को स्पष्ट करते हैं"। व्यक्ति के विश्वास पर आधारित ये विचारधारायें वर्तमान में कई तर्को द्वारा औचित्यपूर्ण ठहराई जाती है यहां तक कि इन्हें चन्द कहावतों एवं मुहावरों का स्वरूप प्रदान कर दिया गया है जिन्हें सामान्य जन सत्य मान स्वीकारते हैं । उदाहरण के तौर पर अमेरिकी विचारों को लिया जा सकता है, जिनमें **"स्वतंत्र उद्यम" 'व्यक्तियों के बजाय कानूनों की सरकार"** और **"सभी व्यक्ति समान हैं"** जैसे वाक्य उपयोग में लाये जाते हैं । इन विचारधाराओं में नैतिकता का समावेश भी होता है, चूँकि विचारधारा एक समूह के सामाजिक विश्वासों का सार होती है और सर्वोपरि समझी जाती है, अत : जो समूह इस समूह की मान्यताओं जैसे कि सभी व्यक्ति समान है को नहीं मानते अनैतिक व कम महत्वपूर्ण समझे जाते हैं अथवा विचारधाराओं में टकराव इसी नैतिकतावादी वैचारिक प्रवृत्ति के कारण उत्पन होते हैं । विचारधाराओं की स्पष्टता इस तथ्य से प्रभावित होती है कि एक ही व्यक्ति कई विचारधाराओं में विश्वास व्यक्त कर सकता और विभिन्न समाज एक ही विचारधारा को अंगीकार करते हैं । एक विशेष राष्ट्र राज्य में अधिकांश जनता द्वारा एक विशिष्ट विचारधारा के मूल सूत्रों में विश्वास स्थापित होने की दशा में ही किसी विचारधारा को राष्ट्रीय विचारधारा के रूप में प्रचारित किया जा सकता है और तभी उस राष्ट्र राज्य की वैचारिक संरचना स्पष्ट होती है । वर्तमान में संचार व प्रोपेगेण्डा या दुष्प्रचार द्वारा सत्ता में स्थापित समूह राजशक्ति की सहायता से बहुसंख्या व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त कर लेता है । अत : कहा जा सकता है कि विचारधारा जीवन समाज एवं सरकार के संबंध में

विचारों का ऐसा समूह है जो अधिकांशत : अभिभाषण द्वारा राजनैतिक सामाजिक एवं धार्मिक नारों से जन्मता है और सतत् प्रयोग व प्रचार के द्वारा शनै : शनै : विशेष समूह दल अथवा राष्ट्रीयता के विश्वास या प्रथाओं व नीतियों की विशेषता बन जाती है । यह वास्तविकता की व्याख्या तो करती ही है, राजनीतिक क्रियाकलापों के उद्देश्यों का निर्धारण भी करती है । राजनीतिक विचारधाराओं से प्रस्फुस्टित विदेश नीति के उद्देश्य प्राय : नारों के रूप में व्यक्त किये जाते हैं, जैसे 'व्यापार झंडे का अनुगमन करता है', जिसका भूमि पर नियंत्रण होगा वही समुद्र पर भी नियंत्रण कर लेगा ', 'श्वेत नस्ल का बोझ ' विश्व को प्रजातंत्र के लिये सुरक्षित बनाना' 'नयी विश्व व्यवस्था' 'विश्व क्रांति' इत्यादि । इस प्रकार प्रथमत : विचारधारा उस बुद्धिजीविय फ्रेमवर्क की स्थापना करता है । जिसके माध्यम से नीति निर्माता वास्तविकता का प्रेक्षण करते हैं । बाह्य वातावरण से आने वाले सभी संदेशों एवं संकेतों को विचारधारा द्वारा प्रदत्त श्रेणियों परिभाषाओं व भविष्यवाणी के संदर्भ में अर्थ दिया जाता है, एवं व्याख्या की जाती है । दूसरे विचारधारा नीति निर्माता को विश्व की आगामी दशा का प्रतिबिम्ब प्रदान करती है । जिसके अंतर्गत दीर्घकालीन उद्देश्य स्थापित हों और राजनय, प्रोपेगेण्डा क्रांति व बल द्वारा प्रोत्साहित किये जायें । तीसरे, विचारधारा विदेशनीति की युक्तियों को विवेक सम्मत ठहराने, औचित्य सिद्ध करने की सुविधा प्रदान करती है, जैसे कि पश्चिमी देशों में जहां विदेश नीतियों को 'स्वतंत्रता के संरक्षण ' के लोकप्रिय मूल्यों के आधार पर उचित ठहराया जाता है वहीं सोविक्त संघ ने इसे साम्यवादी विचारधारा के सामान्य मूल्यों के आधार पर उचित ठहराया । चौथे, यह ऐतिहासिक विकास के संदर्भ में विभिन्न समय व काल में अपनाई जा सकने वाली विदेशनीति की विशिष्ट युक्तियों को प्रदान करती है जिस प्रकार सोवियत संघ के कमजोर एवं एकमात्र समाजवादी राष्ट्र होने के कारण विश्व परिदृश्य को 'पूंजीवादी घेराबंदी' के रूप में परिभाषित कर विश्व क्रांति के उद्देश्य को छोड़ रूसी क्षमताओं को सुदृढ़ करने की युक्ति की आवश्यकता पर जोर दिया गया। इसी प्रकार "सृजनात्मक आलिप्ति" के संदर्भ में अमेरिकी विदेश नीति युक्तियों को शीत युद्धोपरांत काल में स्पष्ट किया गया। पाँचवें विचारधारा नैतिक एवं मूल्यात्मक व्यवस्था में तार्किक दृष्टिकोण व परीक्षण की कसौटियाँ प्रदत्त करती है जिसके अंतर्गत अपने कार्यो का परीक्षण किया जा सकता है ।

18.4 विचारधारा एवं राष्ट्रीय हित

विचारधारा एवं राष्ट्रीय हित के मध्य घनिष्ठ संबंध होता है और वे एक दूसरे से प्रभावित होते हैं । राष्ट्रीय हित अथवा उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एक विशेष विचार– धारा का सहारा लिया जा सकता है । तो विचारधारा हितों व उद्देश्यों के निर्धारण का कार्य भी कर सकती है । जिस प्रकार राष्ट्र–राज्य के अस्तित्व में सुरक्षा को प्राथमिक हित स्वीकारा जाना और इस हित की पूर्ति हेतु अन्य भौतिक हितों का त्याग स्वयं 'राष्ट्रवाद' की विचारधारा से अभिप्रेरित माना जा सकता है, परन्तु विचारधारा के तत्व को महत्वपूर्ण न मानने वाले इसे मात्र भ्रम पैदा करने व औचित्य सिद्धी का साधन मात्र मानते हैं । जिस प्रकार जेरेमी बेंथम ने भी इसे 'दिमाग की उड़ान' मात्र मानते हैं जो व्यवहार को उचित सिद्ध करने व वास्तविक प्रयोजनों को छुपाने के लिये उपयोग में लाई जाती है । अत : विचारधारा के तत्व को महत्वपूर्ण मानने वाले यदि यह

तर्क देते है कि सोवियत संघ के लिये साम्यवादी विचारधारा ही विश्व विजय का उद्देश्य निर्धारित करती है तो इसके विरोधी मत रखने वाले इसे मात्र जार व कमिसार द्वारा प्रेक्षित परंपरागत राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अपनाये गये साधन मात्र या उपकरण के रूप में ही देखते हैं । समस्या अधिक जटिल हो जाती है । जनहित व विचारधारा का टकराव वास्तव में विपरीत विचारधारात्मक तत्वों के अपनाने से उत्पन्न होती है । फिलिपिन्स पर संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा आधिपत्य इसी स्थिति को दर्शाता है । संयुक्त राज्य साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद का विरोधी रहा है, तब फिलीपीन्स पर आधिपत्य को किस रूप में लिया जाए? क्या फिलीपीन्स से व्यापार करने के हित या चीनी बाजार में प्रवेशद्वार के रूप में इसे उपयोग करने के हित साम्राज्यवाद विरोध की श्रेणी में रखे जा सकते हैं । राष्ट्रपति में किले ने आधिपत्य के लिये भिन्न कारण बताया। उनके अनुसार यह अमेरिका का ईसाई कर्तव्य था कि वह फिलीपीन्स वासियों को शिक्षित करें, सभ्य बनायें व ईसाई भ्रातृत्व के लिये उन्हें ईसाई बनायें । इस प्रकार उन्होंने इस आधिपत्य को मानवतावाद के नाम पर उचित ठहराया जो अमेरिकी विचारधारा का उतना ही भाग है, जितना कि साम्राज्यवाद विरोध । इस प्रकार यह पता करना अत्यंत कठिन है कि यह आधिपत्य के लिये था अथवा मानवतावाद के लिये था या प्रशांत महासागर के पार साम्राज्य फैलाने की अमेरिकी राष्ट्रवादी आकांक्षा के लिये ।

तीन कारणों से विचारधारा के राष्ट्रीय हित से संबंधों की यह समस्या उत्पन्न होती है । विचारधारा की प्रकृति, विभिन्न कारकों के प्रभावों को न माप पाने की समस्या जिसमें विचारधारा एक प्रभाव है, एवं एक विशेष विचारधारा के पक्ष एवं विपक्ष में अतिवादी, भावुक एवं विपरीत दावे प्रस्तुत किया जाना । तथापि विचारधारा एवं राष्ट्रीय हित के मध्य घनिष्ठ संबंध स्पष्ट है । राष्ट्रीय हित विशेष विचारधारा के अवलंबन का कारण बन सकते हैं तो विचारधारा राष्ट्रीय हितों को भी स्वरूप दे सकती है । किन्तु यदि विचारधारा एवं राष्ट्रीय हित के मध्य संघर्ष हो तो राष्ट्र राष्ट्रीय हित ही चुनता है और विचारधारा को त्याग देता है । अत : एक अर्थ में विचारधारा राष्ट्रीय हित के अधीनस्थ है । एक राष्ट्र के लिये राष्ट्रहित ही सर्वोपरि है ।

18.5 विचारधारा : राष्ट्रीय हित अभिवृद्धि का साधन

निर्णय निर्माण में जनता के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण भी विचारधारा का महत्व बढ़ा । 1914 के पूर्व अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का निर्धारण मात्र उन लोगों की चिंता थी जो व्यावसायिक तौर पर इससे जुड़े हुए थे, प्रजातांत्रिक देशों में भी विदेशनीति को दलीय–राजनीति के विषय क्षेत्र के बाहर ही माना गया । किन्तु धीरे–धीरे वैदेशिक संबंध जनता को बहुत समीप से प्रभावित करने लगे । अत : आम जनता चाहे सतत् व सकारात्मक रूप से अपने प्रभाव का उपयोग विदेश नीति को दिशा देने में न भी कर रही हो तो भी जनमत निर्णय निर्माताओं को उपलब्ध विकल्पों को सीमित कर देता है । जनमत का प्रजातांत्रिक देशों में तो अत्यधिक महत्व होता ही है अधिकतर देशों में भी नेता को इसका ध्यान रखना होता है । पुरानी तानाशाही या सर्वाधिक व्यवस्थाओं से भिन्न आधुनिक सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाएँ जनमत को अपनी नीतियों के अनुरूप बनाने की चेष्टा करती हैं ।

ये कार्य दो प्रकार से किया जाता है – एक तो जनता तक उन सूचनाओं को पहुँचने से रोकते हैं, जो शासक समझते हैं, कि उनके स्वयं के हितों के विरुद्ध हैं, और दूसरे जनता को उन विचारों व सिद्धान्तों का अनुयायी बनाने का प्रयास किया जाता है, जो व्यवस्था के अनुकूल हों । हालांकि प्रजातांत्रिक व्यवस्थायें भी इस प्रकार के वैचारिक नियंत्रण का उपयोग करती हैं, तथापि वे यह कार्य उतनी प्रभावपूर्णता से नहीं कर पाती है जितना कि सर्वाधिकारवादी व्यवस्थायें कर सकती है । अत : विचारधारा जहां एक ओर उन सीमाओं का मोटे तौर पर निर्धारण कर देती है, जिसके अंतर्गत ही निर्णय निर्माण होना चाहिये, तो दूसरी ओर यह उस यंत्र का कार्य करती है जिसका उपयोग करके नीति निर्माता अपने निर्णयों के लिये जनता का समर्थन जुटाते हैं, वे विचारधारा का उपयोग निर्णयों को विवेक सम्मत ठहराने, असली उद्देश्यों को छुपाने व इस प्रकार उद्देश्यों व नीतियों हेतु समर्थन जुटाने के लिये करते हैं । यही कारण रहा है कि विचारधारा जो वैचारिक व सैद्धान्तिक संदर्भो में उद्देश्य निर्धारण, मार्गदर्शक या पथ प्रदर्शक होना चाहिये थी, राजनीति की अनिवार्यताओं के कारण राष्ट्रीय हित के सामने गौण व हितों की अभिवृद्धि के साधन के रूप में उपयोग होने लगी है । प्रत्येक राष्ट्र के राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिये विचारधारा को ही हितों के अनुरूप ढालने व व्याख्या करने की चेष्टा की गई । सुरक्षा प्रथम राष्ट्रीय हित है और इसी आधार पर ही द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका व सोवियत संघ की विपरीत विचारधाराओं के बावजूद हिटलर के विरुद्ध सहयोग, किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एक दूसरे के प्रथम शत्रु के रूप में प्रस्तुत होने की व्याख्या की जा सकती है ।

कुछ विद्वानों का मत है कि यदि विचारधारा हित अभिवृद्धि न कर सके तो यह निरर्थक है । यही कारण रहा कि भक्तिवाद की एक ही विचारधारा को कई बार संशोधित किया गया । लेनिन, स्टालिन जैसे रूसी, माओ जैसे चीनी नेताओं ने ही नहीं बल्कि यूगोस्लाविया, पोलैण्ड और क्यूबा के नेताओं ने राष्ट्रीय हित के स्वरूप मार्क्सवाद को ढालने व परिवर्तित करने का प्रयास किया। ये विचारधारा के लिये राष्ट्रीय हितों का बलिदान नहीं कर सकते थे । यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो से स्टालिन के मतभेद, माओ द्वारा ख्रुश्चेव की आलोचना, ब्रेझनेव द्वारा पोलैण्ड के जेरुझेलम को निर्देश इस दृष्टि से देखे जा सकते हैं । आर्थिक पूँजीवाद को अपनाकर भी राजनीतिक दृष्टि से साम्यवाद पर आधारित व्यवस्था को छोड़ने के लिये तैयार नहीं है । चीन में साम्यवाद का वर्तमान स्वरूप मार्क्सवाद का खोल मात्र है । यह विचारधारा के प्रति भक्तिभाव नहीं, हितों के प्रति आसक्त होने की अनिवार्यता का बोध है, जिसमें विचारधारा मात्र उन स्थानों पर शेष है जहाँ यह हिताभिवृद्धि कर सकती है ।

अंग्रेज राजनेता पामरस्टोन ने विचार दिया था कि विश्व राजनीति में सर्वोपरि राष्ट्रीय हित होते हैं । वैचारिक मतभेद विदेशनीति के सैद्धान्तिक जगत में तो अस्तित्व में रह सकते हैं किन्तु व्यावहारिक जगत के राजनय में इनमें नमनीयता आ जाती है । राजनायिकों के परिष्कृत व्यवहार समान हितों के क्षेत्रों को ढूँढ लेते हैं और कट्टर. विरोधी राष्ट्रों के मध्य भी इस तरह के क्षेत्र खोज लिये जाते हैं ।

18.6 विचारधारा : समर्थन प्राप्ति का आधार

सरकार के विदेशनीति संबंधी निर्णयों के लिये जनता का समर्थन तथा समस्त राष्ट्रीय ऊर्जा व संसाधन जुटाने हेतु आवश्यक है कि राजनेता जैविक आवश्यकताओं व विचारों के संदर्भ में – जैसे राष्ट्रीय सुरक्षा अथवा नैतिक संदर्भो – जैसे न्याय–मेह बात रखें । यही एक मार्ग है जिसके माध्यम से राष्ट्र की जनता से उत्साह व त्याग की आशा की जा सकती है और जिसके बिना कोई विदेश नीति अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सशक्तता से संचालित नहीं हो सकती । इन्हीं मनोवैज्ञानिक कारणों से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा शक्ति संघर्ष के एक हथियार के रूप में प्रयुक्त की जाती है । एक सरकार जिसके विदेश नीति संबंधी आव्हान लोगों के बुद्धिजीवियों एवं नैतिक मूल्यों द्वारा सहमति प्राप्त करते हैं, वह अपने विरोधी राष्ट्र के मुकाबले में लाभ की स्थिति में रहता है । यदि विरोधी ने ऐसे उद्देश्यों को नहीं चुना है जो बुद्धि व नैतिकता के आधार पर समर्थन प्राप्त कर सकें ।

विचारधारा ऐसा हथियार अथवा यंत्र है जिसके माध्यम से राष्ट्रीय मनोबल को ऊँचा किया जा सकता है । इस तरह राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि की जा सकती है, एवं विरोधी के मनोबल को गिराया जा सकता है । बुडरो विल्सन के चौदह सूत्रों का मित्र राष्ट्र की विजय में योगदान रहा क्योंकि इसने मित्र राष्ट्रों के मनोबल को सशक्त किया व केन्द्रीय शक्तियों के मनोबल को कमजोर किया।

विचारधारा व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक व बौद्धिक आवश्यकता की पूर्ति करती है क्योंकि वह जानना चाहता है कि उसका गंतव्य क्या है? और जो वह कर रहा है वह उचित है अथवा अनुचित है । समाज द्वारा स्वत : ग्रहित मूल्यों व आदर्शो का प्रभाव प्राकृतिक होता है, तब ये उद्देश्यों के निर्धारक होते हैं किन्तु जिस रूप में राजनीति में इनका उपयोग होता रहा है उससे स्पष्ट है कि विचारधारा को उद्देश्य पूर्ति के लिये आरोपित किया जा सकता है । यदि स्वतंत्रता मानव चेतना की आवश्यकता है तो फिर कैसे 70 वर्षों तक व्यक्ति समानता को स्वतंत्रता से प्रधान मान उस आधार पर परिभाषित स्वतंत्रता का सत्यमान एक व्यवस्था का भाग बना रह सका ? व्यक्ति की स्वीकृति निर्देशित आरोपण हो सकता है, फिर यह चाहे धर्माधारित हो अथवा व्यवस्था निर्धारित या व्यक्ति निर्धारित । आधार कोई भी क्यों न हो यह विशेष हितों की अभिवृद्धि ही करता है । ये हित सुरक्षा के हो सकते हैं या विकास के भी । इन हितों की पूर्ति हेतु जहाँ व्यवस्था आरोपित विचारधारा स्वीकृत रहती है वहीं राष्ट्रीय हितों के लिये भी इस विचारधारा के माध्यम से समर्थन जारी रहता है ।

वर्तमान में उद्देश्य पूर्ति हेतु देश की जनता का समर्थन ही नहीं वरन् विश्व के अन्य देशों की जनता का समर्थन भी आवश्यक है । एक देश की विदेशनीति के संचालन से प्रभावित देश की जनता समस्त प्रक्रिया को उत्सुकता से देखती है । सूचना व संचार के प्रसार ने इसे नये आयाम दिये हैं विश्व जनमत को पक्ष में रखकर ही उद्देश्य पूर्ति संभव हो सकती है । अत : इस हेतु प्रोपेगेण्डा के रूप में विचारधारा अपनी बुद्धिजीविय शक्ति से विदेशों में अनुयायियों को तैयार करती है । मूलभूत सिद्धान्तों का प्रसार व्यक्तियों को भी इन सिद्धान्तों के संदर्भ में ही वस्तुओं व घटनाओं को देखने की प्रेरणा देती है ।

18.7 विचारधारा : वास्तविक उद्देश्यों को छुपाने का आवरण

राजनीति की यह विशेषता है कि यह वास्तविक स्वरूप–शक्ति के संघर्ष को प्रकट रूप से नहीं दर्शाती बल्कि शक्ति के तात्कालिक लक्ष्य को नैतिक, जैविक एवं वैधानिक शब्दावली में औचित्य सिद्ध करते हुए स्पष्ट करती है । तात्पर्य यह है कि किसी भी नीति की असली प्रकृति व वास्तविक उद्देश्य वैचारिक औचित्य सिद्धि एवं विवेचना में छुपा रहता है । विचारधारा शक्ति संघर्ष को मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक आधार पर स्वीकृत बनाती है । सभी राष्ट्र स्वयं के शक्ति उद्देश्यों को उचित और दूसरे राष्ट्रों की समान शक्ति आकांक्षाओं का विरोध करते हैं । द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् रूसी सदैव अपनी शक्ति आकांक्षाओं को सुरक्षा के लिये आवश्यक सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे और अमेरिकियों के समान कृत्यों की आलोचना 'साम्राज्यवादी' कह सकते थे । इसी प्रकार अमेरिका स्वयं की शक्ति आकांक्षाओं को प्रजातंत्र–उदारवाद के नाम पर उचित व सोवियत कार्यवाही को अनुचित सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहा । अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति के कारण ही इस प्रकार वैचारिक आवरण व औचित्य आवश्यक है । यदि कोई राष्ट्र खुले रूप से अपनी शक्ति आकांक्षाओं को स्वीकारे तो वह अत्यंत ही अलाभकारी स्थिति में आ जायेगा, क्योंकि यह अन्य राष्ट्रों को इसके विरुद्ध एक हो जाने का अवसर होगा और दूसरे, इस तरह की स्वीकारोक्ति मान्य सार्वभौमिक नैतिक नियमों का खुला उल्लंघन होगी।

प्रसिद्ध विद्वान मार्गेन्थो के अनुसार साम्राज्यवादी नीतियों को सदैव ही विचारधारा के आवरण की आवश्यकता होती है जबकि यथापूर्व स्थिति को बनाये रखने वाली नीतियाँ वास्तविक स्वरूप को प्रदर्शित कर सकती हैं । यथापूर्व स्थिति को बनाये रखने में ही यदि राष्ट्रहित है तो इस उद्देश्य को छुपाने की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि वह स्थिति अस्तित्व में रहती है । तथापि शांति की विचारधारा को यथापूर्व स्थिति को औचित्यपूर्ण ठहराने के लिये उपयोग में लाया जाता है । चूंकि साम्राज्यवादी नीतियाँ यथापूर्व स्थिति को बिगाड़ती है व युद्ध की जनक होती है, अत : वह देश जो अपने उद्देश्यों को यथा स्थिति बनाये रखने के लिये शांति समर्थक की शब्दावली में रखता है । विरोधी को युद्धोन्मादी घो कर स्वयं के नागरिकों की नैतिक चेतना का समर्थन तो प्राप्त करता ही है उन सभी देशों का समर्थन भी प्राप्त करता है जो यथास्थिति बनाये रखने के समर्थक हैं ।

यथापूर्व स्थिति के विपरीत साम्राज्यवादी उद्देश्य रखने वाली नीतियों का औचित्य सिद्ध करना सदैव ही अनिवार्य होता है क्योंकि स्थापित व्यवस्था व शक्ति संतुलन को बदलने की आवश्यकता को भी स्थापित करना होता है । इस आवश्यकता को वैचारिक आधार प्रदान करना होता है । अंतर्राष्ट्रीय कानून प्रकृति के आधार पर यथापूर्व स्थिति का ही समर्थन करता है । साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिये गत्यात्मक विचारों की आवश्यकता होती है । अत : साम्राज्यवादी नीतियाँ अंतर्राष्ट्रीय कानून के स्थान पर प्राकृतिक कानून और उससे संबंधित विचारों को आधार बनाती है । अंतर्राष्ट्रीय कानून को अन्यायपूर्ण व प्राकृतिक कानून के आधार पर न्याय स्थापित करने की आवाज लगाई जाती है जिस प्रकार राष्ट्रीय समाजवादी जर्मनी ने वर्साय की संधि पर आधारित स्थिति को बदलने की माँग समानता के सिद्धान्त के आधार पर की जिसका कि यह संधि उल्लंघन करती थी । शक्ति शून्यता से उत्पन्न यथापूर्व स्थिति को जीतने व बदलने के लिये राष्ट्रीय मिशन, श्वेत व्यक्ति का बोझ ईसाई कर्त्तव्य इत्यादि विचारों का उपयोग किया

गया। औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के उद्देश्यों को भी पश्चिमी सभ्यता का आर्शीवाद, इत्यादि विचारों से ढका गया। जापान ने पूर्वी एशिया के "सह समृद्धि क्षेत्र" के मानवीय प्रयोजन में साम्राज्यवादी उद्देश्यों को दर्शाया। अरबवाद व अरब विस्तार को धार्मिक दायित्वों के पालन का जामा पहनाया गया । नैपोलियन के साम्राज्यवादी उद्देश्यों की पूर्ति हेतु स्वतंत्रता, समानता, भातृत्व की मशाल जलाई गई । रूसी साम्राज्यवाद कास्टेंटिनोपल व डार्डेनलीज को प्राप्त करने की आकांक्षाओं को "स्लाववाद" "विश्व क्रांति" और "पूंजीवादी" "घेराबंदी" से सुरक्षा का उपयोग किया गया। किन्तु साम्राज्यवादी उद्देश्यों की सर्वाधिक प्रभावी अभिव्यक्ति साम्राज्यवाद विरोधी की विचारधारा में हुई । इसका प्रयोग भी सर्वाधिक हुआ क्योंकि साम्राज्यवाद की विचारधाराओं में यही सबसे अधिक प्रभावी सिद्ध हुई । 1914 एवं 1939 में दोनों ही पक्ष स्वयं को दूसरे पक्ष से उत्पन्न साम्राज्यवादी खतरे से बचाने के लिये युद्धरत हुए । द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात सोवियत संघ, चीन, अमेरिका एवं ब्रिटेन अपनी विदेश नीतियों के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अन्य देशों के साम्राज्यवादी प्रयोजनों को रेखांकित करते रहते । शीत युद्ध, शस्त्रों की होड़, परमापु शस्त्रों का भण्डार का औचित्य सिद्ध करने के लिये दूसरी महाशक्ति के साम्राज्यवादी इरादों को आधार बनाया । इस प्रकार विदेश नीति को साम्राज्यवाद विरोधी रूप प्रदान कर और यथापूर्व स्थिति का पक्षधर बता सुरक्षात्मक स्वरूप प्रदर्शित करने से स्वयं के देश की जनता के समक्ष, न्यायोचित सिद्ध किया जाता है । अन्यथा जनता का पूर्ण समर्थन पाना किसी भी विदेश नीति उद्देश्य के लिये असंभव होता है ।

कभी–कभी एक ही विचारधारा का प्रयोग यथापूर्व स्थिति बनाये रखने और साम्राज्यवादी इरादे रखने वाले दोनों ही प्रकार के राज्य करते हैं । **'शक्ति संतुलन'** का वैचारिक हथियार के रूप में उपयोग दोनों ही प्रकार के पक्षों ने किया (यथास्थिति बनाये रखने के समर्थक एवं साम्राज्यवाद को बढ़ावा देने वाले) । राष्ट्रीय आत्म–निर्णय की विचारधारा ने भी इसी तरह का आवरण प्रदान किया। राष्ट्रीय आत्म–निर्णय के सिद्धान्त की जिस प्रकार बुडरों विल्सन ने विवेचना की उसने मध्य एवं पूर्वी यूरोप की राष्ट्रीयताओं की विदेशी आधिपत्य से स्वतंत्रता को उचित ठहराया। सैद्धान्तिक तौर पर यह न सिर्फ साम्राज्यों की यथास्थिति के विरुद्ध था वरन सभी प्रकार के साम्राज्यवाद के विरुद्ध भी था – चाहे वे पुरानी साम्राज्यवादी शक्तियाँ – जर्मनी, आस्ट्रिया या रूस हो अथवा छोटे स्वतंत्र हुए देश। फिर भी पुरानी साम्राज्यवादी व्यवस्था को भिन्न–भिन्न करते हुए नयी व्यवस्था स्थापित की गई जिसमें नई साम्राज्यवादी शक्तियाँ, पोलैण्ड चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, यूगोस्ताविया इत्यादि ने भी राष्ट्रीय आत्म निर्णय के वैचारिक यंत्र का उपयोग किया । पुरानी साम्राज्यवादी व्यवस्था के समाप्त होने से शक्ति शून्यता की स्थिति पैदा हुई थी और इन राष्ट्रों ने उसे भरने के लिये स्वतंत्र छोटे राष्ट्रों को सम्मिलित किया। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति से लेकर द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति तक इस स्थिति को बनाये रखने के लिये भी राष्ट्रीय आत्म निर्णय सिद्धान्त का उपयोग किया गया। हिटलर ने इसी सिद्धान्त का उपयोग कर चेकोस्लोवाकिया व पोलैण्ड में उपस्थित जर्मन अल्पसंख्यकों के प्रश्न को सीमाओं के विस्तार के साम्राज्यवादी उद्देश्यों को पूरा करने के लिये उपकरण बनाया ।

संयुक्त राष्ट्र की विचारधारा का उपयोग विभिन्न देशों द्वारा अपने विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अपने दावों को औचित्यपूर्ण सिद्ध करने व वास्तविक उद्देश्यों को छिपाने के लिये किया जाता रहा है । सभी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संरक्षक के रूप में स्वयं को बताते हैं और अपनी विभिन्न नीतियों के लिये चार्टर के प्रावधानों का उल्लेख करते हैं । विरोधियों की विरोधाभाषी नीतियाँ भी संयुक्त राष्ट्र व उसके चार्टर का उपयोग आवरण व असली उद्देश्यों को छिपाने के उपकरण के रूप में करते हैं जिससे सर्वसम्मत सिद्धान्तों के अनुरूप नीतियों को सिद्ध किया जा सके और अपने मित्रों से संबंध बेहतर किये जा सकें व विरोधियों को मात दी जा सके ।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् शांति की विचारधारा, तनाव शैथिल्य व संबंधित विचारों का भी उपयोग इसी तरह किया गया। तृतीय. विश्व युद्ध का सर्वव्याप्तभय जो आधुनिक परमाणु हथियारों से लड़ा जा सकता है, के कारण कोई भी देश जो अपने स्वयं के देशवासियों व अन्य देशों के लोगों को स्वयं के शांतिपूर्ण प्रयोजनों का विश्वास दिला सकें विदेश नीति के लिये समर्थन ही नहीं जुटा सकता जबकि समर्थन प्राप्ति उद्देश्य पूर्ति के लिये महत्वपूर्ण व अनिवार्य है। यही कारण रहा है कि शांति सम्मेलन, शांति अभियान इत्यादि शीत युद्ध के हथियार बने । इसी प्रकार ही निशस्त्रीकरण के विचार को भी, रखा गया । शीतयुद्ध के दौरान महाशक्तियों के मध्य की शस्त्र स्पर्धा और शीत युद्धोपरान्त कई विकासशील देशों का शस्त्रों के प्रति रूझान निशस्त्रीकरण को वास्तविक नहीं बना पाया तथापि राष्ट्र 'सामान्य व पूर्ण निशस्त्रीकरण ' के विचार को उद्देश्य के साथ में प्रदर्शित कर अपनी नीतियों व वास्तविक उद्देश्यों को छुपाते व समर्थन प्राप्त करते रहें ।

18.8 विचारधारा : सहयोग का आधार

विचारधारा समाज में मूल्यों एवं दृष्टिकोणों की समानता उत्पन्न करती है । मूल्यों व दृष्टिकोणों की समानता न सिर्फ समाज व राज्य के अंदर ही एकता व सहयोग को प्रशस्त करतीं है वरन् समाज विचारधारा विभिन राष्ट्र–राज्यों के मध्य भी सहयोग के अवसरों में वृद्धि करती है । राज्य समान विचारधारा का उपयोग संबंधों को सहयोगात्मक स्वरूप प्रदान करने में करते हैं । समान उद्देश्यों व समान हितों की व्याख्या भी विचारधारा करती है और सहयोगात्मक संबंधों की नींव भी रखती है । सोवियत संघ एवं पूर्वी यूरोप के संबंध विचारधारा के बंधक थे तो साम्यवादी चीन एवं सोवियत संघ के मध्य प्रारंभिक सहयोग समान विचारधारा एवं उस पर आधारित व्यवस्था अपनाये जाने के कारण ही संभव हुआ । पश्चिमी यूरोप के देशों एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य सहयोग का आधार वास्तव में उदारवादी प्रजातंत्र की विचारधारा ही थी । यूरोप के एकीकरण व यूरोपीय समुदाय की स्थापना का आधार इन देशों में स्थापित वैचारिक एकता ही रही है तो दूसरी ओर ' दक्षिण एशिया में दक्षेस अथवा सहयोग के न हो सकने के पीछे वैचारिक स्तर पर सोच का भिन्न होना व दृष्टिकोणों की असंबद्धता है । विचारधारा की असंबद्धता उन राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा कर रही है । जो सहयोग स्थापित करने पर पूर्ण हो सकते हैं । राजनीतिक मुद्दों में समक्ष की प्रौढ़ता आर्थिक स्तर पर सहयोग की सूत्रधार होती है।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् नवस्वतंत्र राष्ट्रों व सोवियत संघ के मध्य सहयोग व सौहार्द्र की संभावनाएं पश्चिमी देशों के साथ सहयोग से अधिक रही। साम्यवादियों के 'मुक्ति ' के विचार एवं आर्थिक विकास के नियोजन के विचारों व उपागम से नवस्वतंत्र देश आकर्षित

हुए। ये विचार नवस्वतंत्र देशों के उपनिवेशवाद विरोधी विचारों से भी मेल खाते थे । सोवियत संघ ने सदैव उपनिवेशों की स्वतंत्रता की वकालत की, जिससे साम्राज्यवादी पश्चिमी शक्तियों को सुरक्षात्मक रवैया अपनाने पर मजबूर होना पड़ा । इसी प्रकार सोवियत संघ ने ऐसी विश्व परिस्थितियों का निर्माण किया कि विभिन्न स्वतंत्रता संघर्षो को प्रोत्साहन मिला । सोवियत संघ पश्चिम की नस्लवादी रंगभेदी नीतियों के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र में भी निषेधाधिकार का प्रयोग करता रहा ।

जहाँ विचारधारा स्वत : हितों व उद्देश्यों में एकता स्थापित करती है वहीं विशेष हितों की सिद्धि के लिए विचारधारा का उपयोग भी सप्रयास किया जा सकता है । सदियों की दासता से मुक्ति के पश्चात् नवस्वतंत्र देशों का उद्देश्य राजनीतिक स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखना और आर्थिक विकास करना था । उद्देश्यों की समानता ने इन्हें एक से विचारों को अपनाने के लिये प्रेरित किया । असंलग्नता (गुटनिरपेक्ष) के विचार को अपनाना कुछ राष्ट्रों ने इसलिये भी हितकर माना क्योंकि असंलग्नता के विचारों पर आधारित आंदोलन ने इसे समूह की शक्ति प्रदान की और विकास के लिये आवश्यक अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों के निर्माण व परिवर्तन की रणनीति प्रदान की । उद्देश्यों की समानता ने वैचारिक एकता व सहयोग उत्पन्न किया और 1961 में प्रारंभ 25 देशों की सदस्यता वाले इस आंदोलन में 100 से अधिक देश सदस्य बन गये । निर्भरता के द्वन्द्व में फंसे इन विश्वतंत्र देशों की दृष्टि में सामूहिक शक्ति इन्हें वांछित सौदेबाजी की शक्ति प्रदान कर सकती थी जिससे ये पश्चिमी विकसित राष्ट्रों के समक्ष बराबरी का दर्जा प्राप्त करने व अन्य आर्थिक हितों को भी सिद्ध का सकते थे । 'नयी अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था' की माँग; उत्तर–दक्षिण संवाद एवं दक्षिण–दक्षिण सहयोग; राज्यों का प्राकृतिक संसाधनों पर संप्रभु अधिकार इत्यादि संदर्भों में यही भावना प्रस्फुटित हुई ।

18.9 विचारधारागत संघर्ष व हित अभिवृद्धि

1945 के पश्चात् विचारधारा अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष का प्रमुख स्त्रोत दिखाई देने लगी । राज्यों के दो समूह बन गये । प्रत्येक राज्य राजनीतिक, आर्थिक विधानों व मूल्यों की व्यवस्थाओं के अनुसार ही गुट में सम्मिलित हुए । तथापि विचारधारा को इस संघर्ष का एकमात्र स्रोत व निर्धारक नही माना जा सकता। रूस व संयुक्त राज्य अमेरिका दो महाशक्तियाँ रही और बड़ी शक्तियाँ सदैव एक दूसरे की सुरक्षा व विशेष हितों के लिये खतरा होती है । वहाँ भी जहाँ विचारधारागत वैमनस्यता उपस्थित न हों । इस शताब्दी के प्रथम दशक में जर्मनी का उच्च औद्योगिकृत प्रथम श्रेणी के रूप में उभरना तुरंत ही ब्रिटेन व फ्रांस द्वारा एक खतरे के रूप में मान्य किया गया व तीनों ही देशों द्वारा समान राजनीतिक सामाजिक विधान होने के बावजूद इसमें कोई अंतर नहीं हुआ। भय की उपस्थिति दोनों ही मामलों में रही । विचारधारा का विरोध न भी हो तो भी शंका, भय, असुरक्षा की भावना दोनों महाशक्तियों के बीच विद्यमान रही । शक्ति का जिस सीमा तक इन्होंने अर्जन कर लिया था, जिस विस्तृत क्षेत्र पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, पृथ्वी के कई हिस्सों में इनके हित टकराते थे अत : तनाव का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। हित संरक्षण व अभिवर्दन की प्रक्रिया में समान भय को रखने वाले देशों के मध्य इस संघर्ष, तनाव व भय ने सहयोग का सूत्रपात किया जिसने संघर्ष को कम करने के

बजाए दो महाशक्तियों के संघर्ष में समस्त यूरोप व अधिकांश विश्व को तनावग्रस्त कर दिया व संघर्ष को तीव्र बनाया ।

विचारधारा संघर्ष अवास्तविक हो सकते हैं जो अनावश्यक ही अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को जटिल बनाते हैं । वैचारिक संघर्ष इस कारण अर्थहीन होता है क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पूर्ण अच्छाई व पूर्ण बुराई के बीच संघर्ष के रूप में नहीं है बल्कि भौतिकवादी विश्व में यथार्थवादी उद्देश्यों की पूर्ति में लगे कर्ताओं के मध्य है । विश्व राजनीति अपनी प्रकृति के कारण सापेक्ष ही है निरपेक्ष नहीं । एक विचारधारा जो किसी भी मुद्दों को पूर्ण नैतिक संदर्भों में रख निरपेक्ष साधनों से सिद्ध कर पूर्ण विजय की कामना करती हो वास्तविकता में सफल नहीं हो सकती । यह जटिल प्रकृति की विश्व राजनीति को अधिक जटिल बनाने का कार्य ही करती है । एक सरकार जो विचारधारागत उद्देश्यों की पूर्ति में ही नीति व शक्ति लगाती है । वह स्वयं के प्रधान सरोकार – राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि से उसी अनुपात में ध्यान हटा देती है । शीत युद्ध के दौरान अमेरिका के लिये यह अर्थहीन था कि सोवियत संघ अच्छा है, बुरा है, नैतिक है, अनैतिक, उसका ध्यान तो वास्तव में इस ओर था कि सोवियत संघ या रूसी शक्ति विश्व में किन–किन स्थानों पर अमेरीकी राष्ट्रीय हितों को खतरा उत्पन्न कर रही है । राष्ट्रीय हितों को खतरा ही नीतियों का आधार रहा और यही कारण रहा कि अमेरिका ने साम्यवाद के विरोध का नारा लगाते हुए उन गैर प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं (सैनिक अधिनायकवादी) से भी सहयोग किया जिनसे विचारधारा के आधार पर संघर्ष होना चाहिये था। विचारधारा को उद्देश्यों व राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि हेतु कभी संघर्ष का साधन व कभी सहयोग का साधन बनाया जाता रहा है ।

शीतयुद्धोपरान्त परिवर्तित विश्व परिपेक्ष्य में विचारधारागत संघर्ष की समाप्ति का उद्घोष अमेरीकी हित में रहा है । उदारवादी पूंजीवादी व्यवस्था को संपूर्ण विश्व में एकरूप में फैलाने के लिये 'इतिहास के अंत ' या उदारवाद को एकमात्र सत्य के रूप में प्रचारित किया जाना वास्तव में अमरीकी व पश्चिमी राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि हेतु निष्कंट मार्ग प्रशस्त करना ही है । लेनिन ने अपनी पुस्तक **'साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की चरम अवस्था'** में राष्ट्रराज्य के व्यवहार की सैद्धान्तिक विवेचना की थी कि "एकाधिकारवादी पूंजीवाद उस अतिरिक्त पूंजी को सुरक्षित रूप से निवेश कर सकने की आवश्यकता है जो घरेलू बाजार में अधिक मुनाफा दे सकने की स्थिति में नहीं है" । यही साम्राज्यवाद की पूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या नहीं करता, तथापि यह आधुनिक औद्योगिक एवं बैंकिंग संस्थानों द्वारा राष्ट्रीय सीमाओं को लांघने की एवं विश्व संसाधनों व बाजारों में पहुँच पाने की विशेष आवश्यकता की ओर ध्यानाकर्षित करता है । इस सैद्धान्तिक विवेचना ने उस तथ्य की ओर संकेत किया कि राष्ट्र में ऐसे समूह होते हैं जिनका हित अपने राष्ट्र की सला दूसरे स्थानों, संसाधनों व व्यक्तियों पर विस्तृत करने में होती है । साम्राज्यवाद उस शास्त्रीय स्वरूप में आज लागू नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीय क्षमताओं का प्रश्न तो है ही साथ ही सभ्यता भी सैनिक शक्ति के शुद्ध प्रयोग के बजाए वैचारिक शक्ति के परिवर्द्धित साधनों को अधिक मान्यता प्रदान करती दिखती है । आर्थिक साधनों के अप्रत्यक्ष दबावों की रणनीति के सहायक के रूप में उदारवादी पूंजीवाद का विजय घोष और वैश्वीकरण की अनिवार्यता का उद्घोष बिना सैनिक विजय और उपनिवेशों के वही प्रभाव स्थापित कर सकता है जो साम्राज्यवाद ने सैनिक विजय व उपनिवेशों के माध्यम से किया। क्योंकि अब साम्राज्यवाद

को पुराने स्वरूप में लागू कर सकना न तो संभव है और न ही राज्यों की सामर्थ्य में है । अत : यह विचार प्रसारित व प्रचारित कर पाना आसान है, कि मिश्रित अर्थव्यवस्था एवं राज्य निर्देशित अर्थ व्यवस्था विकास का सही मार्ग नहीं है । सोवियत संघ की आर्थिक निर्बलता व विकासशील देशों में अधिकांश का अपेक्षित विकास न कर पाना उदारवादी पूंजीवादी हितों की अभिवृद्धि हेतु अनुकूल पर्यावरण निर्मित करते हैं ।

सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् संघर्ष की पूर्ण समाप्ति विश्व शांति व सौहार्द्र के लिये आकांक्षित थी तथापि 'सभ्यताओं के संघर्ष ' का विचार प्रदान करना न सिर्फ पश्चिमी हितों को नये संदर्भो में व्याखित करना है, वरन हित सिद्धि के प्रयासों को सैद्धान्तिक एवं वैचारिक सुदृढ़ता प्रदान करना है । मित्रों व शत्रुओं की नये सिरे से पहचान इसी विचारधारा के माध्यम से की जा रही है । ताकि हित अभिवृद्धि हेतु सहयोग व संघर्ष की रूपरेखा स्पष्ट की जा सके । विचारधारा को उपकरण बना शीतयुद्ध में सोवियत संघ की शक्ति को खतरे के रूप में परिभाषित कर हित संवर्द्धन आसान रहा। किन्तु प्रतिद्वन्द्वी की स्पष्ट पहचान का अभाव पुन : अमेरिका जैसे देशों को विचारधारा के आधार पर शत्रु की पहचान करने को बाध्य कर रहा है अत : आज जो अमेरिकी विचारों के अनुरूप आर्थिक राजनीतिक तकनीकी वाणिज्यक क्षेत्र में कार्य न करें वह शत्रु निरूपित होगा ।

18.10 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य

बीसवीं शताब्दी में विचारधारा के तत्व ने अंतराष्ट्रीय संबंधों को अत्यधिक प्रभावित किया है । विचारधारा ने संघर्ष की रूपरेखा गढ़ी तो सहयोग की आधारशिला भी रखी । संघर्ष व सहयोग की घटनाओं में विचारधारा की भूमिका इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हो गई है कि इसका उपयोग साधन के रूप में किया गया साध्य के रूप में नहीं । विचारधारा को साध्य के रूप में अपनाये जाने से किसी भी देश की विदेशनीति की दिशा व राष्ट्रीय हितों का निर्धारण अनिवार्यता : विचारधारा की सीमाओं के अंतर्गत होता किन्तु व्यवहार में विचारधारा को ही हितों के अनुरूप ढालने की प्रवृत्ति ने स्पष्ट किया कि किसी राष्ट्र के लिये राष्ट्रीय हित ही सर्वोपरि होता है । राष्ट्रीय हित की सर्वोपरिता के स्थापित होने से जहाँ–जहाँ राष्ट्रीय हित विचारधारा के आड़े आये विचारधारा में आवश्यकतानुसार संशोधन कर लिया गया। फिर चाहे यह एक देश में समाजवाद ' की स्टालिनवादी संकल्पना हो चीन की समाजवादी बाजार अर्थव्यवस्था हो, ख्रुश्चेव का शांतिपूर्ण सहअस्तित्व या गोर्वाचेव का 'नया राजनीतिक चिंतन ' हो । विचारधारा में बहुत तोड़ मरोड़ ने सत्ताधारी वर्ग को समाज में स्वीकृत मूल्यों के अनुरूप कार्यों को रख जनता का समर्थन प्राप्त करना आसान हो जाता है । कभी–कभी विचारधारा से भिन्न या विलोम हितों को विचारधारा की शब्दावली में प्रस्तुत कर दिया जाता है । इस स्थिति में यह वास्तविक उद्देश्य व हितों को छुपाने का आवरण बन जाती है । साम्राज्यवादी उद्देश्यों को पूरा करने के लिये सभ्यता के लिये धर्मयुद्ध, श्वेत नस्ल का बोझ इत्यादि शब्द गढ़े जाते हैं । युद्धों से लेकर दैनिक कार्यों में समाहित हितों की अभिवृद्धि हेतु प्रोपेगेण्डा व प्रचार के लिये भी सैद्धान्तिक आधार विचारधारा प्रदान करती है और निर्धारक की स्थिति से हटकर साधन की भूमिका में प्रयुक्त होती है ।

अभ्यास कार्य :

1. विचारधारा व राष्ट्रीय हित के अंतर्संबंध को स्पष्ट कीजिये ।
2. विचारधारा किन स्थितियों में राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के साधन के रूप में प्रयुक्त होती है ।
3. शीत युद्ध वास्तव में विचारधाराओं का संघर्ष न होकर शक्ति संघर्ष का एक रूप था । विवेचना कीजिये ।

18.11 संदर्भ ग्रन्थ

1. एफ. एस. सी. नार्थोप : आईडियोलोजिकल डिफरेंसेस एण्ड वर्ल्ड आर्डर
2. कार्ल मैनहाईम : आईडियोलोजी एण्ड यूटोपिया
3. पी. एच. पैट्रिज : दी कॉनफ्लिक्ट ऑफ आईडियोलोजीज इन पाथ्स टू पीस
4. चार्ल्स श्लोईशर : इंटरनेशनल रिलेशन्स : कापरेशन एण्ड कॉन फ्लिक्ट

इकाई – 19
शीतयुद्ध, द्विध्रुवीयता एवं बहु ध्रुवीयता

इकाई की संरचना

19.1 उद्देश्य
19.2 प्रस्तावना
19.3 शीतयुद्ध : भावार्थ
19.4 शीतयुद्ध : उत्पत्ति एवं विकास
19.5 शीतयुद्ध के कारण
19.6 शीतयुद्ध : विभिन्न चरण
19.7 तनाव शैथिल्य (देताँ)
19.8 द्वितीय शीतयुद्ध
19.9 देताँ एवं शीतयुद्ध की समाप्ति
19.10 ध्रुवीयता : एक विचार के रूप में
19.11 ध्रुवीयता : प्रकार
19.12 ध्रुवीयता एवं स्थायित्व
19.13 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य
19.14 संदर्भ ग्रन्थ

19.1 उद्देश्य

इस इकाई के उद्देश्य हैं :–

1. शीतयुद्ध की अवधारणा को स्पष्ट करना।
2. शीतयुद्ध की उत्पत्ति के कारणों की विवेचना करना।
3. शीतयुद्ध में आये विभिन्न उतार चढ़ाव एवं तनाव शैथिल्य की व्याख्या करना।
4. ध्रुवीयता, द्विध्रुवीयता एवं बहुध्रुवीयता के विचार की व्याख्या करना।

19.2 प्रस्तावना

प्रतिद्वन्दी बृहद शक्तियों के संघर्ष अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की सामान्य घटना रही है । परन्तु 20वीं शताब्दी के मध्य में सोवियत संघ संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य का संघर्ष इस दृष्टि से अनोखा था कि उसने कभी भी युद्ध का स्वरूप तो ग्रहण नहीं किया तथापि संबंधों में तनाव इतना तीव्र रहा कि 45 वर्षो की कालावधि में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की संपूर्ण घटनायें संबंध व क्रियाकलाप इससे प्रभावित रहे । परमाणु शक्ति व उस पर आधारित शस्त्रों की होड़ भी अद्वितीय रही जो शीतयुद्ध का कारण एवं परिणाम दोनों ही रूपों में उपस्थित रहीं । शीतयुद्ध का प्रभाव इतना व्यापक रहा कि 1945 –1990 के एवं अन्य अंतर्राष्ट्रीय प्रक्रियाओं के विश्लेषण में शीतयुद्ध का प्रयोग एक संदर्भ और एक फ्रेमवर्क के रूप में भी किया गया। शीतयुद्ध ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सैनिक व राजनीतिक विषयों को सर्वोपरि बनाये रखा और 20वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण आर्थिकसामाजिक एवं प्रौद्योगिकीय प्रक्रियाओं को प्रखर नहीं होने दिया।

विवाद के विषयों व टकराव के बिंदुओं को महत्व देने के कारण ही राष्ट्र राज्य की भावना भी सर्वोपरि रही। जर्मनी के एकीकरण एवं बर्लिन की दीवार के ढह जाने के साथ ही शीत युद्ध की समाप्ति भी ऐतिहासिक रही। सोवियत संघ का विघटन, एक महाशक्ति का अवसान, द्विध्रुवीयता की समाप्ति, सहयोग के नये युग, विश्वीकरण, नयी विश्व व्यवस्था के नये ऐतिहासिक काल का प्रारंभ हुआ।

19.3 शीतयुद्ध : भावार्थ

द्वितीय विश्व युद्ध के कारण यूरोप की बड़ी शक्तियाँ कमजोर हो गई और सोवियत संघ एवं संयुक्त राज्य अमेरिका ही महाशक्तियों के रूप में उभरी । द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान दोनों ने सहयोग किया तथापि उनके आपसी अनुभवों, शंकाओं और युद्धोपरान्त स्थिति के राजनीति व सामयिक लाभ उठाने के लिये किये गये प्रयासों ने दोनों के संबंधों को तनावपूर्ण बना दिया। संबंधों के इस तनाव को ही शीत युद्ध का नाम दिया गया। 'शीत युद्ध' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अमेरिका के एक राजनेता बर्नार्ड बारूख ने दक्षिण केरोलिना की विधानसभा के समक्ष 16 अप्रैल 1947 को किया । वाल्टर लिपमेन ने 'शीत युद्ध ' शीर्षक से एक पुस्तक लिखकर इस शब्द को लोकप्रिय बनाया । आर. के. गर्थोफ ने शीत युद्ध को इस प्रकार परिभाषित किया है - "साम्यवादी शक्तियों एवं शेष विश्व के मध्य का संघर्ष जो प्रत्यक्ष वृहद् युद्ध से कुछ कम साधनों द्वारा लड़ा जाता है । शीत युद्ध सशस्त्र संघर्ष की स्थिति नहीं है वरन् ऐसी स्थिति है जिसमें प्रतिद्वन्दी शांतिकालीन राजनयिक संबंध बनाये रखते हुए भी शत्रुता रखते हैं और शत्रु को कमजोर करने के लिये युद्ध के अतिरिक्त अन्य उपाय करते रहते हैं । वास्तव में शीत युद्ध में प्रतिद्वन्दी राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक व अप्रत्यक्ष सैनिक उपायों का प्रयोग स्वयं का प्रभाव बढ़ाने व शत्रु को कमजोर करने के लिये करते हैं । यह राजनयिक युद्ध या वैचारिक युद्ध या प्रोपेगेण्डा युद्ध है । वास्तविक युद्ध न होते हुए भी इसमें युद्ध की सभी संभावनायें मौजूद रहती हैं । आर्थिक सहायता, सैनिक हस्तक्षेप, सैनिक गठबंधन, प्रोपेगेण्डा, तोड़फोड़, जासूसी इत्यादि सभी शत्रुतापूर्ण उपाय (सशस्त्र युद्ध के अतिरिक्त) अपनाये जाते हैं । इस प्रकार शीतयुद्ध न तो वास्तविक युद्ध की ही स्थिति हैं और ना ही शांति की।

19.4 शीतयुद्ध : उत्पत्ति एवं विकास

कुछ विचारकों का मत रहा कि शीत युद्ध का प्रारंभ 1917 की बोल्शेविक क्रांति से ही हो गया था। सोवियत, गुट के लिये यह समाजवादी देशों पर पूंजीवादी एवं साम्राज्यवादी देशों को एकपक्षीय आक्रमण था और औपचारिक तौर पर वे मार्च 1946 को चर्चिल के फुल्टन भाषण से इसका प्रारंभ मानते हैं । दूसरी ओर अमेरिकी सोवियत संघ को शीत युद्ध प्रारंभ करने का दोषी मानते हैं । इस प्रकार उत्पत्ति के विषयों में मतभेद होते हुए भी बहुमत शीत युद्ध को द्वितीय युद्ध के बाद की घटना ही मानता है ।

1917 में बोल्शेविक क्रांति के पश्चात् यूरोप में रूस एक शक्ति के रूप में उभरा। द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व रूस कई अवसरों का लाभ नहीं ले पाया, जिसमें सुरक्षा व्यवस्था व निशस्त्रीकरण हेतु यह पश्चिमी राष्ट्रों का साथ राष्ट्र संघ के बाहर व भीतर दे सकता था। अमेरिका, ब्रिटेन व फ्रांस द्वारा जर्मनी के प्रति अपनाई गई तुष्टिकरण की नीति की भी रूस

द्वारा कई बार निंदा की गई । द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारंभ होने पर हालांकि सोवियत संघ ने पश्चिमी देशों से सहयोग किया किन्तु तब भी परस्पर अविश्वास व संदेह बना रहा । अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने रूस व अमेरिका के मध्य सहयोग का हर प्रयास किया किन्तु आईजनहावर के राष्ट्रपति बनने के पश्चात् सहयोग की नीति त्याग दी गई ।

19.5 शीतयुद्ध के कारण

सोवियत संघ एवं पश्चिम शक्तियों के मध्य मतभेद ऐतिहासिक थे। पश्चिमी शक्तियों ने बोल्शेविक क्रांति के पश्चात् रूस की साम्यवादी सरकार को तुरंत मान्यता प्रदान नहीं की। अमेरिका के इसे 1933 तक मान्यता नहीं देने से सोवियत संघ राष्ट्र संघ की सदस्यता 1934 में ही प्राप्त कर सका । निशस्त्रीकरण व सामूहिक सुरक्षा के रूसी प्रयासों को भी मदद नहीं दी गई । तुष्टिकरण की नीति का प्रयोग जर्मनी को रूसी शक्ति के विरुद्ध प्रतिद्वन्दी शक्ति के बने रहने के लिये किया गया। 1941 में रूस पर नाजी जर्मनी द्वारा आक्रमण किये जाने पर सोवियत संघ मित्र राष्ट्रों का सहयोगी बना पर युद्ध समाप्त होते ही अविश्वास व संदेह पुनर्जीवित हो उठा । शीत युद्ध के तात्कालिक कारण निम्न थे –

1. पूर्वी यूरोप का सोवियतकरण – याल्टा व बाल्कन समझौते के अनुरूप सोवियत संघ कार्य न कर सका । 1945 के याल्टा समझौते में हालांकि मध्य व पूर्वी यूरोप पर सोवियत संघ की सैनिक शक्ति को मान्यता दी गई थी किन्तु यहाँ स्वतंत्र निर्वाचन द्वारा प्रजातांत्रिक संस्थाओं को बहाल करने का निर्णय लिया गया था । पर सोवियत संघ ने ऐसा न कर पौलेण्ड में साम्यवादी सरकार स्थापित कर दी । इसी प्रकार बल्गारिया, रूमानिया, हंगरी सहित संपूर्ण पूर्वी यूरोप में (चेकोस्लोवाकिया) को छोड़कर जनवादी प्रजातंत्र स्थापित किया गया । सोवियत संघ ने ग्रीस में भी साम्यवादी गुरिल्ला भेजे जिससे पश्चिमी शक्तियों ने सचेत हो स्वयं सोवियत संघ के प्रसार को रोकना प्रारंभ किया।
2. युद्ध के दौरान ईराक पर मित्र राष्ट्रों और उत्तरी ईरान पर सोवियत कब्जा हो गया था। 1942 के समझौते के अनुसार 6 माह के अंदर जर्मनी के समर्पण के बाद उन्हें वहाँ से सेनायें हटानी थी । ब्रिटेन व अमेरिका द्वारा सेनायें हटाये जाने के बावजूद सोवियत संघ ने ऐसा नहीं किया। ईरान को 25 वर्षीय संधि (तेल स्त्रोतों के उपयोग के लिये) करने पर विवश किया व संयुक्त राष्ट्र के हस्तक्षेप के बाद ही वहाँ से हटा।
3. ग्रीस में ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र स्वीकारने के बाद भी सोवियत संघ ने साम्यवादी गुरिल्ला युद्ध प्रारंभ किया और गृह युद्ध की स्थिति निर्मित हुई । तुर्की में मोटे कन्वेशन बदलाव के लिये सोवियत संघ ने दबाव डाला । अंतत : अमेरिका को ग्रीस व तुर्की की सहायता के लिये आना पड़ा ।
4. द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी से सर्वाधिक हानि सोवियत संघ की ही हुई थी अत : उससे
5. 10,000 करोड़ डॉलर का हर्जाना चुकाने की माँग सोवियत संघ ने याल्टा में की । इसने जर्मनी की औद्योगिक इकाईयों को नष्ट किया व पोटस डेम सम्मेलन के विरुद्ध जर्मनवासियों को राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं दी, सोवियत अधिकृत क्षेत्र में व जर्मनी–पौलेण्ड के बीच एकपक्षीय सीमा निर्धारित कर दी ।

6. दूसरी ओर सोवियत संघ को शिकायत रही कि पश्चिम शक्तियों ने युद्ध के दौरान उसे पर्याप्त सहायता नही दी । सोवियत संघ ने इस कार्य को जानबूझकर इस उद्देश्य से किया गया कार्य माना ताकि सोवियत संघ को जर्मनी के हाथों पराजित होना पड़े ।
7. सोवियत संघ ने जर्मन सेनाओं की पैठ देखते हुए जर्मनी के पश्चिम की तरफ एक और मोर्चा खोलने की योजना बनाई गई ताकि सोवियत संघ पर दबाव कम हो सके परन्तु मोर्चा खोलने में हुई देर ने सोवियत संघ ने इसके पीछे प्रयोजन को संदेह से देखा ।
8. संयुक्त राज्य अमेरिका का युद्ध में सहयोगी होने के बावजूद सोवियत संघ को अणु बम एवं मैन हेटटन परियोजना के बारे में कुछ नहीं बताये जाने को सोवियत संघ में विश्वासघात माना गया ।
9. सोवियत संघ अमेरिका से लैण्डलीज सहायता प्राप्त कर रहा था, किन्तु जर्मनी द्वारा समर्पण करने के तुरंत बाद ही यह सहायता रोक दी गई और 6 बिलियन डालर की सहायता का सोवियत अनुनय भी अस्वीकार कर दिया गया ।
10. सोवियत संघ द्वारा अमेरिका में किये जा रहे साम्यवादी क्रियाकलापों व जासूसी के कार्यों के कारण अमेरिका में सोवियत संघ के प्रति कड़ा दृष्टिकोण अपना लिया गया ।

19.6 शीतयुद्ध : विभिन्न चरण

शीतयुद्ध निम्न अवस्थाओं से गुजरे :–

(1) प्रथम चरण : (1945 –49)

पोज़नी के अनुसार वास्तविक युद्ध समाप्त होने के पूर्व ही शीतयुद्ध प्रारंभ हो चुका था । अविश्वास व संदेह के वातावरण में पश्चिमी गुट में यह विचार उठा कि यदि सोवियत संघ पर दबाव डाला जाए तो यह रेत के महल की तरह भरभरा कर ढह जायेगा । पश्चिमी गुट अणुबम के एकाधिकार के कारण तथा सोवियत संघ के पास इस शक्ति के अभाव के कारण इस आत्म विश्वास से भरा था कि अमेरिकी सैनिक श्रेष्ठता विश्व का नेतृत्व कर सकती है, और सोवियत संघ के घरेलू मामलों में भी दखल दे सकती है । परन्तु पश्चिमी गुट के अन्य सहयोगी अमेरिका की भांति सैनिक दृष्टि से सक्षम नहीं थे और द्वितीय विश्व युद्ध की स्मृतियां ताजा थीं । अत : वे एक ओर युद्ध लड़ने के पक्ष में नहीं थे । तथापि इस चरण में अमेरिका ने ट्रूमैन सिद्धान्त के अंतर्गत (मार्च 1947) एवं मार्शल योजना (पश्चिमी यूरोप के आर्थिक पुनर्निमाण हेतु) के अंतर्गत प्रत्यक्ष सैनिक व अन्य कार्यवाही की । वैचारिक दृष्टि से इस काल में हस्तक्षेप एवं यथापूर्व स्थिति को बनाये रखने की नीति अमेरिका ने अंगीकार की तो सोवियत संघ ने "पूंजीवादी शक्तियों से संघर्ष की अनिवार्यता" को रेखांकित करते हुए देश की जनता को विश्व युद्ध के पश्चात् विश्राम न कर मेहनत करने का आह्वान किया ।

(2) द्वितीय चरण : (1949– 53)

सोवियत संघ के विरुद्ध अमेरिका ने सैनिक व आर्थिक सहायता जारी रखी। अमेरिका ने आस्ट्रेलिया व न्यूज़ीलैण्ड से सुरक्षा संधि की (Anzus) और जापान से 1951 में शांति संधि की। यह काल सोवियत संघ व संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य टकराव का काल था । उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण किये जाने से वृहद संघर्ष की रूपरेखा निर्मित हुई

जिसका निराकरण 1953 में ही हो सका । परन्तु अमेरिका व सोवियत संघ की सेनायें कोरिया में जमी रहीं । दोनों पक्ष एक दूसरे को नीचे दिखाने के लिए प्रयत्नशील रहे । अमेरिका ने साम्यवाद के खिलाफ प्रोपेगेण्डा पर करोड़ों डालर व्यय किये । सोवियत संघ ने अणुबम विस्फोट किया और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ परमाणु शस्त्र स्पर्धा प्रारंभ हुई । बर्लिन नाकेबंदी को हटाने के समय सहयोग का छोटा सा उदाहरण भी प्रतिस्पर्धा को जारी रखने के उद्देश्य से किया गया संवाद ही रहा।

(3) तृतीय चरण : (1953–57)

संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा सोवियत संघ के विरूद्ध जारी आर्थिक व सैनिक अभियान के परिणामस्वरूप दो नयी संधिया की गई । एक थी दक्षिण पूर्व एशिया संधि संगठन (स्रीएटो) (मनीला पैक्ट) व दूसरी थी मध्य पूर्व सुरक्षा संगठन (बगदाद पैक्ट) । इन दो संधि संगठनों के प्रादुर्भाव से 'नाटो' के साथ नये सुरक्षा संबंध भी स्थापित हुए। मध्य पूर्व में प्रभाव विस्तार हेतु अमेरिका ने ट्रुमैन सिद्धान्त को इस क्षेत्र तक विस्तृत कर दिया । संयुक्त राज्य अमेरिका ने सोवियत संघ के आस–पास कई सैनिक अड्डे स्थापित करने में सफलता प्राप्त की और 43 देशों से सैनिक संधियाँ की। इसी काल में अमेरिका वियतनाम युद्ध में भी दखल देने जा पहुँचा जो शीतयुद्ध की चरमावस्था सिद्ध हुई । दूसरी ओर सोवियत संघ ने भी पीछे न रहते हुए 'वारसा संधि' की जो पूर्वी यूरोप में नाटो के समकक्ष रहीं । 12 देशों से इसने सैनिक संधियाँ की । हंगरी में अमेरिकी प्रयासों को असफल किया । जर्मनी का पोट्सडेम द्वारा किया गया विभाजन स्थायी बन गया और जर्मनी के दो भाग प्रजातांत्रिक जर्मन गणराज्य (जीडीआर) सोवियत संघ के खेमे में और जर्मन संघीय गणराज्य (एफआरजी) अमेरिकी खेमे में बंटे रहे । अमेरिका व सोवियत संघ दोनों ने हाइड्रोजन बम विस्फोट किया। दोनों ही महाशक्तियाँ इस समय भी युद्ध की अवश्यभाविता की बात तो करती रही पर व्यवहार में अत्यंत ही नियंत्रित व सचेत रही । वार्ता का दौर भी इसी काल में प्रारंभ हुआ जो आगे चल तनाव शैथिल्य में बदल गया। जेनेवा सम्मेलन (1955) इसी दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा ।

19.7 तनाव शैथिल्य (देताँ)

तनाव शैथिल्य हेतु देताँ शब्द ही लोकप्रिय हुआ । देताँ को एक ऐसी राजनयिकरण नीति या युक्ति के रूप में परिभाषित किया गया है जो प्रतिस्पर्धा को कम हानिकारक बनाती है व इसे अधिक सकारात्मक अभिमुखीकरण प्रदान करती है । देताँ को 'शांति ' का समानार्थक नहीं समझा जाना चाहिये । शांति एक लक्ष्य है और देताँ – वह युक्ति है जिसके माध्यम से यह लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है । देताँ का अर्थ तुष्टिकरण भी नहीं लगाया जाना चाहिये । तुष्टिकरण ऐसी नीति थी जो शक्ति संतुलन को ध्यान में न रखकर जर्मन राष्ट्रीय हितों के प्रति न्याय से प्रेरित थी । देताँ इसके बिल्कुल विपरीत शक्ति संतुलन के सचेत व सूक्ष्म आंकलन का ध्यान रखकर बनी नीति या युक्ति है ।

देताँ की स्थिति प्रथम बार स्टालिन की मृत्यु के समय उत्पन्न हुई जब डलेस अमेरिकी विदेश संबंधों के संचालक थे । कोराल बेल ने अपनी पुस्तक 'डिप्लोमेसी ऑफ देताँ ' में चर्चिल को देताँ के विचार का प्रथम प्रतिपादक माना है किन्तु इस विचार पर 1969 तक अमेरिका की

कोई उत्साहवर्द्धक प्रतिक्रिया नहीं हो पाई । सोवियत नेता भी स्टालिन की मृत्यु के बाद की स्थितियों से सामंजस्य बिठाने की अवस्था में ही रहें हालांकि वे लेनिन के पश्चात् पश्चिम से संबंध सुधारने के आर्थिक लाभों से अनभिज्ञ नहीं थे । सोवियत अर्थव्यवस्था में सुरक्षा माँगों व उपभोक्ता एवं निवेश माँगों के बीच संसाधनों के लिये प्रतिद्वन्दिता रही। देताँ इस समस्या को सुरक्षा माँगों में कमी कर और दूसरी ओर पश्चिम से सामान व प्रोद्यौगिकी केन्द्र आयात के अवसर उपलब्ध कराकर आसान बना देती है । अत : मेलेन्कोव ने प्रधानमंत्री बनते ही देताँ की ओर कार्य प्रारम्भ किया । जिसका परिणाम 1955 की 'आस्ट्रिया संधि' रही। तथापि अमरीकी विदेशमंत्री डलेस देताँ की "रणनीति" या "युक्ति" की उपयोगिता के प्रति शंकित ही रहे । ख्रुश्चेव द्वारा देताँ की ओर अग्रसर होने से –त्रिकोणीय शक्ति संतुलन उभरा – अमेरिका–चीन–सोवियत संघ। 1958 का मध्यपूर्व का संकट, क्यूमोल मालू संकट, ख्रुश्चेव की अमरीकी यात्रा और केम्प डेविड समझौता, सोवियत संघ द्वारा चीन को आणविक शक्ति की सहायता पर ध्यान न देने इत्यादि से चीन व सोवियत संघ के संबंध खराब हुए । 1969 तक चीन सोवियत संबंधों में दरार चरमावस्था में पहुंची तो चीन अमरीकी देताँ की प्रगति हुई ।

सोवियत संघ–अमरीकी संबंधों में 1935, 59, 1963 एवं 1968 के वर्षों में तनाव में कमी रही किन्तु फरवरी 1972 में निक्सन की चीन यात्रा ने सोवियत संघ के लिये देताँ आवश्यक एवं संभव बना दिया । ब्रेझनेव व निक्सन के मध्य कई समझौते हुए । इनमें पाँच वर्ष के लिये प्रक्षेपास्त्र को सीमित करने एवं प्रक्षेपास्त्र क्षेपक यंत्रों की पांच वर्ष के लिये संख्या नियत करने से संबंधित थे । गैर सैनिक समझौतों में औषधि एवं वैज्ञानिक सहयोग के समझौते सम्मिलित थे । संयुक्त अंतरिक्ष अभियान ने सोवियत संघ के लिये पश्चिमी प्रौद्योगिकी के आयात की स्थायी आवश्यकता को स्पष्ट किया व विश्व की समस्याओं को सुलझाने हेतु दोनों महाशक्तियों के दायित्व को भी स्पष्ट किया । 1973 तक सोवियत–अमरीकी व्यापार 1 : 5 बिलियन डॉलर तक पहुँच चुका था । जून 1973 में ब्रेझनेव ने अमेरिका की व निक्सन ने सोवियत संघ की यात्रा की। जून 1974 में साल्ट–प्रथम द्वारा परमाणु शस्त्रों की सीमा निर्धारित किया जाना एक ऐतिहासिक समझौता था । मई 1975 में अमरीकी व सोवियत युद्धपोत लेनिन ग्राढ़ एवं बौस्टन पहुंचे जो सद्भाव का अभूतपूर्व संकेत था । साल्ट–प्रथम के 1977 में समाप्त होने के कारण दोनों महाशक्तियों ने साल्ट–द्वितीय के लिये वार्ता प्रारंभ की। 18 मई 1977 को दोनों ने बाह्य अंतरिक्ष के शांतिपूर्ण उपयोग व अनुसंधान के लिये सहयोग का समझौता किया। साल्ट–द्वितीय समझौते पर भी दोनों देशों ने 11 जून 1979 को हस्ताक्षर किये किन्तु अमरीकी सीनेट द्वारा साल्ट II का विरोध किया गया और इसका अनुमोदन भी नहीं किया। अफगानिस्तान में राजनीतिक उठापटक एवं सोवियत सेनाओं द्वारा वहां सैनिक कार्यवाही के पश्चात् देताँ की भावना कायम नहीं रह सकी ।

चीन अमेरीकी तनाव शैथिल्य का प्रभाव चीन–जापान के संबंधों पर भी पड़ा उनके मध्य औपचारिक तौर पर राजनयिक संबंध कायम करने पर सहमति हुई । जापान ने राष्ट्रवादी चीन (ताईवान) से संबंध विच्छेद किये । यूरोप में भी सोवियत अमरीकी तनाव शैथिल्य हुआ । इस सबका प्रभाव कोरिया संबंधों पर भी हुआ। उत्तरी कोरिया एवं दक्षिणी कोरिया ने द्विपक्षीय वार्ता

करने पर सहमति व्यक्त की । चीन–अमरीकी देताँ के प्रतिकूल प्रभाव के प्रति सोवियत संघ सचेत हो उठा और उसने देताँ के विरूद्ध राजनयिक कार्यकलापों को तेज कर दिया। भारत को अधिक सहायता, पश्चिमी जर्मनी के साथ संबंधों का सामान्यीकरण व जापान से घनिष्ट संबंध बनाने के प्रयास किये गये । विभिन्न क्षेत्रों में शक्ति संबंधों पर इसका प्रभाव हुआ।

19.8 द्वितीय शीतयुद्ध

सोवियत संघ एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य शीतयुद्ध सत्तर के दशक के अंत में पुन : तीव्र हो उठा । इस नये शीतयुद्ध का प्रारंभ सामान्यत : दिसंबर 1979 में माना जाता है, जब सोवियत संघ की सेनायें अफगानिस्तान पहुंची । कुछ विद्वान इसका प्रारंभ 1978 में मानते हैं जैसे अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रेझेझिनस्की ने अपनी पुस्तक 'पावर एण्ड प्रिंसिपल ' में लिखा है कि 1978 में ही सोवियत अमरीकी संबंध बिगड़ चुके थे । 1978 में इथियोपिया में सोवियत संघ द्वारा क्यूबा में सैनिक भेजे जाने पर ब्रेझेझिनस्की ने भी अमरीकी कैरियर टास्क फोर्स को भेजे जाने की वकालत की थी किन्तु राष्ट्रपति इसके पक्ष में नहीं थे और अमरीकी प्रतिक्रिया क्यूबा में सोवियत ब्रिगेड की असफलता के बाद ही दृढ़ हुई जिससे साल–द्वितीय समझौते का अनुमोदन न हो सका । सोवियत सेनाओं के अफगानिस्तान में पहुंचने पर देताँ की प्रक्रिया पूर्ण रूप से समाप्त हो गई । इस प्रकार नये शीतयुद्ध के लिये अमरीकी सोवियत संघ को दोषी मानते हैं, जबकि सोवियत दृष्टि के अनुसार अमेरीका ही दूसरा शीतयुद्ध प्रारंभ करने का दोषी है । अमेरिकी प्रशासन में परिवर्तन एवं ब्रेझेझिनस्की के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बनने के पश्चात् अमरीकी दृष्टिकोण में परिवर्तन आया क्योंकि बेझेझिनस्की किसिजर के इस मत से सहमत नहीं थे कि देताँ का विकल्प युद्ध ही है । ब्रेझेझिनस्की का मत रहा कि देताँ के लिये उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार आवश्यक है किन्तु अंगोला, मध्य पूर्व और संयुक्त राष्ट्र में सोवियत व्यवहार ऐसा नहीं रहा। अत : अमेरिका को चीन अमरीकी संबंधों व पूर्वी यूरोप में अमरीकी हितों में वृद्धि की ओर ध्यान देना चाहिये । उन्होंने सहयोग व संघर्ष की नीति को सावधानी पूर्वक लागू करने का पक्ष लिया ताकि परस्पर देताँ लागु हो सके । इस पर सोवियत संघ ने अत्यंत तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की ।

सोवियत संघ अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर को शीतयुद्ध पुन : प्रारंभ करने का दोषी मानते हैं । अनवर सादात द्वारा मिश्र को सोवियत संघ से दूर करने, ईरान में शाह एवं सऊदी अरब के राज्य के कारण मध्यपूर्व में अमेरिका का प्रभाव अत्यंत बढ़ गया। अमेरिका के परमायु शस्त्रों की अपेक्षाकृत तकनीकी श्रेष्ठता, चिली में तख्तापलट आदि घटनाओं ने अमरीकी हितों को पूरा किया था। अत : अमरीका यथापूर्व स्थिति बनाये रखने के पक्ष में हो गया था। किन्तु 70 के दशक के उत्तरार्द्ध में अमरीकी हितों के विरुद्ध घटनाऐं हुई । अफ्रीका में अमरीकी हितों को आघात लगा जब अंगोला में सीआईए और दक्षिण अफ्रीका के हस्तक्षेप के बाद क्यूबा के सैनिक बुला लिये गये । 1976–77 में ईरान के शाह एवं सऊदी अरब ने अफगानिस्तान को भी सोवियत संघ से दूर करने का प्रयास किया जिससे सॉर क्रांति हुई और अफगानिस्तान में सोवियत सेनाओं ने हस्तक्षेप किया । अदन में तख्तापलट द्वारा रूबैया अली को हटाकर इथियोपिया को दिया गया जिससे सोवियत प्रभाव में वृद्धि हुई इन सभी घटनाओं से अमरीकी

दृष्टिकोण भी परिवर्तित हुआ और कार्टर की नीति में भी अमरीकी स्थिति को पुर्नस्थापित करने हेतु दृढ़ता दिखाई दी। मानवाधिकार के महान समर्थक के रूप में उन्होंने सोवियत संघ के विद्रोही आंद्रेईसखारोब को पत्र लिखा व एक अन्य विद्रोही ब्लादीमोर बुकोव्स्की का अमेरिका में स्वागत किया। हालांकि कार्टर ने दक्षिण अफ्रीका, दक्षिण अमेरिकी देशों व दक्षिण कोरिया का भी आलोचना मानवाधिकारों के हनन के लिये की तथापि उनकी आलोचना का केन्द्र सोवियत संघ ही रहा । 1977 के मध्य में कार्टर ने वायु प्रेक्षित क्रूज व प्रक्षेपास्त्रों के उत्पादन एवं स्थापित करने का निर्णय लिया जिससे शस्त्रस्पर्धा तीव्र हुई । 1978 में बेझेझिनस्की की चीन यात्रा एवं चीन को विभिन्न संयुक्त कार्यवाहियों में भागीदार बनाने के प्रयासों को सोवियत संघ ने अपने विरूद्ध निर्मित गठबंधन माना । चीन के साथ अमेरिका द्वारा पूर्ण राजनयिक संबंधों की बहाली को भी इसी दृष्टि से देखा। हालांकि 1979 में कार्टर एवं ब्रेझनेव ने साल्ट–द्वितीय संधि पर वियना में हस्ताक्षर किए तथापि कार्टर ने वाशिंगटन पहुंचने से पहले ही इस पर शंका करना प्रारंभ कर दिया। इसी समय क्यूबा में सोवियत ब्रिगेड की उपस्थिति का अमेरिका को पता चला। अमेरिका ने सोवियत संघ साल्ट–द्वितीय के अनुमोदन के पूर्व इसे वापस बुलाने को कहा। चूंकि सोवियत संघ ने ब्रिगेड वापस नहीं बुलाई, अत : साल्ट–द्वितीय भी अनुमोदित नही हो पाई । 1979 में ईरान के शाह को सत्ताच्युत कर दिये जाने से अमेरिका ने रेपिड डिप्लोयमेंट फोर्स की आवश्यकता को अनिवार्य माना । कीनिया, सोमालिया एवं अमन में भी अमेरिका ने अड्डे बनाने का प्रयास किया ताकि फारस की खाड़ी एवं हिन्द महासागर में यह अपने हितों की रक्षा कर सकें । सोवियत संघ में इसे अमेरिका द्वारा फारस की खाड़ी में स्वयं के प्रभुत्व व आधिपत्य को स्थापित करने के प्रयास के रूप में देखा।

1979 में नाटो द्वारा मध्यम दूरी पर्शिंग–II प्रक्षेपास्त्रों को 1983 से पश्चिमी यूरोप में लगाये जाने का निर्णय सोवियत संघ की एस.एस.–20 के खतरे को कम करने हेतु लिया । सोवियत तर्क था कि एस एस.–20 ब्रिटेन की पनडुब्बी आधारित पोलेरिस प्रेक्षेपास्त्र, फ्रांसीसी परमाणु अस्त्रों एवं ब्रिटेन में अमरीकी एफ–1112 एयरक्राफ्टों के खतरे को कम करने हेतु लगाये गये हैं । इस शस्त्र स्पर्धा से दोनों गुटों के मध्य शीतयुद्ध अत्यंत तीव्र हो गया और दिसम्बर 1979 में अफगानिस्तान में सोवियत फोजों के भेजे जाने के निर्णय ने स्थिति को अधिक संवेदनशील बना दिया । अमेरिका ने चीन की मदद से सीआईए द्वारा अफगान विद्रोहियों को शस्त्रों की आपूर्ति की ताकि रूस वार्ता के लिये झुकने को बाध्य हो जाये । रूसी तब तक अफगानिस्तान से हटने को तैयार नहीं थे जब तक कि वे आश्वस्त नहीं हो जायें कि अमेरिका अफगानिस्तान में हस्तक्षेप नहीं करेगा। अत : रीगन प्रशासन भी विद्रोहियों को मदद देता रहा । दूसरी ओर अलसाल्वाडोर में जहाँ अमेरिका ने हस्तक्षेप किया, सोवियत, क्यूबा, इथिपोथिया, बुल्गारिया एवं कई अन्य साम्यवादी देशों ने विद्रोहियों को शस्त्र सहायता एवं प्रशिक्षण दिया।

द्वितीय शीतयुद्ध या नवीन शीतयुद्ध पूर्व शीतयुद्ध से भिन्न था । सर्वप्रथम तो नवीन शीतयुद्ध में दोनों गठबंधनों के साथी शीतयुद्ध से दूर ही रहे । चीन, जापान और पश्चिमी यूरोप के देश भी पूर्ण रूप से भागीदार नहीं बने और मुख्यत : दोनों महाशक्तियों के मध्य ही शीतयुद्ध

रहा। दूसरे, पुराने शीतयुद्ध में 'परमाणु शस्त्रों के भण्डार ' चर्चा का विषय नहीं थे और ज्यादा बल परंपरागत शस्त्रों के संख्यात्मक भण्डारण पर था। इसका कारण यह था कि उस समय संयुक्त राज्य अमेरिका सोवियत संघ से परमाणु शस्त्रों के संदर्भ में आगे था, परन्तु अब सोवियत संघ ने लगभग समानता प्राप्त कर ली थी। अत : द्वितीय शीतयुद्ध के दौरान परमाणु शस्त्रस्पर्धा मुख्य मुद्दा रहा और इसी कारण से पुराने शीतयुद्ध की तुलना में नया शीतयुद्ध अधिक भयावह रहा । इस शीतयुद्ध के प्रभावस्वरूप विकासशील देशों में अमेरिका ने प्रतिक्रियावादी ताकतों को अधिक सहायता व प्रोत्साहन दिया । इस अमरीकी दृष्टिकोण के विरुद्ध इन देशों में सोवियत प्रभाव एवं मार्क्सवादी प्रभाव को फैलने में सहायता मिली।

19.9 देताँ एवं शीतयुद्ध की समाप्ति

शीतयुद्ध ने महाशक्तियों की आर्थिक समस्याओं को बढ़ा दिया। अमेरिका ने स्टार वार्स के नाम पर अरबो डॉलर खर्च करने शुरू किये । सुरक्षा पर अत्यधिक खर्च ने अन्य आर्थिक कार्यों पर प्रतिकूल असर डाला । शीतयुद्ध की इस बढ़ती लागत को सोवियत संघ की आर्थिक जर्जरता और अधिक वहन नहीं कर सकी और 1985 में मिखाइल गोर्वाचेव ने सोवियत संघ के साम्यवादी दल के महासचिव के रूप में 'नया राजनीतिक चिंतन ' प्रस्तुत किया जिससे शीतयुद्ध के तनाव में कमी और देताँ का माहौल बना । सोवियत संघ की विदेशनीति एवं सैन्य स्त्रातजी में मूलभूत परिवर्तन आया । संयुक्त राज्य अमेरिका से संबंधों को सुधारना नये राजनैतिक सोच का मूल बिन्दु था । अत : तनाव कम करने हेतु प्रयत्न किये गये ।

1986 में रिक्जाविक शिखर वार्ता द्वारा दोनों महाशक्तियों ने शस्त्रास्त्रों में कमी कर निशस्त्रीकरण के लिये सहयोग की रूपरेखा तय की जिसका परिणाम 1987 की अंतर्मध्यम दूरी के आणविक हथियारों में कमी का समझौता था । (आई. एन. एफ. संधि) इसी के पश्चात् स्त्रातजिक आणविक हथियारों की कमी हेतु स्टार्ट संधि के लिये भी मार्ग प्रशस्त हुआ । इस सैन्य समझौते के अतिरिक्त सोवियत संघ की आर्थिक स्थिति को ठीक करने एवं बाजार–अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिये सोवियत संघ ने व्यापार संबंधों को सामान्यीकृत करने हेतु अमरीकी सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया । किन्तु गोर्वाचेव द्वारा इच्छित सहायता अमेरिका सोवियत संघ को समय पर प्रदान नहीं कर सका जबकि अमरीकी नेतृत्व सोवियत संघ नेता के विचारों व प्रयोजनों के प्रति शंकित व असमंजस में ही रहे तथापि तनाव को कम करने और सहयोग की परिधि को बढ़ाने आगे आये ।

दुनिया के धनी देशों के समूह जी–7 में गोर्वाचेव को निमंत्रित किया गया । सोवियत संघ के विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ होने के पश्चात् हथियारों में कमी से संबंधित समझौतों एवं शस्त्रस्पर्धा के बजाए आणविक हथियारों की सुरक्षा का प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया । स्टार्ट संधि पर अगस्त 1991 में मास्को में हस्ताक्षर किये गये और मध्यपूर्व में शांति की प्रक्रिया के लिये आयोजित मैट्रिक सम्मेलन में भी गोर्वाचेव गढ़े किन्तु महाशक्ति के नेता के रूप में उनका कद काफी कम हो चुका था । खाड़ी संकट के समय सोवियत संघ की भूमिका और अंतत : दिसंबर 1991 को सोवियत संघ के अवसान के बाद विश्व में शीतयुद्ध का यह आधार समाप्त हो गया।

सोवियत अमरीकी तनाव शैथिल्य का प्रभाव विश्व व्यापक रहा । तनाव शैथिल्य का यह दौर चीन–सोवियत देताँ के लिये भी महत्वपूर्ण रहा । संबंधों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया अक्तूबर 1982 में दोनों देशों के उप विदेश मंत्रियों की वार्ता से प्रारंभ हुई । 1988 तक वार्ताओं के 12 दौर हुए । इन छ : वर्षों में संबंध सामान्यीकरण, आर्थिक एवं व्यापारिक संबंधों में विकास व आपसी सद्भाव विकसित हुआ । सोवियत–चीन संबंधों की तीन बड़ी बाधाओं में से एक कंबोडिया समस्या के समाधान पर सहमति होने से विदेश मंत्री स्तर की बातचीत संभव हुई । अन्य दो बाधाओं अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं की वापसी एवं रूस–चीन सीमा पर भी प्रगति हुई । 1988 में नदी की मध्याधारा के चीनी दृष्टिकोण को गोर्वाचेव ने स्वीकारा एवं सीमा पर सेनाओं की संख्या में कमी पर भी सहमति हुई । मई 1989 में गोर्वाचेव ने चीन यात्रा की । तेजी से परिवर्तित होती अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में एवं सोवियत–अमरीकी देताँ के होने के बाद चीन भी इस प्रक्रिया में पिछड़ना नहीं चाहता था ।

सोवियत संघ में घरेलू स्तर पर पुनर्निमाण (पेरेस्त्रोइका) एवं खुलेपन (ग्लास्नोस्त) की नीति तीव्र आर्थिक विकास (उत्स्कोरोनी) के लिये लागू की गई । राजनीतिक स्वतंत्रता प्रदान कर साम्यवाद पर आधारित बंद व्यवस्था के स्थान पर राजनीतिक प्रजातंत्र की व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास गोर्वाचेव द्वारा किया गया । सोवियत संघ एवं पूर्वी यूरोप के संबंधों में भी इन प्रजातांत्रिक सुधारों का असर पड़ा। पूर्वी यूरोप के देशों को भी आंतरिक मामलों में निर्णय की स्वतंत्रता प्राप्ति हुई और ब्रेझनेव के सीमित संप्रभुता के सिद्धान्त का अंत हुआ। 1989 में सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी व्यवस्था व सोवियत वर्चस्व बनाये रखने के लिये बल प्रयोग अथवा हस्तक्षेप न करने का निर्णय लिया । 1990 में सोवियत संघ के साम्यवादी दल के राजनीतिक एकाधिकार को समाप्त किये जाने से न सिर्फ सोवियत संघ वरन संपूर्ण पूर्वी यूरोप में परिवर्तन अवश्यंभावी हो गया। प्रजातंत्र एवं राष्ट्रवाद की भावना ने यूरोप के राजनीतिक मानचित्र को बदल डाला। हैलपि की प्रक्रिया और कामन यूरोपीय होम की संकल्पना के अनुसार संपूर्ण यूरोप में एक सी आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था स्थापित हुई । बर्लिन की दीवार के ढह जाने के साथ ही शीतयुद्ध प्रतीकात्मक रूप से समाप्त हो गया । जर्मनी के एकीकरण के साथ ही यूरोप का दो गुटों में बंटवारा भी समाप्त हो गया । वारसा संधि भी समाप्त हुई । किन्तु सोवियत संघ में प्रजातंत्र व राष्ट्रवाद की भावना ने विघटन का कार्य किया। विभिन्न गणराज्यों में स्वतंत्रता की मांग बलवती हो उठी । बाल्टिक गणराज्यों लिथुंएनिया, लाटविया एवं एस्टोनिया में सोवियत संघ से पृथक होने की प्रक्रिया प्रारंभ हुई । यूक्रेन, रूस और बायलोरूस ने सोवियत संघ से अलग हो एक नये राष्ट्रकुल की स्थापना की संधि कर ली और 21 दिसम्बर को 12 में से 11 गणराज्यों के नेताओं ने अल्माअता में विभिन्न समझौतों पर दस्तख्त करते हुए स्वतंत्र राष्ट्रों के एक नये राष्ट्र कुल (कॉमनवेल्थ ऑफ इंडिपेन्डेन्ट स्टेट्स) की स्थापना की । राष्ट्रपति गोर्वाचेव की गणराज्यों को संघीय संधि के तहत एक रखने की तमाम कोशिशे बेकार गई । 11 गणराज्यों की स्वतंत्रता व वर्तमान सीमाओं को मान्यता दे दी गई । अंतत : गोर्वाचेव ने 25 दिसम्बर 1991 में अस्तित्वहीन राष्ट्र के राष्ट्रपति पद से इस्तीफा दे दिया। औपचारिक रूप से 31 दिसंबर 1991 को सोवियत संघ

समाप्त हो गया और वैधानिक रूप से उसका स्थान रूस ने ले लिया। एक महाशक्ति, एक युग का अंत हुआ। अरब इजरायल में शांति के लिये वार्ता प्रारंभ हुई । दक्षिण अफ्रीका में श्वेतों व अश्वेतों ने नये संविधान की रूप–रेखा तय की । अंगोला व कंबोडिया में शांति स्थापित करने की कोशिशें हुई । ईराक पर संयुक्त राष्ट्र की सामुहिक सुरक्षा के तहत सैनिक कार्यवाही की गई और अमरीका के राष्ट्रपति बुश ने नयी विश्व व्यवस्था का सूत्र दिया ।

19.10 ध्रुवीयता : एक विचार के रूप में

व्यवस्था में विद्यमान मुख्य कर्ताओं अथवा ध्रुवों की संख्या से संबंधित विचार अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के वर्गीकरण हेतु उपयोग में लाये जाने वाले महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक विचारों. में से एक है । एक मुख्य कर्ता अथवा ध्रुव को एक राष्ट्र राज्य, एक प्रमुख शक्ति या मुख्य शक्तियों के गठबंधन के रूप में देखा जा सकता है । इस प्रकार एक व्यवस्था में ध्रुवों व मुख्य शक्तियों की संख्या समान ही हो आवश्यक नहीं होता । एक ध्रुव अथवा मुख्य कर्ता सैनिक राजनीतिक एवं आर्थिक क्षमताओं व संभाव्यताओं का केन्द्र होता है । यह ध्रुव दूसरे कर्ताओं से भिन्न, स्वतंत्र रूप से कार्य कर सकता है । यह स्वयं अपना स्वामी होता है व विभिन्न संभावित व्यवहारों में चयन की पूरी स्वतंत्रता रखता है । ध्रुवों की तुलनात्मक क्षमताओं, के कारण ही ध्रुवीयता के आंकलन में सहायता होती है ।

ध्रुवीयता की एक अन्य विशेषता ध्रुवों की 'दृढ़ता ' अथवा 'शिथिलता ' है । दृढ़ ध्रुवीयता में ध्रुव के सभी सदस्य एक–दूसरे से गठबंधनों व अन्य राज्यों द्वारा प्रगाढ़ रूप से सम्बद्ध होते हैं । द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद में यही दृढ़ता उस समय विद्यमान दो ध्रुवों–सोवियत संघ व संयुक्त राज्य अमेरिका एवं उनके गठबंधन के सहभागियों में दिखाई दी थी । ध्रुवों के सदस्य देशों के आपस में भी व्यापार, वित्त, यात्रा व सांस्कृतिक आदान–प्रदान के संबंध स्थापित होने से ध्रुवीयता की दृढ़ता में शिथिलता आ गई । पूर्वी व पश्चिमी यूरोप, पूर्वी यूरोप व सोवियत संघ और अफ्रीका एवं एशिया के देशों के मध्य भी आदान–प्रदान बढ़ा, चीन व संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य संबंध बढ़े, किन्तु सोवियत संघ व चीन के मध्य संबंधों में कमी आई । व्यापार–मूल्य एवं यात्रियों की संख्या की गणना से यह पता लगाया जा सकता है कि उस समय दोनों प्रमुख ध्रुवों की दृढ़ता एवं निर्णय स्वतंत्रता में काफी कमी आई ।

19.11 ध्रुवीयता : प्रकार

यदि विश्व में ऐसी व्यवस्था कायम है जिसमें एक ही मुख्य कर्ता है और वह अन्य छोटे देशों पर प्रभाव रखता है तो वह व्यवस्था एकल ध्रुवीयता कही जा सकती है । एकल ध्रुवीयता विश्व व्यापक हो सकती है जैसा कि कुछ विद्वानों का मानना है कि शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् स्थापित व्यवस्था एकल ध्रुवीय व्यवस्था है । हालांकि एकल ध्रुवीय व्यवस्था का कायम रहना अत्यंत मुश्किल होता है । यदि विश्व व्यवस्था में दो मुख्य कर्ता एक दूसरे के विरोध में विद्यमान है या दो गठबंधन एक–दूसरे के विरोध में आमने–सामने हैं तो यह व्यवस्था द्विध्रुवीय व्यवस्था कहलायेगी । द्विध्रुवीय व्यवस्था बहुधा स्थापित देखी गई है और सामान्य घटना है । कुछ महत्वपूर्ण उदाहरणों में प्राचीन यूनान में एथेंस एवं स्पार्टा, द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् सोवियत संघ एवं संयुक्त राज्य अमेरिका को रखा जा सकता है । कर्ताओं

की अथवा गठबंधों की तुलनात्मक स्वतंत्रता महत्वपूर्ण होती है । जिस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में यूरोप में छ : मुख्य शक्तियां भी उनके मध्य कुछेक के गठबंधन भी थे किन्तु वे न तो स्थायी थे न ही उनमें दृढ़ता थी अत : उसे बहुध्रुवीयता ही कहा जा सकता है । प्रथम विश्वयुद्ध के तुरंत पहले 1914 में इन शक्तियों के मध्य गठबंधन इतने दृढ़ हो गये कि यूरोप में द्विध्रुवीयता की स्थिति निर्मित हो गई । दो ध्रुव थे – त्रिगुट (ट्रिपल अलायंस) एवं त्रिपक्षीय संधि।

प्रथम विश्व युद्ध के उपरांत ऐसी बहुध्रुवीय व्यवस्था, जिसमें मुख्य: कर्ताओं की संख्या अधिक हो, की संभावनाएं काफी कम हो गई । आस्ट्रिया–हंगरी कई छोटे–छोटे राज्यों में बंट गया (आस्ट्रिया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड के कुछ भाग, यूगोस्लाविया एवं रूमानिया); जर्मनी पराजित हुआ, एवं निशस्त्र कर दिया गया; रूस पराजय व गृह युद्ध से ग्रस्त हो गया । तथापि जापान एवं संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व में महान शक्तियों के रूप में उभरे और 1930 के दशक तक जर्मनी व रूस की शक्ति भी काफी हद तक पुनर्स्थापित हो गये । इस प्रकार बहुध्रुवीयता स्थापित दिखाई दी । किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के ठीक पहले पुन : द्विध्रुवीयता स्थापित हुई जिसमें जर्मनी, इटली एवं जापान, ब्रिटेन एवं फ्रांस के विरुद्ध एकजुट हो गये । रूस व अमेरिका इससे तब तक अलग ही रहे जब तक विश्व युद्ध में न खींच लिये गये ।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् बहुध्रुवीय व्यवस्था के आधार पर ही समाप्त हो गये क्योंकि जर्मनी, जापान और इटली पूर्णत : पराजित हो चुके थे और फ्रांस विजयी होने के बावजूद प्रारंभिक हार व 1940 के कब्जे के कारण कमजोर हो चुका था। ब्रिटेन आर्थिक दृष्टि से निष्प्रभावी हो चुका था । हालांकि ब्रिटेन ही वास्तविक विजेता था राजनीतिक दृष्टि से शीघ्र ही यह अपने मुख्य उपनिवेशों को भी खो बैठा । चीन अपनी गरीबी व गृहयुद्ध के कारण महाशक्ति की भूमिका नहीं निभा सकता था। अमेरिका व रूस ही इस समय विश्व के सबसे बड़े दो देश थे । परमाणु शक्ति सम्पन्नता ने इन देशों की शक्ति में वृद्धि की । इन देशों की स्वयं की शक्ति के अतिरिक्त इन देशों द्वारा छोटे राज्यों को नाटो, वारसा व अन्य गठबंधनों में शामिल करने के जरिये से द्विध्रुवीयता को बल मिला ।

सैनिक सामर्थ्य की दृष्टि से सभी यूरोपीय देश सोवियत संघ अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका पर निर्भर हो गये न्यूक्लीयर डिटरेंस अथवा आणविक प्रतिरोध के लिये और राजनयिक कार्यवाही की उनकी स्वतंत्रता बहुत कम हो गयी । आर्थिक दृष्टि से नाजी जर्मनी को हराने के लिये यूरोपीय देश खाद्यान्न एवं अन्य आपूर्तियों के लिये 1945 के पूर्व ही संयुक्त राज्य पर निर्भर हो गये थे और युद्ध के बाद भी ध्वस्त आर्थिक व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने के लिये संयुक्त राज्य की सहायता पर निर्भर रहे । सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप की अर्थव्यवस्थाओं को पुनर्निमित करने के लिये अधिक कार्य न भी किया हो तो भी विचारधारा, सैनिक आवश्यकताओं और सोवियत प्रभुत्व के कारण पूर्वी यूरोपीय देश सोवियत संघ पर निर्भर हो गये जिससे प्रतिरक्षा निर्भरेता प्रमुख रही । सोवियत संघ के 'समान शत्रु ' होने से पश्चिमी गुट की एकता व दृढ़ता बनी रही, । अमरीकी साम्राज्यवाद के विरुद्ध चीन, उत्तरी कोरिया, उत्तरी वियतनाम व सोवियत संघ में, एशिया में यही दृढ़ता दिखाई दी । पश्चिमी जर्मनी का खतरा पूर्वी यूरोप को

संगठित किये रहा, किन्तु इन खतरों के भय में कमी आने से ध्रुवों की दृढ़ता में कमी आई । ब्रिटेन व फ्रांस द्वारा परमाणु शक्ति सम्पन्न होने, जापान के आर्थिक विकास एवं चीन के सोवियत संघ से मतभेद होने से इस ध्रुवीय व्यवस्था में शिथिलता आई । उपनिवेशों के स्वतंत्र होने और दोनों ध्रुवों के गुटों में से किसी से संलग्न होने के बजाए गुट निरपेक्षता की नीति अपनाने से भी महाशक्तियों की राजनयिक प्रभावशीलता में कमी आई । संयुक्त राष्ट्र में जहाँ ये देश बहुमत में थे इनके विचार प्रभावशाली होने लगे और द्विध्रुवीयता में शिथिलता आती गई । यह शिथिलता बहुध्रुवीयता में शीतयुद्ध के दौरान नहीं बदल पाई । शीतयुद्ध के समाप्त होने और सोवियत संघ के एक ध्रुव के रूप में समाप्त हो जाने के पश्चात् नवीन व्यवस्था में संयुक्त राज्य अमेरिका एक महाशक्ति के रूप में शेष रहा । यूरोप के एकीकरण, जापान एवं चीन की स्थिति एवं रूस की व्यवस्था की चुनौती दे सकते हैं ।

19.12 ध्रुवीयता एवं स्थायित्व

अंतर्राष्ट्रीय स्थायित्व द्विध्रुवीयता से बनाया जा सकता है अथवा बहुध्रुवीयता से द्विध्रुवीयता के समर्थकों का मानना है कि इससे 4 लाभ हो सकते हैं, एक तो यह कि दो महाशक्तियों के होने से सीमान्त राज्यों के मध्य ऐसे संघर्ष होने की संभावना नहीं रहती, जो महाशक्तियों के नियन्त्रण के बाहर हों । दूसरा जितनी अधिक दृढ़ ध्रुवीयता होगी उतनी समूहान्तर्गत प्रतिद्वन्द्विता होगी, वृहद् व व्यापक विषयों पर बड़ी शक्तियां नियंत्रण व अधिकार प्राप्त कर सकेंगी और उन पर होने वाले विवादों को भी नियंत्रित कर सकेंगी । तृतीय दबाव सतत् प्रक्रिया है और संकट छोटे स्तर पर प्रारंभ होते हैं, न कि वृहद् संघर्ष में चतुर्थ समूह के अंतर्गत सतत दबाव और प्रभुत्व पूर्ण सदस्यों की उपस्थिति समूहों अथवा गुटों को विध्वंसकारी परिवर्तनों को यहां तक कि क्रांति को सहने की क्षमता भी पैदा करती है जिसके अभाव में व्यापक संघर्ष संभव होता है । द्विध्रुवीयता की हानियों की चर्चा करें तो यह द्वेष व विरोध को बढ़ाती है क्योंकि गुट परस्पर आरोप प्रत्यारोप करते रहते हैं, प्रतिक्रिया करते हैं । द्विध्रुवीयता के समर्थकों की इस मान्यता को भी संदेह की दृष्टि से देखा जा सकता है, कि परस्पर भय एवं संकट के वातावरण में ही शांति सुरक्षित रहती है । द्विध्रुवीयता जितनी सुदृढ़ होगी उतना ही अधिक गुटों या समूहों के मध्य तनाव होगा व सदस्यों के मध्य भी तनाव होगा ।

द्विध्रुवीय व्यवस्था में युद्धों को प्रकृति एक ध्रुव दूसरे ध्रुव की शक्ति–परिधि के बाहरी बिन्दु पर शक्ति को कम करने की रहती है । कोरिया का युद्ध और हिन्द चीन का युद्ध इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं । आंतरिक कलह के रूप में परिधि पर उत्पन्न युद्ध गुटों के युद्ध में परिवर्तित हो सकते हैं क्योंकि कोई भी ध्रुव अपने गुट के सदस्य को खोना नहीं चाहता । द्विध्रुवीय व्यवस्था में दोनों ध्रुवों के बीच यदि युद्ध प्रारंभ हो जाता है तो यह अत्यंत भीषण प्रकृति का हो सकता है । अत : संकट–प्रबंधन एवं प्रत्यक्ष टकराव को टालने के प्रयासों पर बल दिया जाता है । प्रत्यक्ष टकराव के स्थान पर प्रोक्सी (प्रतिछाया) युद्ध हो सकती है । शीतयुद्ध के दौरान इस तरह के युद्धों की पुनरावृत्ति होती रही जो अफ्रीका में (अंगोला एवं इथियोपिया) में अधिक रहीं । प्रतिछाया युद्ध में महाशक्तियां अपने सहयोगी को हथियार एवं प्रशिक्षण इत्यादि तो देंगी किन्तु स्वयं की सेनाओं को युद्ध में नहीं लगायेंगी । अत : ऐसी स्थिति में कई छोटे,

स्थानीय युद्ध लड़े जा सकते हैं । महाशक्तियों या ध्रुवों के युद्ध की तुलना में ये छोटे कहे जा सकते हैं परन्तु उन देशों के लिये ये युद्ध भयावह ही होते हैं जो युद्ध करते हैं ।

बहुध्रुवीयता के समर्थक स्थायित्व की चर्चा करते हुए कहते हैं कि अंतर्क्रिया के बढ़ने से बहुध्रुवीय स्थिरता को बनाये रखती है । बढ़ी हुई अंतर्क्रिया से किसी भी एक विशेषकर्ता पर ध्यान केन्द्रित नहीं रहता और अतिवादी क्रियाओं का सामान्यीकरण होता रहता है । बहुध्रुवीयता में संलग्नता की स्थिति परिवर्तित होती रह सकती है । एक मुद्दे पर विरोधी दृष्टिकोण रखने वाले देश किसी दूसरे मुद्दे पर सहयोग कर सकते हैं । भविष्य में सहयोग के लिये आवश्यक है कि किसी मुद्दे पर शत्रुता इतनी न बढ़ा दी जाये कि यह स्थायी शत्रुता में बदल जाये व इस तरह बड़े युद्धों को टाला जा सकता है । अत : जितने अधिक स्वतंत्र कर्ता व्यवस्था में होंगे युद्ध की संभावनाऐं उतनी ही कम होंगी ।

बहुध्रुवीयता की स्थिति शास्त्रीय प्रकार के शक्ति संतुलन को भी स्थापित कर सकती है। शक्ति संतुलन का एक प्रतिमान राज्य के व्यवहार के विशेष प्रकार पर निर्भर होता है । यदि कोई बड़ी शक्तियां एक–दूसरे से प्रतिस्पर्धा करती है तो वे ऐसे समूह बनाने को उद्यत होंगी जिससे कोई एक शक्ति हावी नही हो सके । लगभग समान शक्ति–सामर्थ्य होने पर व गठबंधन बदलने व युद्ध तक जाने के लिये तैयार रहने पर कोई एक कर्ता शक्ति संतुलन बदलने का प्रयास नहीं करेगा । छोटे–छोटे युद्ध जो व्यवस्था में परिवर्तन न करते हो, संभवत : लड़े जा सकते हैं । इनका उद्देश्य शक्ति सामर्थ्य को ज्ञात करना हो सकता है । जिससे किसी एक कर्ता की शक्ति सामर्थ्य को असंतुलित रूप से बढ़ने से रोका जा सके ।

19.13 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बीस वर्ष के अंतराल में द्वितीय विश्व युद्ध के होने के पश्चात् तीसरे विश्व युद्ध के भड़कने की आशंका से मानव सभ्यता त्रस्त रही किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् जो विश्व व्यवस्था उभरी उसमें दो नयी महाशक्तियां उभरी–सोवियत संघ व संयुक्त राज्य अमेरिका । इन दो महाशक्तियों की शक्ति का एक आधार इनके विशाल परमाणु शस्त्र भंडार थे जिसने इन्हें प्रत्यक्ष रूप से आमने–सामने लड़ने से रोके रखा क्योंकि इस युद्ध का अर्थ था, परस्पर विनाश । हालांकि इन दो महाशक्तियों के संबंधों में कड़वाहट रूस में 1917 की बोल्शेविक क्रांति से ही प्रारंभ ही गई थी तथापि इनकी राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् ही तीव्र हुई । दोनों के संबंध इतने अधिक तनावग्रस्त रहे कि शस्त्र युद्ध न होते हुए भी ये युद्ध जैसे तनाव के महौल में रहे । शस्त्रों से युद्ध न करते हुए भी शस्त्रस्पर्धा, प्रोपेगेण्डा जैसे मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, वैचारिक एवं राजनयिक उपायों से यह युद्ध लड़ा गया । इस शीतयुद्ध का प्रभाव विश्व व्यापी रहा । यूरोप भी इन महाशक्तियों के साथ दो भागों में अथवा गुटों में बंट गया और दृढ़ द्विध्रुवीयता का निर्माण हुआ । चीन के सोवियत संघ से मतभेद गुटनिरपेक्ष देशों के उद्भव, फ्रांस की स्वतंत्र नीति इत्यादि अनेक कारणों से द्विध्रुवीयता में शिथिलता आई, दूसरी ओर ख्रुश्चेव की शांतिपूर्व सहअस्तित्व की नीति से महाशक्तियों के संबंधों में सामान्यीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई ओर देतॉं एवं तनाव शैथिल्य व निशस्त्रीकरण का वातावरण बना । किन्तु 1979 में पुन : शीतयुद्ध भड़क उठा जो 1985 में

मिखाइल गोर्वाचेव के सोवियत संघ में सत्तासीन होने व उनके द्वारा नये राजनीतिक चिंतन दिये जाने के बाद ही तनाव शैथिल्य में बदल सका । सोवियत संघ की राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्विरोधों, आर्थिक समस्याओं व गोर्वाचेव द्वारा अपनाई गई सुधार प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप सोवियत संघ विघटित हो गया और साम्यवादी, विचारधारा पर आधारित व्यवस्था, एक महाशक्ति का अंत हो गया । इसी के साथ 45 वर्षों की अद्भुत अंतर्राष्ट्रीय स्थिति शीतयुद्ध की भी समाप्ति हो गई । एक नयी विश्व, व्यवस्था उभरी जिसमें शक्ति के कई केन्द्र हो सकते हैं । चीन, जापान, एकीकृत यूरोप एवं संयुक्त राज्य अमेरिका । किन्तु बहुध्रुवीयता के निर्माण की स्थितियां स्पष्ट न होने से एकल ध्रुवीय व्यवस्था ही बनी हुई दिखती है जिसमें एकमात्र ध्रुव संयुक्त राज्य अमेरिका है ।

अभ्यास कार्य :

1. शीतयुद्ध के विचार को स्पष्ट करें ।
2. शीतयुद्ध की उत्पत्ति किन कारणों से हुई?
3. तनाव शैथिल्य (देतॉं) क्या है? और यह क्यों संभव हुआ?
4. द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् स्थापित द्विध्रुवीयता एवं उसमें हुए परिवर्तनों की विवेचना कीजिये ।

19.14 संदर्भ ग्रन्थ

1. फ्रेडरिक–शूमा : द कोल्ड वॉर रिट्रोस्पेक्ट एण्ड प्रोस्पेक्ट
2. चार्ल्स केगले एण्ड यूजिनी विटकॉफ : वर्ल्ड पोलिटिक्स– ट्रेन्ड्स एण्ड ट्रान्सफॉर्मेशन
3. वाल्टर लिपमेन : द कोल्ड वॉर
4. ब्रुश रसेट एण्ड हर्वे स्टार : वर्ल्ड पोलिटिक्स
5. जेम्स रोजिनॉ : इंटरनेशनल पोलिटिक्स एण्ड फोरेन पॉलिसी

इकाई - 20

गैर पश्चिमी दृष्टिकोण एवं उनकी प्रभावोत्पादकता, असंलग्नता (गुटनिरपेक्षता) एवं असंलग्न आंदोलन

इकाई की संरचना

20.1 उद्देश्य

20.2 प्रस्तावना

20.3 मार्क्सवादी विश्व दृष्टिकोण

20.4 चीन का विश्व दृष्टिकोण

20.5 विकासशील देशों का प्ररिप्रेक्ष्य

20.6 विकासशील परिप्रेक्ष्य : प्रस्थापनायें

20.7 असंलग्नता : अर्थ, विशेषताएं एवं कारक

20.8 असंलग्नता : आंदोलन के रूप में

20.9 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य

20.10 संदर्भ ग्रन्थ

20.1 उद्देश्य

इस इकाई के उद्देश्य हैं :–

1. गैर पश्चिमी विश्व दृष्टिकोणों से अवगत कराना ।
2. विकासशील देशों के विश्व दृष्टिकोण एवं परिप्रेक्ष्य की विभिन्न प्रस्थापनाओं एवं आधारों को स्पष्ट करना।
3. असंलग्नता के विचार की व्याख्या करना।
4. असंलग्नता राष्ट्रों के आंदोलन के महत्व एवं सार से परिचित करवाना।

20.2 प्रस्तावना

सामयिक परिवर्तनों का विश्व व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव होता है और विश्व व्यवस्था एक सी न रह समय–समय पर परिवर्तित होती रहती है । 20वीं शताब्दी के प्रारंभ से द्वितीय विश्वयुद्ध तक जो व्यवस्था थी, वह द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् स्थापित विश्व व्यवस्था से भिन्न थी । इसी प्रकार 1945–1990 तक के लगभग 45 वर्षों में विद्यमान विश्व व्यवस्था 1990 के पश्चात् स्थापित हो रही व्यवस्था से भिन्न दिखाई देती है । विश्व–व्यवस्था में परिवर्तन, राष्ट्र–राज्यों व प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय कर्ताओं के व्यवहार एवं उनके दर्जे को प्रभावित करता है, तथापि राज्यों की मूल नीति व विदेश संबंधी सोच व समझ में आधारभूत निरंतरता विद्यमान होती है । परिवर्तनों से गत्यात्मक संबंध व मूल वैचारिक सततता को परिप्रेक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है । महाशक्तियों, क्षेत्रीय शक्तियों, वृहद् राज्यों एवं लघु राज्यों के भिन्न–भिन्न विश्व दृष्टिकोण या परिप्रेक्ष्य होते हैं । विचारों मूल्यों, हितों व उद्देश्यों के आधार पर यह भिन्नता परिलक्षित होती है ।

प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व अंतर्राष्ट्रीय राजनीति कुछेक यूरोपीय देशों के राजनीतिक इतिहास तक ही सीमित था । प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के उपरांत भी यही स्थिति रही मात्र इस बदलाव के कि संयुक्त राज्य अमेरिका पर अधिक ध्यान दिया गया । द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् पश्चिमी देशों के इस यूरोप केन्द्रित परिप्रेक्ष्य के अतिरिक्त साम्यवादी देशों का परिप्रेक्ष्य भी महत्वपूर्ण हुआ । नवस्वतंत्र देशों द्वारा भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एवं संबंधों को विशेष दृष्टिकोण से देखा गया। इसी कारण से गैर–पश्चिमी परिप्रेक्ष्य को भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विश्लेषण में स्थान दिया जाने लगा।

20.3 मार्क्सवादी विश्व दृष्टिकोण

मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समाजवादी एवं गैर समाजवादी के मध्य अवश्यम्भावी संघर्ष के रूप में देखता है, जिसका अंत समाजवाद की विजय के रूप में होना है। सामाजिक विकास द्वन्दात्मक भौतिकवाद के नियमों से प्रेरित होता है । ये नियम राष्ट्रीय राजनीति की तरह ही अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी लागू होते हैं ।

रूस में बोल्शेविक क्रांति के नेता लेनिन ने विश्व राजनीति के अध्ययन में मार्क्सवादी नियम लागू किये और साम्राज्यवाद को पूंजीवाद का अंतिम चरण माना । क्राउटस्की के इस विचार को उन्होंने नहीं माना कि साम्राज्यवाद पूंजीवादी देशों द्वारा चुनी हुई नीति मात्र है ।

मार्क्सवादी–लेनिनवादी परिप्रेक्ष्य की निम्न विशेषताएं हैं :–

1. वैज्ञानिक सिद्धान्त : राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनीति का विश्लेषण वर्ग संघर्ष के संदर्भ में किया जा सकता है ।
2. साम्यवादी व गैर साम्यवादी व्यवस्थाओं के मध्य संघर्ष अवश्यंभावी है । किन्तु शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की नीति को अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक विकास के संक्रमणकालीन दौर में अपनाया जा सकता है । शांतिपूर्ण सह अस्तित्व का यह काल विश्व साम्यवाद की स्थापना के लिये संघर्ष में विश्राम का काल है जिसका उद्देश्य है बुर्बुआ राज्यों के साथ शांति से रहकर अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद के लिये संघर्षरत रहना।
3. एक राष्ट्र में समाजवाद एवं क्रांति का निर्यात : सोवियत संघ में लेनिन के उत्तराधिकारी स्टालिन ने ट्राटस्की की 'विश्व क्रांति ' की संकल्पना को न अपनाकर "एक देश में समाजवाद" को सुदृढ़ करने का सिद्धान्त दिया। लेनिन का विचार था कि जिस देश में क्रांति के द्वारा पूंजीवाद को उखाड़ा जा चुका है । एवं समाजवादी उत्पादन प्रारंभ किया जा चुका है । यह उस देश का कर्त्तव्य है कि वह विश्व क्रांति का अभियान पूरा करने के लिये पूंजीवादी विश्व के अन्य देशों में शोषित वर्गो को आकर्षित कर पूंजीवाद के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये तैयार करे और आवश्यकता होने पर शोषक वर्ग के देशों के विरूद्ध सशस्त्र सेनाओं का उपयोग करें ।
4. युक्तियाँ एवं तकनीक : विश्व एवं शांति के प्रति मार्क्सवादियों का विशेष दृष्टिकोण है । उनके अनुसार जब तक विश्व में पूंजीवाद है शांति स्थापित नहीं हो सकती व व्यवस्थाओं के बीच संघर्ष जारी रहेगा । विश्व युद्ध साम्राज्यवादी देशों के बीच गरीब उपनिवेशों के बंटवारे के लिये था । युद्ध को विश्व से समाप्त करने के लिये पूंजीवाद का सफाया आवश्यक है ।

5. राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन को समर्थन : बुर्जुआ राज्यों को कमजोर करने की दृष्टि से मार्क्सवादी परतंत्र राष्ट्रों के स्वतंत्रता आंदोलनों को नैतिक व भौतिक समर्थन देते रहे । अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में समाजवादी व गैर पूंजीवादी देशों के मध्य शांति तथा समाजवादी व पूंजीवादी देशों के मध्य युद्ध की स्थिति है ।

20.4 चीन का विश्व दृष्टिकोण

चीन में 1949 में साम्यवादी क्रांति के पश्चात् मार्क्सवादी विचारधारा को अपनाया गया किन्तु विश्व के प्रति चीनी परिप्रेक्ष्य और सोवियत परिप्रेक्ष्य में भिन्नता रही जो 1959 के पश्चात् स्पष्ट रूप से परिलक्षित भी हुई। चीन का विश्व दृष्टिकोण दो धाराओं के सम्मिलन से उत्पन्न हुआ। एक है चीन के लंबे इतिहास से अभिप्रेरित राष्ट्रवाद और दूसरी मार्क्सवादी लेनिनवादी व माओवादी विचारधारा। चीन के इतिहास में प्राचीन चीनी साम्राज्य "मिडिल किंगडम' या मध्यवर्ती साम्राज्य की महान परंपरा रही। 1840 से 1945 तक एक शताब्दी का काल पश्चिमी आधिपत्य का रहा। पश्चिमी शक्तियों से संपर्क का यह कटु अनुभव चीन के महान साम्राज्य की परंपरा के बोध को समाप्त न कर सका। बक्सर व 1911 की राष्ट्रवादी क्रांति; गृह युद्ध की स्थिति; व द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जापान द्वारा चीन पर आधिपत्य स्थापित करने के प्रयास और अंतत : साम्यवादी क्रांति चीनी विश्व दृष्टिकोण के निर्माण में प्रभावी रही, और 1949 के उपरांत भी चीनी विश्व दृष्टिकोण इन ऐतिहासिक अनुभवों से अत्यधिक प्रभावित रहा। सोवियत संघ संयुक्त राज्य अमेरिका या उनके अन्य सहयोगी मित्र देशों ने चीन की तरह शोषण अपमान व दमन का अनुभव नहीं किया था। विदेशी आक्रमणों से चीनी सम्मान आहत था और साम्यवादी चीन के नेताओं में इसकी स्मृतियों जीवित रहीं । माओ ने आधुनिक चीन के इतिहास को कालांतर की ऐसी प्रक्रिया माना है जिसमें चीन को अर्द्ध उपनिवेश या साम्राज्यवादियों का एक उपनिवेश बनाया गया। एक प्रक्रिया–चीनी जनता की साम्राज्यवादी व उसके पिट्ठुओं के विरूद्ध संघर्ष की प्रक्रिया थी । यही कारण रहा कि साम्यवादी क्रांति के उपरांत एक स्वतंत्र, स्वाभिमानी राष्ट्र के रूप में चीन ने अमेरिकी व अन्य पश्चिमी देशों के साम्राज्यवाद का तो विरोध किया ही, सोवियत संघ के प्रभाव विस्तार या चीन को गौण दर्जा देने के प्रयास को भी नहीं सहा । सोवियत संघ के साम्राज्यवादी निरूपित करते हुए उसकी नीतियों का भी विरोध किया । चीन ने यूरोप केन्द्रित अथवा अमेरिका–यूरोप केन्द्रित पश्चिमी विश्व दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया। मार्क्सवादी दृष्टिकोण में भी परिवर्तन करते हुए चीन को केन्द्र मान विश्व व्यवस्था का विश्लेषण किया। चीन के विश्व दृष्टिकोण में भी इसी कारण से परिवर्तन होता रहा। प्रारंभिक वर्षों में विश्व को द्विध्रुवीय व्यवस्था माना जो दो खेमे या गुटों में बंटी थी । एक था समाजवादी गुट व दूसरा था पूंजीवादी गुट, जिसका नेतृत्व अमेरिका कर रहा था। विचारधारागत पूंजीवाद विरोध एवं साम्राज्यवाद विरोध के कारण चीन ने सोवियत संघ की मित्रता व समाजवादी गुट से दृढ़ गठबंधन को चुना। चीनी दृष्टिकोण के अनुसार विश्व में दो ही ध्रुव एवं दो ही गुट थे और कोई स्वतंत्र रास्ता हो नहीं सकता था । गुट निरपेक्षता अथवा असंलग्नता की निंदा भी चीनी नेताओं ने इसी दृष्टिकोण के आधार पर की थी । कोरिया युद्ध में चीन की भूमिका व उत्तरी कोरिया को अमरीका नेतृत्व में युद्ध कर रही संयुक्त राष्ट्र की

सेनाओं से पराजय रोकने में सफलता ने चीन के आत्मबल एवं सम्मान को बढ़ाया । महान सभ्यता, महान राष्ट्र की स्मृतियों ने इसे बड़ी शक्ति की भूमिका निभाने के लिये प्रेरित किया । मध्यम मार्गीय या गुटनिरपेक्ष देशों की मित्रता व नेतृत्व करना उद्देश्य बन गया। विशेषकर दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया में अमेरिका जैसे शत्रु देश को बाहर रखने के लिए स्वयं का प्रभाव विस्तार आवश्यक माना गया । नमनीय नीति का अविलंबन व विचारधारागत कट्टरवाद को छोड़ना भी स्वीकार किया था । मध्यमार्गीय देशों को मित्र बनाया जा सकता है, के उद्देश्य भारत चीन के मध्य पंचशील के सिद्धान्तों पर समझौता व शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की नीति में प्रतिध्वनित हुए ।

पांचवें दशक में चीनी राष्ट्रीय हितों ने इसके विश्व दृष्टिकोण को परिवर्तित किया। सोवियत संघ द्वारा आणविक शक्ति सम्पन्न होने वे अंतरिक्ष शक्ति का विकास करने के बाद अमेरिका जैसे पूंजीवादी शत्रु देश के साथ सह अस्तित्व की नीति को चीन मान्य नहीं कर सका । स्टालिन के प्रभाव को समाप्त करने, हंगरी व पोलैण्ड की घटनाओं, व भारत को आर्थिक सहायता दे एक प्रतिद्वन्दी शक्ति पुंज विकसित करने के सोवियत संघ के प्रयोजनों को चीनी हित के विरूद्ध मानकर चीन ने सोवियत संघ से पृथक स्वतंत्र मार्ग अपनाने का प्रयास किया । 'दो खेमों ' का दृष्टिकोण परिवर्तित कर माओ ने माना कि विश्व में तीन खेमे हैं, प्रथम खेमे में अमेरिका व अन्य विकसित पूंजीवादी देश है । द्वितीय खेमे में सोवियत संघ व उसके मित्र देश हैं । तृतीय खेमे में नव स्वतंत्र तृतीय विश्व के देश हैं । चीन ने स्वयं को द्वितीय खेमे में न रख तृतीय खेमे में रख उसके नेतृत्व की आकांक्षा प्रदर्शित की1

सत्तर के दशक में अमेरिका से मित्रता सोवियत संघ व जापान दोनों की शक्ति को ध्यान में रखकर की गयी । अमेरिका से मित्रता न सिर्फ एशिया–प्रशांत में चीन के स्त्रातजिक व सुरक्षा हितों को पूर्ण करती वरन् चीन के आर्थिक विकास व आधुनिकीकरण में भी सहायक होती । इस काल में चीनी हितों के लिये सबसे बड़ा शत्रु सोवियत संघ को माना गया । वियतनाम आक्रमण (1978–79) में असफल होने के उपरांत पुन : चीन का विश्व दृष्टिकोण परिवर्तित हुआ और वह स्वतंत्र विदेश नीति व 'स्व केन्द्रित प्रतिमान ' को व्यवहार में लाने के लिये उद्यत हुआ क्योंकि अमरीका से मित्रता का गठबंधन तायवान व अन्य सुरक्षा विषयक चीनी हितों को सिद्ध न कर सका।

शीतयुद्धोपरान्त विश्व की पाँच बड़ी शक्तियों में चीन एक है और निरंतर आर्थिक विकास की ओर अग्रसर है । सोवियत संघ के अवसान से एशिया, प्रशांत में एक क्षेत्र प्रभुत्व का चीन दावा करता है और प्राचीन सभ्यता के सम्मान की वापसी ही नहीं भौगोलिक सीमायें भी पूर्ववत् करने के प्रयास में है । हांगकांग की वापसी व अन्य सीमावर्ती द्वीपों पर दावा इस नीति की ओर संकेत करते हैं । चीन की आर्थिक, राजनैतिक शक्ति को देखते हुए अमेरिका भी चीन को इस क्षेत्र की क्षेत्रीय शक्ति मानता है व भारत व उसकी बढ़ती शक्ति को भी नियंत्रित करने के लिये चीन को अधिकृत मानता है ।

इस प्रकार जहाँ मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य विश्व को निरंतर दो व्यवस्थाओं में बांट संघर्ष के संबंधों को ही स्वीकार करता है, चीनी विश्व दृष्टिकोण विचारधारागत कट्टरता को छोड़ राष्ट्रीय हितों के अनुरूप विश्व व्यवस्था का आंकलन करता है । चीनी विश्व दृष्टिकोण में आये

परिवर्तन इसी विचार के द्योतक है, जिनमें गुट निरपेक्ष देशों के सदृश्य दृष्टिकोण की निरंतरता का अभाव दिखाई देता है ।

20.5 विकासशील देशों का प्ररिप्रेक्ष्य

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् की विश्व राजनीति में पश्चिमी व पूर्वी गुट अथवा पूंजीवादी–साम्यवादी गुट के मध्य तनाव विद्यमान. रहा । इस शीत युद्धकालीन प्रवृत्ति के अतिरिक्त उपनिवेशों का स्वतंत्र होना कई अर्थो में महत्वपूर्ण रहा। इन नव स्वतंत्र राष्ट्रों के हित व उद्देश्य पश्चिमी अथवा पूर्वी गुट के देशों के हितों से भिन्न थे । प्रारंभ में स्वतंत्रता की रक्षा, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद व जातिभेद का विरोध जैसे राजनीतिक मुद्दे इनके लिये मुख्य रहे किन्तु सत्तर के दशक में राजनीतिक स्वतंत्रता की पूर्णता के लिये आर्थिक विकास एक महत्वपूर्ण मुद्दा बन गया और पूर्व–पश्चिम विभाजन के अतिरिक्त विश्व में उत्तर–दक्षिण विभाजन भी दृष्टिगोचर होने लगा । उत्तर के देश विकसित धनी व समृद्ध थे और दक्षिण के देश गरीब व विकास के लिये प्रयासरत थे । दक्षिण के ये देश ही, जो नव स्वतंत्र थे, "तृतीय विश्व" के रूप में पहचाने गये और इनमें से अधिकांश ने असंलग्नता की नीति अपनाई जिसने पश्चिम और पूर्व के संघर्ष से अलग रहकर विश्व तनाव को कम कर विकास के मुद्दों पर राष्ट्रों का ध्यान केन्द्रित करवाना चाहा। यही कारण रहा है की गैर पश्चिमी दृष्टिकोण के रूप में विकासशील देशों का दृष्टिकोण परिपक्व होता गया । विश्व की सभी घटनाओं को और समस्याओं को इन्होंने अपने दृष्टिकोण से देखना प्रारंभ किया । इसका आधार उपनिवेश के रूप में परतंत्रता का इतिहास व उससे उत्पन्न विकास की विसंगतियां रहीं ।

20.6 विकासशील परिप्रेक्ष्य : प्रस्थापनायें

चार्ल्स लर्च एवं अब्दुल सईद ने नव स्वतंत्र देशों के विश्व राजनीति में पर्दापण व सक्रिय भागीदारी की तुलना सामंतवादी काल की समाप्ति पर राजनीति में बुर्जुआ वर्ग के प्रादुर्भाव से करते हुए इनके परिप्रेक्ष्य को क्रांतिकारी विचारधारा के रूप में माना है, जिसमें न सिर्फ संपूर्ण विश्व दृष्टिकोण सम्मिलित है, वरन् परिवर्तन का आधार भी प्रस्तुत है । नव स्वतंत्र राष्ट्रों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रचलित मूल्यों को अप्रासंगिक माना और विद्यमान व्यवस्था में परिवर्तन की माँग की।

इन देशों ने उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद व नवोपनिवेशवादी प्रवृत्तियों व नीतियों के विरूद्ध आवाज उठाई और विश्व व्यवस्था में सभी देशों को समान स्तर देने अर्थात विश्व व्यवस्था में राष्ट्रों को पदसोपानीय दर्जा प्राप्त होने का विरोध किया। विश्व व्यवस्था में सभी देशों को न्यायपूर्ण दर्जा देने की माँग की । विकसित पश्चिम देशों की इस मानसिकता का भी विरोध किया कि नव स्वतंत्र विकासशील देश कभी उनकी बराबरी नहीं कर सकेंगे । इन देशों का आरोप रहा कि उनका पिछड़ापन पश्चिमी विश्व द्वारा थोपे गये औपनिवेशिक शासन के कारण हैं । औपनिवेशक शासन के दौरान राजनीतिक स्वतंत्रता, प्रजातीय समानता, राष्ट्रीय सम्मान को कुचला गया । वही प्रतिक्रिया स्वरूप पश्चिम– विरोधी–दृष्टिकोण के रूप में मुखरित हुआ। उपनिवेशवाद की समाप्ति के पश्चात भी पश्चिमी पूंजीवादी देश आर्थिक साधनों के माध्यम से किसी न किसी रूप में राजनीतिक नियंत्रण रखे हुए हैं । आर्थिक निर्भरता से उत्पन्न

परिस्थितियों एवं संप्रभुता पर प्रत्यारोपित सीमाओं के कारण पूंजीवादी देश सरलता से अपने आर्थिक राजनीतिक हित साध रहे हैं । इस आर्थिक प्रभुत्व के कारण ही नव स्वतंत्र देशों को राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं, अस्थिरता इत्यादि से जूझना पड़ रहा है । अत : निम्न मान्यतायें यह परिप्रेक्ष्य प्रस्थापित करती हैं।

1. नवोपनिवेशवाद नवस्वतंत्र देशों के अस्तित्व के लिये प्रमुख खतरा है ।
2. शीत युद्ध के दौरान अमरीकी सोवियत संघर्ष वास्तव में छोटे राज्यों पर प्रभुत्व एवं शक्ति के लिये संघर्ष मात्र था।
3. द्विध्रुवीय एवं एक–ध्रुवीय नव स्वतंत्र देशों के हितों एवं उद्देश्यों के अनुकूल नहीं है ।
4. अंतराष्ट्रीय व्यवस्था की असंतोषजनक स्थितियों में समानुकूलन बैठाने के लिये नव स्वतंत्र देश अद्वितीय स्थिति में है ।

ये देश शीत युद्ध के दौरान अमरीकी प्रजातंत्र व सोवियत संघ के साम्यवाद में से किसी एक को अपनी स्वतंत्रता के लिये खतरा नहीं मानते थे, वरन् अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के तनाव को खतरा मानते थे । अत: इन दोनों के मध्य के तनाव से दूर अपने हितों की अभिवृद्धि हेतु इन्होंने अपना स्वतंत्र मार्ग चुना। सीधा संघर्ष नव स्वतंत्र देशों के अस्तित्व को चुनौती देता है व अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक तनाव उनकी सुरक्षा के लिये हितकर नहीं है । इन दो महाशक्तियों के मध्य विश्व संघर्ष में उनकी संप्रभुता पर भी आंच आती है । अत : स्वतंत्र मार्ग दो गुटों से अलग अंतर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने में सृजनात्मक भूमिका निभा सकता है । यही वैचारिक सोच गुट निरपेक्षता अथवा असंलग्नता की नीति का आगे चलकर आंदोलन का आधार बना । इन देशों का यह भी मत रहा है कि असंलग्न नीति की विवेक सभ्यता अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त विवेकहीनता को समाप्त करने में सहायक है । विश्व शांति की इच्छा उनकी मध्यस्थता की भूमिका, जिसका गुटीय राजनीति में कोई हित नहीं है, से संभव हो सकता है ।

उपर्युक्त वैचारिक आधार पर ये देश अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में आस्था व्यक्त करते हैं । संयुक्त राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान में प्रभावकारी भूमिका निभा सकता है । यह बड़ी शक्तियों के मध्य के विवादों का भी समाधान कर सकता है । अंतर्राष्ट्रीय संगठन नव–स्वतंत्र देशों की राजनीतिक शक्ति के प्रभाव का साधन माना गया क्योंकि संख्यात्मक दृष्टि से अधिक होने के कारण ये देश बड़ी शक्तियों के खिलाफ सशक्त आवाज उठा सकते थे ।

इन प्रस्थापनाओं को आधार मान विश्व व्यवस्था को सुसंगत, न्यायपूर्ण, समानतावादी व सभी के हितों के अनुकूल बनाने हेतु प्रारंभ से ही ये देश पुनर्संरचना के पक्षधर रहे । यह पुनर्संरचना राजनीतिक, आर्थिक सांस्कृतिक आदि सभी आयामों से सम्बद्ध रही। असंलग्नता इसकी रणनीति व गुटनिरपेक्ष आंदोलन इसके लिये शक्ति रहे ।

राजनीतिक दृष्टि से उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, प्रजातीय भेदभाव व रंगभेद के विरूद्ध संघर्ष कर इन देशों में प्रचलित निम्न मूल्यों को समाप्त कर समाजवादी दृष्टिकोण व व्यवहार विकसित करने का प्रयास किया। सभी राष्ट्रों को समान दंर्जा प्राप्त हो यह प्रयास भी रहा। इन प्रयासों में संयुक्त राष्ट्र की महासभा में इनकी संख्यात्मक शक्ति व भावनात्मक एकता ने सफलता प्राप्त की । किन्तु शीघ्र ही ये देश इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि महासभा के पवित्र प्रयोजन व संख्यात्मक शक्ति को अनदेखा कर, संयुक्त राष्ट्र की मूल भावना को ठेस संयुक्त

राष्ट्र की विशेष संरचना और विशेषकर सुरक्षा परिषद के गठन की रीति से पहुंचाई जा सकती है।

संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद में पाँच बड़ी शक्तियों को निषेधाधिकार व महत्वपूर्ण अभिकरणों में भारीय मत को ये देश संयुक्त राष्ट्र के बड़ी शक्तियों के हित साधन के एक अभिकरण के रूप में बनाये रखने का प्रयास मानते हैं । उनकी राय में संयुक्त राष्ट्र के सभी अंगों व अभिकरणों में महा सभा की तरह प्रजातांत्रिक ढंग से संगठन, मताधिकार इत्यादि के प्रावधान किये जाने चाहिये । इस हेतु संयुक्त राष्ट्र के पुनर्गठन की मांग विकासशील देशों द्वारा की जाती रही । इसके अंतर्गत सुरक्षा परिषद को व्यापक बना उसमें सभी स्थाई सदस्यों के रूप में विकासशील देशों को भी सम्मिलित करने की मांग है । ये संयुक्त राष्ट्र के सहायक अभिकरणों द्वारा सहायता, व्यापार व तकनीकी सहायता को भी गैर राजनीतिक बनाये जाने पर बल देते हैं। चूंकि संयुक्त राष्ट्र को विभिन्न कार्यक्रमों के लिये सहायता फंड औद्योगिकृत विकसित देशों से प्राप्त होता है, सहायता–राजनीति को नियंत्रित करने के प्रयास भी इन्हीं देशों द्वारा किये जाते हैं। विकसित देश सहायता राशि के सक्षम उपयोग के नाम पर सहायता प्राप्ति के लिये कड़ी शर्तें रखते हैं। निवेश पूर्व विकास पर जोर दिया जाता है । इस तर्क के साथ कि यह अर्थव्यवस्था के न दिखाई देने वाले पक्षों को भी मजबूत करेगा और बड़ी व उत्पादक परियोजनायें सफलता के साथ लागू की जा सकेगी। इसी प्रकार जहाँ विकासशील देश दीर्घकालीन योजना के तहत योजना पूर्ण होने तक के लिये सहायता राशि प्राप्त करना चाहते हैं । दाता अभिकरण उन्हें ये सहायता राशि विभिन्न चरणों में देना चाहती है और प्रत्येक चरण की भली–भांति पूर्णता चाहती है, अगले चरण के लिये राशि प्रदान करने से पहले हाल के वर्षों में सहायता देने वाले अभिकरणों व संस्थाओं द्वारा विकास कार्यो के साथ पर्यावरण संरक्षण की शर्त को जोड़े जाने को विकासशील देश ऐसी विलासिता मानते हैं जो विकसित देश ही वहन कर सकते हैं । त्वरित विकास की माँग को दृष्टिगत करते हुए ये विकासशील देशों की राय में त्वरित विकास के रास्ते में विकसित देशों द्वारा खड़ी की गई कोई भी अड़चन या रूकावट व नव–साम्राज्यवादी और नवोपनिवेशवादी पद्धति का भाग है, जो दक्षिण के राज्यों को विकसित नहीं देखना चाहती । पूंजी की प्राप्ति के अतिरिक्त व्यापार रियायतों की दृष्टि से भी ये राष्ट्र चाहते हैं कि ऐसी व्यवस्था कायम की जाये जिसमें विकसित देशों के प्रभुत्व के कारण उनके हितों की सिद्धि करने वाली व्यवस्था को समाप्त किया जा सके व सभी को समान अवसर प्राप्त हो सके । इस हेतु ही अंकटाड की स्थापना पर बल दिया गया था। अंकटाड ने विकासशील देशों को सामूहिक स्वर व्यक्त करने का मंच प्रदान किया जिससे विकसित देशों से अधिक लाभप्रद नियमों के तहत व्यापार किया जा सके । गेट के स्थान पर विश्व व्यापार संगठन की सभी प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं का वे देश स्वागत करते हैं किन्तु सामाजिक अनुबंधों एवं सेवाओं को विश्व व्यापार के तहत लाने की विकसित देशों की योजना का विरोध करते हैं ।

नव स्वतंत्र देशों ने उपर्युक्त आधारों पर नयी विश्व अर्थ व्यवस्था की स्थापना हेतु भी आवाज उठाई । 1973 की राजनीतिक एवं आर्थिक घटनायें इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण रहीं। 1973 में अल्जीअर्स में आयोजित अंसलग्न राष्ट्रों के सम्मेलन में अंकटाड के आर्थिक मसौदे को कार्य रूप प्रदान करने एवं नयी अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना हेतु स्पष्ट कार्यक्रम

लागू करने पर बल दिया गया । इसी वर्ष अरब इजरायल युद्ध होने व इजरायल के समर्थक पश्चिमी देशों को खनिज तेल बिक्री पर रोक से प्रथम बार तृतीय विश्व के ऐसे स्रोत का पता चला जो आर्थिक व राजनीति हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता था । तेल निर्यातक देशों (ओपेक). द्वारा तेल की कीमतों पर नियंत्रण के पश्चात् विकासशील विश्व के देशों ने संयुक्त राष्ट्र के छठें विशेष अधिवेशन में (अप्रैल–मई 1974) आर्थिक मसौदे का प्रस्ताव पारित करवाने में सफलता प्राप्त की । संयुक्त राष्ट्र के छठें व सातवें विशेष सम्मेलनों में इन देशों का दृष्टिकोण सर्वोपरि रहा और राज्यों के आर्थिक अधिकार व कर्त्तव्यों का प्रस्ताव भी स्वीकार किया गया ।

विकसित देशों का रवैया नई घटनाओं के प्रति असहमति के रूप में प्रकट हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका व इसके अन्य मित्र देशों ने छठे विशेष अधिवेशन की तैयारियों में भाग लेने से इंकार कर दिया और अधिवेशन की समाप्ति पर इसके कुछ प्रस्तावों से असहमति जताई । तृतीय विश्व के देशों का दृष्टिकोण रहा कि इस सम्मेलन में विकसित देशों ने आपके देशों की तेल राजनीति से उत्पन्न एकता को कमजोर करने के लिये ही भाग लिया। विकासशील देशों का प्रयास रहा कि इसी प्रकार के और कार्टेल बनाये जा सकें तो धनी देशों पर दबाव बढ़ाया जा सकेगा । छठें अधिवेशन व सातवें विशेष अधिवेशन की तैयारी के लिये पेरिस में आयोजित सत्र में इसी प्रकार का रवैया अपनाया गया, किन्तु सातवें विशेष अधिवेशन के प्रारंभ होने से पूर्व ही संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश मंत्री हेनरी किसिंजर ने घोषणा की कि अमेरिका नवीन अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिये सहयोग पूर्ण ढंग से कार्य करने व सृजनात्मक संवाद करने के लिये तैयार है। इस प्रकार उत्तर–दक्षिण संवाद की दक्षिण के विकासशील देशों की मांगों के प्रति सहानुभूति की नीति अपनायी गई। परिणामस्वरूप सातवें अधिवेशन में कार्यान्वयन के लिये मसौदा तैयार किया गया जो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, प्रौद्योगिकी एवं संसाधनों के हस्तांतरण की मुख्य समस्याओं से संबंधित था। अंकटाड पर इसे कार्य रूप में परिणित करने की जिम्मेदारी आई । अंकटाड द्वारा तैयार व्यापार व विकास के प्रथम दस्तावेज में निम्न बिंदु थे ।

1. **विकासशील देशों के लिये आर्थिक सुरक्षा व्यवस्था :–**
   (अ) **वस्तुओं के लिये एकीकृत कार्यक्रम :** वस्तु बाजार स्थिरीकरण एवं मूल्य स्थिरीकरण – विकासशील देशों के प्राथमिक निर्यातों के लिये ।
   (ब) **बेहतर क्षतिपूर्ति वित्तीय सुविधाएं :** अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के एक सहायक संगठन की स्थापना जो स्थिरीकरण समझौतों का निरीक्षण कर सके व अंतर्राष्ट्रीय बाजार की अस्थिरता के कारण निर्यात कमियों के लिये मुआवजा दे सके ।
   (स) **ऋण रियायत :** तृतीय विश्व के देशों को पूंजी प्रदान करने हेतु बेहतर व्यवस्था व ऋण कटौती ।
2. अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों की संरचना में परिवर्तन :–
   (अ) **विकासशील देशों की आर्थिक निर्भरता में कमी :** निर्मित वस्तुओं के व्यापार में विस्तार; तृतीय विश्व के देशों के प्रौद्योगिकीय आधार को सुदृढ़ करना एवं प्राथमिक वस्तुओं के लिये वितरण व्यवस्थाओं की स्थापना ।

(ब) **विकासशील देशों के मध्य व्यापार व आर्थिक सहयोग सुदृढ़ करना :** विकास–रणनीति का पुन : अभिमुखिकरण कर विकसित देशों पर निर्भरता के बजाय सामूहिक आत्म संयम अपनाना, एवं नयी अंतर्राष्ट्रीय मशीनरी का गहन विकास ।

(स) **संसाधनों का भूमंडलीय प्रबंधन :** अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के नये नियमों की स्थापना, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्था में सुधार एवं संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग के लिये रणनीति का विकास ।

चतुर्थ अंकटाड एवं संयुक्त राष्ट्र की महासभा का 1979 का सम्मेलन महत्वपूर्ण रहे । 1979 के सम्मेलन में पारित प्रस्ताव में ऊर्जा, कच्चामाल, व्यापार विकास, मुद्रा एवं वित्तीय प्रश्नों पर विश्वव्यापी चर्चा की आवश्यकताओं को रेखांकित किया गया । विकसित देशों में प्रक्रिया संबंधी मतभेद के कारण इस दिशा में प्रगति नहीं हो सकी । संयुक्त राज्य अमेरिका इस चर्चा को संयुक्त राष्ट्र के दायरे के बाहर आयोजित करने के पक्ष में था, अमेरिका के मतानुरूप अक्तूबर 1981 में कैनकुन शिखर सम्मेलन आयोजित किया गया । इस सम्मेलन में प्रस्तावित सौद्देश्य उत्तर–दक्षिण संवाद विलीब्राद के अंतर्राष्ट्रीय विकास मुद्दों के स्वतंत्र आयोग द्वारा व्यक्त विचारों पर आधारित था । इस सम्मेलन में हालांकि चर्चा के आधारों पर एवं ऊर्जा समस्याओं पर चर्चा की गई तथापि कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि नहीं हो सकी। उत्तर–दक्षिण संवाद के असफल होने पर विकासशील देशों ने फरवरी 1982 में नई दिल्ली में विकासशील देशों के मध्य ही सहयोग बढ़ाकर उत्तर के देशों को बाध्य करने हेतु 'दक्षिण–दक्षिण सहयोग ' के विचार को अंगीकार किया। नवीन अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था विकासशील देशों के लिये निरंतर एक मुद्दा बना रहा। शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् विकासशील परिप्रेक्ष्य के अनुसार राजनीति का केन्द्र उत्तर–दक्षिण संबंध हो गये हैं ।

उत्तर–दक्षिण अथवा विकसित एवं विकासशील का अंतर नयी समस्याओं विशेषकर पर्यावरणीय समस्याओं में भी परिलक्षित होता है । विकासशील देश प्रथम विश्व पर्यावरण सम्मेलन–रियों में अपना दृष्टिकोण स्पष्टत : रखने में सफल हुए किन्तु यहाँ भी संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देश उनके दृष्टिकोण से सहमत नहीं है । विकासशील देशों का तर्क रहा है कि विश्व प्रदूषण की समस्या एवं पर्यावरणीय क्षति विकसित देशों द्वारा किये गये अंधाधुंध विकास का परिणाम है । अत : 'पोल्यूटर्स मस्ट पे ' की भावना से ही नीतियाँ बनायी जानी चाहिये ताकि विकासशील देशों को विकास कार्यों को पूर्ण करने से रोका जाना चाहिये । विकासशील देशों में जंगलों की कटाई रोकने व इन क्षेत्रों में विकास कार्य न करने के आहवान को उन्हें अल्पविकसित ही बनाये रखने के उद्देश्य से प्रेरित मानते हैं । प्रदूषण उत्पन्न न करने वाली तथा क्लोरो–फ्लोरो कार्बन उत्पन्न न करने वाली प्रौद्योगिकी अपनाये जाने हेतु विकासशील देश विकसित देशों से इस प्रौद्योगिकी के सरल हस्तांतरण की माँग करते हैं वे नयी प्रौद्योगिकी को अपनाने और प्रदूषण प्रौद्योगिकी का उपयोग समाप्त करने के लिये दिये गये समय को अपर्याप्त मानते हैं ।

20.7 असंलग्नता : अर्थ, विशेषताएं एवं कारक

'असंलग्नता' का विचार द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयुक्त हुआ । मुख्यत: भारत के प्रधानमंत्री नेहरू द्वारा दिया गया यह विचार शीतयुद्ध के तनाव से ग्रस्त पश्चिमी पूंजीवादी तथा पूर्वी साम्यवादी दोनों ही गुटों को स्वीकार नहीं था। यही कारण रहा कि असंलग्नता के सही अर्थ को प्रस्थापित करने के बजाय इसे भिन्न–भिन्न अर्थों में देखने व पश्चिम की शब्दावली में इसका समानार्थक शब्द खोजने का प्रयास किया गया । हंस जे. मार्गेन्थो, जार्ज लिस्का एवं लारेंस मार्टिन ने असंलग्नता के स्थान पर तटस्थतावाद शब्द का उपयोग किया । जार्ज श्वार्जनबर्गर ने ऐसे कई शब्द प्रस्तुत किये जिनका प्रयोग असंलग्नता के लिये किया गया जैसे पृथक्करणंवाद, तटस्थता, तटस्थीकरण एक–पक्षीयतावाद, निरलिप्तता एवं अप्रतिबद्धता । किन्तु ये सभी शब्द असंलग्नता के सही अर्थ को नहीं दर्शाते । पृथक्कतावाद का अर्थ है अलग–अलग रहने की नीति अपनाना । तटस्थता युद्ध के समय किसी देश की कानूनी व राजनीतिक स्थिति का द्योतक है । तटस्थीकरण सभी स्थितियों में किसी देश की स्थिति है जो वह नहीं छोड़ सकता। (उदा. स्विटजरलैण्ड तटस्थीकृत देश है) एक–पक्षीयतावाद का अर्थ है राष्ट्र द्वारा दूसरों की परवाह व उनसे अपेक्षा किये बिना कोई कदम उठाना व नीति अपनाना । उदा. आणविक अस्त्रों को नष्ट करने का निर्णय कोई देश स्वयं ही लें । निरलिप्तता का अर्थ है दो महाशक्तियों की विचारधाराओं व शक्ति संघर्ष में भागी न होना। अप्रतिबद्धता का अर्थ है : बहुकोणिय संबंधों में असंबद्धता की राजनीति। इसी प्रकार महाशक्तियों से सम दूरी व समसानिध्य जैसे शब्दों का उपयोग भी असंलग्नता के लिये किया गया।

असंलग्नता सामान्यत: गठबंधों से व विशेषकर सैनिक समझौतों से दूर रहने की नीति है । असंलग्नता, तटस्थतावाद के बहुत नजदीक है क्योंकि दोनों का ही उद्देश्य शीतयुद्ध में विशेष रूप से और सामान्यत: युद्ध में भागीदार न बनना है । कई विद्वानों ने असंलग्नता के स्थान पर इन्हीं शब्दों का उपयोग किया है । किन्तु असंलग्नता का अर्थ व्यापक है । इसका अर्थ है कि असंलग्नता की नीति अपनाने वाले देश आवश्यक नहीं सदैव ही सभी स्थितियों में तटस्थ रहें । यह देश विशेष परिस्थितियों के अनुसार विश्व संबंधों में भाग ले सकते हैं । तटस्थ देश की स्थिति अंतर्राष्ट्रीय समझौते का परिणाम होती है । जबकि असंलग्नता किसी देश की सरकार की इच्छा पर निर्भर होती है और नयी सरकार को सत्ता में आने के पश्चात् इस गंतव्य की घोषणा करनी होती है कि वह असंलग्न रहना चाहती है अथवा नहीं अर्थात सरकार में परिवर्तन असंलग्नता की स्थिति में परिवर्तन ला सकती है । जबकि तटस्थता स्थायी प्रकृति की होती है और सरकार परिवर्तन का उस स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं होता व अंतराष्ट्रीय समझौते की समाप्ति आवश्यक होती है । असंलग्नता कुछ विशेष अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों जैसे 'शीत युद्ध ' से राष्ट्र को दूर रखना है, किन्तु किसी विशेष विवाद या मुद्दे से नहीं । सैनिक गठबंधन चूंकि शीत युद्ध की एक महत्वपूर्ण विशेषता है अत : इन सैनिक गठबंधनों से दूर रहना भी असंलग्नता है।

असंलग्नता नकारात्मक अर्थ में द्विपक्षीय या बहुपक्षीय गठबंधनों से दूर रहने की नीति है तो नकारात्मक अर्थ में असंलग्नता 'निर्णय की स्वतंत्रता ' है । अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को

गुण दोष के आधार पर जाँचना व निर्णय लेने एवं कार्य करने और विदेश नीति का स्वतंत्र संचालन करना ही असंलग्नता है ।

असंलग्नता राष्ट्रीय स्वतंत्रता को वास्तविक कार्य रूप में अनुभव करने की आकांक्षा है । द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत राष्ट्रवाद और उपनिवेशवाद विरोधी भावनाओं की अभिव्यक्ति स्वरूप असंलग्नता का विचार नवस्वतंत्र राष्ट्रों के मध्य लोकप्रिय हुआ। इन देशों द्वारा असंलग्नता की नीति अपनाये जाने के उत्तरदायी निम्नांकित कारक कहे जा सकते हैं :–

3. **राष्ट्रवाद :** एशियाई व अफ्रीकी देशों ने लंबे संघर्ष के पश्चात् स्वतंत्रता प्राप्त की थी और वे हर हाल में इस स्वतंत्रता को संरक्षित करना चाहते थे । ऐसे मार्ग के अनुसरण की खोज में थे जो उन्हें विदेशी शक्तियों के हाथों उपकरण मात्र बनने से रोक सके । यह मार्ग उन्हें असंलग्नता की नीति में दिखाई दिया । इन नव स्वतंत्र देशों को राष्ट्रवाद पश्चिम के राष्ट्रवाद की भांति अपनी नस्ल या प्रदेश के प्रति उत्सर्ग नहीं बल्कि विदेशी प्रभुत्व से मुक्ति हेतु था।

2. उपनिवेशवाद का विरोध : स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी उपनिवेशवाद विरोधी भावना एशिया–अफ्रीका के देशों में प्रबल रही और इसी ने असंलग्नता की नीति व आंदोलन के विकास में योगदान दिया । इन राष्ट्रों को संदेह था कि विदेशी औपनिवेशिक ताकतें पुन आधिपत्य की चेष्टा कर सकती हैं । अत : उनसे दूर रहना आवश्यक है और यह तभी संभव है जब किसी भी गठबंधन या गुट में सम्मिलित नहीं हुआ जाये ।

3. विकास एवं आर्थिक सहायता : एशिया व अफ्रीका के नवस्वतंत्र देशों में अधिकांश गरीब थे और आर्थिक विकास उनकी प्राथमिक आवश्यकता थी । वे देश का व्यवस्थित विकास चाहते थे, ताकि जनता का जीवनस्तर ऊँचा उठाया जा सके । इस हेतु उन्हें दोनों ही गुटों से पूंजी एवं वित्तीय सहायता की आवश्यकता थी । इस दृष्टि से भी गुटीय– राजनीतिक संबद्धता से दूर रहना व असंलग्नता की नीति अपनाना उचित था ।

4. प्रजातीय व सांस्कतिक पक्ष : उपनिवेशवाद के दौरान औपनिवेशिक शक्तियों ने इस विचार को प्रचारित किया कि एशिया व अफ्रीका के देश सांस्कृतिक व जातीयता की दृष्टि से पिछड़े हुये हैं । इस भावना ने इन एशियाई अफ्रीकी देशों में परस्पर सहानुभूति व सहयोग की भावना को जन्म दिया ।

5. विकास के लिये शांति की आवश्यकता : नवस्वतंत्र राष्ट्र विश्व में शांति चाहते थे ताकि वे विकास के मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित कर सकें । इस कारण से भी सैनिक संगठनों एवं दोनों शक्ति गुटों से दूर रहने का निर्णय लिया गया।

असंलग्नता : विशेषतायें :–

असंलग्नता को सभी राष्ट्रों ने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से अपनाया व व्याख्या की । इस कारण से इसमें विचारगत नमनीयता बनी रही तथापि कुछ मूल बातें स्पष्ट रूप से सभी देशों के व्यवहार में दिखाई दीं ।

1. **समाजवाद :** समाजवाद को असंलग्न देशों में उद्देश्य के रूप में अपनाया गया क्योंकि ये सभी विकसित नहीं थे और विकास हेतु 'योजनाबद्ध विकास' की आवश्यकता थी जो बिना 'राज्य नियंत्रण' के संभव नहीं था। घरेलू समस्याओं के प्रति समाजवादी उपागम को

आवश्यक माना गया । स्वतंत्रता ने इनकी राजनीतिक स्वतंत्रता की आकांक्षा की पूर्ति की किन्तु आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो पायी थी। ये देश आर्थिक क्षेत्र में आत्मनिर्भरता शीघ्रातिशीध प्राप्त करना चाहते थे।

2. **शक्ति संतुलन व्यवस्था के प्रति उदासीन :** आर्थिक विकास को प्राथमिक मानने के कारण ये देश महाशक्तियों के शक्ति संतुलन के विचार को महत्व नहीं देते थे । वे महाशक्तियों के शक्ति संघर्ष से भी दूर रहना चाहते थे अत : इनके मध्य के विवादों से अपने आपको दूर रखा। जवाहरलाल नेहरू का कथन इस दृष्टिकोण का परिचायक है । उन्होंने कहा **"शांति का संरक्षण"** शांतिपूर्ण पद्धति से ही हो सकता है । शांति के प्रति युद्धवादी उपागम स्वत : ही विरोधाभासी है ।
3. **सुरक्षा पर बल :** असंलग्न राष्ट्र पूर्व औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा आक्रमण किये जाने के भय से भी ग्रस्त रहे । इन देशों ने सुरक्षा पर बहुत अधिक खर्च किया इनका विचार रहा कि इन्हें सभी प्रकार के आक्रमणों का सामना करने के लिये सुरक्षा व्यवस्था मजबूत रखना आवश्यक है और सुरक्षा के लिये वे बड़ी शक्तियों पर निर्भर नहीं रह सकते । उन क्षेत्रों में यह खतरा अधिक महसूस किया गया जहाँ बड़ी शक्तियाँ लगातार रूचि लेती रहीं जिस प्रकार वियतनाम व थाईलैण्ड । बड़ी शक्तियों की रूचि से दूर बर्मा जैसे देशों में खतरा उतना अधिक नहीं था ।
4. **नेतृत्व :** असंलग्नता की नीति से महान नेता प्रारंभ से ही जुड़े रहे । नेहरू, ऊनू, सुकार्णो, नासिर, एनक्रुमारू टीटो, आदि असंलग्न आंदोलन से जुड़े रहे । भारत में नेहरू को जनता का जो सम्मान व श्रद्धा प्राप्त थी वैसे ही अन्य नेताओं को भी उनके देश की जनता का सम्मान व श्रद्धा प्राप्त थी । इन्हीं नेताओं के नेतृत्व के कारण असंलग्न आंदोलन व असंलग्नता के विचार को विभिन्न देशों में सर्मथन मिला ।
5. संयुक्त राष्ट्र को प्रभावी बनाने की आकांक्षा भी असंलग्न राष्ट्रों में थी । वे विश्व शांति व विकास के लिये इसका उपयोग करना चाहते थे उसके लिये संयुक्त राष्ट्र को महाशक्तियों के संघर्ष से बचाना चाहते थे । अंतर्राष्ट्रीय संगठन को किसी भी शक्तिशाली देश के हाथ की कठपुतली भी नहीं बनने देना चाहते।

20.8 असंलग्नता : आंदोलन के रूप में

गुटनिरपेक्ष आंदोलन :–

असंलग्न आंदोलन का प्रारंभ 1955 से माना जा सकता है । जब 29 एशियाई व अफ्रीकी देश बाडुंग में मिले और उपनिवेशवाद को समाप्त करने के तरीकों पर विचार किया। जवाहरलाल नेहरू ने, जो इस आंदोलन के महान प्रवर्तक थे, कहा कि एशियाई अफ्रीकी देशों के नेताओं का एकत्रित होना अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना है, जो नये एशिया व नये–अफ्रीका का प्रारंभ है । मिश्र के नासिर, यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो ने नेहरू के साथ मिलकर असंलग्नता को एक आंदोलन का स्वरूप दिया । हालांकि प्रारंभ से ही आंदोलन हेतु सचिवालय की स्थापना का समर्थन नहीं किया गया तथापि आंदोलन कार्यान्वित करने हेतु एक समन्वयक ब्यूरो की स्थापना की गई । प्रत्येक तीन वर्ष बाद एक शिखर सम्मेलन बुलाया जाता है और इन तीन

वर्षों के अंतराल में विदेश मंत्रियों का सम्मेलन बुलाया जाता है जो पूर्व के शिखर सम्मेलन के निर्णयों के कार्यान्वयन का आंकलन करता है तथा आगामी शिखर सम्मेलन की तैयारी भी करता है । संयुक्त राष्ट्र महासभा की बैठक के पूर्व भी मुख्य मुद्दों पर असंलग्न राष्ट्रों के मंत्रियों की बैठक द्वारा रणनीति तय करने का प्रयास किया जाता है । आंदोलन की दिशा एवं रूझान को शिखर सम्मेलन के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है ।

बेलग्रेड शिखर सम्मेलन (1961) :

1961 में बेलग्रेड में असंलग्न देश अंतर्राष्ट्रीय समूह के रूप में उभर कर एक आंदोलन की शक्ल में आ गये । इस प्रारंभिक सम्मेलन में 25 देशों ने भाग लिया जो अफ्रीका व एशिया के देश थे । यूगोस्लाविया के रूप में एक यूरोपीय देश भी सम्मिलित था । लातीनी अमरीका के देशों ने प्रेक्षक के तौर पर इसमें भाग लिया। इस सम्मेलन में एक 27 सूत्री घोषणा स्वीकार की गई, जिसमें महाशक्तियों से विश्व शांति बनाये रखने का आव्हान किया गया था और उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद के सभी रूपों की निंदा की गई थी । जातीय भेद समाप्त करने व सभी: देशों को स्वतंत्र करने की माँग भी की गई थी । अल्जीरिया, ट्यूनीशिया, अंगोला एवं कांगो आदि में किये ज रहे स्वतंत्रता संघर्ष की सराहना की गई थी एवं विदेशी सेनाओं की वापसी की भी माँग की गई । व्यापार के न्यायपूर्ण प्रावधानों व विकासशील देशों के आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विकास पर बल दिया । संपूर्ण निशस्त्रीकरण के लिये भी आव्हान किया गया इन सभी विचारों ने अन्य को देशों को भी आकर्षित किया और उन्होंने भी असंलग्न आंदोलन की सदस्यता प्राप्त की ।

कैरो सम्मेलन (1964) : –

अक्तूबर 1964 में कैरो में असंलग्न राष्ट्रों का दूसरा सम्मेलन आयोजित हुआ । इस सम्मेलन में 47 देशों ने भाग लिया तथा 11 देश प्रेक्षक के रूप में उपस्थित हुए प्रथम व द्वितीय सम्मेलन के मध्य कई महत्वपूर्ण घटनायें हुई । क्यूबा मिसाईल संकट, 1962 में चीन–भारत युद्ध जिसने पंचशील के सिद्धान्तों को धक्का. पहुंचाया, असंलग्न राष्ट्रों के प्रणेता जवाहरलाल नेहरू का निधन हो गया।

कैरो सम्मेलन ने "शांति एवं अंतर्राष्ट्रीय सहयोग" की एक घोषणा स्वीकृत की जिसमें कहा गया कि शांति तभी कायम छ सकती है जब सार्वभौम स्वतंत्रता, समानता व न्याय के सिद्धान्तों का पालन हो और साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एवं नवोपनिवेशवाद को समाप्त कर दिया जाये । "शांतिपूर्ण सहअस्तित्व" के सिद्धान्त पर बल देते हुए सभी अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान की बात कही गई । सामान्य व पूर्ण निशस्त्रीकरण की माँग करते हुए आणविक शक्ति सम्पन्न देशों से आणविक हथियार न बनाने की अपील की गई । परीक्षण प्रतिबंध संधि में भूमिगत आणविक परीक्षणों को भी सम्मिलित करने के लिये कहा गया । विदेशी सैनिके अड्डों को भी समाप्त किये जाने पर बल दिया गया। अन्य राष्ट्रों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने, औपनिवेशिक शक्तियों के विरूद्ध किये जा रहे उपनिवेशों की जनता के सशस्त्र संघर्ष को समर्थन, विकासशील देशों को आर्थिक क्षेत्र में विकसित देशों का पूर्ण समर्थन इत्यादि सिद्धान्त नियत किये गये ।

लुसाका सम्मेलन (1970) :

लुसाका (जांबिया) में आयोजित तृतीय असंलग्न राष्ट्रों के सम्मेलन में 54 सदस्यों ने भाग लिया। 9 अन्य देशों ने प्रेक्षक भेजे । इस सम्मेलन में कहा गया कि असंलग्न राष्ट्र उनके सामूहिक बुद्धिबल का उपयोग शांति एवं अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के पक्ष में शक्ति संतुलन बनाने में कर सकते हैं । सम्मेलन में एक सामान्य घोषणा एवं छ : प्रस्ताव स्वीकृत किये गये । असंलग्नता एवं आर्थिक विकास के नाम से स्वीकृत घोषणा में सभी देशों विशेषकर महाशक्तियों से सभी विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के प्रयास करने के लिये कहा गया । सभी सैनिक संगठनों को समाप्त कर तनाव को कम करने व सभी देशों के मध्य आर्थिक सहयोग व निरोपनिवेशवाद की प्रक्रिया को तीव्र करने हेतु प्रयासों पर बल दिया गया । पुर्तगाल एवं दक्षिण अफ्रीका से राजनयिक एवं आर्थिक । संबंध तोड़ लेने के लिये निर्णय लिया क्योंकि ये देश संयुक्त राष्ट्र के निरोपनिवेशवाद । एवं जाति भेद की समाप्ति हेतु के लिये गये निर्णयों का पालन नहीं कर रहे थे। इजरायल से भी कहा गया कि चह अनाधिकृत कब्जे वाले प्रदेशों से हट जाये । इन राजनीतिक मुद्दों के अतिरिक्त लुसाका सम्मेलन का महत्व आर्थिक प्रश्नों को उठाये जाने में रहा जो अंतर्राष्ट्रीय नवस्था की मूलभूत संरचना से संबंधित थे ।

अल्जीयर्स सम्मेलन (1973) :

अल्जीयर्स में आयोजित असंलग्न राष्ट्रों के चौथे सम्मेलन में 76 सदस्य देशों ने भाग लिया व 9 प्रेक्षक के रूप में सम्मिलित हुए । अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के आधे से अधिक भाग का प्रतिनिधित्व असंलग्न आंदोलन करने लगा था। राजनीतिक व आर्थिक विषयों पर एक विस्तृत प्रस्ताव स्वीकृत किया गया तथा आर्थिक सहयोग के क्रियान्वयन का कार्यक्रम भी निर्धारित किया गया।

अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं स्वतंत्रता के लिये संघर्ष को मजबूत करने पर बल दिया गया। विश्व तनाव शैथिल्य का स्वागत करते हुए और अधिक विस्तृत करने की आशा प्रकट की । उपनिवेशवादी व जाति–भेद की नीतियों की निंदा की गई व एक बार पुन : विवादों के शांतिपूर्ण समाधान पर बल दिया। इजरायल को कब्जे वाले क्षेत्रों से पूरी तरह बिना शर्त हट जाने के लिये कहा गया।

आर्थिक क्षेत्र में आर्थिक शोषण को समाप्त करने की माँग की गई । अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों को इस प्रकार व्यवस्थित करने पर बल दिया जिससे बिकासशील देशों के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े । प्राकृतिक संसाधनों को राष्ट्रीयकृत करने व आंतरिक आर्थिक क्रियाकलापों को नियंत्रित करने के प्रत्येक राज्य के अधिकार का समर्थन किया । बहुराष्ट्रीय कंपनियों के कार्यों की निंदा की गई जो गरीब देशों की अर्थव्यवस्था के साथ खिलवाड़ व संप्रभुता की अवमानना कर रही थी । सम्मेलन में विकासशील देशों से परस्पर विचार विमर्श व कार्यान्वयन के लिये प्रभावी कदम उठाये जाने पर भी बल दिया गया। प्रथम बार समाजवादी शासन व्यवस्था वाले देशों से सहयोग को बढ़ाने हेतु कहा गया। सांस्कृतिक पहचान व विरासत के संरक्षण के लिये बढ़ी हुई चेतना भी सम्मेलन में प्रदर्शित हुई ।

कोलंबो सम्मेलन : –

पाँचवा असंलग्न राष्ट्रों का सम्मेलन महत्वपूर्ण था क्योंकि प्रथम बार एशिया में यह सम्मेलन हो रहा था । दूसरे, अफ्रीकी व दक्षिण अमेरिकी देशों से संबंधित विषय उठाये गये । तीसरे, इस सम्मेलन में सामूहिक आत्म संयम के विचार पर चर्चा की गई एवं विकासशील देशों को अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक आदान –प्रदान में सामूहिक सौदेबाजी की शक्ति से न्यायपूर्ण भाग प्राप्त करने के अधिकार पर बल दिया गया । चौथे, सुंयक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद में निषेधाधिकार की व्यवस्था समाप्त करने की माँग की गई । पाँचवे, एक नवीन एवं न्यायपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की माँग की गई ।

सम्मेलन में असंलग्न एवं विकासशील देशों के मध्य आर्थिक सहयोग का एक कार्यक्रम भी तैयार किया गया । इसमें कहा गया था कि विकासशील देशों के मध्य उन उत्पादों के नये व्यापार प्रवाह को स्थापित किया जाना चाहिये । जिसमें मुनाफे की पारस्परिकता, दीर्घकालीन खरीद, व आपूर्ति इत्यादि से संबंधित उपाय व मशीनरी का ध्यान रखा जाये यह उल्लेखनीय है कि असंलग्न राष्ट्र आर्थिक निर्वाह चाहते थे, परन्तु इसके लिये विकसित देशों से संघर्ष के पक्षपाती नहीं थे।

हवाना सम्मेलन (1979) :

असंलग्न राष्ट्रों का छठा, सम्मेलन सितंबर 1979 में हवाला (क्यूबा) में आयोजित किया गया । 94 देशों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। इस सम्मेलन में प्रथम बार असंलग्न राष्ट्रों के मध्य मतभेद प्रदर्शित हुए । क्यूबा, वियतनाम इत्यादि प्रगतिवादी देशों का मानना था कि तनाव शैथिल्य एवं विश्व की दो महाशक्तियों के गुटों के मध्य सहयोग के परिदृश्य में असंलग्न राष्ट्रों द्वारा महाशक्तियों से सम दूरी बनाये रखना संभव नहीं है । अत : असंलग्न देशों को समाजवादी गुट से संलग्न हो जाना चाहिये जो उपनिवेशवाद विरोध एवं साम्राज्यवाद विरोधों के सिद्धान्त को स्वीकारता है।, दूसरी ओर जायरे व सिंगापुर में असंलग्न देशों के आंदोलन को पश्चिमी गुट के साथ समीपी संबंध स्थापित करने पर बल दिया । उनके मत में असंलग्न राष्ट्रों के आर्थिक विकास व आकांक्षाओं को पूरा करने में पश्चिमी देश ही सहायता दे सकते हैं क्योंकि उन्हें संसाधनों की बहुलता एवं प्रौद्योगिक श्रेष्ठता प्राप्त है, किन्तु अधिकांश सदस्यों ने इसे आंदोलन की स्वतंत्र प्रकृति को बनाये रखने पर बल दिया।

दूसरा खतरा आंदोलन के लिये उत्पन्न हुआ अरब देशों ने माँग की कि मिश्र को इस आंदोलन की सदस्यता से बाहर कर देना चाहिये क्योंकि उसने इजरायल के साथ केम्प डेविड समझौता कर अरब राष्ट्रों के साथ विश्वासघात किया है । इस विषय पर निर्णय स्थगित कर इस खतरे को टालने का प्रयास किया गया। हालांकि इजरायल व मिश्र दोनों की ही समझौता करने के लिये निंदा की गई ।

इस सम्मेलन के अंत में पारित घोषणाओं में एक बार पुन : महाशक्तियों की प्रभुत्व स्थापन की नीतियों का विरोध एवं सैनिक अड्डों एवं गठबंधनों को समाप्त करने को कहा गया धनी व निर्धन देशों के मध्य निरंतर बढ़ती खाई को पाटने के लिये तीव्र उपाय किये जाने की माँग की गई । हिन्द महासागर को शांति क्षेत्र बनाये जाने की माँग की गई आंदोलन को मजबूत किये जाने पर भी बल दिया।

नई दिल्ली शिखर सम्मेलन (1983) :

सातवें सम्मेलन का आयोजन नई दिल्ली में 7–12 मार्च 1983 को किया गया जिसमें 99 देशों ने भाग लिया। दो सदस्यों ने भाग नहीं लिया। सेंट ल्यूसिया का प्रतिनिधित्व नहीं किया गया, जबकि कंपूचिया का स्थान रिक्त रखने का निर्णय लिया गया ताकि इस विषय पर मतभेद को टाला जा सके । 20 देश प्रेक्षकों के रूप में एवं 19 देश संगठन अतिथि के रूप में आमंत्रित किये गये थे ।

इस सम्मेलन में प्रथम बार महाशक्तियों को संदेह के रूप में आव्हान किया गया कि वे शस्त्र स्पर्धा को रोके और परमाणु संघर्ष की ओर न बढ़ें । उनसे संरक्षणवादी व अंतर्मुखी नीतियों को त्यागने के लिये भी कहा गया, तथा आर्थिक विश्व व्यवस्था के लिये कार्य करने के लिये, आगामी धन एवं वित्त के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने व तनाव मुक्त व संघर्ष रहित बहु पक्षीयता अपनाने पर भी बल दिया । राजनीतिक, आर्थिक एवं अन्य घोषणायें भी सम्मेलन में का गई । जिनमें गुटनिरपेक्ष देशों से आत्म संयम को सामूहिक रूप से बनाये रखने के लिये दक्षिण–दक्षिण सहयोग पर बल दिया गया ।

इस सम्मेलन का उल्लेखनीय पक्ष था हवाना में सोवियत संघ की ओर उत्पन्न झुकाव को सही करना।

हरारे सम्मेलन (1986) :

आठवाँ शिखर सम्मेलन हरारे में आयोजित किया गया । यह गुटनिरपेक्ष आंदोलन की 25वीं वर्षगाँठ थी । 101 सदस्यों वाले इस आंदोलन द्वारा मार्च 1983 से अगस्त 1986 तक किये गये कार्यों पर एक रिपोर्ट भारत के प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने प्रस्तुत करते हुए कहा कि इन तीन वर्षों में इस आंदोलन ने मूलभूत उद्देश्यों शांति, निशस्त्रीकरण एवं विकास को पूर्ण करने हेतु सक्रियता रही ।

हरारे सम्मेलन में तीन विषयों पर बल दिया गया, (1) परमाणु निशस्त्रीकरण, परमाणु शस्त्र परीक्षण पर प्रतिबंध (2) रंगभेद की समाप्ति, अग्रिम पंक्ति देशों से सहयोग, नामीबियां की स्वतंत्रता (3) विश्व का विशेषकर विकासशील देशों का आर्थिक संकट निशस्त्रीकरण हेतु सोवियत संघ एवं संयुक्त राज्य अमेरिका से आव्हान किया गया जिसे निशस्त्रीकरण के लिये हरारे अपील नाम दिया गया । दक्षिण अफ्रीका पर एक विशेष घोषणा स्वीकृत की गई जिसमें दक्षिण अफ्रीका की जातिवादी सरकार के विरूद्ध कड़े आर्थिक प्रतिबंध लगाने हेतु पैकेज तैयार किया गया । सम्मेलन में नामीबिया पर संयुक्त राष्ट्र का विशेष सम्मेलन बुलाने के लिये भी कहा गया। इस हेतु एक समिति भी बनाई गई । अमेरिका ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी एवं जापान की सरकारों को भी दक्षिण अफ्रीका पर प्रतिबंध लगाने को राजी करने के लिये भी विदेश मंत्रियों की एक समिति गठित की गई । एक सॉलिंडेरिटी फंड (अफ्रीका फंड) भी स्थापित किया गया। कंपूचिया, अफगानिस्तान, ईरान – इराक युद्ध, साइप्रस एवं फिलिस्तीनियों से संबंधित विषयों पर भी चर्चा की गई । दक्षिण–दक्षिण सहयोग के विचार को कार्यान्वित करने हेतु तंजानिया के भूतपूर्व राष्ट्रपति ज्यूलियसु न्येरेरे की अध्यक्षता में "दक्षिण के स्वतंत्र आयोग" की स्थापना की गई । इस हेतु एक स्थायी समिति भी नियुक्त की गई जो असंलग्न राष्ट्रों एवं अन्य

विकासशील देशों की नीतियों में समन्वय बैठा सके । वित्त, प्रौद्योगिकी, उद्योग व्यापार, यातायात, संचार, खाद्य एवं कृषि, स्वास्थ्य, रोजगार, शांतिपूर्ण उद्देश्य के लिये आणविक शक्ति के उपयोग, व्यवास, एवं शिक्षा, संस्कृति, खेल एवं पर्यटन इत्यादि क्षेत्रों में ये देश किस तरह कार्य करेंगे संबंधित एक कार्यक्रम की रूपरेखा भी तैयार की गई ।

बेलग्रेड सम्मेलन (1989) :

असंलग्न राष्ट्रों का नौवाँ शिखर सम्मेलन बेलग्रेड में आयोजित किया गया। प्रथम शिखर सम्मेलन का आयोजन भी 1961 में बेलग्रेड में ही हुआ था । तब इस आंदोलन की संख्या मात्र 25 थी और 1989 तक इसकी संख्या 100 को पार कर चुकी थी । संख्यात्मक बढ़ोतरी के बावजूद बेलग्रेड सम्मेलन के समक्ष परिवर्तित होता अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य एक चुनौती के रूप में आया । दोनों महाशक्तियों संयुक्त राज्य अमेरिका एवं सोवियत संघ के मध्य तनाव शैथिल्य की स्थिति निर्मित हुई । गोर्वाचेव ने विचारधारा की कट्टरता का परित्याग किया और खुलेपन व पुननिर्माण का विचार दिया । ऐसी स्थिति में गुटनिरपेक्ष ओंदोलन को, जिसका जन्म शीत युद्ध की परिस्थितियों में हुआ था, पुनर्विचार एवं नये स्वरूप को आवश्यकता थी । आयोजक देश ने इस हेतु आर्थिक मुद्दों को सर्वोपरि रखा। 15 सदस्यीय शिखर स्तरीय समिति का गठन किया गया जो दक्षिण–दक्षिण सहयोग के साथ ही उत्तर से भी विचार विमर्श कर कई सालों से निर्मित अवरोध को दूर करेगी इसमें दो गैर असंलग्न देशों ब्राजील एवं मेक्सिकों को भी सम्मिलित किया गया । दक्षिण आयोग के सहयोग से यह गेट इत्यादि में भी विकासशील देशों के हितों को प्रतिनिधित्व का कार्य कर सकता था। असंलग्न देशों के आंदोलन को 77 के समूह के साथ विलयन करने के प्रस्ताव को मान्यता प्राप्त हुई । आर्थिक मुद्दों के अतिरिक्त क्षेत्रीय संघर्षों के प्रति भी गहरी चिंता व्यक्त की गई । संयुक्त राष्ट्र के महासचिव क्यूलार ने खेद व्यक्त किया कि यह आंदोलन क्षेत्रीय संघर्षों के समाधान हेतु प्रभावकारी भूमिका नहीं निभा सका। ईरान–इराक युद्ध, अफगानिस्तान व कंबोडिया की समस्या हेतु कोई समाधानकारी सुझाव सम्मेलन में प्रस्तावित नहीं हो सका । दक्षिण–अफ्रीका व नामीबिया के मुद्दे अन्य राजनीतिक विषय थे जिन पर प्रस्ताव पारित किये गये । पर्यावरण के विषय पर भारत के प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने पृथ्वी संरक्षण कोष बनाये जाने का सुझाव रखा किन्तु इसे अरब देशों का समर्थन न मिल सका । आंदोलन को संस्थागत स्वरूप देने हेतु सचिवालय की स्थापना का विचार पुन: उठा ।

जकार्ता शिखर सम्मेलन (1992) :

दसवें शिखर सम्मेलन में 108 में से 35 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया । चीन ने प्रथम बार एक अतिथि के रूप में भाग लिया। सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र की पुनर्रचना पर जोर देते हुए इसे प्रजातांत्रिक स्वरूप दिये जाने पर बल दिया गया। सम्मेलन की घोषणा में आतंकवाद को मानव अधिकारों के लिये खतरा निरूपित किया गया और एक देश में आतंकवादी गतिविधियों को अन्य देशों द्वारा समर्थन दिये जाने पर चिंता व्यक्त की गई । उग्रवादी समूहों द्वारा धार्मिक, प्रजातीय एवं अन्य भिन्नता का दुरूपयोग व शोषण किये जाने पर भी चिंता व्यक्त की गई।

आर्थिक समिति में पश्चिमी देशों को चेतावनी दी गई कि विकासशील देशों को विकास के स्तर की परवाह किये बिना बाजारों को खोलने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता है। घोषणा में विकसित देशों द्वारा संरक्षणवादी प्रवृत्तियों को समाप्त करने व अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में विकासात्मक आयाम को सम्मिलित करने के महत्व पर भी बल दिया गया। इस खतरे की और भी ध्यान दिया गया कि पर्यावरण के नाम पर विकसित देशों द्वारा व्यापार में नये अवरोध खड़े किये जा सकते हैं । पर्यावरण संरक्षण के लिये एवं पर्यावरण को हानि न पहुंचाने वाली प्रौद्योगिकी को विकासशील देशों को उपलब्ध करवाने हेतु एक अंतर्राष्ट्रीय कोष ही स्थापना पर भी विचार किया गया ।

जकार्ता घोषणा में विश्व स्तर पर निशस्त्रीकरण एवं सामूहिक संहार के सभी हथियारों को समाप्त किये जाने पर बल दिया गया ।

जकार्ता संदेश :

घोषणा के अतिरिक्त जकार्ता संदेश भी तैयार किया गया जिसमें नयी विश्व व्यवस्था की स्थापना, संयुक्त राष्ट्र की भूमिका के साथ एवं उसके निर्माण के लिये असंलग्न आंदोलन के कार्यदल का गठन किया गया। इस संदेश में इस तथ्य को भी रेखांकित किया गया कि आज के विश्व में शांति एवं सुरक्षा जितनी राजनीतिक व सैनिक कारकी पर निर्भर है उतनी ही सामाजिक व आर्थिक कारकों पर भी निर्भर है । इसमें, सदस्य देशों से आव्हान किया गया कि वे शस्त्रों पर होने वाले व्यय में कटौती करें ताकि उससे प्राप्त धन को विश्व अर्थव्यवस्था को गति प्रदान करने व विकासशील देशों के आर्थिक विकास में लगाया जा सके । 77 के समूह के साथ प्रयासों व नीतियों का समन्वय बैठाने हेतु एक संयुक्त समिति की स्थापना की मंशा भी प्रकट की गई। अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना, बहुपक्षीयता एवं विकसित व विकासशील देशों के मध्य वास्तविक अंतनिर्भरता के आधार पर सृजनात्मक विचार विमर्श को पुन : सक्रिय किये जाने पर भी बल दिया गया।

संदेश में उल्लेख किया गया है कि विश्व अर्थव्यवस्था में 'अंतनिर्भरता' 'एकीकरण' एवं 'विश्वीकरण ' द्विध्रुवीय विश्व की व्यवस्था की समाप्ति के बाद उत्पन्न नई स्थितियां हैं हालांकि विश्व अभी भी शांतिपूर्ण व सुरक्षापूर्ण स्थान नहीं बन पाया है ।

जकार्ता सम्मेलन की उल्लेखनीय सफलता इस आंदोलन को दिशा देने में एवं परिवर्तित विश्व स्थिति में प्रभावी बनाने के प्रयासों में रही क्योंकि यूगोस्लाविया के विघटन ने जो 1989 में इस आंदोलन का अध्यक्ष था इसे गतिहीन रखा । मुस्लिम सदस्यों द्वारा यूगोस्लाविया की सदस्यता समाप्त घोषित किये जाने व बोस्निया में मुस्लिमों के नरसंहार की निंदा की मांग को भी सर्वसम्मति द्वारा हल किया गया । यूगोस्लाविया की सदस्यता के प्रश्न को टाल कर एवं स्थानीय सर्वो की प्रजातीय विशेष के विरोध की नीति की निंदा की घोषणा में सम्मिलित किया गया। कुवैत की स्वतंत्रता व संप्रभुता की पुनर्स्थापना पर हर्ष व्यक्त किया गया । संयुक्त राज्य अमेरिका से आग्रह किया गया कि वह क्यूबा के विरूद्ध लगाये गये आर्थिक, वित्तीय व वाणिज्यिक प्रतिबंधों को समाप्त करें ।

कार्टागेना शिखर सम्मेलन (1995) :

कोलंबिया के कार्टागेना शहर में अमूबर 1995 में 11 वां शिखर सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें 113 देशों ने भाग लिया। सम्मेलन में जारी घोषणा पत्र में सदस्य देशों की आर्थिक स्थिति सुधारने पर विशेष जोर दिया गया जिसकी विश्व की बदलती हुई राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में अपेक्षा भी की जा रही है । सदस्यों ने एक प्रस्ताव स्वीकृत कर यह माँग भी की कि कम आय वाले विकासशील देशों पर जो कर्ज है बट्टे खाते डाल दिया जाए व विकसित देशों ने जो संरक्षणवादी नीति अपना रखी है उसे भी समाप्त किया जाये । प्रस्ताव में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कतिपय विकसित देशों ने व्यापारिक, वित्तीय और टेक्नोलॉजी संबंधी जो बाधाएँ उत्पन्न कर रखी हैं, उन्हें समाप्त किया जाये इसका स्वरूप राजनीतिक है और जो हम लोगों की उन्नति में रूकावट डालती है । सम्मेलन में गरीबी, निरक्षरता तथा अल्पविकास के विरूद्ध जेहाद छेड़ने का संकल्प किया। घोषणा में कहा गया है कि किसी भी देश को दूसरे देश पर अपनी शर्तें प्रजातंत्र व मानवाधिकार की अपनी व्याख्या थोपने के लिये शक्ति का दुरूपयोग नहीं करना चाहिये । कार्टागेना घोषणा पत्र में आंदोलन के अध्यक्ष कोलंबिया से कहा गया है कि देशों का एक समूह बनाया जाये जो गुटनिरपेक्ष आंदोलन के भविष्य एवं परिवर्तनशील विश्व समाज में आंदोलन की भूमिका हेतु रणनीति तैयार करें । सम्मेलन में निशस्त्रीकरण पर एक विशेष सम्मेलन बुलाये जाने पर भी सहमति हुई । संयुक्त राष्ट्र के प्रजातांत्रिकरण एवं सुरक्षा परिषद् की स्थाई सदस्यता को विस्तृत बनाने हेतु भी माँग की गई ।

डर्बन सम्मेलन (1998) :

12 वां शिखर सम्मेलन दक्षिण अफ्रीका के डर्बन शहर में आयोजित किया गया । 113 देशों के इस आंदोलन में प्रथम बार संयुक्त राज्य अमेरिका अतिथि के रूप में सम्मिलित हुआ । यह सम्मेलन हाल ही में हुई घटनाओं के कारण महत्वपूर्ण था । आंदोलन के दो सदस्य–भारत व पाकिस्तान ने परमाणु परीक्षण किये थे और परमाणु शक्ति संपन्न राष्ट्र बन गये थे । दूसरे आंतकवादी ठिकानों को नष्ट करने के उद्देश्य से अमेरिका ने सूडान व अफगानिस्तान पर प्रक्षेपास्त्रों से हमला किया था, जिसकी व्यापक प्रतिक्रिया हुई थी ।

127 पृष्ठ के डर्बन घोषणा–पत्र में आतंकवाद की समाप्ति हेतु सम्मेलन तथा परमाणु निशस्त्रीकरण के लिये 1999 तक विश्व सम्मेलन बुलाने का आव्हान किया । पाँच परमाणु देशों के भेदभावपूर्ण बर्ताव की आलोचना को भी शामिल किया गया । सूडान पर अमेरिकी मिसाईल हमले की भी आलोचना की गई । आतंकवाद के खिलाफ एकतरफा कार्यवाही के स्थान पर सामूहिक प्रयास का आव्हान किया गया । घोषणा–पत्र में सभी लंबित मुद्दों के शांतिपूर्ण समाधान पर बल दिया गया ।

20.9 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य

द्वितीय विश्व युद्ध तक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एवं संबंधों को यूरोप केन्द्रित अथवा पश्चिमी दृष्टिकोण से विश्लेषित करने की प्रवृत्ति रही । शीत युद्ध एवं उपनिवेशवाद की समाप्ति ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने व विश्लेषित करने के गैर पश्चिमी परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किये । मार्क्सवादी दृष्टिकोण को सोवियत संघ, जनवादी चीन एवं अन्य साम्यवादी देशों ने अपने

राष्ट्रीय हितों के अनुरूप अपनाया। स्वतंत्र हुए राष्ट्रों ने विकास को प्राथमिकता दे विकसित देशों से भिन्न दृष्टिकोण अपना कर विश्व व्यवस्था को न्याय संगत व समानता पर आधारित बनाने की माँग की । संयुक्त राष्ट्र संघ को प्रजातांत्रिक व प्रभावी बनाने, नवीन अंतर्राष्ट्रीय अर्थ–व्यवस्था स्थापित करने पर विशेष बल रहा ।

असंलग्न आंदोलन ने विकासशील देशों के दृष्टिकोण को प्रभावी स्वरूप दिया। असंलग्नता के विचार को द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत स्वतंत्र होने वाले अधिकांश राष्ट्रों ने अपनाया और आंदोलन का हिस्सा भी बनें । असंलग्नता विदेश नीति के स्वतंत्र निर्णय एवं कार्यान्वयन की स्वतंत्रता के रूप में परिभाषित की गई । शीत युद्ध के दौरान दो महाशक्तियों के संबंधों के कारण उत्पन्न तनाव को दूर करना भी इसको उद्देश्य रहा । शांति स्थापना हेतु विश्व तनाव उत्पन्न करने वाला अन्य प्रवृत्तियों साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, जाति भेद, रंगभेद इत्यादि का भी विरोध किया गया एवं इनकी समाप्ति हेतु प्रयास किये गये । अधिकांश असंलग्न राष्ट्र चूंकि विकासशील थे अत: राजनीतिक मुद्दों के पश्चात् आर्थिक मुद्दों पर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग इस आंदोलन का उद्देश्य रहा। 25 देशों के साथ प्रारंभ इस आंदोलन की सदस्य संख्या निरंतर बढ़ती रही और आज इसके 113 सदस्य हैं । चीन जैसे देश भी सदस्यता ग्रहण करने की इच्छा रखते हैं । तथापि शीतयुद्ध की समाप्ति व उससे उत्पन्न नयी विश्व व्यवस्था में आंदोलन नयी दिशा व नवस्वरूप व प्रभावी पहल के लिये अभी प्रयासरत ही हैं ।

अभ्यास कार्य :

1. विकासशील देशों का दृष्टिकोण किन विश्व मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित करता है, विवेचना कीजिये।
2. किन, परिस्थितियों में असंलग्नता का विचार विभिन्न देशों के मध्य लोकप्रिय हुआ। शीतयुद्ध की समाप्ति के उपरांत इसकी क्या भूमिका रही ।
3. मार्क्सवादी दृष्टिकोण विश्व राजनीति को किन प्रस्थापनाओं के आधार पर विश्लेषित करता है ।
4. चीन का विश्व दृष्टिकोण मार्क्सवादी होते हुए भी किन अर्थों में भिन्न है?
5. असंलग्नता के विचार को स्पष्ट कीजिये ।

20.10 संदर्भ ग्रन्थ

1. जे. बंदोपाध्याय : नार्थ ऑवर साउथ
2. जवाहरलाल नेहरू : इंडियाज फॉरैन पॉलिसी : स्पीचेज, सितम्बर 1946 – अप्रैल 1961
3. ए. पी. राना : दी इंपरेटिव्हस. ऑफ नान अलाइनमेंट
4. के. पी. मिश्रा एवं के. आर.नारायणन : नान अलाइनमेंट इन कंटेम्परेरी इंटरनेशनल रिलेशन्स
5. एनक्रुमा : नियोकोलोनिलिज्म : द लास्ट स्टेज ऑफ इंपीरियलिज्य

इकाई – 21

परा‌राष्ट्रीयता अंतर्राष्ट्रीय अंतर्निर्भरता एवं बहु केन्द्रवादी परिप्रेक्ष्य

इकाई की संरचना

21.1 उद्देश्य

21.2 प्रस्तावना

21.3 परा‌राष्ट्रीयता : अर्थ एवं प्रकृति

21.4 बहु केन्द्रवादी परिप्रेक्ष्य : मान्यतायें

21.5 अंतर्निर्भरता : अर्थ एवं प्रकृति

21.6 अंतर्निर्भरता में वृद्धि : कारक

21.7 बहु राष्ट्रीय कंपनियाँ

21.8 क्षेत्रीय संगठन

21.9 अंतर्राष्ट्रीय कानून एवं अंतर्राष्ट्रीय सरकारी संगठन

21.10 रिजीम या विधान तंत्र

21.11 अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था

21.12 परिस्थितिकीय तंत्र एवं पर्यावरण

21.13 आतंकवाद

21.14 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य

21.15 संदर्भ ग्रन्थ

21.1 उद्देश्य

इस इकाई के उद्देश्य हैं :–

1. परा‌राष्ट्रीयता की अवधारणा को स्पष्ट करना ।
2. परा‌राष्ट्रीयता व अंतर्निर्भरता के मध्य अंतर्संबंध का बोध कराना ।
3. परा‌राष्ट्रीयता व अंतर्निर्भरता के राष्ट्र राज्य व विश्व राजनीति पर होने वाले प्रभाव की समीक्षा करना ।
4. अंतर्निर्भरता के महत्वपूर्ण कारकों की भूमिका को स्पष्ट करना ।

21.2 प्रस्तावना

1648 की वेस्टफालिया संधि से लेकर बीसवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध तक विश्व राजनीति के प्रत्येक पक्ष के विश्लेषण का आधार 'राष्ट्र–राज्य ', 'संप्रभुता ' एवं 'शक्ति पर केन्द्रित रहा । अंतर्राष्ट्रीय संगठनों व राज्यों की एकीकृत उच्च राजनीतिक इकाईयों में भी 'राष्ट्र–राज्य ' 'संप्रभुता ' व 'शक्ति ' को केन्द्र मानने की प्रवृत्ति रही । दूसरे शब्दों में इसे विश्व व्यवस्था का राज्य केन्द्रित प्रतिमान कहा जा सकता है ।

बीसवीं शताब्दी में कई प्रौद्योगिकीय विकास व अविष्कारों ने स्थिति को परिवर्तित किया और 'राष्ट्र–राज्य', की सीमाओं व संप्रभुता से परे अंतर्निर्भरता के क्षेत्र व स्त्रोत विकसित होते गये । क्षेत्र इस अर्थ में कि पृथ्वी पर शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र बचा या बचता हो जिसके निवासी विश्व के दूसरे भाग में स्थित व्यक्तियों व संस्थाओं से लेन–देन न करते हों। अंतर्निर्भरता के स्त्रोत स्वरूप हवाई, जल व थल यातायात, व्यापार व वित्त, डाकतार, दूरभाष, समाचार, फिल्म, रेडियो, टेलीविजन, व्यवसाय, मनोरंजन, यात्रा, विद्यार्थियों, शिक्षकों व वैज्ञानिकों का परा‌राष्ट्रीय संचलन, वस्त्र, संगीत व जीवन के तौर तरीकों में फैशन व उनके विकास के लिये संस्थाओं ने सिद्ध किया कि अंतर्निर्भरता में भारी वृद्धि हुई है । पर्यटक, व्यापारी व्यवसायी, कला संस्कृति के क्षेत्र में संलग्न व्यक्ति भी अनुभव करते हैं कि उनके अंतर्राष्ट्रीय आदान–प्रदान व हस्तांतरण में सीमाओं, संप्रभुता व अंतर्सरकारी वार्ताओं से परे भी बहुत से क्रियाकलाप होते हैं । सरकारी नियमों के सर्वत्र लागू होने के बाद भी कई अंतर्राष्ट्रीय क्रियाकलाप व्यक्ति–व्यक्ति के स्तर पर या एक सरकार व अन्य राज्य की किसी कंपनी के बीच जो कि गैर राज्यीय कर्ता है, होते रहते हैं । इस प्रकार स्पष्टत : यह प्रतीत होता है कि वर्तमान समय में राष्ट्रीय सीमाओं की प्रासंगिकता कम हो गई है । बड़ी संख्या में विद्वान मानने लगे हैं कि विश्व को वेस्टफालिया के परंपरागत दृष्टिकोण से देखना उपयोगी तो होगा ही नहीं अपितु हानिकारक भी हो सकता है । विद्वानों का मत है कि यदि सरकारें विश्व को पुराने रूप में अर्थात स्वतंत्र व्यवहार व सैनिक शक्ति रखने वाले संप्रभु राष्ट्र राज्य के रूप में देखती रहीं तो गलत व अनुपयुक्त नीतियों के अपनाये जाने का खतरा पैदा होता है जो संकटकारी भी हो सकता है । ये विद्वान विश्व राजनीति को "अंतर्राष्ट्रीय संबंध" नहीं बल्कि "परा‌राष्ट्रीय संबंध" मानते हैं और विश्लेषण के लिये राज्य के अतिरिक्त अन्य गैर राज्यीय कर्ताओं को भी अध्ययन का केन्द्र बनाये जाने की सिफारिश करते हैं ।

21.3 परा‌राष्ट्रीय : अर्थ एवं प्रकृति

परा‌राष्ट्रीयता अथवा अधिराष्ट्रीयता की विभिन्न एवं जटिल परिभाषायें दी गई है, जिनसे परा‌राष्ट्रीयता की कुछ विशेषतायें स्पष्ट होती है जैसे यह "राष्ट्रीय सीमाओं के पार वस्तुओं, सूचनाओं व विचारों का संचलन है जिसमें सरकारी कर्ताओं की न तो महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष सहभागिता होती है और न ही सरकारी नियंत्रण" । परा‌राष्ट्रीयता संपर्क एक सरकार व एक गैर सरकारी विदेशी कंपनी के बीच हो सकता है, और आवश्यक रूप से इसमें कम से कम एक पक्ष सरकार या अंतर्राष्ट्रीय अंतर्सरकारी संगठन नहीं होता है । अत : परा‌राष्ट्रीय दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि संप्रभुता, राष्ट्रीय सीमाओं के विचार व विश्व व्यवस्था में सरकारों के मध्य अंतर्संबंधों का महत्व पहले जैसा नहीं रह गया है । प्रत्येक राज्य अधिक भेद्य बना है और बाह्य प्रभावों के लिये खुल गया है । घरेलू राजनीति व अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के मध्य अंतर की रेखायें भी क्षीण होती जा रही है । भेद्यता एवं संबंधों के इस नये प्रतिमान में गैर राज्यीय कर्ताओं की भूमिका विशेषकर अंतर्राष्ट्रीय गैर सरकारी संगठनों की सहभागिता में भारी वृद्धि हुई है । राज्य सरकारों को अनदेखा कर सीधे घरेलू पर्यावरण पर प्रभाव डालने वाली अंतर्कियाएं भी बढ़ी है एवं जटिल भी हुई है । उपराष्ट्रीय और राज्यान्तर्गत विभिन्न हित समूहों द्वारा राज्य सरकार को अनदेखा

कर राज्येतर संबंध स्थापित करने की प्रवृत्ति भी बढ़ी है । यही कारण है कि पराराष्ट्रीय समझ के अनुसार गैर राज्यीय कर्ताओं को पूर्व से अधिक महत्व दिया जाने लगा है । हित समूहों, या उपराष्ट्रीय कर्ताओ जैसे राज्यान्तर्गत कर्ताओं–जनजातीय, प्रजातीय, पृथकतावादी समूहों; साथ ही आर्थिक हितों, बहुराष्ट्रीय कंपनियों एवं सरकारी नौकरशाही के विभिन्न अंगों की भूमिका एवं संबंधों को अधिक महत्व दिया जाने लगा है । सरकारी नौकरशाही के कुछ अंग, सांगठनिक प्रक्रिया प्रतिमान के अनुसार कार्य करते हुये दूसरे राज्यों के समान नौकरशाही अंगों से सीधे अंतर्किया करते हैं, शिखरीय निर्णय निर्माणकर्ता की जानकारी के बिना ही । गैर सरकारी संगठन एवं उपराष्ट्रीय कर्ता राज्य रूपी कर्ताओं से बहुत भिन्न होते हैं और राज्यीय कर्ताओं से स्वतंत्र व्यवहार भी करते हैं । कुछ विद्वानों का तो तर्क है कि विश्व में प्रभाव व प्राधिकार का स्पष्ट पदसोपान नहीं है । राज्य को सर्वाधिक शक्तिशाली और उपराष्ट्रीय कर्ताओं को कम शक्तिशाली नहीं माना जा सकता और इसी कारण से सदैव ही राज्य को बहुराष्ट्रीय कंपनियों या अन्य समूहों के ऊपर नहीं रखा जा सकता ।

इस पराराष्ट्रीय दृष्टिकोण के अनुसार गैर राज्यीय कर्ता अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं । किसी भी अंतर्राष्ट्रीय कर्ता की शक्ति एवं मुद्दे किसी परिस्थिति विशेष पर निर्भर होते हैं । शक्ति एवं प्रभाव कर्ताओं के मध्य संबंधों का परिणाम होते हैं । राज्यों की निर्बलतायें एवं आवश्यकतायें, अंतर्राष्ट्रीय सरकारी संगठन व गैर सरकारी संगठन सभी कर्ताओं को कुछ न कुछ प्रभाव पूर्ण बना देते हैं । इसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय अंतर्क्रियाओं के आधारभूत मुद्दे भी परिवर्तित हो रहे हैं । पराराष्ट्रीयतावाद की एक अन्य विशेषता है, इस मान्यता पर बल कि विभिन्न कर्ताओं द्वारा जनित विषय प्रधानत : सैन्य–सुरक्षा विषय नहीं होते । वेस्टफालियावादी राज्य केन्द्रित दृष्टिकोण शक्ति व सुरक्षा पर प्रकाश डालता है, किन्तु पराराष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण या बहुकेन्द्रवादी दृष्टिकोण इन विषयों को आधारभूत या केन्द्रीय विषय न मान आर्थिक विषयों को केन्द्रीय कर्ताओं की आर्थिक, अंतनिर्भरता बढ़ती हुई भेद्यता एवं संवेदनशीलता पर आधारित है । अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंध घरेलू अर्थशास्त्र जैसे करारोपण एवं मुद्रास्फीति आदि के प्रति अधिक संवेदनशील होते जा रहे हैं । इसी प्रकार राज्य की अर्थव्यवस्था–अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रति अधिक संवेदनशील हो रही है । उदाहरण के तौर पर संयुक्त राज्य अमेरिका के यूरोपीय देशों से संबंध, विश्वपूंजी बाजार में डालर की सशक्तता, और अमेरिका की आर्थिक क्षमता की छवि, और साथ ही शस्त्र, प्रौद्योगिकी व खाद्यान्न के प्रति अमेरिकी व्यापार नीतियाँ, ईंधन संरक्षण या गैसोलीन पर अधिक कर की घरेलू नीतियों से संबद्ध है । अत: अंतर्राष्ट्रीय राजनीति व अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के मध्य के संबंध को अधिराष्ट्रीय दृष्टिकोण उभारना चाहता है । किसी राज्य की घरेलू अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर सकती है, और किसी राज्य की घरेलू आर्थिक नीतियाँ व अर्थव्यवस्था अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित कर सकती हैं । इसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था घरेलू राजनीति व अंतर्राष्ट्रीय राजनीति घरेलू अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर सकती है । इस अंतर्निर्भरता से 'रिजीम्स' के द्वारा एवं राज्य व गैर राज्यीय कर्ताओं की अंतर्क्रिया से भी सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है ।

विश्व स्तर पर परा‌राष्ट्रीय अंतर्क्रियाओं के परिणाम इस प्रकार हो सकते हैं :–

1. परा‌राष्ट्रीय संबंध विभिन्न कर्ताओं के मध्य दृष्टिकोणों में परिवर्तन लाता है । सामाजिक एवं सांस्कृतिक बंधनों को समाप्त कर, पूर्वाग्रहों को समाप्त कर, समझ व दृष्टिकोणों में नमनीयता – उत्पन्न करता है ।
2. यह अंतर्राष्ट्रीय बहुलवाद को प्रोत्साहित करता है । घरेलू राजनीतिक प्रक्रियाओं एवं अतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के मध्य संबंध जोड़ता है । नीति निर्णय निर्माण प्रक्रिया में अधिक हितों को संबद्ध करता है, अधिक राष्ट्रीय अभिजन विश्व के दूसरे अभिजनों के संपर्क में आते है । अधिक व्यक्तियों के लिये अधिक सेवायें उपलब्ध कराई जा सकती हैं ।
3. निर्भरता व अंतार्नेर्भरताके नये क्षेत्र विकसित होते हैं। परा‌राष्ट्रीय संपर्क परस्पर आवश्यकतओं को प्रदर्शित करता है और दीर्घकाल में अंतर सामाजिक विवादों के कुछ कारणों को दूर कर सकता है । अन्य समाजों पर उनकी उत्पादकता और निर्माण शक्ति की उनकी अद्‌वितीयता पर विश्वास उत्पन्न किया जा सकता है । इस प्रकार राष्ट्रीय व्यक्तियों की शक्ति को गैर राष्ट्रीय बनाने में परा‌राष्ट्रीयता सहायता करती है और अंतर्राष्ट्रीय आदान–प्रदान में सरकारों को केन्द्रीय स्थान से हटाती है ।
4. परा‌राष्ट्रीयता अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के उन भागों पर भी हितकारी प्रभाव डालती है जो राज्य केन्द्रित बने हुये हैं विशेषकर व्यक्ति के मध्य संबंधों में स्थायित्व लाकर, अंतर्सामाजिक निर्भरता में वृद्धिकर, सरकारों के शांतिपूर्ण संपर्कों में वृद्धिकर और प्रभाव के नये क्षेत्रों को विकसित कर। अमेरिका व साम्यवादी चीन के मध्य मित्रता की स्थापना के लिये राष्ट्रपति निक्सन की चीन यात्रा पूर्व में टेबल टेनिस टीम को भेजे जाने से उत्पन्न सकारात्मक जनमत निर्माण के कारण संभव हुई है । वैज्ञानिकों, डॉक्टरों, आदि के दूसरे देश में आने–जाने से अनौपचारिक संपर्क में वृद्धि हुई और बहुत समय से चली आ रही रूकवटों से समाप्त किया जा सका । इस प्रकार की प्रक्रियायें सरकारी संस्थाओं को तो एक तरफ हटाती हैं । किन्तु जोड़–तोड़ की उनकी गुंचाइशों से भी बढ़ाती हैं ।
5. परा‌राष्ट्रीय संबंधों के संस्थानीकरण से नये प्रभावी स्वायत्त या अर्द्ध स्वायत्त कर्ताओं के अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में विकसित होने की संभावना होती है । गैर सरकारी संगठन इस श्रेणी में आते हैं । रेडक्रॉस ऐसा ही एक संगठन है ।
6. परा‌राष्ट्रीयता का एक संभव प्रभाव अंतर्सामाजिक कारोबार का शनै : शनै : संस्थानीकरण होता है । सार्वजनिक, एक उद्देश्यीय संगठन अपने क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय मानक विकसित करते हैं, परा‌राष्ट्रीय समूह अपने संबंधों के लिये स्वयं के मानक विकसित कर सकते हैं । राष्ट्रीय अभिजन जो कार्यात्मक संगठन को निर्देशित करते हैं । कुछ मामलों में उनके समान हो सकते हैं, जो परा‌राष्टीय संपर्कों को विनियमित करते हैं । इस प्रकार की प्रक्रिया राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय नीति निर्माण प्रक्रिया में सुसंबद्धता अधिकतम करती है ।

21.4 बहुकेन्द्रवादी परिप्रेक्ष्य : मान्यतायें

परा‌राष्ट्रीयता में विश्वास रखने वाले विद्‌वान वास्तव में विश्व राजनीति के बहुकेन्द्रवादी दृष्टिकोण को मानते हैं जिसकी मूलभूत मान्यतायें निम्न हैं :–

1. गैर राज्यीय कर्ता अंतराष्ट्रीय संबंधों में महत्वपूर्ण कर्ता है और उनके महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती । जिस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय संगठन स्वयं भी स्वतंत्र कर्ता के रूप में कार्य करते हैं, उनमें कार्यरत नीति निर्माताओं प्रशासनिक अधिकारियों व अन्य सहयोगी समूहों का कुछ क्षेत्रों में अत्यधिक प्रभाव होता है, जैसे – एजेंडा निर्माण या यह तय करना कि कौन से राजनीतिक मुद्दे महत्वपूर्ण हैं । इसी प्रकार स्वतंत्र विश्व अर्थ–व्यवस्था में बहुराष्ट्रीय कंपनियों जैसे गैर सरकारी कर्ताओं की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है ।
2. दूसरी मान्यता के अनुसार राज्य एकीकृत कर्ता नहीं है और यथार्थवादियों द्वारा ऐसा सोचना राज्यान्तर्गत राजनीति के सार को छिपाना है । राज्य की कल्पना सदैव सुसंगत तरीके से सोचने वाले निश्चयात्मक प्राणी के रूप में करना भी कल्पना के सिवाय कुछ नहीं है । सत्य तो यह है कि राज्य नौकरशाही, हित समूहों व व्यक्तियों से बना है जो विदेशनीति को निर्धारित करने व प्रभावित करने का प्रयास करते रहते हैं । इन कर्ताओं के मध्य प्रतिस्पर्धा, गठबंधन–निर्माण संघर्ष व समझौता ही राजनीति है और किसी भी राज्य में ये तत्व ही नीति निर्णय को प्रमाणित करते हैं । बहुकेन्द्रवादी राज्य को इसके विभिन्न भागों में तोड़कर देखते हैं । वे राज्य को एकीकृत व बाह्य शक्तियों द्वारा अभेद्य नहीं मानते हैं । सरकारी व गैर सरकारी कर्ता राज्य की इस दीवार को भेद कर ऐसे कार्य करते हैं जिनके नीतिगत परिणाम । केन्द्रीय राज्य प्राधिकारी की प्राथमिकताओं के विरूद्ध भी हो सकते हैं । राज्य के अंतर्गत ही इस प्रकार की अंतर्क्रियायें नहीं चलती वरन् राज्य के बाहर भी पराराष्ट्रीय आयाम हैं जिसमें गैर राज्यीय कर्ता राष्ट्रीय सीमाओं के आर–पार कार्यरत रहते हैं । इस प्रकार बहुकेन्द्रवादी विश्व व्यवस्था की "एकीकृत राज्यों की परस्पर अंतर्क्रिया" के स्थान पर अधिक "जटिल व्यवस्था" को प्रस्तुत करते हैं ।
3. बहुकेन्द्रवादी दृष्टिकोण राज्य को विवेकशील कर्ता नहीं मानते । विखंड राज्य की कल्पना के तार्किक रूप के अनुरूप यह मानता है कि विदेश नीति निर्माण प्रक्रिया विभिन्न कर्ताओं के मध्य संघर्ष सौदेबाजी एवं समझौते का परिणाम है । कुछ मामलों में तो प्रशासनिक शक्ति, प्रतिष्ठा और संगठन में अन्य की कीमत पर स्वयं का स्तर बढ़ाने के लिये एक विशेष नीति निर्णय का सुझाव भी रखा जा सकता है । यह एक नौकरशाही की दृष्टि से तो विवेकसम्मत हो सकता है किन्तु यह स्थिति घातक नहीं तो कम से कम खराब विदेश–नीति को जन्म दे सकती है। संगठन के स्तर पर व्यक्तिगत, मूल्य धनात्मक युक्तियाँ राष्ट्र–राज्य स्तर पर घातक हो सकती हैं । इसके अतिरिक्त नीति निर्माण प्रक्रिया जोड़–तोड़, सौदेबाजी, गुटबंदी, समझौते आदि का परिणाम होती हैं जो आवश्यक नही सदैव ही सर्वोत्तम या अयुक्त निर्णय दें । 'सहमति' स्थापित करना या कम से कम विजयी गठबंधन की स्थापना की प्रक्रिया विवेकशीलता के पूर्व में दिये जाने वाले वर्णन से बहुत भिन्न है । अपर्याप्त सूचना, पक्षपात, दबाव और नीति अनिश्चितता के कारण राज्य में गलत निर्णय या प्राति होना भी संभव होता है । ये सभी तथ्य एक विवेकशील कर्ता के विचार को अस्वीकृत मानते हैं ।

4. बहुकेन्द्रीयवादियों की दृष्टि में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एजेंडा अधिक व्यापाक है। उनके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति मुख्यत : सैनिक सुरक्षा विषय प्रधान नहीं है । पिछले तीन–चार दशकों में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय वस्तु इतनी व्यापक हो गई है कि उसमें आर्थिक व सामाजिक मुद्दे भी जुड़ गये हैं और विदेश नीति की चर्चाओं में यही मुद्दे प्रमुख रहते हैं ।

21.5 अंतर्निर्भरता : अर्थ एवं प्रकृति

अंतर्निर्भरता सभी व्यवस्थाओं की विशेषता है । विश्व राजनीति को भी व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है । एक राज्य और उसकी विदेश नीति प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित करने के बजाए राज्यों व अन्य अंतर्राष्ट्रीय कर्ताओं की व्यवस्था एवं उनकी परस्पर संबद्धता पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिये। इसके अंतर्गत विभिन्न तत्वों के वितरण सम्मिलित हो सकते हैं । जिस प्रकार कि यह ज्ञात करने का प्रयास किया जाये कि संपत्ति अथवा सैनिक क्षमता सभी राज्यों के मध्य किस प्रकार वितरित है । व्यवस्था आधारित चिंतन पूर्णता : में विश्वास करता है तथा विभिन्न कर्ताओं के मध्य अंतर्क्रिया के प्रारूप को रेखांकित करना चाहता है। अंतर्निर्भरता व्यवस्था की इकाईयों के मध्य के अंतर्संबंधों या सबद्धता को देखना चाहती है । यह संबद्धता ही अवसरों व कार्यान्वयन की इच्छा को निर्धारित करती है । व्यवस्था राष्ट्र राज्य पर अंतर्निर्भरता के रूप में एक बाध्यता आरोपित करती है ।

अंतर्निर्भरता से तात्पर्य है – व्यवस्था के एक भाग या राज्य में हुई कोई घटना या परिवर्तन के परिणामस्वरूप व्यवस्था के अन्य भागों व राज्यों में भी कुछ परिवर्तन अवश्य होना। उदाहरण के तौर पर दक्षिण–पूर्व व पूर्वी एशिया के देशों में मुद्रा संकट ने भारत के निर्यात को प्रभावित किया । उन देशों के मुद्रा अवमूल्यन से भारत से निर्यात की जाने वाली समान वस्तुयें अंतर्राष्ट्रीय बाजार में अधिक महंगी बन गई और दूसरे मुद्रा संकट से इन देशों में भारतीय वस्तुओं की खपत भी कम हुई है व व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव हुआ है । निर्यात की इस कमी से भारत व्यापार असंतुलन बढ़ा है । इसी प्रकार पर्यटक भी उन्हीं देशों की ओर उन्मुख हुये । भारत को पर्यटन से होने वाले मुद्रा लाभ में भी कमी हुई है ।

सिकुड़ता ग्रह, विश्व ग्राम आदि संकल्पनाएं भी अंतर्निर्भरता के कारण ही विकसित हुई हैं क्योंकि पृथ्वी के विभिन्न राज्य कई प्रकार से अधिक संबद्ध होते जा रहे हैं और दूसरे राज्यों से अधिक "प्रभावित होने लगे हैं चाहे वे इसे पसंद करें अथवा नहीं । यह उनके नियंत्रण से बाहर है । अंतर्निर्भरंता के प्रति भी दो प्रकार के दृष्टिकोण अपनाये गये हैं । एक है आशावादी दृष्टिकोण और दूसरा निराशावादी दृष्टिकोण । आशावादी दृष्टिकोण के अनुसार यदि अंतर्निर्भरता में वृद्धि होती रही, तो यह अंतत : एक "विश्व समुदाय और विश्व संस्कृति" को जन्म देगी और एक विश्व राज्य की स्थापना भी हो सकेगी जो अंतनिर्भरता के बढ़ते स्तर का समुचित रूप में प्रबंध व रख–रखाव कर सकेगा । किन्तु निराशावादी दृष्टिकोण अंतर्निर्भरता को विवाद का प्रमुख स्त्रोत मानता है । अंतर्निर्भरता सकारात्मक हो सकती है, और नकारात्मक भी। यदि एक राज्य की घटना का प्रभाव दूसरे राज्य पर होता है और दूसरे राज्य की घटना का प्रभाव पहले राज्य पर भी होता है तो सकारात्मक है अन्यथा नकारात्मक । यदि अंतर्निर्भरता सकारात्मक है तो वह इच्छित होती है और एकता व सहयोग को जन्म देती है । अन्यथा अंतर्निर्भरता नकारात्मक

होने पर संबंधो का प्रतिमान निर्भरता का होता है जो असंतोष व क्रोध का कारण बन सकता है। अंतर्निर्भरता का तात्पर्य है कि एक राज्य में जो घटित होता है या एक राज्य द्वारा जो कार्यवाही की जाती है वह अन्य अंतर्राष्ट्रीय कर्ताओं के लिये महत्वपूर्ण परिवर्तन लाती है । आवश्यक नहीं है कि अंतर्निर्भरता से सहयोग बढ़े ही । सहयोग बढ़े बिना भी परिवर्तन हो सकता है । प्रथमत : कहा जा सकता है कि राष्ट्र अन्य राष्ट्रों की घटनाओं के प्रति "संवेदनशीलं" है । संवेदनशीलता की उच्चता निर्भर करती है इस तथ्य पर कि किस तीव्रता से एक देश के परिवर्तन दूसरे देश को प्रभावित करते हैं और किस सीमा तक । दूसरे, कहा जा सकता है कि राज्य परिवर्तनों के प्रति "सुभेद्य" हैं । एक राज्य द्वारा बाह्य घटनाओं के कारण चुकायी गई कीमत सुभेद्यता का नाप होती है । एक राज्य पर्यावरणीय अंतर्निर्भरता के प्रति संवेदनशील रहेगा। यदि इसे अन्य राज्य के प्रादेशिक समुद्र में हुये तेल रिसाव के कारण अपने तटों की सफाई करनी होती है । यह राज्य सुभेद्य रहेगा यदि सफाई के उपरांत भी इसका पर्यावरण विनाश होता है, जैसे – इसका मत्स्य पालन व पर्यटन उद्योग जो इसकी अर्थव्यवस्था के लिये महत्वपूर्ण है, प्रभावित होते रहेंगे । आर्थिक अंतर्निर्भरता के उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका व जापान से लिये जा सकते हैं । यदि संयुक्त राज्य के साथ जापान के व्यापार में कमी अमेरिका में आर्थिक मंदी के कारण आती है, तो यह व्यापार की संवेदनशीलता है । यदि व्यापार में कमी से जापान में भी मंदी आती है तो यह सुभेद्यता कहलायेगी। दूसरी ओर ग्वाटेमाला जैसा देश अमेरिका में मंदी के प्रति सुभेद्य है, किन्तु अमेरिका ग्वाटेमाला में मंदी के प्रति सुभेद्य नहीं है। अत: ग्वाटेमाला अमेरिका पर निर्भर कहलायेगा। यह अंतर्निर्भरता नकरात्मक है और इसी वजह से यह निर्भरता है अंतर्निर्भरता नहीं । अंतर्निर्भरता के कारण विवाद उत्पन्न हो सकते हैं, यदि संवेदनशील राज्य संवेदनशील होने से इंकार करता है।

21.6 अंतर्निर्भरता में वृद्धि : कारक

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत ही अंतर्निर्भरता के तत्व को महत्व दिया गया। हालांकि अंतर्निर्भरता का तत्व पूर्व में भी विद्यमान था। इस प्रकार अंतर्निर्भरता की 'स्थिति' व उस स्थिति की 'संज्ञानता' दोनों का ही उल्लेख महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार कुछ स्थितियां तभी नयी उत्पन्न हुई हैं, विशेषकर कुछ प्रौद्योगिकीय विकास हो। जिस प्रकार आणविक शक्ति के विकास ने महाशक्तियों की सैनिक अंतर्निर्भरता व सैन्य भेद्यता को बढ़ा दिया है । इसी प्रकार संचार व आवागमन ने व्यक्ति की अन्यत्र अंतर्क्रिया की क्षमता में वृद्धि की व इस प्रकार की अंतर्क्रियाओं के संबंध में ज्ञान प्राप्त करने के स्रोतों में भी वृद्धि हुई । आज दूरस्थ देशों में होने वाले क्रियाकलाप भी व्यक्ति देख सकता है । इससे न सिर्फ जागरूकता बढ़ी है, बल्कि अंतर्निर्भरता का नया आयाम भी उत्पन्न हुआ है और वह है मनोवैज्ञानिक आयाम।

अंतर्निर्भरता की मात्रा व तीव्रता कई कारकों पर निर्भर है जैसे संचार व आवागमन की प्रौद्योगिकी जो राज्यों के मध्य अंतर्क्रिया के स्वरूप व मात्रा को प्रभावित करती है, संसाधन व क्षमतायें व्यवस्था में किस प्रकार वितरित हैं; तथा किस सीमा तक राज्य या राज्यों के समूह सुभेद्य हैं । अंतर्निर्भरता राज्य के संप्रभु कवच में छिद्र होने पर ही जन्म लेती है । बढती हुई

अंतर्निर्भरता व उसकी बढ़ती हुई संज्ञानता के कारण विभिन्न देशों की सरकारों को ध्यान में रखना होता है, कि उनकी आंतरिक नीतियों का उनके विदेश संबंधों पर क्या प्रभाव होगा? भारत में उदारवादी नीति को अपनाने के पीछे विद्यमान बाह्य कारक इसका उदाहरण है । संवेदनशीलता व भेद्यता ने राष्ट्र–राज्य पर सीमायें व बाध्यतायें आरोपित की हैं । ये बाध्यतायें नकारात्मक व सकारात्मक दोनों ही हो सकती है और विवाद, संघर्ष या युद्ध का कारण बन सकती हैं, तो बृहत्तर सहयोग व स्थायी शांति के कारण भी हो सकती है ।

प्रसिद्ध विद्वान जेम्स रोजिनों ने पाँच कारकों का विशेष तौर पर उल्लेख किया है, जो विश्व व्यवस्था में परिवर्तन के लिये उत्तरदायी माने जा सकते हैं । प्रथम कारक – औद्योगिक से उत्तर–औद्योगिक व्यवस्था में पहुंचना है । इसमें प्रौद्योगिकी की गत्यात्मकता महत्वपूर्ण रही है विशेषकर माइक्रो इलेक्ट्रोनिक्स क्रांति के क्षेत्र में जिसने सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक दूरी को इतना कम कर दिया है कि विचार, चित्र, मुद्रा एवं सूचना प्राप्त करना अत्यधिक तीव्र गति से संभव है । इसने व्यक्तियों व घटनाओं की अंतर्निर्भरता को कई गुना बढ़ा दिया है । परिवर्तन का दूसरा बिंदू नये मुद्दों या विषयों का उभरना है जैसे भूमंडलीय प्रदूषण, आतंकवाद, नशीले पदार्थों का व्यापार, मुद्रा संकट एवं एड्स जैसी बीमारियाँ । ये नयी प्रौद्योगिकी या विश्व की अंतर्निर्भरता के सीधे परिणाम है और परंपरागत राजनीतिक विषयवस्तु से बहुत भिन्न है क्योंकि इनका क्षेत्र व प्रकृति वास्तव में पराराष्ट्रीय है न कि राष्ट्रीय या स्थानीय। तीसरू बिन्दु राजनीतिक विषयों व मुद्दों के संतोषजनक समाधान में सरकारों व राज्यों सई निरंतर कम होती हुई क्षमतायें । एक तो नये विषय पूयई तरह उनके क्षेत्राधिकारों में नहीं आते हैं, दूसरे पुराने मुद्दे भी बडे पैमाने पर अंतर्राष्ट्रीय हो गये हैं । जैसे कृषि बाजार, श्रम उत्पादकता, इत्यादि। तीसरे उनके नागरिकों का आज्ञा पालन स्वत : प्रक्रिया नहीं रह गई है। चौथे कारक के रूप में पूर्व व्यवस्था के कमजोर होने से उप व्यवस्थाओं में भी उल्लेखनीय संगति व प्रभावशीलता उतम हुई है और राष्ट्र राज्य की केन्द्रीकृत व्यवस्था के स्थान पर विकेन्द्रीकृत व्यवस्था उतम हुई है । पाँचवें उपरोक्त सभी परिवर्तनों ने आज के व्यक्ति को अधिक विश्लेषक, चेतनावान व कुशल बना दिया है और वह अब पूर्व सई भाँति विश्व मामलों में असम्बद्ध अनभिज्ञ नहीं रह गया है तथा जोड़–तोड़ का शिकार नहीं हो सकता है ।

यहाँ उन विशेष कारकों का उल्लेख आवश्यक है जो राज्य स पर महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर अंतर्निर्भरता को प्रगाढ़ कर रहे हैं ।

21.7 बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ

आर्थिक अंतर्निर्भरता को बढ़ाने वाला मुख्य उपकरण है बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ । इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने ही राष्ट्र राज्य को प्रबल चुनौती दी है । रिचर्ड बार्नेट व रोनाल्ड म्यूलर ने अपनी पुस्तक 'ग्लोबल रीच ' में लिखा है कि “ये कंपनियाँ विश्व राजनीतिक अर्थव्यवस्था को आर्थिक जीवन के तीन मूलभूत संसाधनों पर नियंत्रण स्थाहीत कर परिवर्तित कर रही है – उत्पादन प्रौद्योगिकी, वित्तीय पूंजी, एवं बाजार” । भौगोलिक कारक महत्वपूर्ण नहीं रह गये हैं क्योंकि उत्पादन ने राष्ट्रीय सीमाओं को अप्रासंगिक बना दिया है । वह उत्पादन एक राज्य के प्रति वफादारी या भक्ति को भी अप्रासंगिक बनाता है ।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों के कार्य का केन्द्र एक देश होता है किन्तु इसकी शाखायें विभिन्न देशों में फैली होती हैं जो न सिर्फ अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर वरन् मेजबान देश पर भी व्यापक प्रभाव डालती है । आज विश्व में इतनी बड़ी–बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियां विकसित हो चुकी है कि उनका वार्षिक उत्पाद तथा उनकी संपत्ति विश्व के कई राज्यों के वार्षिक सकल घरेलू उत्पाद से कई गुना अधिक है उनकी संपत्ति, उनके बजट भी कई देशों की सरकारों के बजट से कई गुना अधिक व्यापक है । इसी वजह से इन कंपनियों की शक्ति में भी कई गुना वृद्धि हुई है । माइक्रोसॉफ्ट कंपनी के स्वामी बिलगेट्स जैसे कंपनी मालिकों का स्वागत किसी भी देश में पहुंचने पर किसी अन्य राज्याध्यक्ष से अधिक ही होता है ।

ये बहुराष्ट्रीय कंपनियां अपने उत्पादों को प्रारंभ से अंत तक एक ही स्थान पर उत्पादित नहीं करती वरन् किसी एक देश में कुछ कलपुर्जों का निर्माण करती है उन्हें दूसरे राज्य में निर्यात कर कुछ अन्य भागों से जोड़कर तीसरे स्थान पर भी निर्यात कर वहां सम्मिलित करती है । जिस प्रकार जापान की विभिन्न कंपनियां दक्षिण पूर्व एशिया के विभिन्न देशों का उपयोग इसी कार्य के लिये करती हैं ।

विकसित व विकासशील दोनों ही प्रकार के राज्यों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने वित्त व आर्थिक नीतियों व श्रम कानूनों में अपना प्रभाव या पैठ स्थापित कर ली है । ये कंपनियां अपनी हानि व अपने मुनाफों को मेजबान देश की परवाह किये बिना विभिन्न शाखाओं में वितरित करती है । वे अपनी आर्थिक क्रियाओं को मेजबान देश की चिंता किये बिना बंद भी कर सकती है । कार्य स्थल पर मेजबान देश की संस्कृति के बजाय स्वयं के तौर–तरीके लागू करने पर बल देती है । ये कंपनियां किसी भी देश के विकास में सहायता भी कर सकती है, तो मुद्रास्फीती, जैसी स्थितियों को विश्वव्यापी भी बना सकती हैं । अपनी आर्थिक शक्ति का उपयोग राजनीतिक हस्तक्षेप के लिये भी कर सकती हैं । यही कारण है कि कई देश उत्पादन के विदेशी स्वामित्व को नियंत्रित ही रखना चाहते हैं । विकासशील देश बहुराष्ट्रीय कंपनियों के अंतर्राष्ट्रीय नियमन पर बल देते हैं ।

21.8 क्षेत्रीय संगठन

राज्य अपने उद्देश्यों व हितों की पूर्ति के लिये अकेले ही या समूह बनाकर कार्यरत रहते हैं । आज का विश्व अधिक संबद्ध है । अंतनिर्भरताओं के बढ़ने के कारण (जो पराराष्ट्रीय संबद्धताओं व परंपरागत अंतर्सरकारी क्रियाकलापों दोनों के ही परिणामस्वरूप है) – राज्यों ने स्वयं को अंतर्राष्ट्रीय संगठनों व विभिन्न क्षेत्रीय संगठनों में आबद्ध कर रखा है । ये संगठन आर्थिक, राजनीतिक, सैनिक प्रकृति के हैं । एक राज्य की परंपरागत संकल्पना के अनुसार राज्य अपने हितों को पूर्ण करने में असमर्थ है राज्य राजनीतिक एवं आर्थिक सुरक्षा का प्रभावकारी एजेंट नहीं रह गया है । प्रौद्योगिकी विकास विशेषकर आणविक हथियारों के विकास ने राज्य की इस क्षमता पर भी प्रश्नचिन्ह लगा दिया है, कि वह अपने नागरिकों को सुरक्षा प्रदान कर सकता है । सुरक्षा के प्रथम हित और उद्देश्य की पूर्ति करने में राज्य की असमर्थता ने ही शीतयुद्ध के दौरान विभिन्न सैनिक क्षेत्रीय संगठनों को जन्म दिया । शीतयुद्ध के उपरांत आर्थिक शक्ति की आकांक्षा व आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिये विभिन्न आर्थिक संगठनों का जन्म हुआ। अधिक से अधिक लाभार्जन के लिये नये बाजार, नयी तकनीक, अधिक पूंजी के लिये

संघर्ष, प्रतिस्पर्धा ने राष्ट्र–राज्य की क्षमताओं को अत्यधिक प्रभावित किया है और उसे समान उद्देश्य रखने वाले राज्यों के साथ मिलकर समूह बनाने पर मजबूर किया है । यूरोपीय समुदाय,उत्तर अमरीकी व्यापार मुक्त क्षेत्र, अमरीकाओं का व्यापार मुक्त क्षेत्र, एपेक, आसियान, सार्क, हिंद महासागर परिधि राजमुक्त व्यापार क्षेत्र, इस्लामी देशों का व्यापार संगठन इत्यादि संगठनों की निरंतर बढ़ती हुई संख्या इस तथ्य को रेखांकित करती है कि कोई राज्य आज आत्मनिर्भरता की नीति अपनाकर उन्नति नहीं कर सकता । अंतर्निर्भरता से उत्पन्न नवीन परिस्थितियों का सामना राज्य अकेले नहीं बल्कि सहयोगियों, समूहों के साधनों के माध्यम से ही कर सकता है ।

अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की संख्या में बढ़ोत्तरी भी विश्व राजनीति का महत्वपूर्ण विकास है। विश्ववादी दृष्टिकोण के समर्थकों का मानना है, कि बहुत से अंतर्राष्ट्रीय संगठन प्रत्येक राज्य में व्यक्ति के जीवन व कल्याण के लिये प्रभावी रूप से कार्यरत है । अंतर्राष्ट्राय संगठनों के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय अंतर्क्रिया एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दे रही है जिसे अराजकता नहीं माना जा सकता । डोनाल्ड पुचाला व स्टुअर्ट फेगेन जैसे विद्वानों का मानना है कि अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के अस्तित्व ने विश्व राजनीति में नौकरशाहीकरण, नियमितीकरण, निरंतरता एवं पूर्वानुमान को बढ़ावा दिया है, जो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक नया तत्व है; व इस सत्य को प्रदर्शित करता है कि हम परंपरागत राज्य व्यवस्था की अराजकता से कुछ कदम दूर पहुंच चुके हैं ।

21.9 अंतर्राष्ट्रीय कानून एवं अंतर्राष्ट्रीय सरकारी संगठन

विश्व की वर्तमान स्थिति में पराराष्ट्रीय प्रकृति के मुद्दों, विषयों एवं समस्याओं में निरंतर वृद्धि हो रही है । इनके समाधान के लिये विभिन्न राज्यों का सहयोग आवश्यक है । राज्य राष्ट्रहित में सामान्यत : कार्य करते हैं किन्तु पराराष्ट्रीय प्रकृति की समस्याओं के कारण उन्हें सामूहिक, दीर्घकालीन हितों को ध्यान में रखकर कार्य करना आवश्यक है । राज्यों के मध्य सहयोगात्मक अंतर्क्रिया के लिये आवश्यक यंत्री विधि के रूप में अंतर्राष्ट्रीय कानून विद्यमान है। सामान्यत : अधिकांश राज्य अंतर्राष्ट्रीय कानून का पालन करते हैं । अंतर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय कानून की ही भाँति राज्य के स्वैच्छिक व्यवहार पर बाध्यतायें आरोपित करता है तथापि अंतर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण व कार्यान्वयन के लिये अभी तक कोई केन्द्रीकृत वैधानिक सत्ता अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में स्थापित नहीं हो पाई है । फिर भी अंतर्निर्भरता के कारण और व्यक्तियों, वस्तुओं, सेवाओं व सूचना के सुगम्य आदान–प्रदान के लिये राज्य अंतर्राष्ट्रीय कानून से व्यवहार को नियंत्रित करना अपने हित में मानते हैं । अंतर्राष्ट्रीय सरकारी संगठनों की संख्या में वृद्धि वर्तमान व्यवस्था में अंतर्राष्ट्रीय कानून के बढ़ते महत्व का एक स्रोत है । इन संगठनों के चार्टर – उनके नियम, समझौते, प्रस्ताव व संधियां – अंतर्राष्ट्रीय अंतर्क्रिया के विभिन्न कानूनों को जन्म देती है । संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठन ने अंतर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण, एकत्रीकरण व कार्यान्वयन में सहायता न सिर्फ अंतर्राष्ट्रीय सरकारी संगठनों बल्कि, प्रथाओं, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय और न्यायविदों की लेखकीय रचनाओं से ज्ञान प्राप्त कर की है । अंतर्राष्ट्रीय सहयोग व संप्रभु राज्यों के व्यवहार पर नियंत्रण का कार्य भी अंतर्राष्ट्रीय संगठनों ने

किया है । डेनिस पिरेज की शब्दावली में "ग्लोबल इकोपोलिटिक्स" के इस युग में संयुक्त राष्ट्र जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की उपयोगिता अधिक बढ़ गई है ।

21.10 रिजीम या विधान तंत्र

राज्यों के व्यवहार को नियंत्रित करने के अंतर्राष्ट्रीय कानून के अतिरिक्त भी नियम अंतर्निर्भरता के कारण विकसित हो चुके हैं । विद्वानों ने रिजीम या विधान तंत्र विचार को विकसित किया है, जिसका तात्पर्य अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विशिष्ट क्षेत्र से संबंधित "समस्त नियमों के समुच्चय" से है । यह विचार अंतर्राष्ट्रीय समाज द्वारा आरोपित बाध्यताओं को समझने में अत्यधिक सहायक है । क्याहान एवं नये ने रिजीम, अथवा विधानतंत्र को "नियमों, मान्यताओं एवं प्रक्रियाओं का तंत्र माना है, जो व्यवहार का नियमितीकरण एवं उसके प्रभावों को नियंत्रित करता है । "व्यवहार के नियमितीकरण का अर्थ है – प्रतिरूप निर्माण – आकांक्षाओं के प्रतिरूप, प्रक्रियाओं के प्रतिरूप एवं मान्यताओं एवं नियमों के अनुपालन का प्रतिरूप अर्थात अराजक अंतर्राष्ट्रीय जगत में सुव्यवस्था निर्माण। इस विधान तंत्र के स्रोतों में राज्यों के राष्ट्रीय कानून, अंतर्राष्ट्रीय नियम (अंतर्राष्ट्रीय कानून, अंतर्राष्ट्रीय सरकारी संगठनों के चार्टर, प्रस्ताव व व्यवहार) निजी नियम (बहुराष्ट्रीय कंपनियों एवं अन्य गैर सरकारी संगठनों के चार्टर व नियम) आते हैं । ये विधान तंत्र व्यापार, वित्त से लेकर शस्त्रों तक के विभिन्न विषयों से संबंधित होते हैं । जैसे – अंतार्कटिका से संबंधित विधान तंत्र या उत्तरी प्रशांत मत्स्य पालन विधान तंत्र, सं. राष्ट्र विवाद नियंत्रण विधान तंत्र या प्रक्षेपणास्त्र प्रौद्योगिकी नियंत्रण विधान तंत्र (एम. टी. सी. आर.) ।

21.11 अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था

द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत निर्मित व्यवस्था में विजयी औद्योगिकी देशों ने एक अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के निर्माण का प्रयास किया जिसमें विश्व के राज्य आर्थिक विकास व शांति के लिये एकत्रित हो सकें । अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा नीति व व्यापार के आर्थिक अंतर्निर्भरता वाले क्षेत्रों में समन्वयन, प्रबंध एवं विकास के लिये नियमों के व्यवस्था तंत्र निर्मित किये गये । आर्थिक अंतनिर्भरता से उत्पन्न नयी समस्याओं के समाधान के लिये निरंतर नयी व्यवस्थायें एवं संगठन गठित हो रहे हैं ।

द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत पश्चिमी शक्तियों के मध्य अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के आधारभूत दृष्टिकोण के संबंध में मतैक्य था । मूलत : यह उदारवादी व्यवस्था से संबंधित था जो आर्थिक रूकावट: या बंधनों से मुक्त पूंजीवाद, मुक्त बाजार एवं व्यापार के न्यूनतम बंधनों पर आधारित था। संयुक्त राज्य अमेरिका के ' नेतृत्व में विश्व के विकसित, गैर साम्यवादी देशों द्वारा गठित उदाररवादी अंतर्राष्ट्रीय अर्थ–व्यवस्था न एक पक्ष था अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा नीति जो मूलत : मुद्राओं के विनियम की दर, संचित निधि की प्रकृति व अंतर्राष्ट्रीय पूंजी के संचरण पर नियंत्रण से संबंधित थी। जुलाई 1944 में ब्रेटेन बुड्स (न्यू हेम्पशायर) में 44 राज्य एक अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्था के निर्माण के उद्देश्यों से एकत्रित हुये। यह व्यवस्था दो अंतर्राष्ट्रीय संगठनों पर आधारित की गई – अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई. एम. एफ.) एवं अंतर्राष्ट्रीय

पुनर्निर्माण व विकास बैंक (विश्व बैंक) । द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात उपनिवेशों के स्वतंत्र होने व इस अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भाग लेने के साथ ही इस व्यवस्था का क्षेत्र व अंतर्निर्भरता व्यापक हुई है ।

दूसरा आयाम अंतर्राष्ट्रीय उदारवादी व्यापार का था जिसका आधार भी भेदभाव रहित, बहुपक्षीय, बाजारोन्मुखी व्यवस्था थी, और जो तीस के दशक की संरक्षणवादी प्रकृति की विलोम थी । इस व्यवस्था के निर्माण में भी संयुक्त राज्य ने नेतृत्व सम्हाला किन्तु यह विषय अधिक जटिल था क्योंकि व्यापार का प्रभाव सीधे–सीधे आंतरिक राजनीतिक मुद्दों पर होता था। हालांकि 1943 में ही व्यापार नीति व व्यवस्था पर विचार प्रारंभ हो गया था, किन्तु 1947 में ही तटकर व व्यापार के सामान्य समझौते (गैट) के रूप में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था का प्रथम पक्ष पूर्ण हो पाया। यह व्यवस्था मुक्त व्यापार व पक्षपात रहित नीतियों पर आधारित थी। सभी गैट देश सर्वाधिक पक्षित राष्ट्र (most favoured nation) सिद्धान्त पर सहमत थे इसका अर्थ था कि एक देश को दी जाने वाली व्यापार सुविधा अन्य राज्यों को भी स्वत : प्राप्त हो जायेगी। गैट ने व्यापार, वाणिज्य एवं निर्मित वस्तुओं में व्यापार वार्ताओं व व्यापार बंधनों में कमी के नियम व व्यापार जन्म विवादों के निपटाने के लिये मध्यस्थता की स्थापना की । गैट के संस्थानीकरण स्वरूप, सचिवालय, डायरेक्टर जनरल एवं स्टाफ की व्यवस्था की गई। शीत युद्ध की समाप्ति के पश्चात् आर्थिक अंतर्निर्भरता की व्यापकता इस रूप में प्रदर्शित हुई कि सोवियत संघ (रूस) एवं पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों ने भी उदारवादी–मुक्त–अर्थव्यवस्था अपना ली । विश्वव्यापी उदारवादी मुक्त अर्थ–व्यवस्था की स्थापना के प्रतीक स्वरूप विश्व व्यापार संगठन की स्थापना 1995 में हुई जिसने गैट च स्थान ले लिया। ब्रेटेन बुड्स द्वारा निर्मित अंतर्राष्ट्रीय अर्थ–व्यवस्था व व्यापार के विरूद्ध विकासशील देशों की मांग नेयी अंतर्राष्ट्रीय अर्थ–व्यवस्था की स्थापना कर रही है । इसके पीछे तर्क यही रहा है कि ब्रेटेन बुड्स में निर्मित अंतर्राष्ट्रीय अर्थ–व्यवस्था के स्तंभ अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थायें विकसित व विकासशील देशों के मध्य अंतर्निर्भरता के सकारात्मक पक्ष को विकसित नहीं करती बल्कि ये नकारात्मक अंतर्निर्भरता को ही बल देती है जिसका परिणाम विकसशील देशों की निरंतर निर्भरता होती है ।

21.12 पारिस्थितिकीय तंत्र एवं पर्यावरण

पारिस्थितिकीय बाध्यताओं ने विश्व समुदाय की अंतर्निर्भरता को स्पष्टत : प्रदर्शित किया है। यह विभिन्न कर्ताओं को सम्बद्ध करता है और साथ ही उन पर सीमायें भी आरोपित करता है । वर्तमान में विश्व ऐसी पारिस्थितिकीय व पर्यावरणीय समस्याओं का सामना कर रहा है, जिनसे पूर्व में अनभिज्ञ थे । जनसंख्या एवं आर्थिक क्रियाकलापों के अनवरत् विकास ने पहली बार इस तथ्य से अवगत करवाया कि पृथ्वी अनन्त नहीं है और इसकी वहन क्षमता की सीमाओं तक पहुंचने के परिणाम विध्वंस हो सकते हैं । यह भी संभव है कि पृथ्वी की वहन क्षमता प्राकृतिक पारिस्थितिकीय तंत्र को नुकसान पहुंचाने से और भी कम हो जाये । पारिस्थितिकीय तंत्र को यह खतरा स्थानीय नहीं बल्कि विश्व स्तर पर है । विकसित देशों ने अनवरत् विकास किया किन्तु विकासशील देश उनका अनुकरण को उसी तरह के विकास को

नहीं अपना सकते क्योंकि गैर चक्रीय या नवीनीकृत न हो सकने वाले ईंधनों के प्रयोग ने, रसायनिक व औद्योगिक उत्पादों के निर्माण ने विश्वव्यापी प्रदूषण को जन्म दिया है । संपूर्ण पारिस्थितिकीय तंत्र में प्रदूषकों का फैलना विश्व अंतर्निर्भरता को स्पष्टत : प्रदर्शित करता है । प्रदूषण की समस्या विकसित की सीमाओं के सभी पक्षों एवं अंतर्निर्भरता के सभी आयामों से संबंधित है । संप्रभु राज्यों में निवास कर रहे व्यक्ति लघु–कालीन संसाधन उपभोग की घरेलू नीतियों, जनसंख्या और स्वयं प्रदूषण के संबंध में स्वकेन्द्रित राय नहीं बना सकते । दीर्घकालीन व विश्व के समस्त सदस्यों के हित की भावना से ही कार्य किया जाना आवश्यक हो गया है ।

21.13 आतंकवाद

हालांकि परा‍राष्ट्रीयतावाद अर्थोन्मुखी अधिक है, तथापि सैन्य व अन्य गतिविधियों में संलग्न गैर राज्यीयकर्ता भी इसके कारक हैं । गुरिल्ला युद्ध, आतंकवादी समूह भी इसी प्रकार के कर्ता हैं जो राज्य के कवच को भेदते रहते हैं । ये राष्ट्रीय सीमाओं के आर–पार सुरक्षा स्थान व सहायता प्राप्त करते हैं ये महत्वपूर्ण व सत्ता तीन लोगों को षडयंत्र का निशाना बनाते हैं । ये आतंकवादी समूह राष्ट्रवादी या अलगाववादी समूह के घटक हो सकते हैं । जिस प्रकार के स्पेन, केनेडा, कश्मीर, या आयरलैण्ड में पाये जाते हैं । कुछ विचारधारात्मक समूह हो सकते हैं जैसे – जर्मन लाल सेना घटक या जापानी लाल सेना या बहु राष्ट्रीय गेंग जिसमें कई देशों से भर्ती होती है जैसे कालोंस गेंग जो दिसम्बर 1975 में ओपेक मंत्रियों पर आघात के लिये जिम्मेदार था ।

ये आतंकवादी समूह अंतर्निर्भरता को कई तरह से बढ़ाते हैं । प्रथमत : आधुनिक संचार तकनीकों का उपयोग कर विश्व के दूसरे भाग में किसी आंतकवादी समूह द्वारा अपनायी गई तकनीक की नकल कर उसको उपयोग में लाते हैं । व्यक्ति अपहरण या विमान अपहरण और अब बम विस्फोट को प्रथम बार सफलता से अपनाये जाने पर सभी आतंकवादी समूहों, इन तकनीकों का ज्ञान व प्रयोग आम बात महत्वपूर्ण है । एक आतंकवादी समूह का उद्देश्य मनोवैज्ञानिक होता है – भय पैदा करना । बिना संचार सुविधा के, जो उनके कृत्यों को राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय या विश्व के श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत करता है, आतंकवादी उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते । आधुनिक संचार व आवागमन के कारण ही आतंकवादी संगठन दूसरे देशों, के वैसे ही संगठनों के साथ मिल–जुलकर कार्य करते हैं । नशीली दवाओं के माध्यम से धन प्राप्त कर ये आतंकवादी संगठन विश्वव्यापी जाल बिछा चुके हैं । आज इनसे निपटना किसी एक राष्ट्र के लिये संभव नहीं है । विश्व समस्या के रूप में विभिन्न राष्ट्र आपसी सहयोग द्वारा ही इस समस्या से जूझ रहे हैं । आतंकवाद से निपटने के लिये राष्ट्रीय पुलिस द्वारा इंटरपोल से सहायता ली जाती है । आतंकवाद पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के माध्यम से आतंकवाद के कारणों को समाप्त करने के प्रयास अंतर्राष्ट्रीय व सहयोग को ही प्रदर्शित करते हैं ।

विभिन्न परा‍राष्ट्रीय सूत्रों, राज्यों की छिद्रमयी सीमाओं व परिणामों की विश्व व्यापकता अंतर्निर्भरता में राज्य द्वारा निभाई जा सकने वाली भूमिका की ओर भी इंगित करते हैं । राज्य एक दूसरे के विद्रोहियों या विरोधियों को भी सहायता दे सकते हैं । इजरायल के विरूद्ध आतंकवाद को लीबिया का समर्थन, एंटीबे विमान अपहरण में अमीन के पूगांडा के हाथ था, अफगानिस्तान में पाकिस्तान द्वारा एक गुट का समर्थन, काश्मीर में आतंकवाद को पाकिस्तान

का समर्थन, आदि उदाहरण हैं । बड़े पैमाने पर इनका प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय गृह युद्ध के रूप में सामने आ सकता है । दूसरी ओर आतंकवाद से जूझने के लिये राज्य एक–दूसरे से सहयोग कर सकते हैं अमरीकी राज्यों के संगठन (ओ.ए.एस.) व संयुक्त राष्ट्र दोनों ही राजनयिकों के विरूद्ध अपराधों को रोकने के लेये संधियां कर चुके हैं । पराराष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय पुलिस बल इंटरपोल के रूप में सहयोग कर रहे हैं । पराराष्ट्रीय आतंकवादी गतिविधियों की प्रतिरोधी गतिविधि के रूप में विशुद्ध पराराष्ट्रीय गैर सरकारी संगठनों ने भी कदम उठाये हैं जैसे – अंतर्राष्ट्रीय एयरलाईन पायलट यूनियन इत्यादि । इसने सरकारों पर सीधा दबाव डाला था विमान अपहरण के विरूद्ध उपाय करने के लिये । इसी प्रकार नशीले पदार्थो के व्यापार पर नियंत्रण, एड्स जैसे संक्रामक रोगों व बीमारियों के नियंत्रण के लिये भी विश्व स्तर पर सहयोग की आवश्यकता ने अंतर्निर्भरता के तत्व को स्पष्ट किया है ।

21.14 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य

सोलहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी के मध्य एक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के मुख्य कर्ता के रूप में राष्ट्र का स्थान निर्विवाद रहा। औद्योगिक प्रगति व प्रौद्योगिक विकास ने विश्व के विभिन्न भागों व उनमें निवास करने वाले व्यक्तियों के मध्य परस्पर आदान–प्रदान की प्रक्रिया से प्रगाढ़ कर दिया। इससे अंतर्निर्भरता बढ़ी और व्यक्ति राष्ट्र–राज्य की सीमाओं में होने वाली गतिविधियों से ही नहीं बल्कि इस राष्ट्र–राज्य की सीमाओं के बाहर होने वाली गतिविधियों, क्रियाकलापों व घटनाओं से भी प्रभावित होने लगा । इस पराराष्ट्रीयता के परिणामस्वरूप कुछ ऐसी शक्तियां या कारक विकसित होते गये जिन्होंने राष्ट्र पर बाध्यतायें आरोपित की और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र–राज्य के एकाधिकार और वर्चस्व को सीमित कर दिया। इन्हीं गैर राज्यीय कर्ताओं की विश्व में महत्वपूर्ण भूमिका को रेखाकिंत करने हेतु बहुकेन्द्रवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ । अब विश्व स्तर पर राजनीति मात्र राष्ट्र के मध्य की राजनीति नहीं है बल्कि राजनीति राष्ट्रों के अतिरिक्त कई उपराष्ट्रीय व पराराष्ट्रीयकर्ताओं के मध्य तक व्यापक हो चुकी हैं । बहुराष्ट्रीय कंपनियां, क्षेत्रीय संगठन, अंतर्राष्ट्रीय सरकारी संगठन, और सरकारी या गैर राज्यीय संगठन अर्थ–व्यवस्था के स्वरूप व आतंकवादी समूहों जैसे कारकों ने राष्ट्र–राज्य की भूमिका, शक्ति व महत्व को कम कर विश्व राजनीति मे स्वयं के महत्व को स्थापित किया है ।

पराराष्ट्रीयता व अंतर्निर्भरता की प्रवृति ने विश्व राजनीति में सुरक्षात्मक व सैनिक विषयों के बजाय आर्थिक व अन्य विषयों को महत्वपूर्ण बनाने का प्रयास किया है । इस हेतु राष्ट्रीयता व संप्रभुता के विचारों से परे विभिन्न राज्यों के मध्य सहयोग के नये अवसरों को उत्पन्न किया है । अंतर्निर्भरता के कारण 'विश्व ग्राम' जैसी संकल्पनाओं का प्रादुर्भाव हुआ है। विश्व संस्कृति एवं विश्व राज्य की कल्पनायें भी की जा रही है । तथापि, इस स्तर का सहयोग अंतर्निर्भरता के सकारात्मक पक्ष के प्रभावी होने पर ही स्थापित हो सकता है । अंतर्निर्भरता यदि नकरात्मक है, अर्थात् एक देश की घटनाएं दूसरे देश को प्रभावित करती हों किन्तु पहला देश दूसरे देश की घटनाओं से प्रभावित नही होता है तो इन देशों के मध्य निर्भरता का प्रतिमान विकसित होता है । इस दशा को न स्वीकारने पर देशों के मध्य तनाव, कटुता व विवाद की

संभावनायें बढ़ती हैं। वर्तमान में विकसित देश जिसे अंतर्निर्भरता मानते हैं, विकासशील देश उसे निर्भरता मान उसका विरोध करते हैं, व वास्तविक अंतर्निर्भरता की स्थापना की मांग करते हैं ।

अभ्याय कार्य :

1. परानाष्ट्रीयता का क्या अर्थ है? यह विश्व राजनीति व संबंधों को किस प्रकार प्रभावित करती है ।
2. उन कारकों की भूमिका स्पष्ट कीजिये जो अंतर्निर्भरता एवं परानाष्ट्रीयता को प्रगाढ़ करते हैं।
3. बहु केन्द्रवादी विश्व दृष्टिकोण की मुख्य प्रस्थापनायें क्या हैं?

21.15 संदर्भ ग्रन्थ

1. रोबर्ट क्योहेन एवं जोसेफ नये : पावर एण्ड इंटरडिपेंडेंस वर्ल्ड : पोलीटिक्स इन ट्रांजिशन
2. जेम्स राजिनो : दी टब्र्यूलेंस इन वर्ल्ड पोलीटिक्स
3. रिचर्ड बर्नेट एण्ड रोनाल्ड म्यूलर : ग्लोबल रीच
4. ब्रुस रसेट एवं हर्वे स्टार : वर्ल्ड पोलिटिक्स

इकाई – 22

निरोपनिवेशवाद, निरोपनिवेशवाद एवं भारत की भूमिका, नवोपनिवेशवाद का प्रादुर्भाव

इकाई की संरचना

22.1 उद्देश्य
22.2 प्रस्तावना
22.3 उपनिवेशवाद
22.4 उपनिवेशवाद : अर्थ
22.5 निरोपनिवेशवाद
22.6 एशिया व अफ्रीका में स्वतंत्र देशों का उदय
22.7 संयुक्त राष्ट्र एवं उपनिवेशों की स्वतंत्रता हेतु प्रयास
22.8 निरोपनिवेशवाद : भारत की भूमिका
22.9 नवोपनिवेशवाद
22.10 नवोपनिवेशवाद : कारण
22.11 नवोपनिवेशवाद : विधियाँ
22.12 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य
22.13 संदर्भ ग्रन्थ

22.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है :–

1. उपनिवेशवाद की अवधारणा को स्पष्ट करना।
2. निरोपनिवेशंवाद प्रक्रिया के स्वरूप व महत्व से अवगत करना।
3. नवोपनिवेशवाद के सही स्वरूप का बोध कराना।

22.2 प्रस्तावना

द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत दो दशकों तक निरोपनिवेशवाद की प्रक्रिया अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण घटनाक्रम था जिसने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नवस्वतंत्र देशों के रूप में कर्ताओं की संख्या में आशातीत वृद्धि की एवं अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को विश्वव्यापक बनाया । विश्व को बाँटे हुये पूर्व व पश्चिम गुटों के विकल्प के रूप में गुट निरपेक्षता के सिद्धान्त व आंदोलन को जन्म दिया और पूर्व–पश्चिम के राजनीतिक व सैनिक तनाव के स्थान पर विकास को मुख्य अंतर्राष्ट्रीय मुद्दा बनाये जाने पर बल दिया। नवस्वतंत्र, तृतीय विश्व या विकासशील देशों के रूप में जाने गये इन देशों द्वारा विकास की माँग ने ही विश्व के अन्यायपूर्ण ढ़ाचे की ओर ध्यान दिलाया, जिसमें पूर्व औपनिवेशिक देशों द्वारा उपनिवेशवाद के नये रूप नवोपनिवेशवाद का उपयोग कर इन देशों की स्वतंत्रता की अवमानना आर्थिक रूप से की जा रही थी और उसके लिये विभिन्न संस्थागत ढाँचे तैयार कर लिये गये थे ।

निरोपनिवेशवाद एवं नवोपनिवेशवाद को स्पष्ट करने से पूर्व उपनिवेशवाद की धारणा को समझना आवश्यक है क्योंकि ये दोनों ही अंतत : उपनिवेशवाद के प्रतिफल कहे जा सकते हैं।

22.3 उपनिवेशवाद

उपनिवेशवाद शक्तिशाली राज्यों की साम्राज्यवादी नीतियों का परिणाम था। स्वयं के देश की सीमाओं को बढ़ाकर, शक्ति संवर्धन व शक्ति प्रदर्शन स्वरूप नये प्रदेशों पर आधिपत्य करने की प्रवृत्ति ने यूरोप में बड़े–बड़े साम्राज्यों को जन्म दिया। औद्योगिकीकरण द्वारा उत्पन्न यातायात, संचार साधनों एवं औद्योगिकीकरण द्वारा उत्पन्न कच्चे माल व बाजार की माँग ने इस साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को ओर प्रबल किया। शक्तिशाली राज्यों के ये दूरस्थित साम्राज्य उन साम्राज्यों के निवासियों के लिये उपनिवेश थे । इस प्रकार साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद एक ही सिक्के के दो पहलू माने जा सकते हैं ।

उपनिवेशवाद चार शताब्दियों तक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रमुख विशेषता बनी रही । उपनिवेशवाद को वास्कोडिगामा द्वारा भारत की खोज के साथ ही उत्पन्न माना जा सकता है । पुर्तगाली एवं स्पेनवासी प्रथमत: विदेशों में उपनिवेश स्थापित करने में सफल हुये । कुछ समय पश्चात अंग्रेजों, फ्रांसिसियों एवं हालैण्डवासी डच लोगों ने भी उपनिवेश स्थापित किये। इन सभी यूरोपीय शक्तियों में अंग्रेजों की समुद्री व नाविक क्षमता एवं औद्योगिकीकरण के कारण ब्रिटेन सर्वाधिक शक्तिशाली औपनिवेशिक शक्ति बन बैठा और इसने भारत, मलेशिया, बर्मा आदि उपनिवेश स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। फ्रांस ने अल्जीरिया एवं हिन्द–चीन पर अधिकार किया। इसी प्रकार डचों मे इंडोनेशिया और स्पेन ने फिलीपीन्स पर अधिकार किया। अफ्रीका में भी इन शक्तियों ने अपने उपनिवेश स्थापित किये। जर्मनी, इटली, जापान एवं संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी उपनिवेश स्थापित करने के प्रयास किये और उपनिवेशवाद उनीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में अपने शीर्ष पर पहुँच गया जहाँ संपूर्ण विश्व को इन शक्तियों ने अधिकार हेतु आपस में बाँट लिया।

22.4 उपनिवेशवाद : अर्थ

मूल्यों एवं भावनाओं के आधार पर उपनिवेशवाद को कई तरह से परिभाषित किया गया है । पश्चिमी अवधारणा के अनुसार "उपनिवेशवाद ऐसी विदेशी जनता पर लंबे समय के लिये शासन स्थापित करना एवं बनाये रखना है जो शासन कर्ता शक्ति से पृथक है एवं उसकी अनुचरी है। उपनिवेशवाद से तात्पर्य "समुद्री से पृथक हुये भूखण्डों पर रहने वाली प्रवातियों पर शासन करना है।" पश्चिमी अवधारणा के अनुरूप उपनिवेशवाद की प्रमुख विशेषता विदेशी अल्पसंख्यकों द्वारा भौतिक तौर पर निम्नस्तरीय, स्वदेशी, बहुसंख्यकों पर प्रजातीय व सांस्कृतिक उत्कृष्टता स्थापित करने का प्रयास है । पहली मशीनोंन्मुखी सभ्यता ईसाई धर्म, शक्तिशाली अर्थव्यवस्था व जीवन की द्रुतगामी शैली रखती है, जबकि दूसरी गैर–ईसाई सभ्यता है जिसकी अर्थव्यवस्था पिछड़ी हुई है व जीवन गति धीमी है अत : यह पहली सभ्यता का दूसरी सभ्यता पर स्थापित होना है ।

एशियाई व अफ्रीकी विद्वानों का दृष्टिकोण भिन्न है, जिस प्रकार इंडोनेशिया के राष्ट्रपति सुकार्णो ने उपनिवेशवाद को 1955 में बाडुंग सम्मेलन के उद्घाटन समारोह में

परिभाषित किया था कि "हमें उपनिवेशवाद को इसके शास्त्रीय अर्थ, में नहीं लेना चाहिये – जिसे हम जानते आये हैं । उपनिवेशवाद का आधुनिक परिवेश भी है जो राष्ट्र में छोटे किन्तु विदेशी समुदाय द्वारा आर्थिक नियंत्रण, बौद्धिक नियंत्रण एवं वास्तविक भौतिक नियंत्रण के रूप में होता है।"

इस प्रकार उपनिवेशवाद संक्षेप में विदेशी शासन है जो एक प्रदेश पर सैनिक, राजनीतिक व आर्थिक नियंत्रण उसके शोषण की दृष्टि से स्थापित कर लाभ प्राप्त करना चाहता है ।

22.5 निरोपनिवेशवाद

निरोपनिवेशवाद का विचार बीसवीं शताब्दी विशेषकर द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत प्रचलित हुआ हालांकि इससे पूर्व ही अठारहवीं शताब्दी में 13 अमरीकी उपनिवेश ब्रिटेन के औपनिवेशिक शासन के विरूद्ध विद्रोह कर चुके थे और स्वयं के स्वतंत्र राज्य से स्थापना कर चुके थे। लेटिन अमरीका अथवा दक्षिणी अमरीका के देश भी निरोपनिवेशवाद के विरूद्ध लड़े और स्वतंत्रता प्राप्त की । बेंथम जैसे चिन्तकों ने भी स्पष्ट मत दिया था कि ब्रिटेन व फ्रांस को अपने उपनिवेशों को मुक्त कर देना चाहिये। किन्तु प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् ही उपनिवेशों की स्थिति, व समस्याओं की ओर वास्तव में ध्यान आकर्षित हो सका। वर्साय में शांति समर्थकों द्वारा पराजित शक्तियों के प्रदेशों की समस्याओं को देखने के पश्चात् औपनिवेशिक प्रदेशों के लोगों की भलाई एवं विकास की ओर समुचित ध्यान देने की आवश्यकता महसूस की गई इसी कारण से राष्ट्र संघ के प्रस्तावों में कुछ प्रस्ताव डाले गये और इसे सभ्यता का पवित्र कर्त्तव्य मानते हुए विभिन्न मित्र राष्ट्रों को इन प्रदेशों के प्रशासन की जिम्मेदारी सौंप दी गई । दूसरी ओर प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात एशिया व अफ्रीका के जन आंदोलन मजबूत हो गये । एशिया व अफ्रीका के स्वतंत्रता आंदोलनों के अनेक नेताओं ने मित्र राष्ट्रों के युद्ध प्रयासों में इस आशा से सहायता दी थी कि युद्ध समाप्त होने पर उनके देशों को स्वतंत्रता प्रदान कर दी जायेगी, किन्तु उनकी आशायें पूर्ण नहीं हुई और साम्राज्यवादी नेताओं ने स्पष्ट कर दिया कि स्वतंत्रता एवं प्रजातंत्र संबंधी युद्धकालीन नारे उनके उपनिवेशों के लिये नहीं थे । फिर भी युद्ध से साम्राज्यवादी देश कमजोर अवश्य हो गये और युद्ध ने उपनिवेशों की जनता में जागृति फैलाने में योगदान दिया था अत : वही स्वतंत्रता आंदोलन तीव्र हो गये ।

एशिया व अन्य स्थानों पर राष्ट्रवाद के प्रसार ने औपनिवेशक शासन के समक्ष चुनौती प्रस्तुत की। हालांकि उपनिवेशों के विघटन की प्रक्रिया इस समय प्रारंभ नहीं हुई किन्तु नये उपनिवेशों की स्थापना के प्रयास भी नहीं हुए। अपवाद स्वरूप इटली का इंथियोपिया पर अधिकार, चीन एवं दक्षिण पूर्व एशिया पर जापान का अधिकार रहा। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत ही निरोपनिवेशवाद की प्रक्रिया तीव्र हुई ।

द्वितीय विश्व युद्ध ने सामान्यतया साम्राज्यवाद की जड़ें कमजोर कर दी थीं क्योंकि अनेक साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्था को भारी नुकसान पहुंचा था। साम्राज्यवादी देशों के भीतर जो शक्तियों स्वाधीनता के लिये लड़ने वालों की मित्र थीं, उनकी ताकत बढ़ गई थी। मित्र राष्ट्रों ने अधिनायकवाद व तानाशाही के विरूद्ध स्वतंत्रता व प्रजातंत्र के नाम पर युद्ध किया था और यही वे उद्देश्य थे जिनके नाम पर सारे संसार के लोगों को तानाशाही के विरूद्ध उकसाया

गया था। इन उद्देश्यों की प्राप्ति अब केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रखी जा सकती थी जैसा कि प्रथम विश्व युद्ध के बाद किया गया था। बहुत से उपनिवेशों पर तानाशाह देशों ने कब्जा कर लिया था और वहाँ की जनता ने इन तानाशाहों को निकाल बाहर करने में संघर्ष किया था। अब यह आसान नही था कि इन तानाशाहों के पतन के बाद ये देश फिर से ब्रिटेन, फ्रांस या होलेण्ड जैसे पुराने साम्राज्यवादी शासकों को सौंप दिये जाते। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की समाप्ति को तीव्र करने वाला एक अन्य अंतर्राष्ट्रीय कारण था सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देशों की शक्ति का एक महाशक्ति के रूप में उठ खड़ा होना। ये देश साम्राज्यवादी देशों व औपनिवेशक शक्तियों के विरूद्ध थे व पराधीन राष्ट्रों की स्वतंत्रता के समर्थक थे और पहले से मजबूत हो गये थे। इन आंदोलनों ने भी स्वतंत्रता आंदोलनों को समर्थन दिया।

साम्राज्यवादी ताकतों ने अपना शासन बचाए रखने के लिये सब तरह के तरीके अपना लिये थे। उन्होंने स्वाधीनता आंदोलनों में फूट डालने की कोशिश की। आतंक का पुराना तरीका आजमाया। कुछ देशों में नाम की सरकारें बनने दी जो वास्तव में कठपुतली मात्र थीं । फिर भी अधिकांश स्वतंत्रता आंदोलन इनकी चालों में नहीं आये और अपना संघर्ष उन्होंने जारी रखा। एशिया व अफ्रीका देश की एकता ने भी महत्वपूर्ण काम किया । एक देश का स्वाधीनता आंदोलन दूसरे देशों के स्वाधीनता आंदोलन का समर्थन करता था। इस दिशा में आजाद हो चुके देश की भूमिका भी, बड़ी महत्वपूर्ण रही। संयुक्त राष्ट्र जैसी संस्था ने इनके विचारों को वाणी दी ।

22.6 एशिया व अफ्रीका में स्वतंत्र देशों का उदय

द्वितीय विश्वयुद्ध के कुछ ही वर्षों के अंदर एशिया के बहुत से देश स्वतंत्र हो गये। सबसे पहले आजादी पाने वाले देशों में भारत भी एक था। भारत के विभाजन से पाकिस्तान नाम का एक अन्य देश भी बना। भारत की स्वतंत्रता के कुछ वर्षों बाद ही बर्मा 4 जनवरी 1948 को ब्रिटेन के आधिपत्य से मुक्त हुआ। फरवरी 1948 में श्रीलंका भी आजाद हो गया। फिलीपीन्स को 1946 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वतंत्रता देने की माँग स्वीकार कर ली थी।

जापान की हार के बाद इंडोनेशिया ने स्वाधीनता की घोषणा कर दी थी, परन्तु हालैण्ड के शासकों ने वहाँ बने रहने के विचार से सेनायें वहीं बुला ली। सुकर्णो ने स्वाधीन इंडोनेशिया की सरकार बनाई और साम्राज्यवादी शासन का विरोध किया। विश्व के अनेक देशों ने भी इंडोनेशिया से लड़ाई समाप्त करने की मांग की। भारत के स्वाधीनता संग्राम के सेनानियों ने माँग की कि भारत के जो सैनिक ब्रिटेन की सेना के हिस्से के तौर पर इंडोनेशिया भेजे गये हैं उन्हें वापस बुला लिया जाये। स्वाधीन हो जाने के वाद भारत ने इंडोनेशिया की स्वतंत्रता के समर्थन में 1949 में नई दिल्ली में एशियाई देशों का सम्मेलन आयोजित किया। अन्तत : 2 नवंबर 1949 को इंडोनेशिया स्वतंत्र हो गया। वियतनाम व संपूर्ण हिन्दचीन को जापानियों के समर्पण के बाद भी 1954 तक फ्रांस व उसके बाद संयुक्त अमेरिका के साम्राज्यवादी शासन का सामना करना पड़ा और 1975 में ही साम्यवादियों के विजय के बाद ही, सही अर्थो में वह पूर्व स्वतंत्र हो सका। भारत वियतनाम के स्वतंत्रता आंदोलन के सबसे बड़े समर्थकों में रहा ।

पश्चिम एशिया में भी एशिया के अन्य भागों के समान आजादी की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। 1946 में ही सीरिया व लेबनान स्वतंत्र हुये। 1948 में यहूदियों के लिये इजरायल की स्थापना ब्रिटेन के मेण्डेट प्रदेश फिलिस्तीन में हुई किन्तु लाखों अरबों को अपने घरबार छोड़कर भागना पड़ा जो आज भी फिलिस्तीन मुक्ति संगठन के रूप में एक राज्य की स्थापना के लिये संघर्षरत हैं ।

अफ्रीका में भी स्वतंत्रता के लिये संघर्ष लंबा चला क्योंकि साम्राज्यवादी देश इन उपनिवेशों को छोड़ने के लिये तैयार न थे। 1955 के बाद ही यहाँ आजादी का दौर चला। 1956 में ट्यूनीशिया व मोरक्कों ने फ्रांसीसियों से और लीबिया व सूडान ने ब्रिटेन से स्वाधीनता प्राप्त कर ली, किन्तु अल्जीरिया को 1962 तक संघर्ष करना पड़ा। 6 मार्च 1957 को गोल्ड कोस्ट (घाना) स्वतंत्र हुआ। टोगोलैण्ड स्वतंत्र हो घाना में मिल गया। 1958 में गिनी स्वतंत्र हुआ। 1960 को अफ्रीका वर्ष कहा जाता है, क्योंकि इस वर्ष सत्रह अफ्रीकी देशों को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। इसमें प. अफ्रीका व भूमध्यीय अफ्रीका के सभी फ्रांसीसी उपनिवेश और नाइजीरिया व कांगो सम्मिलित थे ।

1961 से 1964 के बीच कीनिया, यूगांडा, आंगानिका, जंजीवार, न्यासालैण्ड, उत्तरी रोडेशिया और रूआंडा–वरूंडी, सियरा, लियोन, गांबिया, वसूतोलैण्ड एवं बेचुआनालैण्ड स्वतंत्र हुये।1960 के दशक की समाप्ति तक पूर्व अफ्रीका के सभी उपनिवेशों ने स्वतंत्रता प्राप्त की किन्तु अंगोला, मोजांबिक, गिनी बिसाऊ और केपवर्डी द्वीप, दक्षिणी अफ्रीका, दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका एवं रोडेशिया ने नहीं ।1975 में इनमें से अधिकांश पुर्तगाली उपनिवेशों को स्वतंत्रता प्राप्त हो गई । 1980 में रोडेशिया (जिम्बाव्वे) भी स्वतंत्र हुआ। नामीबिया, अर्थात दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका और दक्षिण अफ्रीका में संघर्ष सर्वाधिक लंबा चला । भारत ने स्वतंत्र होने के पश्चात संयुक्त राष्ट्र व गुटनिरपेक्ष आंदोलन के माध्यम से पराधीन राष्ट्रों की स्वतंत्रता के लिये सक्रिय योगदान देकर महती भूमिका निभाई ।

22.7 संयुक्त राष्ट्र एवं उपनिवेशों की स्वतंत्रता हेतु प्रयास

उपनिवेशों में प्रबल होती राष्ट्रवादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप सानफ्रांसिस्को में विभिन्न प्रतिनिधियों ने औपनिवेशिक जनता के लिये विभिन्न प्रस्ताव रखे जो राष्ट्र संघ के प्रस्ताव से बेहतर थे। इनमें गैर स्वशासी प्रदेशों के लिये घोषणा सम्मिलित की गई जिसमें सदस्यों पर बाध्यकारी, बंधन लगाया गया कि उन प्रदेशों की जनता को स्वशासन का अवसर दिया जाए जहां स्वशासन लागू नहीं हुआ है । चार्टर के अनुच्छेद 73 में उल्लेखित इस घोषणा में सिद्धान्त रूप में प्रथम बार स्वीकार किया गया कि इन प्रदेशों के निवासियों का हित सर्वोपरि है और चार्टर द्वारा स्थापित अंतराष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की व्यवस्था के अंतर्गत इन निवासियों के हितों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये । इस हेतु –

(अ) इनकी संस्कृति के प्रति सम्मान का भाव रखते हुये इनका राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक विकास करना, न्यायपूर्ण बर्ताव एवं असम्मान विरूद्ध सुरक्षा देना।

(ब) स्वशासन का विकास–लोगों–की राजनीतिक आकांक्षाओं को ध्यान रख उन्हें स्वतंत्र राजनैतिक संस्थाओं के क्रमश: विकास में सहायता करना। प्रत्येक प्रदेश व उनके लोगों की विशेष परिस्थितियों एवं विकस के विभिन्न चरणों के अनुसार।

(स) अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की अभिवृद्धि हेतु।

(द) विशेष अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा जहां कही भी आवश्यक हो विकास के निर्माणकारी उपायों को प्रोत्साहित करना, शोध एवं एक–दूसरे से सहयोग को बढ़ावा देना, ताकि अनुच्छेद में वंर्णित सामाजिक, आर्थिक एवं वैज्ञानिक उद्देश्यों में व्यावहारिक रूप में प्राप्त किया जा सके।

(इ) महासचिव को सूचनार्थ सुरक्षा एवं संवैधानिक आवश्यकताओं हेतु सांख्यिकीय एवं तकनीकी प्रकृति की अन्य सूचनायें भेजना जो प्रदेशों की आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक प्रकृति से संबंधित हैं जिनके प्रशासन के लिये वे जिम्मेदार हैं।

चार्टर के अनुच्छेद 74 ने इस पर बल दिया कि संयुक्त राष्ट्र के अन्य सदस्य औपनिवेशिक प्रदेशों में रूचि रखें और यदि शासन करने वाले देश आवजन व्यापार व वाणिज्य के संबंध में मनमानी नीतियां अपनाते हैं तो अन्य देश इस बारे में शिकायत कर सकते हैं ।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में वर्णित घोषणा निरोपनिवेशवादी आंदोलन को गतिमान करने में सहायक सिद्ध हुई। संयुक्त राष्ट्र एवं उसकी एजेंसियों द्वारा प्रत्यक्ष निरोपनिवेशवाद के लिये किये जाने वाले प्रयास अत्यन्त ही सीमित रहे, तथापि इसके पक्ष में भूमिका तैयार करने में यह सहायक रहा। ट्रस्टीशिप काउन्सिल एवं महासभा क सहायक अभिकरणों ने औपनिवेशक शक्तियों पर परतंत्र जनता के कल्याण हेतु दबाव डाला और यही दबाव साम्राज्यवादी शक्तियों पर उपनिवेशों की समाप्ति के लिये दबाव के रूप में परिवर्तित हुआ। प्रारंभ में गैर स्वशासी प्रदेशों पर विचार विमर्श मुख्यत : सूचनाओं के संप्रेषण व परीक्षण की प्रक्रिया स्थापित करने तक ही सीमित रहा। पर जल्दी ही महासभा ने इन प्रदेशों में राजनीतिक व संवैधानिक प्रगति से संबंधित सूचनाओं के परीक्षण करने एवं उनकी दशा पर सिफारिश कर सकने के महासभा के अधिकार को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की कोई प्रदेश गैर स्वशासी है अथवा नही यह वर्गीकृत करने के अधिकार को भी महासभा ने स्थापित किया। 1946 में महासभा ने 74 प्रदेशों की सूची बनायी, जिसके बारे में प्रशासनिक शक्तियों को सूचनायें प्रदान करनी थीं । इसके उपरांत इस सूची में कुछ और प्रदेशों को सम्मिलित किया गया, जो स्पेन एवं पुर्तगाल के प्रशासनान्तर्गत थे ।

1947 में महासभा ने एक 16 सदस्यीय समिति का गठन किया जिसमें औपनिवेशिक एवं गैर औपनिवेशक देशों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त था । इस समिति का कार्य महासभा को प्रशासनिक शक्तियों द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों के संबंध में सहायता करना था। औपनिवेशिक शक्तियों ने इसका विरोध किया और तर्क दिया कि वे महासभा को .मात्र प्रतिवेदन भेजने के लिये बाध्य हैं और वह भी उन प्रदेशों के संबंध में जो अब तक सामाजिक, आर्थिक व शैक्षणिक रूप से स्वशासी नही हुये हैं और ये प्रदेश स्वशासी हैं अथवा नहीं इसका निर्धारण करना भी उन्हीं का अधिकार है । गैर औपनिवेशिक शक्तियों ने दूसरी ओर तर्क दिया कि जब तक प्रदेश

स्वशासी नहीं हो जाते औपनिवेशिक देश को प्रतिवेदन भेजना आवश्यक है और कोई प्रदेश स्वशासकीय हो गया है अथवा नहीं इसका निर्धारण महासभा करेगी। औपनिवेशिक व गैर औपनिवेशिक देशों द्वारा इस प्रकार कठोर दृष्टिकोण अपनाने से तनाव व्याप्त हुआ और अंतत : गैर औपनिवेशिक देश विरोध के बावजूद महासभा में कई प्रस्ताव पारित करवाने में सफल हुये कि गैर स्वशासी प्रदेशों का विषय अंतर्राष्ट्रीय चिंता का विषय है ।

1960 तक एशिया एवं अफ्रीका के कई देश स्वतंत्र हो चुके थे । इनके संयुक्त राष्ट्र के सदस्य बनने से नवस्वतंत्र देशों की संख्या महासभा की सदस्य संख्या का दो तिहाई हो गई इन देशों ने इस शक्ति का आंकलन कर निरोपनिवेशवाद की प्रक्रिया को तीव्र करने हेतु ठोस प्रयास किये। 43 एशियाई–अफ्रीकी देशों द्वारा लंबी वार्ताओं व बहस के पश्चात 14 दिसंबर 1960 को एक प्रस्ताव पारित किया गया, जिसके पक्ष में 90 मत पड़े। विपक्ष में एक भी मत नहीं पड़ा किन्तु 9 देश मतदान से अनुपस्थित रहे। ये औपनिवेशिक शक्तियां थी। यह प्रस्ताव घोषणा के रूप में था और इसे परतंत्र जनता की स्वतंत्रता के चार्टर कहा गया। घोषणा निम्न प्रकार थी।

(1) प्रजा पर विदेशी आधिपत्य, अधीनता व शोषण मानव अधिकारों का हनन है, जो संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के विरूद्ध है और विश्व शांति व सहयोग में बाधा है ।

(2) सभी. लोगों को 'स्व–निर्णय ' का अधिकार है। इस अधिकार के तहत वे स्वयं की राजनैतिक स्थिति एवं आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विकास को निर्धारित करने के लिये स्वतंत्र है ।

(3) राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, एवं शैक्षणिक तैयारी की कमी स्वतंत्रता न देने का बहाना नहीं बनाना चाहिये।

(4) सभी प्रकार की सशस्त्र कार्यवाहियां एवं दमनकारी उपाय जो परतंत्र लोगों के विरूद्ध हैं समाप्त किये जाने चाहिये ताकि वे पूर्ण स्वतंत्रता एवं राष्ट्रीय अखंडता के अधिकार से स्वतंत्रता व शांति से इस्तेमाल कर सकें ।

(5) न्यासी प्रदेश गैर स्वशासी प्रदेश या अन्य प्रदेशों में जो स्वतंत्र नहीं हुये हैं तुरंत प्रभावी कदम उठाकर उन प्रदेशों की जनता को बिना शर्त सत्ता हस्तांतरण किया जाना चाहिये, उनकी स्वतंत्र इच्छा एवं आकांक्षा के अनुरूप और जाति रंग या नस्ल के भेदभाव को किये बिना ताकि वे पूर्ण स्वतंत्रता के भागी हो सकें ।

(6) राष्ट्रीय एकता व क्षेत्रीय अखंडता के पूर्ण या आंशिक विघटन के लिये किसी भी प्रकार का प्रयास, संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के उद्देश्य एवं सिद्धान्तों के विरूद्ध है ।

(7) सभी राज्यों को संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के प्रावधानों का; मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा का; और प्रस्तुत घोषणा का; समानता, सभी राज्यों के आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप, सभी लोगों के संप्रभु अधिकारों व उनकी क्षेत्रीय अखंडता के प्रति सम्मान के आधार पर पूर्ण निष्ठा व कड़ाई के साथ पालन करना चाहिये ।

इस घोषणा के अंगीकरण के पश्चात् महासभा निरंतर शासन कर्ता देशों से इस घोषणा के पालन के लिये कहती रही। इस पर बल दिया गया कि प्रजातिवाद रंगभेद; आर्थिक व मानवीय संसाधनों का विदेशों द्वारा शोषण; अफ्रीकी देशों में राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों के

दमन सहित उपनिवेशवाद के सभी प्रकार व रूप संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के विरूद्ध हैं । उपनिवेशों की जनता द्वारा किये जा रहे सभी प्रकार के साधनों से संघर्ष को वैध मानते हुये अन्य राज्यों से इनकी नैतिक व भौतिक सहायता हेतु अपील की। विशिष्ट अभिकरणों एवं अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से भी अपील की कि वे दक्षिण रोडेशिया एवं दक्षिण अफ्रीका से तब तक सहायता वापिस ले लें जब तक वे उपनिवेशवाद की नीतियों का त्याग नहीं करते। इन प्रदेशों में किराये के सैनिकों के उपयोग च परंपरा की निंदा की व इन प्रदेशों के नागरिकों का सैनिक के रूप में उपयोग पर रोक लगाई। औपनिवेशिक शक्तियों से इन प्रदेशों से सैनिक अड्डे हटाने व नये अड्डे स्थापित न करने को कहा। महासभा ने बार–बार उपनिवेशवाद संबंधी सूचना के प्रसार के लिये अपील की ताकि बचे हुये उपनिवेशों की स्वतंत्रता प्राप्ति संभव हो सके।

नवंबर 1961 में महासभा ने अफसोस के साथ यह पाया कि कुछ अपवादों को छोड़, घोषणा का पालन नहीं किया गया है और पराधीन लोगों के विरूद्ध सशस्त्र दमन जारी है। अत: घोषणा के क्रियान्वयन को सुनिश्चित करने हेतु महासभा ने नवंबर 1961 में एक विशेष समिति के गठन के लिये प्रस्ताव पारित किया। इस समिति में 17 सदस्य (बाद में 24) सम्मिलित हुये। इन सदस्यों की नियुक्ति सभा के अध्यक्ष द्वारा की जाती थी। और इनका कार्य उपनिवेशों की स्वतंत्रता की घोषणा के क्रियान्वयन की जांच करना एवं इस ओर प्रगति के संबंध में सुझाव व सिफारिशें प्रस्तुत करना था। 1962 में जब इस समिति ने कार्य करना प्रारंभ किया तो इसे तीन अन्य समितियों. के कार्य भी सौंप दिये गये। इस प्रकार यह स्वतंत्रता. स्वनिर्णय से संबंधित विषयों की मुख्य समिति के रूप में कार्य करती रही।

1962 में महासभा ने समिति से अनुरोध किया कि यह निरोपनिवेशवाद की प्रगति हेतु स्पष्ट उपायों को प्रस्तावित करें एवं सुरक्षा परिषद को घोषणा में सम्मिलित क्षेत्रों में हो रही प्रगति के संबंध में सूचित करें। 1965 में महासभा ने इस विशिष्ट समिति से छोटे प्रदेशों की और विशेष ध्यान देने व इन प्रदेशों की स्वतंत्रता के लिये अंतिम तिथि की सिफारिश करने को भी कहा। महासभा व सुरक्षा परिषद के साथ मिलकर यह समिति उपनिवेशों की समापित के लिये सक्रिय रूप से कार्य करती रही इसके अतिरिक्त शासनकर्ता शक्तियों का सहयोग प्राप्त करने का भी इस समिति ने प्रयास किया। इस समिति ने गैर स्वशासी प्रदेशों में कई प्रतिनिधि मंडल भेजे ताकि इन प्रदेशों की स्थिति एवं उनकी जनता की भविष्य के संबंध में राय जानी जा सके। इन प्रतिनिधि मण्डलों ने 1967 में अदल, निपू (1972) कोकोसा द्वीप (कीलिंग), गिल्बर्ट एवं इलिस द्वीप (1974),केपवर्डे मोंटसेगत एवं स्पेनिश सहारा (1975), ब्रिटिश वर्जिन द्वीप एवं टोकलेन द्वीप (1976), केमेल द्वीप एवं संयुक्त राज्य के वार्जिन द्वीप (1977) आदि की यात्राएं कीं। 1976 एवं 1977 में पुन: औपनिवेशिक देशों से अपील की गई कि वे उपनिवेशों से सैनिक अड्डे इत्यादि हटा ले व नये अड्डे स्थापित न करें।

1978 में महासभा ने नामीबिया की स्वतंत्रता व स्वनिर्णय के लिये कार्यक्रम के रूप में एक प्रस्ताव पारित किया। घोषणा के रूप में नामीबिया के लोगों के स्वतंत्रता के लिये स्वनिर्णय के अधिकार एवं दक्षिण –अफ्रीका द्वारा नामीबिया पर अवैधानिक कब्जे को समाप्त करने पर बल दिया गया। सदस्य देशों से अपील की गई कि वे स्वापो (SWAPO) को अधिक व निरंतर

सहायता व सहयोग प्रदान करें एवं दक्षिण अफ्रीका के साथ किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग न करें।

1979 में 24 सदस्यों की निरोपनिवेशवादी विशेष समिति यूगोस्लाविया में मिली व जिम्बाव्वे व नामीबिया की स्वतंत्रता का अंतिम दस्तावेज स्वीकार किया; जिसमें दक्षिणी रोडेशिया के विरूद्ध प्रतिबंध बढ़ाने व दक्षिण अफ्रीका के विरूद्ध अनिवार्य प्रतिबंध लगाने को कहा गया। स्वतंत्रता की मांग कर रहे लोगों के विरूद्ध हिंसा के उपयोग की निंदा की । और अन्तत : 1980 में अंतर्राष्ट्रीय सहमति कायम करने व हितों के कारण दक्षिण अफ्रीका की श्वेत सरकार का समर्थन करने वाले पश्चिम देशों को भी बाध्य करने में संयुक्त राष्ट्र के प्रयास सफल हुये और 1988 में दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की समाप्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ व अश्वेतों को भी शासन का समान अधिकार प्राप्त हुआ। 1990 में नामीबिया को स्वतंत्रता प्राप्त हुई ।

22.8 निरोपनिवेशवाद : भारत की भूमिका

भारत में उपनिवेशवाद का विरोध अंग्रेजी साम्राज्यवादी अनुभव के साथ ही उत्पन्न हुआ। प्राचीन भारत की महानता की स्मृतियों से, 19 शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय पुनर्जागरण काल के दौरान अंग्रेजी व फ्रांसीसी राजनीति चिंतन के अध्ययन से, भारत के प्रबुद्ध वर्ग में ब्रिटिश शासन के विरूद्ध एवं भारतीय अर्थव्यवस्था को अंग्रेजी अर्थव्यवस्था की दासी बनाये जाने के विरूद्ध असंतोष उत्पन्न हुआ । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के रूप में यह असंतोष प्रकट हुआ और धीरे–धीरे आम जनता में भी इसका संचार हुआ, विशेषकर जन आंदोलनों के जरिये । स्वदेशी आंदोलन, असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन, भारत छोड़ो आंदोलन की इस संघर्ष में विशेष भूमिका रही ।

हालांकि प्रारंभ में भारत का साम्राज्यवाद विरोध एवं उपनिवेशवाद विरोध सिर्फ भारत में ही अंग्रेजी शासन के विरूद्ध था । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्थापना के समय से ही पड़ोसी देशों में अंग्रेजी साम्राज्यवादी हितों के बढ़ावे के लिये भारतीय सैनिक व्यय का विरोध किया । किन्तु यह अन्य देशों में साम्राज्यवादी शासन के विरूद्ध न होकर भारतीय संसाधनों के दोहन का विरोध मात्र था । प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् भारतीय नेताओं ने साम्राज्यवाद का चाहे वह विश्व के किसी भी स्थान पर हो, विरोध प्रारंभ किया । यह विरोध वित्तीय बोझ के कारण नहीं बल्कि विश्वभर में साम्राज्यवाद को बुराई के रूप में देखे जाने से प्रारंभ हुआ। तदोपरांत प्रत्येक वर्ष भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विचार के रूप में साम्राज्यवाद का विरोध और विश्व भर के उपनिवेशों के रूप में साम्राज्यवाद के प्रकट रूप का विरोध करते हुये प्रस्ताव पारित किये । 1928 में कांग्रेस के प्रस्ताव में उल्लिखित किया गया कि भारतीयों का स्वतंत्रता आंदोलन विश्व उपनिवेशों के विरूद्ध एवं साम्राज्यवाद के विभिन्न रूपों के विरूद्ध चल रहे संघर्ष का एक भाग है। इस प्रकार स्वतंत्रता के पूर्व भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एवं विभिन्न भारतीय नेताओं ने न सिर्फ भारत की स्वतंत्रता वरन् सभी उपनिवेशों की स्वतंत्रता हेतु संकल्प व्यक्त किया। 1938 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के हरिपुर अधिवेशन में पारित प्रस्ताव में उल्लेखित किया गया कि “भारत पड़ौसियों एवं अन्य सभी देशों से शांति व मित्रता के साथ रहना चाहता है । इस उद्देश्य

के लिये संघर्ष के सभी कारणों को समाप्त कर देना चाहता है । इस हेतु विश्व शांति, और विश्व शांति के लिये एक का दूसरे के विरूद्ध साम्राज्यवाद व शोषण समाप्त होना चाहिये।"

2 दिसम्बर 1946 को जवाहरलाल नेहरू ने प्रोविजनल सरकार की बागडोर सम्हालते हुये घोषणा की - "हमारा विश्वास है कि शांति और स्वतंत्रता अविभाज्य है और कहीं भी स्वतंत्रता का हनन दूसरे स्थानों की स्वतंत्रता को असुरक्षित कर सकता है और इससे संघर्ष एवं युद्ध हो सकता है । उपनिवेशों एवं निर्भर देशों व व्यक्तियों की मुक्ति में हम विशेष रूचि रखते हैं और सभी प्रजातियों की समानता, सिद्धान्त एवं व्यावहारिक रूप में चाहते हैं । हम दूसरों पर कोई आधिपत्य अथवा दूसरों पर विशेषाधिकारी स्थिति नहीं चाहते । परन्तु हम चाहते हैं कि हमारे लोग जहां भी जायें उन्हें समानता व सम्मान का व्यवहार प्राप्त हो, और हम उनके खिलाफ कोई भी भेद–भाव स्वीकार नहीं करेंगे ।"

स्वतंत्र भारत की विदेश नीति में भी उपनिवेशवाद का विरोध विदेशनीति के मुख्य सिद्धान्तों में से एक रहा । भारत ने परतंत्र उपनिवेशों की स्वतंत्रता के लिये संयुक्त राष्ट्र में इस मामले को उठाया और निरोपनिवेशवाद को बढ़ावा देने के लिये कार्य किया ।

एशियावाद भी भारत के उपनिवेशवाद से साम्राज्यवाद के विरूद्ध संघर्ष का ही एक रूप था। 1905 में रूस पर जापान की विजय व 1911 की चीनी क्रांति ने राष्ट्रवादी लहर को प्रोन्नत किया । प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एशियाटिक फेडरेशन अथवा एशियाई संघ की आवश्यकता को प्रतिवर्ष रेखांकित किया और 1928 में इसे कार्यरूप में परिणत करते हुये 1930 में भारत में पान एशियाटिक फेडरेशन के प्रथम अधिवेशन को आहूत करने के लिये कांग्रेस कार्यकारिणी को निर्देश दिया। 1942 में कांग्रेस ने प्रस्तावित किया कि "भारत की स्वतंत्रता विदेशी आधिपत्याधीन सभी अन्य एशियाई राष्ट्रों की स्वतंत्रता के लिये प्रतीक व भूमिका होगी और बर्मा, मलाया, हिन्द चीन, डच इंडीज (इंडोनेशिया) ईरान व इराक को भी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिये।" मार्च 1947 में जवाहरलाल नेहरू ने प्रथम एशियाई सम्मेलन (एशिया रिलेशन्स कान्फरेंस) नई दिल्ली में आयोजित किया । जवाहरलाल नेहरू ने बलपूर्वक कहा कि "अभी हाल तक एशिया साम्राज्यवादी आधिपत्य एवं उपनिवेशवाद का शिकार था, इसका एक बहुत बड़ा भाग आज स्वतंत्र है, किन्तु कुछ भाग अभी भी परतंत्र है और यह आश्चर्य की बात है कि अभी भी कुछ देश उपनिवेशवाद के सिद्धान्त को बढ़ावा दे रहे हैं, चाहे वह प्रत्यक्ष शासन हो अथवा अप्रत्यक्ष रूप में या किसी अन्य प्रकार में हों । हम, एशिया में, जो उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवादी आधिपत्य की बुराईयों से जूझ चुका है, अन्य देशों की स्वतंत्रता के लिये स्वयं को कृत संकल्पित मानते हैं।"

उपनिवेशवाद विरोध की भारतीय नीति सिर्फ कथनों तक ही सीमित नहीं रही बल्कि भारत ने व्यवहारिक रूप में इंडोनेशिया, लीबिया. ट्यूनीशिया, अल्जीरिया मोरक्कों आदि को पूर्ण सहायता दी ।अफ्रीकी देशों की स्वतंत्रता के लिये भी भारत ने संयुक्त राष्ट्र में, राष्ट्रमडल में, गुटनिरपेक्ष सम्मेलनों में एवं अन्य अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर इस विषय को उठाया । सर्वप्रथम भारत ने संयुक्त राज्य अमेरिका को यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि ट्रस्टीशिप व्यवस्था को परतंत्र लोगों के कल्याण के लिये कार्य करना चाहिये और स्त्रातजिक आवश्यकताओं के आधार

पर इन प्रदेशों की अदला–बदली नहीं होनी चाहिये । भारत ने बलपूर्वक कहा कि ट्रस्टीशिप शक्तियां इन प्रदेशों के संबंध में नियमित सूचना संयुक्त राष्ट्र संघ को दें कि उन्होंने स्वशासन अथवा स्वतंत्रता प्रदान करने के लिये क्या कदम उठाये हैं । भारत ने दक्षिण अफ्रीका में औपनिवेशक शोषण के एक प्रकार–रंगभेद के विरूद्ध भी आवाज उठाई । भारत ने सिर्फ इस मामले को संयुक्त राष्ट्र में उठाने वाला: पहला देश था वरन् दक्षिण अफ्रीका से उच्चायुक्त वापस बुला लेने और उस देश के विरूद्ध आर्थिक प्रतिबंध लगाने वाला भी पहला देश था । दक्षिण अफ्रीका से भारत ने व्यापारिक संबंध भी तोड़ लिये जबकि दक्षिण अफ्रीका भारतीय सामान के लिये बहुत बड़ा बाजार था।

रोडेशिया के संबंध में भी भारत ने इसके गैर स्वशासी बने रहने व श्वेत आधिपत्य के विरूद्ध अफ्रीकियों को पूर्ण समर्थन दिया । जब इयान स्मिथ की श्वेत सरकार ने स्वतंत्रता की एक पक्षीय घोषणा की मंशा स्पष्ट की तो भारत ही विश्व का वह पहला देश था जिसने रोडेशिया से राजनयिक संबंध तोड़ लिये और पूर्ण एम्बार्गो लगाया।

संयुक्त राष्ट्र में 1960 में भारत ने ही उपनिवेशवाद के सभी प्रकारों या रूपों को समाप्त करने के लिये जो प्रस्ताव रखा था वह बिना किसी विरोध के पारित हुआ था। भारत उस विशेष समिति का अध्यक्ष भी रहा जो स्वतंत्रता प्रदान करने की घोषणा के क्रियान्वयन की प्रगति को तेज करने के लिये गठित की गई थी। संयुक्त राष्ट्र से बाहर भी अफ्रीकी स्वतंत्रता आंदोलनों व इस हेतु स्थापित संगठनों को भारत ने पूर्ण समर्थन दिया । विशेषकर 1963 में स्थापित अफ्रीका एकता संगठन की भारत ने प्रशंसा की जो अफ्रीकी समस्याओं के अफ्रीकी समाधान हेतु गठित किया गया । भारत ने अफ्रीकी देशों को समस्त सहायता इसी संगठन के माध्यम से पहुंचाई । अफ्रीका में उपनिवेशों की समाप्ति के लिये संघर्षरत स्वतंत्रता आंदोलनों के लिये भारत का एक अन्य महत्वपूर्ण योगदान फ्रंटलाईन या अग्रिम पंक्ति देशों की सहायता हेतु 1970 के लुसाका गुटनिरपेक्ष सम्मेलन के बाद अभियान प्रारंभ करना था क्योंकि इन देशों में अस्थिरता से उपनिवेशों में स्वतंत्रता आंदोलनों पर प्रतिकूल प्रभाव हो सकता था। भारत ने लोसोथो विशेष कोष के लिये दस लाख रुपये एवं बोत्स्वना विशेष कोष के लिये 5 लाख रुपये प्रदान किये । ये कोष भारतीय सामान खरीदने व तकनीक सेवायें प्राप्त करने के लिये उपयोग में लाये जा सकते थे । नामीबिया में भी भारत स्वापो के साथ ही संबंधित रहा । 1970 में ही गठित नामीबिया कोष के लिये भी भारत नियमित रूप से योगदान देता रहा। दक्षिण अफ्रीका द्वारा नामीबिया पर अवैध आधिपत्य नामीबियाई जनता के विरूद्ध आक्रमण है, भारत भी अन्य गुट निरपेक्ष देशों के इस मत से सहमत था। नामीबिया में सैनिक तैयारी को पड़ौसी देशों में आक्रमण, विद्रोह व अस्थिरता के लिये उपयोग में लाया जा रहा था। विशेषकर अंगोला में । दक्षिण अफ्रीका के आर्थिक हित नामीबिया में देखते हुए नामीबिया की स्वतंत्रता का मार्ग कठिन रहा। 1974 में संयुक्त राष्ट्र की नामीबिया परिषद ने नामीबिया के प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण हेतु भी प्रस्ताव पारित किया। दक्षिण अफ्रीका द्वारा नामीबिया की स्वतंत्रता को अंगोला में उपस्थित क्यूबा की अंतर्राष्ट्रीय सेना की वापसी से जोड़ने का भी गुटनिरपेक्ष देशों ने विरोध किया। 1983 में भारत ने गुटनिरपेक्ष सम्मेलन की अध्यक्षता का भार सम्हाला। गुटनिरपेक्ष देशों के इस सातवें सम्मेलन का उद्घाटन करते हुये श्रीमती इंदिरा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका को

'शरारती अवैध' कहा जो अंतर्राष्ट्रीय परिवार की अनदेखी कर रहा है । उनकी हत्या के पश्चात राजीव गांधी ने गुटनिरपेक्ष देशों के अध्यक्ष का कार्य देखा और नामीबिया की स्वतंत्रता की ओर विशेष ध्यान दिया । विशेषकर हरारे सम्मेलन के उपरान्त । इन्हीं प्रयासों से 13 दिसम्बर 1988 के ब्राझीविला प्रोटोकोल और 22 दिसम्बर 1988 के न्यूयार्क में हुये त्रिपक्षीय (अंगोला, क्यूबा, दक्षिण अफ्रीका) समझौते के पश्चात नामीबिया की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस प्रकार भारत गुट निरपेक्ष देशों के सम्मेलनों के माध्यम से विश्व में उपनिवेशवाद की पूर्ण समाप्ति के लिये प्रयासरत रहा ।

22.9 नवोपनिवेशवाद

हालांकि अपने शास्त्रीय स्वरूप में उपनिवेशवाद समाप्त हो गया और द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अधिकांश उपनिवेश राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हो गये। वे संप्रभु सदस्य के रूप में विभिन्न विश्व संस्थाओं के सदस्य भी बन गये किन्तु नवस्वतंत्र देश राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होने के बावजूद आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त नही कर सके और उपनिवेशवाद एक नये रूप में प्रकट हो गया जिसे नव–उपनिवेशवाद का नाम दिया गया ।

एनकुमा के अनुसार – नवोपनिवेशवाद सार रूप में राज्य का सैद्धान्तिक तौर पर स्वतंत्र होना किन्तु अंतर्राष्ट्रीय संप्रभुता पर सभी बंधनों का बाल होता है । वास्तव में इसकी आर्थिक व्यवस्था और इसकी राजनीतिक नीति बाहर से निर्देशित होती है । नवोपनिवेशवाद में पूर्व के उपनिवेश । पूंजी निवेश, ऋण सहायता, असमान लेन–देन वित्त आदि के लिये स्वतंत्र होने के बाद भी पूर्व औपनिवेशक शक्ति पर निर्भर है क्योंकि इन पर पूर्व शक्तियों का औपनिवेशिक नियंत्रण है । प्रो. – श्वार्जनवर्गर इसे नवोपनिवेशवाद का नाम देना ठीक नहीं मानते । उनका मत है कि प्रौद्योगिकी से सम्पन देशों व पूर्व उपनिवेशों के मध्य निर्भरता के वर्तमान संबंध को 1945 के उपरांत के साम्राज्यवाद का एक रूप माना जाना चाहिये । जिसे **नव– साम्राज्यवाद** कहा जा सकता है ।

सामान्यत: नवोपनिवेशवाद में निर्भर देश के ऊपर पूर्व साम्राज्यवादी शक्ति, जिसने इसके ऊपर शासन किया था, सत्ता व शक्ति का उपयोग करती रहती है । कुछ नयी साम्राज्यवादी शक्तियां भी इस प्रकार का नियंत्रण रखती है । जिस प्रकार द. वियतनाम की औपनिवेशिक शक्ति फ्रांस थी किन्तु नवोपनिवेशवादी शक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका बनी । यह भी संभव है कि वित्तीय हित रखने वाले समूह द्वारा भी यह नियंत्रण किया जाए, जिस प्रकार की कांगो पर कई अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय कंपनियों ने नियंत्रण किये किन्तु इन्हें किसी एक राज्य का नहीं माना जा सकता है ।

22.10 नवोपनिवेशवाद : कारण

द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत उपनिवेशों की समाप्ति के बावजूद नवोपनिवेशवाद के प्रसार के कई कारण थे :–

द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत – अधिकांश साम्राज्यवादी देशों ने **'कल्याणकारी राज्य'** के उद्देश्य को अंगीकर किया और इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्हें धन की आवश्यकता थी जिससे कल्याणकारी परियोजनायें पूर्ण की जा सकें । ये धन वे अपने उपनिवेशों से सरलता से प्राप्त

कर सकते थे । किन्तु अब स्थिति परिवर्तित हो चुकी थी । और यह संभव नहीं था कि पुरानी उपनिवेशवादी व्यवस्था को पुनर्जीवित किया जा सके क्योंकि इसके प्रतिक्रियास्वरूप युद्ध भी भड़क सकते थे । अत : इन पूर्व औपनिवेशिक शक्तियों ने नवोपनिवेशवाद की व्यवस्था विकसित की । मुख्य रणनीति थी बड़े–बड़े उपनिवेशों के प्रदेशों को ऐसी छोटी–छोटी इकाईयों में विभाजित कर देना जिनका अस्तित्व सरलता से संभव न हो सके, अर्थात ये स्वतंत्र रूप से विकास करने में सक्षम न हों, तथा विकास, सुरक्षा एवं आंतरिक सुरक्षा के लिये भी पूर्व औपनिवेशिक देशों पर ही निर्भर रहें ।

विकसित देश नवोपनिवेशी देशों को तैयार माल मनमाने दामों पर देते थे और उनके बदले कच्चामाल अपेक्षाकृत कम दामों पर लेते थे । कमजोर आर्थिक स्थिति के कारण ये देश इस स्थिति में नहीं थे कि विकसित देशों को कच्चेमाल या प्राथमिक उत्पादों का उचित मूल्य देने के लिए बाध्य कर सकते । एक बार इस नवोपनिवेशवादी चक्र में फंसने के बाद इससे निकल जाना आसान नहीं था क्योंकि सरकारों के विरूद्ध क्रांति व विद्रोह कर सरकार को बदल देना इन शक्तियों के लिये अत्यंत आसान था ।

इसके अतिरिक्त द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् शीत युद्ध के प्रारंभ हो जाने से पूर्व औपनिवेशिक शक्तियों को भी स्वतंत्र रूप से कार्य कर पाना संभव नहीं हुआ । दोनों महाशक्तियों ने अपने गुट के देशों पर पूर्ण प्रभुत्व रखा और अंतर्राष्ट्रीय नीतियों को इस सीमा तक प्रभावित किया कि नवस्वतंत्र देशों के लिये स्वतंत्र रूप से कार्य करना संभव नहीं था । औपनिवेशिक देशों के दृष्टिकोण में इतना परिवर्तन अवश्य हुआ कि वे स्वयं को औपनिवेशिक देश कहलाना नहीं चाहते थे अत : इन नियंत्रित प्रदेशों को उपनिवेशों की जगह सेटेलाईट का नाम दिया गया।

22.11 नवोपनिवेशवाद : विधियाँ

नवोपनिवेशवाद भाँति–भाँति के प्रकारों में प्रकट हुआ। और इसमें विभिन्न तरीके भी अपनाये गये । इसका एक अतिवादी रूप था । पूर्व से साम्राज्यवादी शक्ति की सैन्य टुकड़ियों द्वारा इस प्रदेश की घेराबंदी एवं सरकार पर नियंत्रण । इस प्रकार से ये प्रदेश राजनीतिक स्वतंत्रता का उपभोग भी नहीं कर सकते थे । ऐसे अधिकांश मामलों में सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक गतिविधियां शासनकर्ता देश के हितों के सामने गौण हो जाती हैं ।

नवोपनिवेशवादी शक्तियों द्वारा अपनाये जाने वाला सामान्य तरीका आर्थिक एवं भौतिक साधन द्वारा नियंत्रण था । चूंकि अधिकांश प्रदेश पिछड़ी स्थिति में थे और उनके पास पर्याप्त धन नहीं था अत : प्रौद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों से वित्तीय एवं तकनीकी सहायता लेने के लिये वे बाध्य थे । सहायता कर्ता अथवा ऋणदाता देश इस सहायता के साथ कई शर्ते भी थोप देते थे जैसे कि आर्थिक सहयोग का समझौता, आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार, दाता देश की वस्तुओं के आयात निर्यात में सीमाकर व अन्य व्यापारिक रियायतें, प्राप्त धन का उपयोग किस प्रकार होगा इसका निर्धारण ऋणदाता द्वारा, प्राप्त कर्ता देश को समानान्तर कोष स्थापित करने के लिये बाध्य करना ऋणदाता देश से वस्तुओं की खरीददारी हेतु । इस प्रकार पूर्वोपनिवेशी ताकतें अपने उपनिवेशों पर स्वतंत्रता के बाद भी नियंत्रण रखने में एवं उन्हें आर्थिक रूप से निर्भर प्रदेश बनाने में सफल होती थी । इस व्यवस्था को आर्थिक

साम्राज्यवाद का नाम भी दिया गया क्योंकि नियंत्रकारी शक्ति दाता देश के पास थी । कभी–कभी नवोपनिवेशी शक्तियां अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, पुनर्निर्माण एवं विकास का अंतर्राष्ट्रीय बैंक, अंतर्राष्ट्रीय बित्त निगम एवं अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ आदि के माध्यम से भी ऋण दिलवाने की व्यवस्था करते थे । ये अंतर्राष्ट्रीय अभिकरण व संस्थायें भी ऋण लेने वाले देश पर अनुचित शर्ते थोपते थे जैसे देश की अर्थव्यवस्था के संबंध में सूचना प्रदान करें । अपनी नीतियां व कार्यक्रम बैंक या अन्य संस्थाओं के समक्ष पुनरीक्षण के लिये प्रस्तुत करें । बैंक आदि का ऋण के उपयोग की देख–परख हेतु निर्देशन स्वीकार करें । संक्षेप में इस प्रकार के कर्जे अथवा ऋण प्राप्तकर्ता देश को बहुत कम लाभप्रद होते थे । क्योंकि इस माध्यम से वह इन देशों में निर्भरता का जाल फैलाये रखते थे । विदेशी धन अथवा पूंजी भी विकासशील देशों के विकास के लिये उतनी नहीं होती थी जितनी कि दाता व विकसित देशों के हितों के बढ़ावा देने के लिये ।

नवोपनिवेशवाद शक्तियों ने एक अन्य साधन, जिसे बहुराष्ट्रीय कंपनियां कहा जाता है, के माध्यम से भी इन देशों का शोषण किया । विभिन्न देशों के पूंजी निवेशकों ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों को एक ज्वाइन्ट स्टाक कंपनी के रूप में बना रखा था, विकसित व विकासशील देशों में उद्यमों के संचालन हेतु । बहुराष्ट्रीय कंपनियों का वास्तविक प्रयोजन लाभ कमाना व विश्व में प्रभाव स्थापित करना था। कुछ वर्षो में ही ये बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ इतनी शक्तिशाली हो गई कि इनका समूचा विक्रय कई देशों के (अपवाद स्वरूप सोवियत संघ व संयुक्त राज्य अमेरिका को छोड़कर) सकल राष्ट्रीय उत्पाद से अधिक हो गया। उनके लाभ उनके निवेश से कई गुना अधिक थे । ये बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ देशों की सरकारों व उनकी नीतियों को प्रभावित करने की शक्ति रखती थी और सैनिक रूप से हस्तक्षेप करने में भी नहीं सकुचाती थी । ये निगम भी विकासशील देशों के स्वदेशी तकनीक के उपयोग को सफल नहीं होने देते थे । जिससे निर्भरता व पिछड़ापन बना रहता था । बहुराष्ट्रीय कंपनियों की मौजूदगी के परिणामस्वरूप अर्थव्यव्स्था पर अप्रत्यक्ष प्रभुत्व व नियंत्रण स्थापित हो जाता था । ये इन देशों की अर्थव्यवस्था की संरचना ही नहीं वरन् यहां की राजनीतिक व आर्थिक नीतियों को भी प्रभावित करती थी ।

इसके अतिरिक्त कुछ राज्य स्वतंत्र होते हुये भी राजनीतिक व आर्थिक रूप से एक या दूसरी महाशक्ति पर इस सीमा तक निर्भर हो गये कि उन्हें सेटेलाइट या 'उपग्रह' राज्य कहा जाने लगा । इन उपग्रहों पर महाशक्तियों ने पूर्ण सत्ता स्थापित कर ली थी और अर्थव्यवस्था व राजनीतिक गतिविधियों दोनों पर ही इनका नियंत्रण था । ये उपग्रह राज्य भी तीन प्रकार के थे – कुछ राज्य महाशक्ति के चुनिंदा नेताओं के हाथ में थे – और उनकी नीतियां इन्हीं नेताओं द्वारा नियंत्रित होती थीं । महाशक्ति के प्रत्यक्ष नियंत्रण में कुछ राज्य थे और महाशक्ति न सिर्फ इन राज्यों के आंतरिक प्रशासन में हस्तक्षेप रखती थी वरन् आवश्यकता होने पर सेना का उपयोग भी कर सकती थी । कुछ राज्य महाशक्तियों के इतने पास स्थित थे कि वे उन्हें नाराज नहीं करना चाहते थे और इस कारण से जानबूझकर ऐसी नीतियां अपनाते थे जो महाशक्तियों की नीतियों से मेल खा सकती थी ।

कभी–कभी यह कहा जाता है कि नवोपनिवेशवाद पूर्व के उपनिवेशवाद से कुछ अर्थो में बेहतर है क्योंकि इसमें प्रभावपूर्ण शक्तियां अप्रत्यक्ष रूप से ही नियंत्रण स्थापित करती है और

उन्हें शोषित राज्य की जनता के प्रति भी सम्मान प्रदर्शित करना व संतुष्ट रखना होता है । पूर्व औपनिवेशवादी देश सिर्फ अपने हितों की ही सुरक्षा व अभिवृद्धि के लिये कार्य करते थे और निर्भर देश के हितों का हानि नहीं पहुंचाते, तथापि नवोपनिवेशवाद में कई दोष हैं । एनक्रूमा के अनुसार नवोपनिवेशवाद साम्राज्यवाद का सबसे बुरा स्वरूप है । क्योंकि यह दो सिद्धान्तों पर चलता है, 'बिना जिम्मेदारी की सत्ता' एवं 'बिना आराम शोषण' । पुरानी उपनिवेशी व्यवस्था में साम्राज्यवादी शक्ति अपने कार्यो के लिये जिम्मेदार रहती थी । कम से कम स्वयं के देश के प्रति जो इसके अमानवीय एवं तानाशाही पूर्ण कार्यो पर रोक लगाती थी किन्तु नवोपनिवेशवाद में यह संभव नहीं है ।

नवोपनिवेशवाद राज्य व स्थानीय लोगों के सामाजिक व आर्थिक विकास को अवरूद्ध करता है । चूंकि नवोपनिवेशी देशों के शासक स्वयं के प्रदेश सई जनता पर नहीं वरन् नये औपनिवेशिक देश के शासकों पर निर्भर होते हैं अत : वे अपने देश की जनता की भलाई को अनदेखा करते हैं । यह दृष्टिकोण इस तथ्य से अधिक प्रभावी होता है कि, शिक्षा का प्रसार व व्यक्तियों का अन्य क्षेत्रों में विकास वाणिज्य व उद्योग के उस नये प्रतिमान को परिवर्तित कर सकता है, जिसे शासक बनाये रखना चाहते हैं ।

वित्तीय सहायता एवं सामाजिक व सांस्कृतिक क्षेत्र में सहयोग के क्षेत्र नवोपनिवेशी शक्ति द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं और वे प्राप्तकर्ता देश के हितों के विरूद्ध होते हैं । वास्तव में वित्तीय सहायता ओर कुछ नहीं बल्कि चक्रीय ऋण है जो नवोपनिबेशवादी शक्ति द्वारा दिया जाता है और नवोपनिवेशवाद से होते हुए मुनाफे के रूप में पुन : दाता देश के पास पहुंच जाता है । ऋण देते हुए ये शक्तियां कच्चे माल के मूल्य बढ़ाने के प्रत्येक प्रयास पर आपत्ति जताते हुये उसे विफल कर देते हैं । वे इन प्रदेशों में उन कारखानों व उद्योगों की स्थापना का भी विरोध करते हैं, जो इन प्रदेशों की उनके निर्यात के साथ प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं । सारांश में, नवोपनिवेशवाद के अंतर्गत विदेशी पूंजी शोषण के लिये उपयोग में लायी जाती है । इन प्रदेशों के विकास कार्यो के बजाय । इसके कारण धनी व गरीब देशों के मध्य की खाई ओर अधिक बढ़ती जाती है । इसी प्रकार शैक्षणिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में सहयोग स्वदेशी विकास के प्रतिमान को अवरूद्ध करने व साम्राज्यवादी उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिये किया जाता है ।

नवोपनिवेशवाद की प्रवृत्ति से बड़ी शक्तियों के मध्य प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो सकती है जो विश्व शांति के लिये खतरा हो सकती है । यद्यपि नवोपनिवेश छोटे व कमजोर हो सकते हैं। किन्तु इसके स्वतंत्र होने के कारण यह अपने औपनिवेशी स्वामी देश को बदल सकता है । इस कारण से बड़ी शक्तियां इसे प्रलोभित व आकर्षित करने के प्रयास करती थी । जिससे ये प्रदेश शीतयुद्ध का क्षेत्र व विश्वशांति को खतरा बन सकते हैं ।

इस प्रकार नवोपनिवेशवाद पुराने उपनिवेशवाद से ज्यादा बुरा है, क्योंकि यह स्वामी देश को पूर्व की तरह सभी लाभ प्राप्त करवाता है । किन्तु उस पर कोई जिम्मेदारी नहीं डालता । जो एशियाई और अफ्रीकी देश इस नवोपनिवेशी शिंकजे में फंसे हुये थे इससे निकलने के लिये उत्सुक रहे । यह उनके मध्य एकता की भावना, साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के विरूद्ध पूरा समर्थन व साम्राज्यवादी विरोधी, उपनिवेशवाद विरोध विचारों को गहनता से समझने पर ही संभव था ।

22.12 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य

साम्राज्यवादी प्रसार ने दो चरणों में उपनिवेशों को स्थापित किया । प्रथम चरण में मुख्यत: उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका में उपनिवेश स्थापित हुये तो दूसरे चरण में एशिया व अफ्रीका में उपनिवेश स्थापित किये गये । प्रथम चरण के उपनिवेशों ने स्वतंत्रता भी पहले प्राप्त की । किन्तु एशिया व अफ्रीका के उपनिवेशों को स्वतंत्रता के लिये लंबा संघर्ष करना पड़ा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद साम्राज्यवादी शक्तियों की आर्थिक स्थिति खराब होने, स्वतंत्रता संग्रामों के तीव्र होने, अंतर्राष्ट्रीय मत उपनिवेशों के स्वतंत्रता के पक्ष में होने से भारत जैसे देशों के संयुक्त राष्ट्र में व बाहर किये गये प्रयासों से उपनिवेशों की स्वतंत्रता संभव हुई ।

उपनिवेशों की स्वतंत्रता की प्रक्रिया में निरोपनिवेशवाद दो दशकों से अधिक का समय लगा, इतना ही समय यह सच्चाई समझने में लगा कि राजनीतिक स्वतंत्रता आर्थिक विकास के बिना अधूरी है । उपनिवेशों को राजनीतिक स्वतंत्रता देकर भी पूर्व औपनिवेशिक शक्तियों ने आर्थिक नियंत्रण, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं व बैंकों, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों इत्यादि के माध्यम से बनाये रखा । यह नवोपनिवेशी नियंत्रण उपनिवेशवाद से इस अर्थ में अधिक हानिकारक था कि औपनिवेशक शक्तियां पुराने लाभ अब भी प्राप्त कर रही थीं । यही कारण रहा कि नवस्वतंत्र देशों ने विश्व की आर्थिक व्यवस्था की संरचना को परिवर्तित करने के लिये 'नवीन अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था ' की स्थापना की मांग की । यह स्पष्ट था कि इसके बिना एशिया व अफ्रीका के देशों की निर्भरता समाप्त नहीं हो सकती और नवोपनिवेशवाद समाप्त नहीं हो सकता।

अभ्यास कार्य :

1. उन कारणों की समीक्षा करें जिनसे निरोपनिवेशवाद संभव हुआ ।
2. निरोपनिवेशवादी प्रक्रिया में भारत की भूमिका पर एक समीक्षात्मक लेख लिखें ।
3. नवोपनिवेशवाद के रूप में उपनिवेशवादी शोषण पुन: क्यों प्रकट हुआ । उन विधियों की समीक्षा कीजिये जिनके माध्यम से औपनिवेशिक शक्तियां अपना प्रभाव स्थापित किये रहती हैं ।

22.13 संदर्भ ग्रन्थ

1. जे.ए. हॉब्सन : इम्पीरिमलिज्म : ए स्टडी
2. बियान क्रोझिअर : नियोकोलोनियलिज्म
3. के.एम. पनिक्कर : एशिया एण्ड दी वेस्टर्न डोमिनेन्स
4. क्वामे एनक्रूमा : नियोकोलोनियलिज्म : दी लास्ट स्टेट ऑफ इमीरिमलिज्म

इकाई – 23

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर उसका प्रभाव

इकाई की संरचना

23.1 उद्देश्य
23.2 प्रस्तावना
23.3 प्रौद्योगिकी – अर्थ एवं परिभाषा
23.4 विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रभाव क्षेत्र
23.5 प्रौद्योगिकी एवं शक्ति के भौगोलिक कारक
23.6 राज्यों की शक्ति में तुलनात्मक परिवर्तन
23.7 सैन्य प्रौद्योगिकी एवं शक्ति
23.8 प्रौद्योगिकी एवं औद्योगिकीकरण
23.9 पर्यावरण एवं प्रौद्योगिकी
23.10 प्रौद्योगिकी एवं अंतर्निर्भरता
23.11 संचार प्रौद्योगिकी एवं प्रभाव
23.12 प्रौद्योगिकी एवं विदेश नीति
23.13 प्रौद्योगिकी एवं संस्कृति
23.14 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य
23.15 संदर्भ ग्रन्थ

23.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है :–

1. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास और उसके अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव को स्पष्ट करना।
2. राज्य की शक्ति पर विज्ञान व प्रौद्योगिकी के प्रभाव की समीक्षा करना ।
3. प्रौद्योगिकी के अविराम उपयोग से उत्पन्न विश्व समस्याओं से परिचित करवाना ।
4. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में बढ़ते महत्व व उससे राज्यों के संबंधों के बनते प्रतिमान को स्पष्ट करना ।
5. प्रौद्योगिकी एवं अंतर्निर्भरता के मध्य संबंध को स्पष्ट करना ।

23.2 प्रस्तावना

वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी परिवर्तन मानवीय सभ्यता के विकास में महत्वपूर्ण कारक रहे हैं । प्रौद्योगिकी की गुणवत्ता एवं उससे प्राप्त उत्पाद अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विश्लेषण में भी एक प्रमुख कारक है । व्यक्ति के जीवन स्तर का प्रश्न हो या तथ्य की क्षमताओं का प्रश्न, उसका सीधा संबंध प्राप्त प्रौद्योगिकी व उसकी गुणवत्ता से हुआ है । पाषाण युग से लेकर

परमाणु युग तक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के नित नये प्रयोगों ने प्रकृति को नियंत्रित कर सकने एवं समय व स्थान पर अधिकार कर सकने की मानवीय क्षमताओं में भी अत्यधिक वृद्धि की है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी जनसंख्या, सुरक्षा एवं आर्थिक विषयों में भी परिवर्तन का कारण है । इसके अतिरिक्त जहां पूर्व में भी परिवर्तनों की दर धीमी रही, एक परिवर्तन के बाद दूसरे परिवर्तन में लंबा समय लगा और व्यक्ति प्रकृति से अनुकूलन बैठाता रहा, प्रौद्योगिकी ने परिवर्तन की दर को भी तीव्र कर दिया। आज एक दशक या उससे भी कम समय में महत्वपूर्ण परिवर्तन संभव है। अत : विज्ञान व प्रौद्योगिकी के प्रति अधिक जागरूकता, प्रौद्योगिकी की प्राप्तता एवं ग्राहयता तेजी से परिवर्तन हो सकने वाले परिदृश्य में अत्यावश्यक है, ताकि अस्तित्व रक्षा की जा सके एवं कार्य कुशलता भी बनायी रखी जा सके । विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास एवं परिवर्तन का अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक संबंधों के प्रत्येक पक्ष पर प्रभाव होता है, चाहे वह व्यापार वार्ता हो अथवा सैनिक सुरक्षा का विषय। विश्व राजनीति में राज्यों का स्तरीकरण प्रौद्योगिकी के स्तर के अनुरूप ही होता है । क्योंकि राज्य की सैनिक, आर्थिक व व्यापारिक क्षमताओं एवं विश्व छवि राज्य को प्राप्त प्रौद्योगिकी की गुणवत्ता के स्तर पर निर्भर है ।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विकास ने राष्ट्र राज्य, राष्ट्र निर्माण, राज्य की क्षमता एवं शक्ति, अन्य राष्ट्रों से उसके संबंध, उन राष्ट्रों से संबंधों के विषय क्षेत्र, परंपरागत विदेशनीति के विषय क्षेत्र, विदेश नीति संचालन एवं राजनय इत्यादि की पद्धतियों को अत्यधिक प्रभावित किया है ।

बीसवीं शताब्दी में प्रौद्योगिकी के व्यापक प्रभाव ने अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य को प्रभावित कर एक ऐसी प्रवृत्ति को जन्म दिया है जिसमें व्यक्तियों में अधिक समीपता, आर्थिक सांस्कृतिक संबंध एवं सुरक्षा के लिये दूरस्थ समूहों से अधिक संपर्क व उन पर निर्भरता, सैनिक–आर्थिक एवं प्रोपेगेण्डा प्रहारों से अधिक भेदना विशाल किन्तु संख्या में कम राजनीतिक समूहों में आवद्धता, प्रौद्योगिक, संस्थानिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों की तीव्रता, अत : प्रज्ञा, ग्रथाओं, परंपराओं या चेतना के बजाय अभिमतों से निर्देशित व्यवहार आदि के प्रति आसक्ति दिखाई देती है । इसके परिणामस्वरूप विश्व सिकुड़ा या सिमट प्रतीत होता है, और बीसवीं शताब्दी का मानव "विश्व ग्राम ' या 'भूमंडलीय ग्राम' का निवासी अधिक प्रतीत होता है । प्रौद्योगिकी के प्रभावस्वरूप गैर राजनीतिक तत्वों की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रधानता बढ़ी है राजनीति का प्रभाव भी व्यापक हुआ है ।

23.3 प्रौद्योगिकी – अर्थ एवं परिभाषा

स्प्राउट्स प्रौद्योगिकी का अर्थ मानवीय कौशल या तकनीक को मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिये प्रयुक्त किया जाना मानते हैं । अधिक स्पष्ट रूप से प्रौद्योगिकी भौतिक व जीव विज्ञान को अभियांत्रिकी व औद्योगिकी क्षेत्र में प्रयुक्त किया जाना है सैद्धान्तिक ज्ञान को व्यवहार में परिवर्तन कर ही इसका उपयोग मानव द्वारा संभव होता है । यही कारण है कि शुद्ध विज्ञान की अपेक्षा प्रौद्योगिकी को अधिक महत्व प्राप्त है । विज्ञान का प्रभाव समाज प्रौद्योगिकी के माध्यम से ही अनुभव कर सकता है एवं उद्योग, कृषि या अन्य क्षेत्रों में

वैज्ञानिक अविष्कार का प्रयोग प्रौद्योगिकी के रूप में ही लेता हैं। राज्य भी इसका उपयोग कर सकता है ।

प्रसिद्ध विज्ञान शीलिंग ने भी स्पष्ट किया है, कि राज्य की शक्ति किसी विशिष्ट वैज्ञानिक अविष्कार से नहीं बल्कि समेकित वैज्ञानिक ज्ञान से पुष्ट होती है जिस प्रसर सैनिक शक्ति की छवि अथवा प्रभाव स्थायी सेना के अतिरिक्त अन्य साधनों को मिलाकर होती है, राज्य भी वैज्ञानिक प्रतिष्ठा का उपयोग प्रौद्योगिकी के माध्यम से ही राजनीतिक लाभ प्राप्त करने में कर सकता है। प्रौद्योगिकी शक्ति के तत्व के रूप में एवं राजनीतिक उपकरण के रूप में राज्य द्वारा प्रयोग की जाती है । राज्य इनका उपयोग कर प्रभाव विस्तार कर सकता है ।

23.4 विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रभाव क्षेत्र

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी और विशेषकर प्रौद्योगिकी विश्व राजनीति ले प्रभावित करने वाला प्रमुख कारक बन चुका है और इसका महत्व इक्कीसवीं शताब्दी में और अधिक बढ़ जाने की संभावना है । राज्य एवं राज्यों के मध्य संबंधों पर तीन प्रौद्योगिकीय विकास ने अधिक प्रभाव डाल विश्व राजनीति को प्रभावित किया है । वे हैं – संचार प्रौद्योगिकी, औद्योगिक प्रौद्योगिकी का विस्तार एवं प्रसार तथा सैन्य प्रौद्योगिकी।

इन विकासों के फलस्वरूप राज्य, राज्य का स्वरूप एवं उसकी शक्ति में परिवर्तन आया है । राज्य की शक्ति के परंपरागत भौगोलिक तत्व अब उतने महत्वपूर्ण नहीं रह गये हैं । प्रौद्योगिकी द्वारा शक्ति के तत्व के रूप में एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया गया है। इसकी प्राप्यता व प्राप्ति की इच्छा ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में नये आयामों नये विषयों व नयी समस्याओं को जन्म दिया है ।

23.5 प्रौद्योगिकी एवं शक्ति के भौगोलिक कारक

प्रौद्योगिकी ने जनसंख्या, क्षेत्रफल, दूरी सहित अनेक भौगोलिक कारकों के महत्व में कमी ला दी है । दूरी की भौगोलिक संकल्पना व उसकी पारंपरिक अवधारणाओं में परिवर्तन हो गया है । विशेषकर परमाणु क्षेत्र में जहां स्त्रातजिक सैनिक सुरक्षा संभव नहीं है । शत्रु के पास अथवा दूर स्थित होने के संदर्भ महत्वपूर्ण नहीं हैं, क्योंकि परमाणु अस्त्रों की मारक क्षमता विश्वव्यापी अथवा भूमंडलीय है । कोयले जैसे पदार्थों की महत्ता भी अधिक सुविधाजनक शक्ति के साधनों के उपयोग से कम हो गई है ।

आज कुछ अल्प खनिजों की उपलब्धि ही महत्वपूर्ण है । प्रौद्योगिक परिवर्तन, खनिजों की तुलनात्मक महत्ता व तेल संकट ने तेल उत्पादक देशों के महत्व को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में स्थापित किया किन्तु खनिज तेल का विकल्प प्राप्त हो जाने पर इनका महत्व कम हो जायेगा । इसी तरह जनसंख्या जो कभी शक्ति का महत्वपूर्ण स्त्रोत होती थी अब अकेले ही शक्ति का स्त्रोत नहीं बन सकती । बल्कि अत्यधिक जनसंख्या वास्तव में राष्ट्र की शक्ति के लिये अवरोध सिद्ध होती है । भारत की जनसंख्या जीवनयापन के लिये ही पूंजी उपयोग कर लेनी है और औद्योगिक प्रसार व निवेश के लिये पूंजी संचय के अवसर समाप्त कर देती है । पूर्व में अधिक जनसंख्या बड़ी सेनायें बनाने के लिये आवश्यक थी, किन्तु प्रौद्योगिकी ने सामूहिक संहार कर सकने वाले अस्त्र शस्त्र विकसित कर दिये हैं जैसे – प्रक्षेपास्त्र, परमाणु

बम, गनपाऊडर इत्यादि । अत : अब सुरक्षा के इस कार्य के लिये भी जनसंख्या की अधिक आवश्यकता नहीं है । अत मात्र अधिक जनसंख्या नहीं वरन् संसाधन, जनसंख्या व प्रौद्योगिकी के बीच आनुपातिक संबंध रखने वाले देश ही प्रभावपूर्ण हो सकते हैं ।

चिकित्सा एवं औषधि विज्ञान की प्रगति ने जनसंख्या में आशातीत वृद्धि की है । यह वृद्धि बीमारियों एवं मृत्यु के कारणों पर चिकित्सकीय नियंत्रण होने से मृत्युदर के घट जाने के कारण हुई है । जनसंख्या दर में यह वृद्धि जनसंख्या विस्फोट का रूप ले सकती है । और राज्यों के सामने इसे नियंत्रित करना एक बड़ी समस्या के रूप में प्रस्तुत हुआ है । इस समस्या के तीन आयाम है, पहला माल्थूसियन आयाम कहा जा सकता है । जिसमें भय व्यक्त किया गया है, कि जनसंख्या इस अनुपात में बढ़ेगी कि खाद्य आपूर्ति संभव नहीं होगी, और भूख व पोषण की समस्यायें आयेंगी । दूसरे अत्यधिक जनसंख्या के होने से खाद्यान्न व अन्य सुविधाओं से वंचित होने से कई अन्य राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक समस्यायें उठ खड़ी होंगी । राज्यों को तनावों एवं कई क्रांतिकारी परिवर्तनों का सामना करना होगा । तीसरे आयाम पारिस्थितिकीय है और समस्या के इसी आयाम को सर्वाधिक भयावह माना जा सकता है । क्योंकि जनसंख्या की वृद्धि खाद्यान्न प्राकृतिक संसाधनों, वस्तुओं एवं सेवाओं के लिये अंतत : पारिस्थितिकीय व्यवस्था पर ही भार डालती है । पारिस्थितिकीय संतुलन बनाये रखने की समस्या एक राज्य की नहीं बल्कि विश्व समस्या का रूप ग्रहण कर चुकी है जिससे एक राज्य का निपटना मुश्किल है । विश्व के सभी राज्य ऐसी ही समस्याओं के समाधान हेतु प्रयासरत हो रहे हैं । विज्ञान व प्रौद्योगिकी के अविरल प्रयोग से उत्पन्न समस्याओं के समाधान भी विज्ञान व प्रौद्योगिकी में ही ढूंढने के प्रयास किये जा रहे हैं । जनसंख्या विकासशील देशों की समस्या अधिक है तथापि विकसित देश भी इसके विश्वव्यापी परिणामों से चिंतित हैं ।

एक ओर जहां क्षेत्रफल, दूरी, जनसंख्या इत्यादि भौगोलिक कारकी का महत्व घट गया है, वहीं विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने क्षेत्र एवं जनसंख्या की दृष्टि से विशाल राज्यों के अस्तित्व को संभव बनाया है । संचार व परिगमन के साधनों ने राज्य को विशाल क्षेत्रों को नियंत्रित कर सकने की क्षमता प्रदान की है । इसी से केन्द्रीकृत्त राज्य संभव हुये हैं । जहां पैदल या घुड़सवारी के युग में छोटे–छोटे राज्य हुआ करते थे, द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त विशाल अमेरीकी व सोवियत संघ, चीन जैसे देश एवं गुट संभव हो पाये । राजनीतिक एकीकरण, यूरोपीय समुदाय या विश्व समुदाय और सरकार की संकल्पना इसी संचार क्रांति से उद्भूत और संभव हुई है एक ओर तो राज्य की शक्ति संगठित हुई है एकीकरण बढ़ा है तो दूसरी ओर व्यक्तियों की तथ्य से आकांक्षायें भी बढ़ गई है । विकसित देशों की प्रौद्योगिक उन्नति व विकास को विकासशील देशों द्वारा प्राप्त करने की आकांक्षा ने जहां विश्व में उत्तर बनाम दक्षिण के दो समूह खड़े कर दिये हैं, विकासशील देशों में प्रौद्योगिकी विकास व उससे संबंधित उद्योग व सुविधाओं की आकांक्षा जनता में भी बढ़ी है और उसे प्राप्त न कर पाने या प्राप्त करने के लिये अग्रसर होने का प्रयास न दिखने पर ये देश अस्थिरता, तनाव व गृहयुद्ध की ओर धकेल दिये गये हैं । वहीं विकसित राष्ट्र अधिक शक्ति व विश्वास का अनुभव करते हैं । राष्ट्र निर्माण के अतिरिक्त, प्रौद्योगिकी विकासशील राज्यों द्वारा पूंजीगत सहायता के उपयोग को भी सीमित करती है । प्रौद्योगिकी औद्योगिकीकृत राष्ट्रों में पूंजी निर्माण व, पूंजी का निर्यात कर

सकने की क्षमताओं को पैदा करती है । ये पूंजी निर्यात व निर्माण विकासशील देशों में पूंजी निवेश की संभावनायें पैदा कर उन देशों की अर्थव्यवस्था का अनावश्यक भाग बन जाते हैं । निर्भरता इससे दृढ़ होती है । नवोपनिवेशवाद व नव साम्राज्यवाद को आगे बढ़ाने में प्रौद्योगिकी सहायक व उपकरण बनती है ।

23.6 राज्यों की शक्ति में तुलनात्मक परिवर्तन

बीसवीं शताब्दी में प्रौद्योगिक उन्नति ने राज्यों की शक्ति में तुलनात्मक परिवर्तन किया है । हवाई शक्ति के विकास ने ग्रेट ब्रिटेन की शक्ति को कम किया क्योंकि यह समुद्री संचार पर निर्भर था और हवाई आक्रमण यहां आसान था जबकि हवाई शक्ति ने रूस व संयुक्त राज्य की शक्ति में वृद्धि की, जिनके पास विशाल क्षेत्र है हवाई आक्रमण से अपेक्षाकृत सुरक्षित हैं और समुद्री संचार पर निर्भरता कम थी । यदि विहंगम दृष्टि डाली जाए तो इतिहास में विश्व शक्ति के परिवर्तित स्वरूप (पावर शिफ्ट) सामने आते हैं । जहां नदी घाटी सभ्यताओं व साम्राज्यों की शक्ति क्षीण हुई, भूमध्यसागरीय साम्राज्य रोम, यूनान, इत्यादि स्थापित हुये, जिनका आधार कृषि न होकर व्यापार व अनुशासित सेनायें था। मध्यकाल में उत्तरी यूरोप, पश्चिम एशिया, भारत, चीन के कृषि क्षेत्रों व केन्द्रीकृत सैनिक साम्राज्यों में शक्ति केन्द्रीत हुई तो पुन जागरणकाल में स्पेन,पुर्तगाल, फ्रांस, नीदर लैण्ड, ब्रिटेन शक्तिशाली हो गये जिन्हें बेहतर जहाजों, नौ सैनिक, दिशा सूचक आदि के अविष्कारों का लाभ प्राप्त हुआ था। इन्होंने समुद्र पार बड़े–बड़े साम्राज्य और विश्व के विभिन्न भागों से संपर्क स्थापित किये। बारूद और प्रिंटिंग प्रेस के उपयोग ने सामंतों के स्थान पर सरकार की सत्ता स्थापित की, राष्ट्रीय भावनाओं को दृढ़ किया और विभिन्न आविष्कारों ने यूरोप को आधुनिक विश्व पर प्रभुत्त्व स्थापित करने में सहायता की। ग्रेट ब्रिटेन के कोयला व लौह अयस्क पर आधारित संयत्रों ने जहां औद्योगिक क्रांति की शुरूआत करने का अश्वसर दिया, यूरोप में शक्ति संतुलन बनाये रखने की क्षमता पैदा की वहीं उन्नीसवी शताब्दी में गैर यूरोपीय विश्व पर प्रभाव स्थापित रखने में भी सफल किया। औद्योगिक क्रांति के प्रसार व हवाई शक्ति के प्रसार से जर्मनी, संयुक्त तथ्य अमेरिका, जापान एवं रूस को प्रभाव स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान व उपरांत परमाणु शक्ति के बल पर संयुक्त राज्य व सोवियत संघ (रूस) ने विश्व में प्रभाव स्थापित किये रखा । शीत युद्ध की समाप्ति के पश्चात परमाणु शक्ति के अप्रसार के मुद्दे जहां राजनीति पर हावी रहे वही भारत–पाकिस्तान जैसे विकासशील देशों द्वारा इस शक्ति के अर्जन ने शक्ति संतुलन, तनाव व अन्य सुरक्षा समस्यओं को जन्म दिया और प्रथम बार इन विकासशील देशों को कुछेक शक्तिशाली राज्यों की परमाणविक प्रौद्योगिकी के समकक्ष खड़ा किया।

23.7 सैन्य प्रौद्योगिकी एवं शक्ति

आधुनिकी प्रौद्योगिकी का एक महत्वपूर्ण पक्ष इसका सैन्य शक्ति पर प्रभाव है । 20वीं शताब्दी तक सैन्य प्रौद्योगिकी में परिवर्तन बहुत धीमा रहा। तीन हजार वर्ष तक घोड़ा ही सैन्य परिवहन का साधन रहा । सैन्य शक्ति स्थानीय एवं सीमित हुआ करती थी । गृह क्षेत्र में दूरी के अनुपात में इस सैन्य शक्ति म प्रभाव व क्षमता कम होती जाती थी । औद्योगिक क्रांति ने

प्रौद्योगिकी पर सैन्य शक्ति को निर्भर बना दिया । यूरोपीय सैन्य प्रौद्यौगिकी व प्रशासनिक क्षमता के समन्वय से उन्नीसवीं शताब्दी के औपनिवेशिक साम्राज्य संभव हुये । 20वीं शताब्दी में प्रौद्योगिक विकास की क्रांतिकारी दर ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रकृति और अर्थ में परिवर्तन ला दिया। सैन्य प्रौद्योगिकी के प्रभावों को शस्त्रास्त्रों की क्षमता, सीमित युद्ध के नये आयाम, प्रौद्योगिकी स्वातजी से संबंधित सैनिक समस्यायें, राज्यों के मध्य बढ़ती सैन्य परस्पर निर्भरता, शस्त्र नियंत्रण में प्रौद्योगिकी, इत्यादि के रूप में देखा जा सकता है ।

प्रौद्योगिक क्रांति के पूर्व लड़े जाने वाले युद्ध सीमित होते थे क्योंकि साधन सीमित थे और उद्देश्य भी सीमित हुआ करते थे । यही कारण था कि उनके परिणाम भी सीमित थे । यह सत्य प्रत्येक पक्ष को गत था कि जो आज जीता जा सकता है वह कल हारा भी जा सकता है । प्रत्येक पक्ष स्वयं की कमजोरी का जानकार था। परस्पर कमजोरी परस्पर मर्यादा के रूप में सामने आती थी। किन्तु अठारहवीं शताब्दी तक ये विचार इस रूप में परिवर्तित हुये कि विरोधी को इस स्थिति में ला दो कि वह युद्ध में हस्तक्षेप लायक ही न रहे । औद्योगिक क्रांति ने वे साधन पैदा करा दिये जिससे इस प्रकार की स्थिति लाई जा सके । युद्ध करने की इच्छा का स्वनियंत्रण ही एकमात्र मर्यादा रह गई । द्वितीय विश्व युद्ध में अणु बम का संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा प्रयोग किया गया तब और उसके कुछ समय बाद तक यह सोचा गया कि अणु शक्ति युक्त हथियारों से लड़ा जाने वाला युद्ध भी वैसे ही परिणाम या प्रकृति के साथ समाप्त होगा, जिस प्रकार कि द्वितीय विश्व युद्ध में हुआ। परमाणु शस्त्र विजय को त्वरित, व हारने वाले पक्ष का आत्म समर्पण अतिशीघ्र संभव बनायेगा । किन्तु जैसे –जैसे परमाणु शस्त्रों का भण्डार बढ़ता गया और अमेरिका के साथ रूस व कुछेक अन्य देशों के पास परमाणु शस्त्रों के उपयोग की संकल्पनाओं का स्थान 'डिटरेंस' और 'परमाणविक आतंक ' ने ले लिया । सीमित युद्ध का परस्पर संयम इसीलिये आवश्यक हुआ क्योंकि दोनों महाशक्तियों के पास इतनी अधिक शक्ति संचित हो गई कि वे संपूर्ण मानव सभ्यता का विनाश कर सकते थे। अत : युद्ध न करना और आणविक अस्त्र–शस्त्रों का उपयोग केवल नीतिगत दबाव के लिये ही करना संभव था। बल प्रयोग में आत्मानुशासन की इस आवश्यकता ने विदेश नीति निर्णयों को अधिक जटिल बना दिया । संयुक्त राज्य अमेरिका में सिद्धान्तों के रूप में इस आत्म संयम को प्रदर्शित किया गया । उन्नीस सौ पचास के दशक में जहां मैसिव्ह रिटेलियेशन या बड़े पैमाने पर प्रतिघात की स्त्रातजीया राजनीति अपनाई गई, साठ के दशक में इसका स्थान फ्लेक्जिवल रिमपोंस या 'नरम प्रत्युत्तर' की रणनीति ने ले लिया ।

हालांकि सैन्य प्रौद्योगिकी का सर्वाधिक व चर्चित पक्ष परमाणु शस्त्रों की तकनीक है तथापि परंपरागत शस्त्रों को क्षमता स्थिर नहीं रही है । परंपरागत शस्त्रों की मारक क्षमता में युद्ध को सीमित रखते हुये भी भारी वृद्धि हुई है । शस्त्रों की विध्वंशकारी क्षमता में वृद्धि के साथ ही सेनाओं के कमांड नियंत्रण गति, नमनीयता । व्यवसायिकता सभी में प्रौद्योगिकी ने चमत्कारिक क्षमता पैदा की है । 1991 में खाड़ी युद्ध के दौरान अमेरिका के नेतृत्व में संयुक्त राष्ट्र की सेनाओं ने इराक के विरूद्ध जो युद्ध लड़ा वह सैन्य तकनीक की दृष्टि से अद्वितीय था, और प्रौद्योगिकी के सीमित, स्टाक व संहारक रूप को देखते हुये इसे 'प्रौद्योगिकीय युद्ध ' का नाम भी दिया गया ।

सैन्य प्रौद्योगिकी की बढ़ती संहारक क्षमता के कारण शस्त्र नियंत्रण के लिये राजनीतिक दबाव भी बढ़ता रहा है । एक तरफ परमाणु शस्त्रों में कटौती के लिये उनको नष्ट किया जाना भी समस्या है क्योंकि उसके लिये भी प्रौद्योगिकी की आवश्यकता होती है तो दूसरी तरफ एक प्रकार के शस्त्रों के नियंत्रण का समझौता होता है और राज्य उससे बेहतर समझौते से बाहर रहने वाली प्रौद्योगिकीय विकास का इस्तेमाल कर लेते हैं । व्यापक परमाणु परीक्षण संधि (सी. टी. बी.टी) इसका उदाहरण है जो भूमि, आकाश व भूमि के अंदर व समुद्र में परीक्षण पर प्रतिबंध लगाती है किन्तु अमेरिका जैसे देशों ने इस प्रतिबंध से बचने के लिये कम्प्यूटर आधारित सिम्यूलेशन परीक्षण की विधि विकसित कर ली है । अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में परमाणु शक्ति पर कुछ देशों द्वारा एकाधिकार करने की चेष्टा, परमाणु विहीन व परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों के मध्य सुरक्षा संबंध इत्यादि भी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को प्रभावित करने वाले विषय हैं ।

23.8 प्रौद्योगिकी एवं औद्योगिकीकरण

प्रौद्योगिकी के प्रसार से विश्व पर में औद्योगिकीकरण हुआ । किन्तु औद्योगिकीकरण सर्वत्र समान नहीं रहा। औद्योगिकीकरण के लिये वित्त की व्यवस्था. एवं इसे मात्र कच्चे माल के उपभोक्ता के रूप से बचाने की समस्यायें भी उत्पन्न हुई । अंतराष्ट्रीय संबंधों पर इसका प्रभाव हुआ। अपेक्षाओं की क्रांतिकारी गति से वृद्धि के रूप में साथ ही विकासशील देशों में औद्योगिकीकरण के प्रसार के लिये प्रौद्योगिकी की आवश्यकता ने तनाव को जन्म दिया। यह प्रश्न महत्वपूर्ण हुआ कि किस प्रकार और कितने समय में प्रौद्योगिकी विकासशील देशों को प्राप्त हो पायेगी ।

परंपरागत रूप में विकासशील देशों में प्रौद्योगिकी के हस्तांतरण निजी उद्यमों के माध्यम से होता रहा । इन निजी उद्यमों से उत्पादनों की सतत आपूर्ति व इनके नये उत्पादनों के लिये बाजार की उपलब्धि भी सुनिश्चित रहती थी। किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत सामाजिक व आर्थिक कारणों ने इसे अनुपयोगी बना दिया । प्राप्तिकर्ता देशों में इसे साम्राज्यवादी कदम के रूप में देखा जाने लगा । उत्पादक देशों के विभिन्न उद्यमी संस्थान या कंपनियां मुनाफे से ही प्रेरित होकर उत्पादन के प्रकार व आपूर्ति को निश्चित करती थी । राष्ट्रवादी आंदोलनों के कारण यह मांग उठी कि पश्चिम के इन आर्थिक क्रियाकलापों के नीति निर्माण में स्थानीय या स्वदेशी लोगों को भी सम्मिलित किया जाय । स्वतंत्र होने के बाद यह मांग और अधिक बलवती हुई किन्तु औद्योगिकीकरण पूंजी व प्रौद्योगिकी के सामुदायिक निवेश – का परिणाम है और यदि विदेशी निवेश कर्ता को यह अधिकार नहीं मिलता कि वह निर्णय करें कि उसकी पूंजी किस रूप में उपयोग में लाई जाये तो निजी उद्यमी की. रूचि समाप्त होना स्वाभाविक है अत : इस प्रवृत्ति के साथ ही प्रौद्योगिकी के निजी माध्यमों से हस्तांतरण की संभावनायें कम हो गईं । अब वैकल्पिक माध्यम मुख्य माध्यम बना और पश्चिम देशों की सरकारों द्वारा विकासशील देशों की सरकारों को प्रत्यक्ष रूप में ही प्रौद्योगिकी हस्तांतरण संभव हुआ। इसके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय सहायता व अनुदान कार्यक्रम प्रारंभ हुये । किन्तु प्रौद्योगिकी हस्तांतरण की आवश्यकता पहचानने भर से प्रौद्योगिकी का हस्तांतरण संभव नहीं हुआ । प्रौद्योगिकी आसात करने की दीर्घकालीन

आवश्यकताओं के साथ ही लघुकालीन राजनीतिक बाध्यतायें भी दोनों देशों के मध्य उठ खड़ी हुई क्योंकि सरकारी स्तर पर प्रौद्योगिकी और पूंजी हस्तांतरण को सार्वजनिक राजस्व के व्यय के साथ जोड़कर देखा जाने लगा। एक ओर अनुदान दाता देश द्वारा यह प्रयास किया जाने लगा कि प्रौद्योगिकी का उपयोग उसकी शर्तों के अनुसार हो वहीं प्राप्तकर्ता देश में यह प्रयास रहा कि सही प्रौद्योगिकी का उपयोग उन्हीं क्षेत्रों में हो जहां यह उसके आर्थिक विकास के लिये सर्वाधिक लाभप्रद रह सके । द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् दो दशकों तक तो पूंजी व प्रौद्योगिकी हस्तांतरण का कार्यक्रम कम समस्यामूलक रहा किन्तु सत्तर के दशक के आते आते जहां नव स्वतंत्र देशों ने आर्थिक विकास के अभाव में राजनीतिक स्वतंत्रता को अर्थहीन माना, वहीं पश्चिम विकसित देशों विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका में वित्तीय संकट ने इन देशों को विश्व स्तरीय विकास के स्थान पर स्वकेन्द्रित विकास के प्रति अधिक चिंतित बना दिया। 1973 में तेल संकट और पैट्रोलियम निर्यातक देशों के समूह आपके द्वारा पेट्रोल की कीमतें चार गुना बढ़ायी जाने से भुगतान संतुलन की नयी समस्यायें खड़ी हुई । गुट निरपेक्ष एवं विकासशील देशों द्वारा सहृदयता से विकासशील देशों की सहायता की मांग जोर पकड़ने लगी वहीं विकसित देश अधिक सचेत व स्वकेन्द्रित होते गये। उदार व्यापार नीति व विकासशील देशों को उदारतापूर्वक सहायता में कमी आने लगी। उत्तर–दक्षिण के बीच अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तनाव इसी दौर में स्पष्ट हुआ। शीत युद्ध की समाप्ति के पश्चात यह विभाजन और प्रगाढ़ हुआ और विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों पर दबाव बढ़ाया कि वे अपनी राष्ट्रीय सीमाओं को खोल अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अबाध बनायें एवं संरक्षणवादी प्रवृत्तियां छोड़ें । विश्व व्यापार संगठन की स्थापना ने इस दबाव को और सशक्त बनाया वही विकासशील देशों में 'इसे नव साम्राज्यवाद निरूपित करते हुये अपने आर्थिक हितों, संस्कृति इत्यादि के प्रति नयी चेतना विकसित हुई ।

ऊर्जा शक्ति के साधन आर्थिक विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक होते हैं यह उत्पादन के लिये शक्ति प्रदान करते हैं । चाहे वह प्राथमिक औद्योगिक उत्पादन हो अथवा अत्याधुनिक उत्पादन हो । यह ऊर्जा शक्ति पारंपरिक तौर पर कोयला प्राकृतिक गैस, जल एवं खनिज तेल से प्राप्त होती है । इनमें खानिज तेल अधिकाधिक व सर्वाधिक उपयोग में आने वाली शक्ति है । जब तक खनिज तेल के विकल्प के रूप में कोई शक्ति का साधन विकसित नहीं हो जाता, तेल उत्पादक देश विश्व राजनीति में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बने रहेंगे। शक्ति उत्पादन में प्रौद्योगिकी प्राथमिक कारक है । शक्ति के साधन की उपलब्धता प्रौद्योगिकी के द्वारा इस शक्ति के उपयोग की आवश्यकता को पैदा करती है । आर्थिक आधुनिकीकरण, कुछ अर्थों में शक्ति के साधन का उत्पादन व सक्षम उपयोग ही है । राज्य शक्ति भी कुछ सीमा तक इसी ऊर्जा शक्ति की प्राप्ति व उपयोग पर निर्भर है । यह विकासशील देशों में शक्ति के लिये नयी मांग के रूप में दिखता है तो विकसित देशों में निरंतर एवं बढ़ती हुई मांग के रूप में देखा जा सकता है । तेल उत्पन्न करने वाले देशों द्वारा अपने महत्व को पहचाने जाने के पश्चात वे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एवं अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में नये एवं संवदेनशील मुद्दे पैदा करते रहे हैं । तेल उत्पादक देशों का प्रयास रहा कि अपने इस बहुमूल्य पदार्थ के जरिये वे अधिक से अधिक राजनीतिक लाभ एवं इस शक्ति के उपयोग से जनित आर्थिक लाभ का बड़ा भाग प्राप्त करें । वहीं विकसित देशों विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रयास रहा कि वह

इन तेल उत्पादकों को मनमानी न करने दे। शीत युद्ध के पश्चात अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तनाव का सर्वाधिक प्रमुख बिन्दु यही क्षेत्र है ।

प्रसारित व विस्तृत होती हुई औद्योगिक प्रौद्योगिकी का एक पक्ष यह भी है कि यह सामान्यत: अंतर्निर्भरता उत्पन्न करती है । अधिक प्रौद्योगिकी एवं अधिक औद्योगिक उत्पादन का अर्थ है कि अधिक राज्यों को विभिन्न कच्चे मालों का आयात करना होगा । यह व्यापार को प्रोत्साहन देता है परंतु आवश्यक नहीं है कि तेल की तरह ही अन्य कच्चे मालों का इस्तेमाल राजनीतिक हथियार के रूप में किया जा सके ।

प्रौद्योगिकी के प्रसार का एक अन्य पक्ष यह है कि सस्ते श्रम मूल्यों वाले क्षेत्रों में इसके उपयोग से कम लागत. की निर्यातक वस्तुएं प्राप्त की जा सकती है । ये पुराने औद्योगिकृत देशों से प्रतिस्पर्धा कर अपना स्थान बना सकती हैं । द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अमेरिका द्वारा पुर्ननिर्माण व पुररोद्धार के लिये यूरोप के देशों को पूंजी व प्रौद्योगिकी हस्तांतरित की गई जिसने विश्व बाजार में यूरोप का प्रतिस्पर्धा में खास स्थान बनाया एवं इसकी सैनिक एवं औद्योगिक शक्ति में भी वृद्धि हुई।

23.9 पर्यावरण एवं प्रौद्योगिकी

आर्थिक विकास व औद्योगिकीकरण के लिये प्रौद्योगिकी के निरंतर विकास एवं उपयोग ने संपूर्ण मानव जाति के लिये समस्या पैदा कर दी है । यह समस्या है पर्यावरण संरक्षण की। भूमण्डलीय उष्णता में वृद्धि ओजोन सतह में छिद्र, हरित गैसों की रिसावट,के मुद्दों ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया कि अंधाधुंध विकास द प्रौद्योगिकी का प्रयोग करते जाना मानव सभ्यता के लिये विनाशकारी हो सकता है । विकास को 'धारणीय विकास ' एवं सतत बनाये रखने के लिये आवश्यक है कि जो प्रौद्योगिकी उपयोग में लाई जाये वह पर्यावरण के अनुकूल हो, उसे हानि पहुंचाने वाली न हो । 1992 के रियो पृथ्वी सम्मेलन में पर्यावरण संरक्षण के लिये कार्बन की मात्रा में कमी व इस हेतु विकसित राष्ट्रों द्वारा सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 0.7 प्रतिशत खर्च करना स्वीकारा गया है । किन्तु 1997 में क्वोटों, में हुये सम्मेलन तक यह स्पष्ट हो गया कि विकसित राष्ट्रों द्वारा पर्यावरण संरक्षण का यह प्रतिशत 0.3 तक गिर गया है और वे इसे बढ़ाने में रूचि नहीं रखते हैं। विकासशील देशों को विकास के साथ–साथ पर्यावरण को नुकसान न पहुंचाने वाली प्रौद्योगिकी के हस्तांतरण के लिये भी विकसित देश सहानुभुतिपूर्ण रवैया नहीं रखते। प्रदूषण फैलाने वाली पुरानी प्रौद्योगिकी के स्थान पर नवीन प्रौद्योगिकी के लिये विकासशील देश विकसित राष्ट्रों पर निर्भर है । विकासशील देशों का दृष्टिकोण है कि पर्यावरण की अधिक हानि विकसित देशों के कारण ही पहुंची है और पर्यावरण संरक्षण के लिये भी इन्हीं देशों को आगे आना चाहिये । विकसित देशों में ब्रिटेन व जर्मनी जैसे यूरोपीय देशों ने 2010 कार्बन डायआक्साइड के वायु में रिसाव की 1990 के स्तर से भी कम करने की कोशिश की है किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसा करने में असफल रहा है। जहां ये देश चाहते हैं कि दुनिया के कुछ ही भागों में बचे उष्ण कटिबंधीय वनों को अब न काटा जाये, विकासशील देश कुछ आवश्यक परियोजनाओं के लिये इस बंधनों को न लगाने की मांग करते हैं, यही कारण है कि

जहां 1991 में 11,000 वर्ग कि.मी. की दर से जंगल नष्ट हो रहे थे यह दर घटने की बजाय 1995 तक 15,000, वर्ग कि. मी. तक पहुंच चुकी थी ।

शस्त्रास्त्रों, प्रदूषण, पृथ्वी के प्राकृतिक संसाधनों की खपत पूर्व चिकित्सा औषधि विज्ञान की प्रगति से जनसंख्या की समस्या आदि विश्व समस्यायें तीव्र गति के परिवर्तनों के युग में पैदा हुई हैं, जिन्हें एल्विन टॉफलर ने 'फ्यूचर शॉक' या 'भविष्य के आघात' कहा है । कई क्षेत्रों में ये परिवर्तन मानवता के अस्तित्व के एवं गुणात्मकता के लिये चुनौती बन चुके हैं ।

प्रदूषण की समस्या सभी पक्षों से संबंधित है और इसने विश्व में संपन्न व विपन्न के बीच की, खाई. को और अधिक प्रखर किया है । उपरोक्त समस्याओं को विकसित व विकासशील राष्ट्र भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों से देखते हैं अत : विश्व समस्या के समाधान के तिये इच्छित सहयोग विकसित नहीं हो पाता है । नवीन अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था हो या संयुक्त राष्ट्र की समुद्री विधि सम्मेलन हो । धन व विकास, भूतपूर्व औपनिवेशिक संबंध, वर्चस्व और निर्भरता के तत्व इसे और अधिक जटिल बनाते हैं साथ ही संसाधनों के वितरण एवं उपभोग की असमानता को बढ़ाते हैं । विकासशील देश भी औद्योगिक व विकसित होना चाहते हैं और इस हेतु उन्हें संसाधनों ऊर्जा, पूंजी व प्रौद्योगिकीय सहायता की आवश्यकता होती है । विकास की इस प्रक्रिया में वे भी बड़े पैमाने पर प्रदूषण पैदा करेंगे । उन के दृष्टिकोण में विकसित देश उन्हें अल्प विकसित, नव औपनिवेशक एवं गौण अवस्था में रखना चाहते हैं । यह आरोप उस अवस्था में अधिक तीव्र हो उठता है जब पर्यावरण के मुद्दों पर विकासशील देशों से यह कहा जाना है कि उन्हें विकसित राष्ट्रों के समान विकास नहीं करना चाहिये, यह जानते हुये भी कि ऐसा करने से अमीर व गरीब देशों के मध्य विषमता और भी बढ़ेगी। विकासशील देशों का मत है कि उनके विकास लक्ष्यों को कम करना अनुचित है और वह गरीब देशों को अधिक अलाभकारी स्थिति में रखेगा ।

23.10 प्रौद्योगिकी एवं अंतर्निर्भरता

प्रौद्योगिकीय विकास ने अंतर्निर्भरता को प्रगाढ़ किया है । जनसंख्या के आकार व संरचना, प्राकृतिक संसाधनों के विनिधान को भी प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व प्रौद्योगिकी ने औद्योगिक व्यवस्था में परिवर्तन, सूचना के युग, उत्तर–औद्योगिक समाज, टेक्नोक्रेटिक युग, माइक्रोइलेक्ट्रॉनिक क्रांति लाकर व्यक्ति की उद्देश्य प्राप्ति, आवश्यकता पूर्ति व मामलों के निपटारे में क्षमताओं में आशातीत वृद्धि की है । प्रौद्योगिकी ने सूचना व ज्ञान अर्जन एवं हेराफेरी में भी क्षमताओं को भौतिक वस्तुओं को उत्पन्न करने की क्षमता के मुकाबले कई गुना बढ़ाया है । इससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे सामाजिक जीवन के कर्णधार के रूप में निर्माण उद्योग का स्थान सेवा उद्योग ले रहा है । प्रौद्योगिकी ने ही भौगोलिक और सामाजिक दूरियों को जेट शक्ति वाले विमानों, कम्प्यूटर, उपग्रहों, व अन्य आविष्कारों के माध्यम से कम करके व्यक्ति, विचार व वस्तुओं को अत्यंत तीव्र गति से स्थान व समय के पार जाने में सहायता की है । प्रौद्योगिकी ने कम समय में अधिक कार्य करने की क्षमता भी व्यक्ति को दी है और स्थानीय, राष्ट्रीय व अंतर्तष्ट्रीय 'समुदायों की अंतर्निर्भरता में पूर्व से कई गुना अधिक वृद्धि की है । समाज, अर्थव्यवस्था व राजनीति सभी को प्रौद्योगिकी ने प्रभावित किया है ।

डेनियल बेल, पीटर ड्रकर, जॉन निस्वेट, डेनियल एंकोलोविच आदि विद्वानों ने राष्ट्रीय व्यवस्था के अंतर तत्वों–परिवार विवाह, कार्य, यूनियनों, व्यवसाय, आराम, कृषि उत्पादकता, गृह निर्माण, चुनावी राजनीति व अन्य सभी जीवन पक्षों में आ रहे परिवर्तनों की व्यापकता व महत्व को समझा व प्रकाश डाला है । इन्हीं तत्वों से अंतर्निर्भरता को व्यापक बना विश्व राजनीति की संरचना व प्रक्रिया को परिवर्तित कर दिया है । व्यक्ति राज्य की संरचना के परे जाकर उद्देश्य पूर्ति व हित संवर्धन के लिये सक्षम हो रहा है । राष्ट्र राज्य की क्षमता, महत्व व प्रासंगिकता में कमी आई है । इससे राज्य की संप्रभुता भी प्रभावित हुई है और बहुराष्ट्र कंपनियों जैसे गैर राज्यीय संगठनों की शक्ति में वृद्धि हुई है । वे विश्व स्तर पर राज्य के साथ अंतर्क्रिया कर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को प्रभावित कर रहे हैं और इसी कारण से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में जो राज्यों के मध्य राजनीति मानी जाती थी, राज्य का स्थान एकमात्र कर्ता के रूप में नहीं रह गया है । विश्व राजनीति विश्लेषण का राज्य केन्द्रित के साथ ही बहु केन्द्रवादी दृष्टिकोण भी इसी कारण से विकसित हुआ है।

23.11 संचार प्रौद्योगिकी एवं प्रभाव

प्रौद्योगिकी ने संचार के दो आयामों को अत्यधिक प्रभावित किया है । एक तो सूचनाओं की मात्रा (वोल्यूम) और दूसरा सूचनाओं के आदान–प्रदान की गति। इन दोनों ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के राजनयिक पक्ष, शक्ति एवं प्रोपेगेण्डा पर दूरगामी प्रभाव डाला है ।

अन्य राज्यों की जनता से इलेक्ट्रोनिक माध्यमों से सीधा संपर्क कर आव्हान किया जा सकता है और इसके लिये उस राज्य की सरकार की अनुमति आवश्यक नहीं की ली जाये । अधिक प्रभाव डालने के लिये उच्च स्तर के सरकारी अधिकारियों द्वारा आव्हान किया जा सकता है । तीव्र गति से प्रीटिंग की सुविधा ने प्रोपेगेण्डा का ऐसा शक्तिशाली माध्यम उत्पन्न कर दिया है जो एक शताब्दी पहले प्राप्त नहीं था रेडियो एवं टेलीविजन के अविष्कारों से एक राज्य दूसरे राज्य के नागरिकों को अधिक आसानी से प्रोपेगेण्डा द्वारा प्रभावित कर सकता है । अब ऐसा करने के लिये लक्षित व्यक्तियों के साक्षर होने की आवश्यकता भी नहीं है ।

संचार का एक अन्य प्रभावशाली परिणाम संपूर्ण विश्व के राज्यों की गोपनीयता बनाये रख सकने की संभावनाओं को कम कर दिया है । सेटेलाइट या उपग्रह, मिनिेअेचर इलेक्ट्रोनिक उपकरणों की सुविधा ने दूरस्थ प्रदेशों के एकांत व रहस्य को समाप्त कर दिया है, राज्यों की गतिविधियाँ छुपी नहीं रह सकती । गोपनीय राजनय भी इसी करण संभव नहीं रहा है । ये विकास राजनय की प्रकृति को परिवर्तित, कर राज्य व व्यक्ति के क्रियाकलापों पर नयी सीमायें एवं नयी मांगे लाद रहे हैं जिससे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में कल्पना परे प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं । संचार माध्यमों के जरिये विश्व जनमत का निर्माण आसान हो गया है जो राज्यों के क्रियाकलापों पर सीमा आरोपित करता है ।

23.12 प्रौद्योगिकी एवं विदेश नीति

प्रौद्योगिकी का प्रभाव विदेश नीति पर भी व्यापक रूप से हुआ है । प्रौद्योगिकी विदेश नीति का उपकरण एवं कारक दोनों ही है । हालांकि विश्व राजनीति पर प्रौद्योगिकी के प्रभाव को माप सकने वाला पैमाना नहीं है, क्योंकि प्रौद्योगिकी विदेश नीति का साधन है साध्य नहीं

अत: विदेश नीति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये यह एक यंत्र है तो कारक भी । वैज्ञानिक ज्ञान व तकनीक का हस्तांतरण विदेश नीति के उपकरण के रूप में प्रौद्योगिकी का प्रत्यक्ष उपयोग है। मार्शल योजना, अमरीकी चार सूत्रीय तकनीकी सहायता कार्यक्रम विकासशील देशों के विद्यार्थियों को विकसित देशों की शैक्षणिक संस्थाओं में एक्सचेंज का कार्यक्रम के अंतर्गत भेजा जाना सभी राज्य के हितों की अभिवृद्धि के लिये किये जाने वाले प्रयासों में सम्मिलित हैं । कुछ प्रौद्योगिकी सरल प्रकृति की होती है । जैसे कृषि प्रौद्योगिकी जिसमें खाद्यान्न की नई किस्में पैदा करना, भले ही जटिल हो पर इसका उपयोग व परिणाम आसानी से प्राप्त हो जाते हैं । और अतिरिक्त प्रौद्योगिकी की आवश्यकता नहीं होती है । जटिल प्रौद्योगिकी जिसमें परिष्कृत उत्पादक सुविधायें सम्मिलित हैं, को बनाये रखने के लिये सतत एवं बड़े पैमाने पर प्रयास, किये जाने आवश्यक होते हैं । ये सिर्फ विकसित व धनी देशों द्वारा किया जाना संभव है । विश्व के विकासशील देश विकसित देशों पर ऐसी प्रौद्योगिकी के लिये निर्भर है । किन्तु विकसित देशों की घरेलू बाध्यताएं सतत व दीर्घकालीन प्रौद्योगिकी सहायता के स्थान पर एक ही बार दिये जा सकने वाले कार्यक्रमों पर अधिक केन्द्रित होती हैं । उनके विदेशी सहायता कार्यक्रमों में यह स्पष्ट परिलक्षित होता है, क्योंकि आधुनिक प्रौद्योगिकी विकास मानव शक्ति व संसाधनों के संदर्भ में अत्यन्त ही जटिल व महंगा है ।

प्रौद्योगिकी ने विदेश नीति की परंपरागत विषय वस्तु को भी प्रभावित किया है । तकनीकी सहायता किसी भी देश द्वारा दी जाने वाली अथवा ली जाने वाली सहायता अनुदान कार्यक्रमों का अनिवार्य हिस्सा बन चुकी है । यह स्त्रांतजिक सूचना, उपग्रह प्रेक्षण से लेकर इलेक्ट्रोनिक मोनिटरिंग तक व्यापक हो गई है । इसके अंतर्गत सूचना आदान–प्रदान नये विषय के रूप में राजनय व विदेशनीति में सम्मिलित हैं । इसी प्रकार नये अंतर्राष्ट्रीय कानून को भी नित नये विषयों से संबद्ध होना होता है । बाह्य अंतरिक्ष, समुद्र की गहराई व समुद्र तल जैसे विषयों को प्रौद्योगिक विकास के कारण ही अंतर्राष्ट्रीय कानून में सम्मिलित करना पड़ा व पारंपरिक संकल्पनाओं को व्यापक व नवीन बनाना पड़ा ।

प्रौद्योगिकी ने विदेश नीति के संचालन की पद्धति को भी परिवर्तित कर दिया है। राष्ट्राध्यक्षों व शासनाध्यक्षों द्वारा व्यक्तिगत राजनय, इसी शताब्दी में और प्रौद्योगिकी विकास संचार व परिगमन के कारण ही संभव हुआ । संचार क्रांति के कारण एक राज्याध्यक्ष अपनी राजधानी में रहते हुये भी विदेशों से संपर्क रख सकता है । और विदेश यात्रा पर होने के बावजूद देश व राजधानी के संपर्क में रह सकता है । संचार साधनों में मीडिया के विस्तार ने प्रत्येक राष्ट्र को भेद्य बना डाला है और राजनय को भी इतना प्रभावित कर दिया है कि राजनय के पुराने नियमों को परिवर्तित करना पड़ा। गुप्त राजनय की समाप्ति हुई । प्रौद्योगिक विकासों–सूचना मीडिया व इंटेलीजेंस प्रौद्योगिकी ने आज गुप्त बैठकों को असंभव बना दिया है और सारे विश्व में सूचना प्रवाह को भी अत्यंत सहज बना दिया है । जहां कोई भी घटना सारे विश्व में कुछ ही घंटों में प्रासंगिक व प्रसारित हो जाती है ।

राजनय के ह्रास का कारण भी संचार के साधनों की प्रगति रही है । विदेश स्थिति राजदूत को कार्य निष्पादन में आज पहले के समान स्वतंत्रता व अधिकार प्राप्त नहीं है । इलेक्ट्रोनिक संचार माध्यमों व हवाई यातायात ने यह संभव बना दिया है कि वे एक स्थान से

दूसरे स्थान तेजी से जा सकते हैं। और अपने देश के राष्ट्राध्यक्ष या शासनाध्यक्ष से सीधे संपर्क स्थापित कर निर्देश प्राप्त कर सकते हैं। अब उनके बुद्धिचातुर्य व कौशल के लिये अधिक स्थान नहीं है । इसके अतिरिक्त प्रेस साक्षात्कार एवं रेडियो व दूरदर्शन पर संदेशों को भी वही महत्व प्राप्त होने लगा है जो पूर्व में राजनयिक टिप्पणियों व व्यक्तिगत वार्ताओं को प्राप्त था। आज कुशल राजनयिक को तकनीकी जानकारी रखने वाले स्टाफ को रखना अत्यंत आवश्यक हो गया है क्योंकि तभी राजनयिक संबंधों में सैनिक व तकनीकी पक्षों का सफलतापूर्वक संचालन किया जा सकता है ।

23.13 प्रौद्योगिकी एवं संस्कृति

प्रौद्योगिकी संस्कृति का अभिन्न अंग है। जहां किसी समुदाय की संस्कृति प्रौद्योगिकी तकनीक को विकसित करने की क्षमता को निर्धारित करती है वहीं नयी प्रौद्योगिकी के प्रयोग का प्रभाव संपूर्ण संस्कृति पर होता है। पाषाण युगीन सभ्यता में लकड़ी व पत्थर का प्रयोग करने वालों की संस्कृति व कृषि एवं पशु पालन करने वाली सभ्यता में अंतर स्पष्ट है। इसी प्रकार प्रौद्योगिकी के उपयोग से समूह व समय के अंतर को मानव विज्ञान शास्त्री भी रेखांकित करते हैं। लेखन की तकनीक व बड़े पैमाने पर संचार की तकनीक ने भी सभ्यता पर प्रभाव डाला है। आवागमन की तकनीकों में घोड़े के उपयोग से लेकर हवाई जहाज तक की सभ्यताओं में अंतर स्पष्ट है। तकनीक एवं प्रौद्योगिकी ही वह आधार है जिस पर अर्थ–व्यवस्था का प्रकार निर्भर होता है। प्रौद्योगिकी का विकास एक स्थान पर सीमित नहीं रहता उसका प्रसार व उपयोग की आकांक्षा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को प्रभावित करती रही है । नाविक शक्ति एवं वाष्प शक्ति के अविष्कार ने जहां इंग्लैण्ड और फिर यूरोप में उत्पादन के वृहद साधनों को जन्म दिया वहीं इस पूंजीवादी अर्थ–व्यवस्था ने नये वाजारों की खोज के लिये उपनिवेश को भी जन्म दिया । उप निवेशों में चाहे छोटे समूहों में ही सही एशिया व अफ्रीका में यूरोपीय सभ्यता को सराहने वाला वर्ग उठा, उसी प्रकार विश्वीकरण द्वारा समान अर्थ–व्यवस्था व व्यापार का विश्व के संपूर्ण देशों में आरोपण राष्ट्रीय सीमाओं के खुलने के साथ ही सांस्कृतिक प्रहार के रूप में दिखाई देता है । सैटेलाइट व केबल रूपी नये माध्यमों से विशिष्ट प्रकार की संस्कृति का आरोपण भी दिखाई देता है । एक देश के साम्राज्यवादी साधन के रूप में प्रौद्योगिकी का प्रयोग सर्वोत्तम रूप में चिरस्थायी हो सकता है, यदि उस समाज में इसके उपयोग की आवश्यकता पैदा कर दी जाये । आज लुभावने विज्ञापनों के माध्यम से यह आवश्यकता पैदा की जा रही है। विज्ञापनों का प्रभाव जहां पहले सीमित था आज प्रत्येक घर में दूरदर्शन के माध्यम से दिखाई जाने वाली संस्कृति को अपनाने का प्रलोभन बढ़ रहा है । वही इन देशों की सरकारों पर विकास एवं नवीन तकनीकों के अपनाने की आकांक्षाओं का दबाव भी बढ़ रहा है । अत : विश्वीकरण एवं सांस्कृतिक साम्राज्यवाद ने प्रौद्योगिकी का स्थान महत्वपूर्ण है । शीत युद्ध की समाप्ति के पश्चात की विश्व व्यवस्था की कल्पना करते हुये प्रसिद्ध विद्वान सेमुअल हंटिंगटन ने माना कि विश्व में आमामी संघर्ष 'संभ्यतओं म संघर्ष' होगा । 1985 के उपरांत सोवियत संघ एवं पूर्वी यूरोप के देशों कई घटनाओं ने प्रजातीयता के महत्व को स्थापित किया । विचारधारागत संघर्ष की समाप्ति एवं अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नयी प्रवृत्तियों व नये आयामों ने विश्वीकरण को बढ़ावा दिया। विश्वीकरण ने एकरूपता लाने, राष्ट्रवाद को कमजोर करने विश्ववाद व समान

संस्कृति थोपने का प्रयास किया। प्रौद्योगिकी ने आर्थिक विकास तो किया परन्तु बाजारों, की खोज व आर्थिक क्रियाकलाप ने संप्रभुता व राष्ट्रवाद को कमजोर कर दिया। विश्वीकरण की प्रक्रिया में जहां समस्त विश्व में अनवरत व्यापार एवं राष्ट्रीय सीमाओं के ह्रास की चर्चा हुई वहीं राष्ट्रीय सीमाओं में अब तक सुरक्षित संस्कृति पर आघात की चर्चा भी की जाने लगी और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का प्रश्न उठाया जाने लगा है । परिणामस्वरूप आज विश्वीकरण विभिन्न राष्ट्रों की संस्कृति को चुनौती दे रहा है । तो विभिन्न राष्ट्रों की संस्कृति भी विश्वीकरण को चुनौती दे रही है एवं उदारवादी रूपी संस्कृति को अपनाने से पूर्व परख रही है ।

23.14 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य

अन्य कारकों के सदृश्य ही विद्वान एवं प्रौद्योगिकी ने भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को वर्तमान गत्यात्मकता प्रदान की है। मानवीय क्रियालापों की यह एक ऐसी विद्या सिद्ध हुई है जिसने सर्वाधिक अंतर्राष्ट्रीयता का प्रमाण देते हुये राष्ट्रीय सीमाओं एवं संप्रभुता के महत्व को सीमित कर दिया। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विकासशील देशों को विकास की संभावनाएं प्रस्तुत करती हैं। तो विकसित देशों को नवोपनिवेशवाद की। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने औद्यागिकीकरण का रास्ता दिखाया, बाजारों एवं कच्चे माल के लिये विश्व में अंतनिर्भरता पैदा की। प्रौद्योगिकी ने दूर स्थित राज्यों के मध्य भी सैनिक संघर्ष को संभव बनाया है और राज्य आज अधिक भेद्य हो गया है। सीमाओं की अभेद्ता अप्रासंगिक हो गई है । इलेक्ट्रॉनिक संचार कम कीमतों व अधिक मात्रा में सूचना प्रवाह संभव बनाता है और जितनी समस्याओं को कम करता है उतनी पैदा भी करता है। प्रौद्योगिकी ने राष्ट्र राज्य की शक्ति की अवधारणा एवं तत्वों में परिवर्तन ला दिया है और ऐसे निरंतर सिमटने विश्व का कारण बनी है जिसमें प्रत्येक राज्य के मामले अन्य राज्य में आवश्यक रूप से जुड़ गये हैं, व दूसरे राज्यों के मामलों द्वारा अधिक भैद्य बन गये हैं ।

अभ्यास कार्य. :

1. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को किस प्रकार प्रभावित किया है?
2. सैन्य प्रौद्योगिकी के नये प्रयोग राज्यों की शक्ति को किस प्रकार परिवर्तित करती है एवं सुरक्षा से संबंधित किन समस्याओं को जन्म देती है?
3. प्रौद्योगिकी ने औद्योगिकीकरण को प्रोत्साहन दे विश्व के देशों के संबंधों को किस प्रकार प्रभावित किया है, विवेचन करें ।
4. सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का प्रौद्योगिकी उपकरण है । स्पष्ट करें ।

23.15 संदर्भ ग्रन्थ

1. पेडेलफोर्ट, लिंकन एवं ऑल्वी : दी डायनामिक्स ऑफ इंटरनेशनल पोलिटिक्स
2. स्टेफान जॉजिनी एवं जे. पोर्नेल : दी स्ट्राटजी ऑफ टेक्नोलॉजी
3. हेराल्ड एवं मगिरट स्प्राउट : टुवर्डस ए पोलिटिक्स ऑफ दी प्लेनेट अर्थ
4. इ.एल. मोर्स : मॉडर्निज्म एण्ड दी ट्रांसफार्मेशन ऑफ इंटरनेशनल

रिलेशन्स

5. स्कोलनिकोफ : दी इंटरनेशनल इम्पेटिव्हस ऑफ टेक्नोलॉजी : टेक्नोलॉजी डेव्हलपमेंट एण्ड दी इंटरनेशनल पोलिटिकल सिस्टम

ISBN 13/978-81-8496-346-5